नहीं रहता है जैसे—यह कुछ है। सविकल्पक में प्रकार का ज्ञान हो जाता है जैसे—यह श्याम है। रामानुज-दर्शन में इसकी रूपरेखा कुछ दूसरी है जो हम देख ही चुके हैं।

२. **अनुमान**—लिङ्ग (Middle term) का परामर्श होना अनुमान है। व्याप्ति की सहायता से वस्तु का बोध कराने वाले को लिंग या हेतु कहते हैं जैसे धूम अग्नि का लिंग है। व्याप्ति का अर्थ साहचर्य-नियम (Universal relation) है जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि भी है। जब व्याप्ति से विशिष्ट लिंग का ज्ञान पक्ष (Minor term जैसे पर्वत) में उत्पन्न होता है उसे ही लिंग का परामर्श कहते हैं। तर्कसंग्रह में परामर्श के विषय में कहा गया है कि व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान ही परामर्श है। उदाहरण के लिए, 'अग्नि के द्वारा व्याप्य धूम से युक्त' यह पर्वत है। ऐसा ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श से 'पर्वत भी अग्निमान् है' यह ज्ञान (निष्कर्ष या निगमन) उत्पन्न हुआ, यही अनुमिति है। नीचे लिखे रूप में इसे स्पष्टतर किया जा सकता है—

(१) यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः (व्याप्ति या Major premise)
(२) पर्वतो धूमवान् (पक्षधर्मता या Minor premise)
(३) पर्वतोऽग्निमान् (अनुमिति या Conclusion)

इस अनुमिति तक पहुँचने का जो साधन (करण, असाधारण कारण) हो वही अनुमान है। न्यायदर्शन में अनुमान के तीन भेद किये गये हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो, वह पूर्ववत् है जैसे मेघों को आकाश में घिरते देखकर वृष्टि होने का अनुमान। जब कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो, वह शेषवत् है जैसे चारों ओर पानी ही पानी देखकर 'वर्षा हुई है' इसका अनुमान। सामान्य रूप से अनुमान करना कि जिस वस्तु को एक जगह देखा था, दूसरी जगह पर है तो वह वस्तु अवश्य चलती होगी। इस आधार पर अप्रत्यक्ष होने पर भी सूर्य की गति का अनुमान कर लेते हैं। दूसरे ढंग से भी इनका विवेचन होता है जैसा कि वात्स्यायन ने किया है। नव्य नैयायिक अनुमान के दो भेद करते हैं—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थ का अभिप्राय है जो एक व्यक्ति को अपने आप में संतुष्ट कर सके, अनुमिति करा सके। जब कोई व्यक्ति स्वयं ही बार-बार रसोईघर, कल-कारखाने आदि में देखकर व्याप्ति ग्रहण कर लेता है कि 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है', तब पर्वत के पास जाकर वहाँ की अग्नि के विषय में सन्देह होने पर, पर्वत में धूम देखकर व्याप्ति का स्मरण करता है कि जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है। तब यह ज्ञान

(लिंग-परामर्श) उत्पन्न होता है कि अग्नि के द्वारा व्याप्य धूम से युक्त (वह्नि-व्याप्यधूमवान्) यह पर्वत है। अन्त में यह ज्ञान होता है कि पर्वत अग्नि से युक्त हैं। यही स्वार्थानुमान है। जब स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरों को समझाने के लिए पाँच अवयव-वाक्यों (Members) का प्रयोग किया जाय तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। इसे हम मूल की व्याख्या में ही आगे स्पष्ट करेंगे।

(३) **उपमान**—जब सादृश्य (अतिदेश) का बोध कराने वाले वाक्य का स्मरण करके सदृश वस्तु का ज्ञान होता है उसे ही उपमान कहते हैं। न्यायसूत्र में कहा है कि प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से ज्ञेय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान है। जैसे कोई आदमी 'गवय' नामक जंगली जीव को नहीं जानता किन्तु जब एक अतिदेश (सादृश्य) वाक्य सुनता है कि गवय गौ के समान होता है, तभी उसे गवय को पहचानने में देर नहीं लगती। उपमिति-ज्ञान होता है कि यही गवय है।

(४) **शब्द**—यथार्थवक्ता(आप्त) के द्वारा उच्चरित वाक्य ही शब्द है जैसे वेद के वाक्य या भूगोल में कहे गये वाक्य। न्यायसूत्र में शब्द के दो भेद किये गये हैं—दृष्टार्थ शब्द और अदृष्टार्थ शब्द। जब आप्तवाक्य की संगति इस संसार के तथ्यों से बैठाई जा सके जैसे यह कहना कि साईबेरिया में बर्फ जमी हुई रहती है। तब उसे दृष्टार्थ कहते हैं। किन्तु आप्तवाक्यों से परलोक की बातों का ज्ञान होने पर उसे अदृष्टार्थ शब्द कहते हैं। इस प्रकार लौकिक वाक्यों और ऋषि के वाक्यों में भेद किया जा सकता है। इसे ही लौकिक और वैदिक भी कहते हैं।

इन प्रमाणों से ही प्रमेयों का ज्ञान तथा परीक्षण होता है। न्याय में प्रमाण-शास्त्र (Epistemology) पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। नव्यन्याय तो विशुद्ध प्रमाणशास्त्र ही है। प्रमाणों के विषय में जितना विश्लेषण भारतीय-दर्शन में हुआ है विश्व के किसी भी दर्शन में मिलना असम्भव है—न्याय का तो यह विषय ही है। अन्य दर्शन इस दृष्टि से न्याय के ऋणी हैं। अपने विषयों के प्रतिपादन के लिए न्याय के कितने ही शब्द अन्य दर्शनकारों ने लिये हैं। इस दृष्टि से यदि न्याय-दर्शन को 'दर्शनों का दर्शन' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

(३. प्रमेय-पदार्थ का विचार)

प्रमायां यद्धि प्रतिभासते तत्प्रमेयम्। तच्च द्वादशप्रकारम्—आत्म-शरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखाप-वर्गभेदात्।

प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव में जो दिखलाई पड़े वही **प्रमेय** (Knowable) है। इसके बारह भेद हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

विशेष—प्रमेयों के लक्षण न्यायसूत्र में प्रथम अध्याय में नवम सूत्र से लेकर २२ वें सूत्र तक दिये गये है। तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में इनकी परीक्षा हुई है।

(१) **आत्मा** (Soul)—ज्ञान से युक्त आत्मा है, यह सबों को देखने वाली, सर्वज्ञ तथा सबों का अनुभव करने वाली है। यह विभु और नित्य है। ईश्वर और जीव के रूप में इसके दो भेद हैं। सर्वज्ञ ईश्वर एक ही है,* जीव प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है। आत्मा के लिए कुछ चिह्न हैं जैसे—इच्छा (जिस तरह की वस्तु से आत्मा को सुख मिलता है उसी तरह की वस्तु की इच्छा उसे होती है), द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान। दुःखप्रद वस्तु से द्वेष होता है, उन्हें हटाने या सुखद पदार्थों को लाने के लिए प्रयत्न होता है। भोग करने पर या बोध होने पर यह मालूम होता है कि यह अमुक पदार्थ है।

(२) **शरीर** (Body)—आत्मा के भोग का अधिष्ठान (आधार) शरीर है। शरीर विभिन्न चेष्टाओं, इन्द्रियों और उनके अर्थों का भी आश्रय हैं। किसी वस्तु को छोड़ने या पाने के लिए चेष्टायें शरीर में ही होती हैं। शरीर के अनुग्रह से इन्द्रियाँ अनुगृहीत होती हैं, उसी में कोई उपघात होने पर ये भी उपहत होती हैं—अपने-अपने अच्छे या बुरे विषयों की प्रवृत्ति दिखलाती हैं, उन इन्द्रियों का आश्रय भी शरीर ही है। शरीररूपी आयतन में इन्द्रियों और उनके अर्थों के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख की संवेदना होती है। इसीलिए शरीर अर्थों का भी आश्रय है।

---

* न्यायकुसुमांजलि (५।१) में ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रमाण दिये गये हैं—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

संसाररूपी कार्य के कर्त्ता के रूप में, सृष्टि के आरम्भ में दो परमाणुओं को जोड़ने वाले के रूप में, संसार का धारण करने वाले के रूप में, विभिन्न कलाओं का व्यवहार चलाने वाले के रूप में, अतर्क्य वेद-सिद्धान्तों के प्रवर्तक के रूप में, श्रुति-प्रतिपादित होने के कारण, वाक्यभूत वेदों के रचयिता के रूप में, द्वित्व-संख्या की उत्पादक अपेक्षाबुद्धि को धारण करने वाले के रूप में तथा अदृष्ट (धर्माधर्म) के व्यवस्थापक के रूप में विश्ववेत्ता अव्यय ईश्वर की सिद्धि होती है।

(३) इन्द्रियाँ (Senses)—इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं जो शरीर से संयुक्त रहती हैं। ये पाँच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र जिनसे क्रमशः सूँघना, स्वाद लेना, देखना, छूना, और सुनना—ये काम होते हैं। इन इन्द्रियों में शक्तिदान करने वाले ये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जिन्हें भूत भी कहते हैं।

(४) अर्थ (Objects)—उपर्युक्त इन्द्रियों के द्वारा भोग्य (Enjoyable) वस्तुओं को अर्थ कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय का अर्थ गन्ध है, रसनेन्द्रिय का रस, चक्षुरिन्द्रिय का रूप, त्वगिन्द्रिय का स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द।

(५) बुद्धि (Intellect)—बुद्धि, ज्ञान और उपलब्धि (Understanding) इन तीनों को गौतम अनर्थान्तर अर्थात् पर्याय मानते हैं (१।१।१५)। यह चेतन है और शरीर तथा इन्द्रियों के संघात से पृथक् है।

(६) मन (Mind)—सुखादि ज्ञानों का साधन इन्द्रिय मन है। इसी को अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक भावों को जानने वाली इन्द्रिय भी कहते हैं। इसका चिह्न (लिङ्ग या पहचान) है एक साथ कई ज्ञान की उत्पत्ति न होने देना। केवल इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से यदि ज्ञान उत्पन्न होता तो घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गन्ध से तथा श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द से एक ही साथ होकर दोनों ज्ञान (गन्धज्ञान और शब्दज्ञान) साथ-साथ उत्पन्न होने पर ऐसा नहीं होता क्योंकि मन नियामक रूप से पृथक् करने के लिए प्रस्तुत रहता है। मन गन्धज्ञान कराने पर ही शब्द का ज्ञान करा सकता है।

(७) प्रवृत्ति (Volition)—वाचिक, मानसिक और शारीरिक क्रिया को प्रवृत्ति कहते हैं। फिर शुभ और अशुभ के भेद से छह प्रकार की हो जाती है। वात्स्यायन शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों में प्रत्येक के दस-दस भेद मानते हैं (न्या० भा० १।१।२) अशुभ प्रवृत्तियों में शरीर से प्रवृत्त हिंसा, अस्तेय और प्रतिषिद्ध मैथुन; वचन से प्रवृत्त अनृत, परुष, सूचन (चुगली, शिकायत, निन्दा) और असम्बद्ध भाषण करना; मन से प्रवृत्त परद्रोह, परधन को हड़पने की इच्छा और नास्तिकता। शुभ प्रवृत्तियों में शरीर के द्वारा दान, रक्षा और सेवा; वचन से सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय; मन से दया, अस्पृहा और श्रद्धा। प्रवृत्तियों के ही कारण जन्म लेना पड़ता है।

(८) दोष (Faults)—प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले दोष कहलाते हैं। ये तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। ये ही ज्ञाता को पुण्य या पाप की ओर प्रवृत्त करते हैं। जहाँ मिथ्याज्ञान होता है वहाँ राग और द्वेष रहते हैं। इन दोषों की संवेदना प्रत्येक आत्मा को होती है। राग, द्वेष या मोह के वश में प्राणी वह काम करता है जिससे सुख या दुःख मिलता है।

(९) **प्रेत्यभाव** (Transmigration)—उत्पन्न होने के बाद मर कर फिर जन्म लेना ही प्रेत्यभाव है। उत्पन्न प्राणी का सम्बन्ध देह, इन्द्रिय, बुद्धि और संवेदना के साथ होता है। मर जाने पर ये सम्बन्ध छूट जाते हैं। जब पुनः उत्पत्ति होती है तब दूसरे शरीरादि का सम्बन्ध स्थापित होता है। जन्म-मरण के प्रबन्ध का यह अभ्यास (आवृत्ति) तब तक चलता रहता है जब तक अपवर्ग की प्राप्ति न हो जाय।

(१०) **फल** (Fruit)—प्रवृत्तियों और दोषों से उत्पन्न होने वाले अर्थ को फल कहते हैं। फल में सुख और दुःख की संवेदना होती है। हम जो भी कर्म करते हैं उनमें कुछ तो सुख का फल देते हैं, कुछ दुःख का। देह, इन्द्रिय, विषय और बुद्धि के होने पर ही फल मिलता है इसलिए इन सबों को फल में गिन लेते हैं। इन फलों को लेने या त्यागने में ही सारा संसार व्यस्त है। इनका अन्त नहीं है।

(११) **दुःख** (Pain)—जिससे पीड़ा या सन्ताप हो वही दुःख है। जब लोग देखते हैं कि सारा संसार ही दुःख से पूर्ण है तो दुःख को हटाने की इच्छा से जन्म को दुःख के रूप में समझ कर निर्विण्ण (निर्मम) हो जाते हैं, तब विरक्त होते हैं और विरक्त होने पर मुक्त भी हो जाते हैं। दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक और आधिदैविक। वात, पित्त और कफ के दोषों की विषमता से उत्पन्न शारीरिक अथवा काम, क्रोधादि से उत्पन्न मानसिक दुःखों को आध्यात्मिक कहते हैं। आन्तरिक उपायों से ही इसका निवारण सम्भव है। सर्प, व्याघ्र आदि जीवों से उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। यक्ष, राक्षस, ग्रहादि के आवेश से आया हुआ दुःख आधिदैविक है। ये दोनों दुःख बाहरी उपाय से ही हटाये जा सकते हैं। दूसरे मत से दुःख इक्कीस तरह के हैं—शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय, छह बुद्धियाँ, सुख और दुःख। दुःख से सम्बन्ध होने के कारण सुख भी दुःख ही है। शरीरादि दुःख के साधन हैं, इसलिए दुःख के ही अन्दर हैं। दूसरे स्थान में बाहरी दुःखसाधन १६ प्रकार के माने गये हैं—परतन्त्रता, आधि (मनःकष्ट), व्याधि, मानच्युति, शत्रु, दरिद्रता, दो स्त्री होना, अधिक पुत्रियाँ होना, दुष्ट स्त्री, दुष्ट नौकर, कुग्रामवास, कुस्वामिसेवा, वार्धक्य, परगृह में रहना, वर्षा में परदेश रहना, बुरे हल से खेती। वस्तुतः दर्शनों का मूल ही दुःख है।

(१२) **अपवर्ग** (Emancipation)—दुःखों से बिलकुल मुक्त हो जाना अपवर्ग है। मिला हुआ जीवन जब नष्ट हो जाय और अप्राप्त जीवन न मिले तभी अपवर्ग है। इस प्रकार नैयायिक अपवर्ग की व्याख्या निषेधात्मक शब्दों में करते हैं।

(४ संशय, प्रयोजन और दृष्टान्त)

अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः। स त्रिविधः—साधारणधर्मासाधारणधर्मविप्रतिपत्तिलक्षणभेदात्।

यमधिकृत्य प्रवर्तन्ते पुरुषास्तत्प्रयोजनम्। तद् द्विविधम्—दृष्टादृष्टभेदात्।

व्याप्तिसंवेदनभूमिर्दृष्टान्तः। स द्विविधः—साधर्म्यवैधर्म्यभेदात्।

अनिश्चयात्मक ज्ञान को **संशय** कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—(१) दो वस्तुओं में कोई धर्म साधारण होने के कारण होनेवाला संशय [जैसे—यह स्थाणु है कि पुरुष। स्थाणु (खम्भे) और पुरुष, दोनों में सामान्य धर्म एक ही है—ऊँचा होना। विशेषतायें स्पष्ट नहीं हैं—स्थाणुत्व का निर्णय करने वाली विशेषतायें जैसे वक्रता या कोटरादि होना अथवा पुरुषत्व का निर्णय करने वाली विशेषतायें जैसे हाथ, पैर आदि—कोई भी स्पष्ट नहीं हैं, इसीसे संशय होता है।] (२) किसी वस्तु के असाधारण धर्म दिये जाने के कारण होने वाला संशय [जैसे पृथिवी नित्य है कि अनित्य। पृथिवी का असाधारण (अपना) धर्म है गन्ध से युक्त होना। यह 'गन्धवत्त्व' न तो अनित्य पदार्थों में है न नित्य में ही, केवल पृथिवी में ही इसकी सत्ता है। पृथिवी की नित्यता या अनित्यता के ज्ञान का साधन न होने के कारण ही ऐसा संशय हुआ।] (३) विभिन्न शास्त्रकारों में मतभेद होने के कारण उत्पन्न संशय [जैसे—कुछ लोग कहते हैं कि शब्द नित्य है, दूसरे कहते हैं कि शब्द अनित्य है। इन दोनों का मतभेद देखकर बीच वाला घबरा उठता है और संशय होता है।]

जिस कार्य को ध्यान में रखकर पुरुषों की प्रवृत्ति होती है वही **प्रयोजन** है। यह दो प्रकार का है—दृष्ट प्रयोजन और अदृष्ट प्रयोजन। [कोई वस्तु त्याज्य या ग्राह्य होती है। उसे त्यागने या ग्रहण करने को मनुष्य उपाय करता है। वह वस्तु ही प्रयोजन कही जाती है। दृष्ट प्रयोजन प्रत्यक्ष होता है जैसे—अवघात करने का प्रयोजन है भूँसों को पृथक् करना। अदृष्ट प्रयोजन विहित तथा परोक्ष होता है जैसे—ज्योतिष्टोम-याग का प्रयोजन स्वर्गप्राप्ति।]

व्याप्ति की स्थापना का जो आधार होता है वही व्याप्ति है। इसके दो भेद हैं—साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त। [न्यायसूत्र में कहा गया है कि

लौकिक परीक्षकों की बुद्धि जिस विषय पर एकमत हो जाय वही दृष्टान्त है। दृष्टान्त का अपना अर्थ है—जिसके द्वारा अन्त या निश्चय देखा गया हो, पाया गया हो। 'यत्र धूमः तत्राग्निः' इस व्याप्ति का निश्चय करने के लिए महानस (रसोईघर) का उदाहरण देते हैं—यही दृष्टान्त है। रसोईघर अपने पक्ष का पोषक होने के कारण साधर्म्य दृष्टान्त है। इसी व्याप्ति में 'सरोवर' वैधर्म्य दृष्टान्त होगा क्योंकि जब व्यतिरेक-विधि से व्याप्ति पर आयेंगे—'जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम नहीं जैसे सरोवर', तब यह दृष्टान्त काम देगा। फलतः अन्वय-विधि का दृष्टान्त साधर्म्य है, व्यतिरेक-विधि का दृष्टान्त वैधर्म्य।]

विशेष—वाचस्पति मिश्र ने अपने न्यायसूचीनिबन्ध में उक्त तीन पदार्थों को न्यायपूर्वांग कहा है क्योंकि ये न्याय अर्थात् पंचावयव अनुमान की भूमिका के रूप में हैं। न्यायसूत्र में संशय के पाँच भेद माने गये हैं क्योंकि वहाँ लक्षण ही कुछ दूसरे ढंग का है, यद्यपि फल दोनों का एक ही है—समानानेकधर्मोपपत्ते-र्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः (१।१।२३)। संशय वह ज्ञान है जिसमें विशेष धर्म की अपेक्षा रहती है। निम्नलिखित पाँच कारणों से उत्पन्न होने के कारण संशय पाँच प्रकार का है—

(१) **समानधर्मोपपत्ति**—जब समान धर्मों की प्राप्ति कई वस्तुओं में हो और विशेष धर्म की अपेक्षा हो तब ऐसा ज्ञान संशय है। उच्चता-धर्म स्थाणु और पुरुष दोनों में है। निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर दोनों वस्तुओं में संशय हो गया। जब हाथ-पैर आदि के रूप में विशेष धर्मों का ज्ञान हो जायगा तब संशय की निवृत्ति होगी कि यह मनुष्य है।

(२) **अनेकधर्मोपपत्ति**—अनेक का अर्थ है सजातीय और विजातीय। जब असामान्य धर्मों का ज्ञान होता है तब भी संशय होता है। शब्द का श्रवण करके यह पूछना कि यह नित्य है या अनित्य, संशय है। शब्द का धर्म मनुष्य, पशु आदि अनित्य पदार्थों में भी नहीं है और न नित्य परमाणुओं में ही है। गन्धवती होने के कारण पृथिवी, जल आदि द्रव्यों से भी विशिष्ट है, गुणकर्म से भी विशिष्ट है। अब संशय हो गया कि पृथिवी द्रव्य है कि गुण या कर्म।

(३) **विप्रतिपत्ति**--शास्त्रों में परस्पर विवाद होने से भी संशय होता है। शब्द की नित्यता और अनित्यता का उदाहरण प्रचलित ही है।

(४) **उपलब्ध्यव्यवस्था**—कभी-कभी हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की अव्यवस्था से भी संशय होता है। तड़ागादि में तो विद्यमान होने पर जल का प्रत्यक्ष होता है पर मृगमरीचिका (Mirage) में अविद्यमान होने पर

भी इसका प्रत्यक्ष होता है। अब संशय हुआ कि जल का प्रत्यक्ष क्या केवल विद्यमान अवस्था में ही होता है या अविद्यमान होने पर भी।

(५) **अनुपलब्ध्यव्यवस्था**—कभी-कभी अप्रत्यक्ष की अव्यवस्था से संशय होता है। मूली में (Radish) जल है पर दिखलाई नहीं पड़ता है। पत्थर में भी जल नहीं दीखता पर वहाँ वास्तव में नहीं है। क्या जल विद्यमान या अविद्यमान दोनों ही दशाओं में दिखलाई नहीं पड़ता ? यही संशय है।

(४ क. सिद्धान्त और अवयव)

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमभेदात्।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशोऽवयवः। स पञ्चविधः—प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयनिगमनभेदात्।

प्रामाणिक मानकर सिद्ध किया गया अर्थ (Fact) **सिद्धान्त** है। इसके चार भेद हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम सिद्धान्त। [सिद्धांत या तो किसी दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रामाणिकता स्वीकार करता है या किसी अधिकरण (आधार) की या फिर किसी ज्ञापक (Implied) विषय की। **सर्वतन्त्र सिद्धान्त** वह है जिसे सभी शास्त्रों की मान्यता प्राप्त हो। उदाहरण के लिए पाँच महाभूत, पाँच इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय आदि की स्वीकृति सभी दर्शनों में है। **प्रतितन्त्रसिद्धान्त** वह है जो समानतन्त्र (जैसे न्याय का समानतन्त्र वैशेषिक-दर्शन है) में तो मान्य हो किन्तु दूसरे तन्त्रों (दार्शनिक सम्प्रदायों)में असिद्ध हो। जैसे—शब्द की अनित्यता न्यायवैशेषिक में मान्य है किन्तु मीमांसकादि इसे नहीं मानते। असत्कार्यवाद को न्याय-दर्शन मानता है, सांख्य नहीं मानता। **अधिकरणसिद्धान्त** उसे कहते हैं जिसे सिद्ध कर लेने पर दूसरे प्रकरणों की भी सिद्धि हो जाती है जैसे—देह और इन्द्रियों के अतिरिक्त एक ज्ञाता है क्योंकि दर्शन और स्पर्शन के द्वारा एक ही अर्थ (Object) का ग्रहण किया जा सकता है (न्या० सू० ३।१।१)। इस सिद्धान्त को मान लेने पर कुछ आनुषंगिक अर्थ भी मानने पड़ते हैं जैसे--(१) इन्द्रियाँ अनेक हैं, (२) प्रत्येक इन्द्रिय को अपना एक विषय है; (३) आत्मा या ज्ञाता को इन इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान मिलता है, (४) अपने गुणों से पृथक् वर्तमान द्रव्य ही इन इन्द्रियों का आश्रयस्थान है, आदि-आदि। इन अर्थों के बिना पहले सिद्धान्त की संभावना नहीं। परन्तु पहले सिद्धान्त के सिद्ध होने पर ही ये अर्थ सिद्ध होते हैं। **अभ्युप-**

गम सिद्धान्त उसे कहते हैं जो स्पष्ट रूप से कहा नहीं गया हो (वाचनिक न हो) किन्तु उससे संबद्ध विशेषों को देखने पर अनुमान से ज्ञात हो। इसे ही व्याकरण में ज्ञापक (Implied) कहते हैं। उदाहरण के लिए जब प्रश्न कहते हैं कि शब्द नित्य है या अनित्य, तब यह मानकर चलना पड़ता है कि शब्द एक द्रव्य है। इस प्रकार 'शब्द द्रव्य है' यह अभ्युपगम सिद्धान्त (Implied dogma) है। न्यायदर्शन में यह कहीं नहीं कहा गया है कि मन ज्ञानेन्द्रिय है किन्तु सम्बद्ध स्थलों की परीक्षा करने पर ऐसा मानना पड़ता है।]

अवयव परार्थानुमान के वाक्य का एक भाग है जिसके पाँच भेद हैं— प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। [जिस वाक्य की सिद्धि करनी होती है उसका निर्देश कर देना ही **प्रतिज्ञा** है जैसे—शब्द अनित्य है। उदाहरण के साधर्म्य या वैधर्म्य से साध्य वस्तु का कारण देना **हेतु** है जैसे—क्योंकि यह उत्पन्न होता है। दोनों प्रकार के उदाहरणों में हेतु एक ही रहता है—भले ही दृष्टान्त बदलें। साध्य वस्तु के साधर्म्य से या वैधर्म्य से उसके अनुकूल या प्रतिकूल दृष्टान्त देना **उदाहरण** कहलाता है। वस्तु के साधर्म्य से अनुकूल दृष्टान्त देना— जो कुछ उत्पन्न होता है वह अनित्य है जैसे घट। वस्तु के वैधर्म्य से प्रतिकूल दृष्टान्त देना—जो अनित्य नहीं है वह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा। उदाहरण के आधार पर जो निष्कर्ष या उपसंहार निकलता है कि यह ऐसा है या ऐसा नहीं है, वही **उपनय** कहलाता है जैसे – शब्द भी उत्पन्न होता है (वैसा ही है) या शब्द अनुत्पन्न होने वाला नहीं है (वैसा नहीं है)। कारण का उल्लेख होने पर प्रतिज्ञा का पुनः कथन करना **निगमन** है जैसे—इसलिए शब्द अनित्य है। इस प्रकार वस्तु के साधर्म्य या वैधर्म्य के कारण परार्थानुमान में पंचावयववाक्य के दो रूप होंगे—

साधर्म्य का रूप—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।

(२) हेतु—क्योंकि यह उत्पन्न होता है।

(३) उदाहरण—जो भी उत्पन्न होता है वह अनित्य है जैसे घट।

(४) उपनय—शब्द भी वैसा (उत्पन्न होने वाला) ही है।

(५) निगमन—इसलिए शब्द अनित्य है।

वैधर्म्य का रूप—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।

(२) हेतु—क्योंकि यह उत्पन्न होता है।

(३) उदाहरण—जो नित्य होता है वह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा।

(४) उपनय—शब्द वैसा नहीं है (अनुत्पन्न नहीं होता = उत्पन्न होता है)
(५) निगमन—इसलिए शब्द नित्य है।

बहुत से नैयायिक वाक्य में दस अवयव मानने का साहस करते हैं। वे अन्य अवयव हैं—जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास। इनका वर्णन वात्स्यायन ने (१।१।३२) की व्याख्या में किया है। अन्त में माना है कि ये अनिवार्य अंग नहीं हैं।]

विशेष—इन अवयवों को ही न्याय कहते है क्योंकि वास्तव में न्याय-दर्शन के ये केन्द्रबिन्दु हैं जिनके चारों ओर न्यायदर्शन घूमता है। स्पष्टतः वाचस्पति संबद्ध सूत्रों में न्यायस्वरूप मानते हैं।

(५. तर्क का स्वरूप और भेद)

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। स चैकादशविधः। व्याघातात्माश्रयेतरेतराश्रय-चक्रकाश्रयानवस्थाप्रतिबन्धिकल्पना-कल्पनालाघवकल्पनागौरवोत्सर्गापवादवैजात्यभेदात्।

व्याप्य पदार्थ का आरोपण करके व्यापक पदार्थ का आरोपण करना **तर्क** है। [यदि यहाँ अग्नि का अभाव होता तो धूम का भी अभाव हो जाता। ऐसा कहना तर्क है। इसमें अग्नि का अभाव व्याप्य है जिसका आरोपण हुआ है; उसी के आधार पर व्यापक—धूमाभाव—का भी आरोपण हुआ। पर्वत में धूम देखकर कोई व्यक्ति उक्त तर्क की सहायता से अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्नि का निश्चय कर ले सकता है। यही कारण है कि तर्क को प्रमाणों का सहायक मानते हैं। न्यायसूत्र में कहा गया है कि जिस वस्तु का तत्त्व ज्ञात नहीं हो उसका तत्त्व जानने के लिए जो विचार (ऊह) कारणों का औचित्य दिखलाते हुए किया जाता है, वह तर्क है। इस प्रकार तर्क का आश्रय तत्त्वज्ञान के लिए लेते हैं। हाँ, किसी बात को हठपूर्वक सिद्ध करने के लिए कुतर्क का आश्रय लेते हैं। तर्क में तत्त्व-निर्णय करने के लिए साध्य वाक्य (Proposition) के उलटे वाक्य की असंगति दिखलाते हुए आते हैं जैसे यदि ऐसा नहीं होता तो······ऐसा होता। इसलिए यही ठीक है। या, यदि ऐसा होता तो······ऐसा होता जो असम्भव है। इसलिए ऐसा नहीं हो सकता आदि।]

तर्क के ग्यारह भेद होते हैं—व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्यो-न्याश्रय), चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्धी की कल्पना कल्पनालाघव, कल्पना-गौरव, उत्सर्ग, अपवाद और वैजात्य।

विशेष—जगदीश तर्कालंकार ने केवल पाँच प्रकार के तर्कों के नाम लिये हैं—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और प्रमाणबाधितार्थक। भाषा-परिच्छेद में व्यभिचार की शंका के निवर्तक वाक्य को तर्क कहा गया है। किन्तु तर्क के जितने भेद बतलाये जा रहे हैं वे दोष हैं, स्वयं निवारण किये जाने की अपेक्षा रखते हैं—व्यभिचार का निवारण क्या करेंगे? असंबद्ध अर्थ से युक्त वाक्य को **व्याघात** कहते हैं जैसे यह कहना है कि मैं मूक हूँ या अमूर्त पर रूप का आरोपण करना। जब किसी वस्तु का प्रतिपादन उसी वस्तु के आधार पर होने का प्रसंग आ जाये तब उसे **आत्माश्रय** कहते हैं जैसे—रूप से युक्त वस्तु पर रूप का आरोपण। जब दो वस्तुएँ एक दूसरे पर निर्भर करें तब **अन्योन्याश्रय** या इतरेतराश्रय तर्क होता है। उदाहरण के लिए 'हे राम! उठो' यह वाक्य सुनने से राम जागता है और उधर जागने पर ही राम सुन सकता है। तो, जागरण कारण है या श्रवण? जागरण कार्य है या श्रवण? दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। जब दो से अधिक वस्तुएँ एक दूसरे पर आश्रित हो जायँ तब **चक्रक** होता है जैसे उपर्युक्त उदाहरण में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष को बीच में ले आना। जागृति से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष होता है और जागृति तभी होती है जब श्रवण होता है इस प्रकार 'श्रवण—जागृति—इन्द्रियार्थसंनिकर्ष—श्रवण आदि' के रूप में आवर्तन (Recurring) होता है। जब एक ही दिशा में कल्पना करें और कहीं भी इसका अन्त न हो तो उसे **अनवस्था** कहते हैं जैसे जाति (Generality) में यदि जाति मानें तो उस जाति की भी एक दूसरी जाति होगी। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते कहीं भी अन्त नहीं होगा। ये प्रसंग सभी दर्शनों में आते हैं। जिस तर्क से दोनों पक्ष समान रूप से प्रभावित हों वह **प्रतिबन्धि-कल्पना** (या प्रतिबन्दी) है जैसे—पुरुष होने के कारण यदि यह चोर है तो आप भी तो चोर हैं क्योंकि पुरुष हैं।* कल्पनालाघव और कल्प-

* प्रतिवन्दी का बड़ा सुन्दर उदाहरण किसी वंगीय नैयायिक (संभवत; जगदीश) के विषय से सम्बन्ध रखता है। नैयायिक जी बचपन में पढ़ते कुछ कम थे। बस पिता ने बिगड़ कर कहा कि तुम गौ (=मूर्ख) हो। बालक ने लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ में लेकर कहा—

किं गवि गोत्वमुतागवि गोत्वं चेद्गवि गोत्वमनर्थकमेतत्।
अगवि च गोत्वं यदि तव पक्षः सम्प्रति भवतु भवत्यपि गोत्वम्॥

आप 'गो' से केवल गाय का ही अर्थ लेते हैं या उससे इतर प्राणियों का भी? यदि केवल गाय अर्थ लेते हैं तो मेरे लिए गौ का प्रयोग व्यर्थ है, किन्तु गौ से इतर में यह अर्थ लेने पर आप और हम दोनों ही गौ हैं।

नागौरव में कल्पनाओं का क्रमशः संकोच और विस्तार होता है— इसके उदाहरण इस पुस्तक में ही अन्यत्र मिलेंगे। **उत्सर्ग** सामान्य नियम को कहते हैं और **अपवाद** विशेष नियम है। **वैजात्य** तब होता है जब तर्क में विलक्षणता रहे।

इन तर्कों की उपयोगिता इसी में है कि उपर्युक्त दोषों की संभावना से न्याय को बचावें। तर्क को कुछ इस प्रकार रखते हैं—यदि ऐसा नहीं होगा तो किसी न किसी (अनवस्था, अन्योन्याश्रय···) तर्क के भेद का प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार प्रमाण से साध्य अर्थ के विरुद्ध जाने की संभावना समाप्त हो जाती है। इसीलिए ये प्रमाण के अनुग्राहक हैं।

(५ क. निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा)

यथार्थानुभवपर्याया प्रमितिर्निर्णयः। स चतुर्विधः। साक्षात्कृत्यनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषो वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनहीनः कथाविशेषो वितण्डा। कथा नाम वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः।

यथार्थ अनुभव अर्थात् प्रमिति (Real Knowledge) को **निर्णय** कहते हैं। [न्यायसूत्र में कहा गया है—विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः (१।१।४१) अर्थात् पक्ष और विपक्ष की बातों पर विचार करके संदेह दूर करते हुए तत्त्व का निश्चय करना ही निर्णय है। निर्णय करने के लिए जिस प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, उसी के आधार पर उसका नाम पड़ता है। जैसे अनुमान के आधार पर किया गया निर्णय अनुमिति निर्णय कहलायेगा? तो,] इसके चार भेद हैं—साक्षात्कृति (प्रत्यक्ष), अनुमिति, उपमिति और शाब्द।

वाद एक प्रकार की कथा (Disputation, dialogue) है जिसका फल तत्त्व का निर्णय हो जाना है। [दो पक्षों में एक पक्ष का ग्रहण करके, उस पक्ष में पंचावयव अनुमान का प्रयोग किया जाता है तथा प्रमाणों से उस पक्ष की रक्षा करते हुए तर्क के द्वारा उसके विरुद्ध पक्ष का खंडन भी करते हैं। हाँ, पूर्व से स्थिर किये गये सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए—यही वाद (Discussion) की रूपरेखा है (न्या० सू० १।२।१)।]

विजय की इच्छा से की जानेवाली कथा, जिसमें दोनों पक्षों की सिद्धि हो सकती है, **जल्प** कहलाती है। [जल्प में केवल विजय पर ध्यान रखते हैं।

यह ध्यान नहीं रहता कि जिन तर्कों से अपने पक्ष की रक्षा की जाती हैं उन्हीं से परपक्ष की भी तो रक्षा होती है। इसमें छल, जाति, निग्रहस्थान का भी प्रयोग होता है यद्यपि पंचावयव-वाक्यों से ही शास्त्रार्थ आरंभ होता है। उक्त लक्षण में 'विजिगीषु' पद का प्रयोग जल्प को वाद से पृथक् करता है। वितण्डा से पृथक् करने के लिए 'उभयसाधनवती' का प्रयोग हुआ है।]

जिस कथा में अपने पक्ष की ही स्थापना नहीं की जाय वह **वितण्डा** (Cavil) है। [न्यायसूत्र (१।२।३) के अनुसार जिस जल्प में प्रतिपक्ष (किसी एक पक्ष) की स्थापना नहीं हो, केवल एक ही पक्ष पर विवाद या हठ ठान लें वही वितण्डा है। वैतण्डिक किसी भी साध्य की प्रतिज्ञा नहीं करता। उसका कोई अपना पक्ष नहीं रहता।] कथा का अभिप्राय यह है कि वादी और प्रतिवादी पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण कर लें। [यह एक प्रकार का वार्तालाप है जिसमें दो दलवाले एक ही विषय के पक्ष और विपक्ष में बोलते हैं। स्मरणीय है कि कथा के ही वाद, जल्प और वितण्डा ये तीन भेद हैं।]

(५ ख. हेत्वाभास और छल)

असाधको हेतुत्वेनाभिमतो हेत्वाभासः। स पञ्चविधः—सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसमातीतकालभेदात्।

हेत्वाभास उसे कहते हैं जो हेतु के रूप में रखा गया हो किन्तु लक्ष्य को सिद्ध न कर सके। (न तु साक्षाद् हेतुः किन्तु तथा प्रतीयते)। इसके पाँच भेद हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल (या कालातीत)।*

विशेष—हेत्वाभास के उक्त भेदों के नाम न्यायसूत्र के आधार पर लिए गये हैं। नव्यन्याय की सूक्ष्मता यहाँ पर भी लगी है जिससे विश्लेषण तथा नामकरण में कुछ अन्तर हो गया। दार्शनिक विवेचना में हेत्वाभासों का अत्यधिक प्रयोग होने के कारण यहाँ हम उनकी व्याख्या करें।

(१) **सव्यभिचार** (Discrepant Reason)—व्यभिचार का अर्थ है सहचार नहीं होना अर्थात् हेतु का उन स्थानों में भी साथ देना जिन स्थलों

---

*अनुमान के वाक्यों में जो हेतु (middle term) शुद्ध नहीं रहता वह शुद्ध अनुमान नहीं करा सकता और फलतः ऐसे अनुमान दोषपूर्ण हो जाते हैं। ऐसे ही अशुद्ध हेतुओं को हेत्वाभास (Fallacies of Reason) कहते हैं। हेतु + आभास (प्रतीत होने वाला) = जो हेतु नहीं हो पर हेतु के समान दिखलाई पड़ रहा हो।

में साध्य का अभाव हो। व्यभिचार रहने पर सव्यभिचार नामका हेत्वाभास होता है जिससे एकाधिक निष्कर्ष (अन्त) की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि सव्यभिचार को अनैकान्तिक कहा जाता है। उदाहरण है—

सभी द्विपद जीव विचारशील हैं—
हंस द्विपदजीव हैं
∴ हंस विचारशील हैं।

यहाँ का हेतु (द्विपदजीव) साध्य अर्थात् 'विचारशील' से व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि द्विपदजीव का सम्बन्ध विचारशील और अविचारशील दोनों से है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि 'द्विपद जीव' (हेतु) और 'विचारशील' (साध्य) में व्यभिचार-संबंध है। जिस प्रकार इस हेतु से हंसों की विचारशीलता सिद्ध होती है उसी प्रकार उसी हेतु से उनकी विचारहीनता भी सिद्ध होती है। इसी से यह अनैकान्तिक हेतु है। सव्यभिचार के तीन भेद किये गये हैं—

(क) साधारण (Overwide)—जब हेतु की वृत्ति या स्थिति साध्य वस्तु के अभाववाले स्थानों में भी हो (जहाँ साध्य न हो वहाँ भी हेतु की प्राप्ति हो) तब साधारण सव्यभिचार होता है। उदाहरण के लिए— 'पर्वत अग्नियुक्त है क्योंकि यह प्रमेय (ज्ञेय) है।' इस वाक्य में 'प्रमेयत्व' (हेतु) जो अग्नि के साथ दिखलाया गया है वह अग्नि के अभाव वाले स्थान में (जैसे—तालाब) भी तो रहता है—जैसे अग्नियुक्त पदार्थ ज्ञेय हैं, वैसे ही अग्निहीन पदार्थ भी तो ज्ञेय हो सकते हैं। फल यह होगा कि 'पर्वत की अग्नि-हीनता' भी इसी हेतु से सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार हेतु की वृत्ति साध्य और साध्याभाव दोनों स्थानों में है। 'यह गाय है क्योंकि इसकी दो सींगें हैं' यह भी साधारण का उदाहरण है।

(ख) **असाधारण** (Uncommon)—जो हेतु न तो सपक्ष में पाया जाय न विपक्ष में ही, उसे असाधारण कहते हैं। ऐसा हेतु केवल पक्ष (Minor Term) में ही रहता है। जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है। यहाँ 'शब्दत्व' (हेतु) सारे नित्य पदार्थों (जैसे–आत्मा आदि) तथा अनित्य पदार्थों (जैसे–घट आदि) से पृथक् है। मिलता है तो केवल पक्ष अर्थात् शब्द में ही। इसी हेतु से हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि शब्द अनित्य है। जब कहीं मिलना ही नहीं तो नित्य और अनित्य दोनों का दावा समान है।

(ग) **अनुपसंहारी** (Non-Conclusive)—जिस हेतु को न तो अन्वय (समान) दृष्टान्त मिले और न ही व्यतिरेक (असमान Dissimilar) दृष्टान्त ही, उसे अनुपसंहारी कहते हैं। जैसे—सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं क्योंकि वे

प्रमेय हैं। यहाँ समान और असमान दृष्टान्त मिलना असंभव है क्योंकि 'सभी वस्तुएँ' ही पक्ष के रूप में हैं। कोई दृष्टान्त इससे पृथक् रहे तब तो ? और पक्ष स्वयं दृष्टान्त होगा ही नहीं। यद्यपि यहाँ पक्ष का दोष है परन्तु हेतु के कारण ही अनुमान में निष्कर्ष निकलता है अतः यह भी हेत्वाभास ही है।

(२) **विरुद्ध** (Contradictory Middle)—जिस हेतु का सम्बन्ध साध्य से बिल्कुल ही न रहे, उलटे जो साध्याभाव के द्वारा व्याप्त हो—वही विरुद्ध हेतु है। ऐसे हेतु से साध्य की सिद्धि तो होती नहीं उसके अभाव की सिद्धि हो जाती है अर्थात् ठीक उलटा निष्कर्ष निकलता है। 'शब्द नित्य है क्योंकि यह उत्पन्न होता है'—इस उदाहरण में 'उत्पन्न होना' (हेतु) साध्य (नित्य) का ठीक विरुद्ध है, उससे शब्द की अनित्यता ही सिद्ध हो जायगी। कारण यह है कि उत्पत्ति और अनित्यता (साध्याभाव) में व्याप्ति-संबन्ध है। इसी प्रकार ये उदाहरण भी होंगे—वायु भारी है क्योंकि यह खाली है, यह घोड़ा है क्योंकि इसे सींगें हैं, इत्यादि। सव्यभिचार साध्य की सिद्धि में असफल रहता है जब कि विरुद्ध उसे असिद्ध कर देता है या इसके अभाव को सिद्ध करता है।

(३) **प्रकरणसम** या **सत्प्रतिपक्ष** (Opposable Reason)--जिस हेतु से किसी पक्ष पर किसी साध्य का साधन हो सके और दूसरे हेतु से उसी पक्ष पर ठीक साध्य के अभाव की भी सिद्धि हो जाये तो वह हेतु प्रकरणसम है। दूसरे शब्दों में उस हेतु का प्रतिपक्षी या विरोध करने वाला हेतु भी रहता है जो उलटी बात भी सिद्ध कर सकता है। (प्रतिपक्ष = प्रतिहेतु Counter Reason, सत् = है।) प्रकरण का अर्थ है प्रक्रिया अथवा विचार। विचार या प्रकरण की जब आवश्यकता पड़ती है तब वादी या प्रतिवादी, जो भी रहें, अपने मतलब की सिद्धि के लिए कोई हेतु रखते हैं। यदि हेतु निर्णायक (शुद्ध) हुआ तो प्रकरण समाप्त हो जाता है। यदि हेतु सत्प्रतिपक्ष हुआ, हेतु का प्रतिद्वन्द्वी हेतु साध्य से उलटी बात की सिद्धि के लिए तैयार रहा, तब निर्णय तो होगा ही नहीं—प्रकरण चलता रहेगा। इस प्रकार प्रकरण के समान ही एक और प्रकरण ले आनेवाले हेतु को प्रकरणसम हेतु कहते हैं। उदाहरण के लिए—

शब्द नित्य है क्योंकि इसमें नित्यधर्म की प्राप्ति होती है।

तो, ठीक इसी तरह—

शब्द अनित्य है क्योंकि इसमें अनित्य धर्म मिलते हैं।

'नित्य धर्म का मिलना' सत्प्रतिपक्ष हेतु है क्योंकि साध्याभाव को सिद्ध करने

वाला प्रतिपक्षी हेतु भी तैयार है—'अनित्य धर्म का मिलना'। अन्य उदाहरण है—

शब्द नित्य है क्योंकि यह श्रवणीय है,

तथा, शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक (artificial) है।

पहली दशा में दृष्टान्त के रूप में 'शब्दत्व' दिया जा सकता है जब कि दूसरी दशा में घट पट आदि दिये जा सकते हैं। व्याप्ति भी दोनों में पृथक् होगी। अतः 'श्रवणीय होना' यह प्रथम हेतु प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष है क्योंकि एक दूसरे हेतु से साध्याभाव की सिद्धि होती है। विरुद्ध हेतु साध्याभाव की सिद्धि स्वयं ही करता है, जब कि सत्प्रतिपक्ष हेतु साध्याभाव की सिद्धि एक दूसरे हेतु से कराता है।

(४) असिद्ध या **साध्यसम**—(Unproved Middle)—साध्य की सिद्धि के लिए सिद्ध हेतु की आवश्यकता पड़ती है। यदि वह अपने आप सिद्ध न हो तो साध्य को क्या सिद्ध करेगा, स्वयमेव साध्य बन जायगा। इसीलिए इसे साध्यसम (साध्य के समान ही सिद्धि की अपेक्षा रखने वाला) कहते हैं। जब गलती से किसी अनुमान-वाक्य (Premise) में कोई हेतु मान लिया जाता है तब असिद्ध होता है। उदाहरण के लिए—'आकाश-कमल में सुगन्ध है क्योंकि यह कमल है, अन्य कमल जिस प्रकार के हैं।' यहाँ हेतु (आकाश-कमल) की व्यावहारिक सत्ता (locus standi) नहीं, क्योंकि आकाश में कमल होता नहीं। इसके तीन भेद होते हैं।

(क) **आश्रयासिद्ध** (Non-existent Subject)—'आकाश कमल सुगन्धित है क्योंकि इसमें कमलत्व है जैसा कि सरोवर के कमलों में होता है'—यहाँ आश्रय (subject) ही असिद्ध है जिससे हेतु (कमलत्व) व्यर्थ (futile) हो जाता है क्योंकि पक्ष और हेतु में कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ख) **स्वरूपासिद्ध** (Non-existent Reason)—जब हेतु पक्ष Minor term) में सिद्ध न हो, न रहे, तब स्वरूपासिद्ध हेतु होता है। जैसे—'शब्द गुण है क्योंकि यह चाक्षुष है जैसा कि रूप होता है।' यहाँ का हेतु (चाक्षुषत्व) शब्द में नहीं मिलता क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय से गृहीत (श्रावण) होता है। इस तरह का हेतु पक्षधर्मता के ज्ञान का विरोधी होता है।

(ग) **व्याप्यत्वासिद्ध** (Non-existent Concomitance)—जिस हेतु में कुछ उपाधि (Condition शर्त) लगी हुई होती है, वही व्याप्यत्वासिद्ध है। नाम के अनुसार इस प्रकार के हेतु में हेतु और साध्य के बीच होनेवाली व्याप्ति असिद्ध रहती है। उपाधि साध्य को तो व्याप्त करती है

किन्तु हेतु को वह व्याप्त नहीं कर पाती। उदाहरण के लिए—पर्वत धूमवान् है क्योंकि वह अग्नि से युक्त है। यहाँ 'अग्नियुक्त होना' हेतु है जो सोपाधिक है। यहाँ उपाधि है—आर्द्र इन्धन का संयोग। दूसरे शब्दों में, अग्नियुक्त पदार्थ तभी धूमवान् हो सकते हैं जब उनमें भींगा जलावन (Fuel) रहे। 'आर्द्रेन्धनसंयोग' (उपाधि) यहाँ साध्य को व्याप्त करता है किन्तु हेतु (अग्नि) को व्याप्त नहीं कर पाता। उपाधि के विषय में चार्वाक-दर्शन में हम विस्तृत-विवेचना कर चुके हैं।

(५) **कालातीत या बाधित** (False Reason)—जहाँ साध्य के अभाव की सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से (अनुमान को छोड़कर किसी प्रमाण से) हो वहाँ बाधित हेतु होता है। जैसे—अग्नि अनुष्ण (शीतल) है क्योंकि यह द्रव्य है। यहाँ 'शीतलता' साध्य है उसका अभाव उष्णता है जिसका निर्णय स्पर्शन-प्रत्यक्ष से होता है। द्रव्यों (हेतु) में केवल एक द्रव्य ही है (तेजस्) जो उष्ण होता है। आठ द्रव्यों को शीतल पाकर कोई नवम द्रव्य—अग्नि—को भी शीतल सिद्ध करना चाहता है परन्तु अनुभव (प्रत्यक्ष) से वह उष्ण सिद्ध हो जाता है। दूसरा उदाहरण—चीनी खट्टी है क्योंकि इससे अम्लता उत्पन्न होती है।*

अनुमान में हेत्वाभासों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वादी-प्रतिवादी के शास्त्रार्थ में हेतु या कारण की शुद्धिपर ध्यान देना परम आवश्यक है। संभव है कि ऊपर से देखने में हेतु शुद्ध लगता हो परन्तु वह हेत्वाभास हो। भारतीय तर्कशास्त्र में दोषों के प्रकरण में केवल हेतु का ही गला पकड़ा जाता है जब कि यूनानी तर्कशास्त्र में अन्य पदों (पक्ष, साध्य) की भी शुद्धता की परीक्षा होती है।

शब्दवृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतुश्छलम्। तत्त्रिविधम्। अभिधानतात्पर्योपचारवृत्तिव्यत्ययभेदात्।

शब्द की विभिन्न वृत्तियों (अर्थोत्पादक शक्तियों) को उलटकर जिसके द्वारा किसी की बात का विरोध किया जाय वही **छल** (Quibble) है। [न्याय-सूत्र के अनुसार, किसी शब्द के वैकल्पिक अर्थों के आधार पर वक्ता की उक्ति का खण्डन करना छल है। वक्ता किसी विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग

---

* साध्याभाव का निश्चय चूँकि प्रत्यक्ष से ही हो जाता है इसलिए हेतुवाक्य की कोई आवश्यकता नहीं रहती, उसके उच्चारण के पूर्व ही कार्य हो जाता है। इस तरह हेतु का काल (कार्यकाल) पहले ही बीत जाता है और इसे **कालातीत** कहते हैं।

करते हुए कोई बात कह रहा है। उसी समय छलवादी उस शब्द का दूसरा अर्थ लगाकर कहता है कि ऐसा कैसे होगा ?]

छल के तीन भेद हैं—अभिधानवृत्ति (Convention शक्ति) का व्यत्यय (उलटना), तात्पर्यवृत्ति (Purport) का व्यत्यय तथा उपचारवृत्ति (लक्षणा Indication) का व्यत्यय। [**अभिधानवृत्ति** के व्यत्यय से छल तब होता है जब किसी वाक्य में ऐसा शब्द दिया जाय जिसके कई वाच्यार्थ या मुख्यार्थ हों तथा उसके दूसरे अर्थ को दृष्टि में रखते हुए वाक्य का खण्डन करें। इसे ही न्यायसूत्र में वाक्छल (Quibble of a Term) कहा गया है। जैसे कोई कहे कि यह छात्र नव कम्बल से युक्त है। उसके कहने का अभिप्राय है 'नये कम्बल से'। अब चूँकि 'नव' का अर्थ नौ संख्या भी है, इसलिए छलवादी वाक्य काटता है कि इसके पास नव कम्बल कहाँ से आये, इस दरिद्र को तो एक भी कम्बल दुर्लभ है। **तात्पर्यवृत्ति** के व्यत्यय से होने वाले छल में एक ही शब्द के तात्पर्य के भेद से कई अर्थ होते हैं तथा एक तात्पर्यार्थ का दूसरे तात्पर्यार्थ से प्रतिषेध करते हैं। जैसे—सामान्य अर्थ (General Sense) में कोई कहता है कि ब्राह्मण में विद्या होती है, अब छलवादी उसका तात्पर्य यह समझकर कि सभी ब्राह्मणों में नियमतः विद्या होती है, इस उक्ति का निषेध करता है कि ब्राह्मण में विद्या कैसे संभव है, मूर्ख ब्राह्मण भी तो होते हैं। इस प्रकार सामान्यार्थ को विशेषार्थ में लेकर छलवादी बात काटता है। इसे न्यायसूत्र में सामान्यच्छल कहा गया है। **उपचारवृत्ति** के व्यत्यय से होनेवाले छल में किसी शब्द का लक्ष्यार्थ में प्रयोग देखकर छलवादी उसे वाच्यार्थ में लेकर बातें काटता है। जैसे—मंच चिल्ला रहे हैं; इसका लक्ष्यार्थ है कि मंच पर बैठे हुए लोग चिल्ला रहे हैं। अब छलवादी इसे वाच्यार्थ में ही लेकर कहता है कि अचेतन लकड़ी के बने मंच कैसे चिल्ला सकते हैं।]

(६. जाति और उसके चौबीस भेद)

स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः। सा चतुर्विंशतिधा। साधर्म्य-वैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्ति–संशय-प्रकरण–हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपल-ब्ध्यनुपलब्धि-नित्यानित्य-कार्यसमभेदात्।

अपने आपका विनाश करनेवाले उत्तर को **जाति** कहते हैं। [गौतम के अनुसार—साधर्म्य या वैधर्म्य के आधार पर किसी का विरोध करना जाति है। जैसे कोई वादी कहता है कि आत्मा निष्क्रिय है क्योंकि यह आकाश की तरह

व्यापक है। अब उसका प्रतिपक्षी उत्तर देता है कि यदि आत्मा आकाश की तरह व्यापक होने के कारण निष्क्रिय है तो वह घट की तरह अवयवसमूह होने के कारण सक्रिय क्यों नहीं है ? वादी की उक्ति में साधर्म्य से व्याप्ति-संबंध है पर प्रतिपक्षी की उक्ति में नहीं। व्यापक पदार्थ निष्क्रिय हैं, किन्तु अवयवसमूह के लिए सक्रिय होना आवश्यक नहीं।]

जाति के चौबीस भेद हैं—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसंगसम, प्रतिदृष्टान्तसम अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम तथा कार्यसम।

विशेष—जाति के चौबीस प्रकारों का वर्णन गौतम ने पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में अलग-अलग सूत्रों में किया है। इनमें प्रत्येक में 'सम' का प्रयोग बतलाता है कि जातियों में साधर्म्य आदि की समानता का प्रदर्शन किया जाता है—किसी में वैधर्म्य की तुलना होती है, किसी में उत्कर्ष की, तो किसी में नित्य की ही।

(१) **साधर्म्यसम** जाति में साधर्म्य में दिये गये उदाहरण से युक्त वाद (Argument) का विरोध किया जाता है तथा विरोधी पक्ष उसी प्रकार के उदाहरण का प्रयोग करता है जिस तरह का उदाहरण वादी ने दिया है। कोई वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का वाद रखता है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह उत्पन्न होता (कृतक) है जैसे घट। दूसरा व्यक्ति निम्न जाति के द्वारा उसका विरोध करता है—शब्द नित्य है क्योंकि यह अमूर्त्त है जैसे आकाश। वादी और विरोधी दोनों के उदाहरण एक प्रकार के हैं अर्थात् साधर्म्य के उदाहरण हैं। वादी अनित्य घट के साथ शब्द का **साधर्म्य** दिखाकर (क्योंकि दोनों कृतक हैं) शब्द को अनित्य सिद्ध करता है, प्रतिपक्षी नित्य आकाश के साथ शब्द का **साधर्म्य** दिखाकर (क्योंकि दोनों अमूर्त हैं) शब्द को नित्य सिद्ध करता है। दोनों ओर साधर्म्य के ही उदाहरण हैं। किन्तु प्रतिपक्षी का विरोध-पक्ष जाति है क्योंकि अमूर्त (हेतु) और नित्य (साध्य) में साहचर्य या व्याप्ति होना कोई आवश्यक नहीं।

(२) **वैधर्म्यसम** जाति में वैधर्म्य के उदाहरण से युक्त वाद का विरोध प्रतिपक्षी करता है तथा वह अपने विरोध-पक्ष में वैधर्म्य का ही उदाहरण देता है। वैधर्म्य के उदाहरण की समानता के कारण इसे वैधर्म्यसम कहते हैं। वादी का कथन है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक (Product) है, जो

अनित्य नहीं वह कृतक नहीं है जैसे आकाश। अब प्रतिपक्षी कहता है—शब्द नित्य है क्योंकि यह अमूर्त है, जो नित्य नहीं वह अमूर्त नहीं है जैसे घट। दोनों स्थानों पर वैधर्म्य के उदाहरण हैं, जिनको लेकर समता है! वादी शब्द और अनित्यहीन आकाश के वैधर्म्य के आधार पर शब्द को अनित्य सिद्ध करता है जब कि प्रतिपक्षी शब्द और अमूर्तहीन (मूर्त) घट के वैधर्म्य के आधार पर शब्द को नित्य सिद्ध करता है। प्रतिपक्षी का विरोध करना जाति है। गौतम का कहना है कि इन दोनों जातियों का उत्तर भी हो सकता है। गोत्व के कारण जैसे गौ की सिद्धि होती है उसी प्रकार हेतु और साध्य का संबंध भी साधर्म्य या वैधर्म्य से सिद्ध किया जा सकता है और जाति का निवारण हो सकता है (देखिये ५।१।३)।

(३) **उत्कर्षसम** जाति उसे कहते हैं जब वादी किसी उदाहरण के आधार पर अपना वाद प्रस्तुत करे और उसका विरोध प्रतिवादी किसी अधिक उत्कृष्ट विशेषणों से युक्त उदाहरण (Example having additional character) के आधार पर करे। जैसे वादी का कथन—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। अब प्रतिवादी कहता है—शब्द अनित्य तथा मूर्त है है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट (जो अनित्य तथा मूर्त भी है)। प्रतिवादी का यह तर्क है कि यदि शब्द को घट की तरह अनित्य मानते हैं तो घट ही की तरह वह मूर्त भी है। यदि मूर्त नहीं मानते हैं तो घट की तरह अनित्य भी न मानें। यहाँ दोनों पक्षों के वादों की समता उदाहरण के उत्कृष्ट गुण के आधार पर दिखाई गई है। यह उत्कृष्ट गुण उदाहरण में है तथा पक्ष (Subject) पर आरोपित हुआ है।

(४) **अपकर्षसम** उसे कहते हैं जहाँ वादी के द्वारा दिये गये उदाहरण से युक्त वाद का विरोध प्रतिपक्षी वैसे वाद से करे जिसके उदाहरण में कुछ धर्म का अपकर्ष दिखाया जाय। जैसे वादी के द्वारा दिये गये उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिपक्षी कहे कि शब्द अनित्य किन्तु अश्राव्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट (जो अनित्य तो है पर अश्राव्य है)। प्रतिपक्षी का तर्क है कि यदि घट के आधार पर आप शब्द को अनित्य मानते हैं तो घट की तरह ही उसे अश्राव्य भी मानें। यहाँ श्राव्यत्व-धर्म का अपकर्ष दिखलाया गया है।

(५) **वर्ण्यसम** जाति में वादी के द्वारा दिये गये उदाहरण का विरोध यह कह कर किया जाता है कि उदाहरण का धर्म भी उसी प्रकार प्रदर्शनीय है जिस प्रकार पक्ष का धर्म। वादी कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है जैसे घट। प्रतिवादी द्वारा खण्डन होता है—घट अनित्य है क्योंकि कृ तक है जैसे

शब्द। प्रतिवादी का तर्क है कि यदि शब्द की अनित्यता का प्रदर्शन कर रहे हैं तो उदाहरण के रूप में दिये गये घट का प्रदर्शन क्यों नहीं करते ? दोनों ही तो कृतक हैं। शब्द का उत्पादन तालु, ओष्ठ आदि के व्यापार से होता है जब कि घट का उत्पादन कुम्भकार आदि के व्यापार से होता है। पक्ष और उदाहरण दोनों की वर्ण्यता (Questionable Character) की समानता दिखलाई जाती है।

(६) **अवर्ण्यसम** जाति का अर्थ है कि जब वादी के उदाहरण पर यह आरोप लगाते हुए उसके वाद का खंडन करें कि पक्ष का धर्म उदाहरण के धर्म की तरह ही अवर्णनीय या सिद्ध है। वर्ण्यसम में जो वादी और प्रतिवादी के तर्क हैं उनमें जब प्रतिवादी यह कहे कि यदि दृष्टान्त के रूप में दिये गये घट में आप अनित्यता को अवर्ण्य या सिद्ध मानते हैं तो शब्द की अनित्यता भी अवर्ण्य या सिद्ध क्यों नहीं मानते ? दोनों ही तो उत्पन्न हैं। उसका तात्पर्य यह है कि अनित्यता सिद्ध करने के लिए किसी वाद को व्यर्थ माना जाय। इस प्रकार पक्ष और दृष्टान्त में अवर्ण्यता या सिद्धि को लेकर समानता है।

(७) **विकल्पसम** जाति वह है जिसमें प्रतिवादी किसी वाद का खंडन करने के लिए पक्ष और दृष्टान्त (उदाहरण) पर वैकल्पिक धर्मों का आरोप करे। वादी के उपर्युक्त वाद पर प्रतिपक्षी कहता है—शब्द नित्य और निराकार है क्योंकि यह उत्पन्न होता है जैसे घट (जो अनित्य और साकार है)। प्रतिवादी का कहना है कि घट और शब्द दोनों कृतक हैं किन्तु एक साकार है दूसरा निराकार। इसी सिद्धान्त पर एक (घट) अनित्य तथा दूसरा (शब्द) नित्य क्यों नहीं माना जाय ? दोनों पक्षों के तर्कों की समानता पक्ष और दृष्टान्त पर आरोपित वैकल्पिक धर्मों को लेकर दिखलाई गई है।

(८) **साध्यसम** जाति वह है जिसमें पक्ष और दृष्टान्त के पारस्परिक संबन्ध को लेकर किसी वाद का खण्डन हो। वादी का कथन है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है, जैसे घट। प्रतिवादी कहता है—घट अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे शब्द। शब्द और घट दोनों कृतक होने के कारण सिद्धि की अपेक्षा रखते हैं। शब्द को घट के दृष्टान्त से अनित्य सिद्ध करते हैं, घट को शब्द के दृष्टान्त से। घट को शब्द के दृष्टान्त से श्रावण भी सिद्ध कर सकते हैं। फल यह होगा कि निर्णय नहीं होगा——न तो नित्यता सिद्ध होगी न अनित्यता। अतः पक्ष और दृष्टान्त में अन्योन्याश्रय दोष लगाकर निर्णय रोक लेते हैं।

(९) **प्राप्तिसम** जाति उसे कहते हैं जिसमें हेतु और साध्य के सहचार-संबंध पर आधारित वाद का विरोध उसी प्रकार के वाद से किया जाय। ऐसी

स्थिति में चूँकि हेतु साध्य से पृथक् करके समझा नहीं जा सकता, इसलिए जाति प्राप्ति (सहचार) सम कहलाती है। वादी पर्वत में अग्नि सिद्ध करने के लिए तर्क करता है—पर्वत अग्नि से युक्त है क्योंकि वहाँ धूम है जैसे रसोईघर में। अब प्रतिवादी कहता है—पर्वत धूमवान् है क्योंकि वहाँ अग्नि है जैसे रसोईघर में। प्रतिवादी का अभिप्राय यह है कि अग्नि और धूम के संबन्ध का पार्थक्य न रहने के कारण धूम साधन है कि साध्य, यह निश्चय करना कठिन है। उसके अनुसार धूम भी साधन के रूप में रखा जा सकता है। अतः साध्य और साधन का सहचार देखकर किसी के वाद को रोक देना प्राप्तिसम है।

(१०) **अप्राप्तिसम** जाति उसे कहते हैं जहाँ साध्य और साधन के असंबंध के आधार पर किसी वाद का विरोध करें। पूर्व उदाहरण में प्रतिवादी का यह पूछना है कि क्या धूम को हेतु मान सकते हैं चूँकि वह अग्नियुक्त स्थानों में अनुपस्थित है ? किन्तु ऐसा सोचना गलत होगा। साध्य से बिना सम्बन्ध हुए हेतु कभी भी पक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता। अपनी पहुँच के बाहर की चीजों को प्रकाश प्रकाशित नहीं कर पाता। यदि साध्य से असंबद्ध हेतु साध्य की सिद्धि कर ले तो अग्नि भी हेतु हो सकती है। इस प्रकार दोनों के परस्पर असंबंध से वादी की उक्ति रोकी जाती है।

(११) **प्रसंगसम** जाति वहाँ होती है जहाँ वादी की उक्ति को रोकने के लिए वादी के द्वारा दिये गये साधन (हेतु) को सिद्धि के लिए पुनः दूसरे साधन की आवश्यकता बतलाई जाती है, पुनः उस साधन की सिद्धि के लिए दूसरे साधन की सिद्धि—इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग लाया जाता है। वादी की उक्ति—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। प्रतिवादी पूछता है कि घट को आप कैसे अनित्य मानते हैं इसके लिये दूसरे साधन की जरूरत है। इस प्रकार इसमें अनवस्था का प्रसंग लाकर 'शब्द की अनित्यता' की सिद्धि असंभव कर देते हैं।

(१२) **प्रतिदृष्टान्तसम** जाति तब होती है जब विरोधी दृष्टान्त देकर वादी का विरोध किया जाय। कोई वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए घट का दृष्टान्त देता है तो प्रतिवादी उसकी नित्यता सिद्ध करने के लिए आकाश का दृष्टान्त देता है। यदि आकाश के दृष्टान्त का खंडन करेंगे तो घट के दृष्टान्त का भी विरोध किया जा सकता है।

(१३) **अनुत्पत्तिसम** जाति का अर्थ है कि जब तक पक्ष की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक साध्य को सिद्ध करने वाला साधन काम में नहीं लाया जा सकता—इस आधार पर ही वादी की उक्ति का विरोध कर देते हैं। वादी

कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह प्रयत्न से उत्पन्न होता है जैसे घट। अब प्रतिवादी जाति के द्वारा विरोध करता है—शब्द नित्य है क्योंकि यह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता जैसे आकाश। प्रतिवादी का अभिप्राय यह है कि वादी की उक्ति में जो 'प्रयत्नोत्पाद्य' (कृतक) हेतु दिया गया है वह तब तक कारण (हेतु) के रूप में नहीं दिया जा सकता जब तक पक्ष (शब्द) की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यहाँ 'प्रयत्न' है, कार्य 'शब्द'। कारण के बाद ही तो कार्य होता है—हेतु तब तक शुद्ध नहीं होगा जब तक पक्ष की उत्पत्ति नहीं हो, पर यहाँ विषमता हो जाती है। पक्ष अभी आया नहीं और उधर पक्ष का ही कारण हेतु (प्रयत्न) रख दिया गया। खंडन का फल यह हुआ कि शब्द को नित्य मानना पड़ेगा।

(१४) **संशयसम** जाति में वादी का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि दृष्टान्त तथा सामान्य (Genus) दोनों के समान रूप से इन्द्रियग्राह्य (ऐन्द्रियक) होने के कारण, उनके नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की वस्तुओं का साधर्म्य देखकर संशय होता है। वादी की उक्ति है कि कृतक होने से घट की तरह शब्द अनित्य है। अब प्रतिवादी संशय करता है—शब्द नित्य या अनित्य है क्योंकि यह इन्द्रियग्राह्य है जैसे घट या घटत्व। प्रतिवादी कहता है कि कृतक होने से कारण (शब्द और घट में कृतकत्व का साधर्म्य देखकर) शब्द अनित्य है जब कि इन्द्रियग्राह्य होने के कारण घटत्व की तरह शब्द नित्य है, यह सन्देह होता है। वादी का विरोध तो हुआ।

(१५) **प्रकरणसम** वह जाति है जिसमें दोनों पक्षों (नित्य और अनित्य) के साधर्म्य (या वैधर्म्य) से वादी का विरोध करते हैं। वादी उपर्युक्त रीति से शब्द को अनित्य सिद्ध करता है जब कि प्रतिवादी कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि यह श्रवणीय है जैसे शब्दत्व। प्रतिवादी कहता है कि शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि हेतु (श्रवणीयता) शब्द तथा शब्दत्व दोनों में (जो क्रमशः अनित्य और नित्य हैं) साधर्म्य रखता है तथा यह वही शास्त्रार्थ आरंभ करता है जिसके साधन के लिए इसका प्रयोग हुआ था। 'श्रवणीयता'-हेतु शब्द को अनित्य सिद्ध करने ने लिए प्रयुक्त हुआ और उलटे यह नित्यानित्य का विवाद खड़ा कर देता है।

(१६) **हेतुसम** (या अहेतुसम) जाति में हेतु को तीनों कालों में असिद्ध करके वादी का विरोध करते हैं। वादी की उक्ति—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। अब प्रतिवादी कहता है कि हेतु साध्य के पहले हुआ कि पीछे कि साथ-साथ ? यदि हेतु (कृतकत्व) साध्य (अनित्य) के पहले

हुआ तब तो हेतु का नाम ही पड़ना कठिन है। साधन (हेतु) के समय यदि साध्य ही नहीं रहा तो साधन होगा किसका ? यदि हेतु साध्य के बाद आता है तब तो हेतु की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि साध्य तो पहले से है (=सिद्ध है)। यदि हेतु और साध्य एक ही साथ आवें तब तो गाय की बायीं-दायीं सींग के समान संबद्ध रहने से साध्य-साधनका संबंध नहीं रह सकेगा। यह जाति वास्तव में कारक और ज्ञापक हेतुओं को एक समझने के कारण उत्पन्न होती है।

(१७) **अर्थापत्तिसम** वह जाति है जिसमें विरोधीदल अर्थापत्ति (अन्यथा असिद्धि का आभास) के द्वारा वादी का खंडन करता है। वादी की उपर्युक्त उक्ति का विरोध प्रतिवादी यों करता है--शब्द को यदि अनित्य मानते हैं तो अर्थ से ही ज्ञात होता है कि शब्द के अतिरिक्त सभी चीजें नित्य हैं। घट का दृष्टान्त भी तो नित्य ही है फिर आप इसे अनित्य की सिद्धि के लिए क्यों रखते हैं ? तब अर्थापत्ति से, शब्द नित्य है क्योंकि यह आकाश की तरह अमूर्त है—यह सिद्ध हुआ।

(१८) **अविशेषसम** जाति वहाँ होती है जब वादी का विरोध इस आधार पर करते हैं कि यदि पक्ष और दृष्टान्त में समता (अविशेष Absence of difference) है तो सभी पदार्थों के साथ भी समता (अविशेष) दिखलाई जा सकती है। यदि शब्द (पक्ष) और घट (दृष्टान्त) में कृतकत्व के चलते समता है तो प्रमेयत्व के चलते शब्द के साथ सभी पदार्थों की भी समता दिखाई जा सकती है। सब तो तब के सब पदार्थ नित्य या अनित्य कुछ भी किये जा सकते हैं।

(१९) **उपपत्तिसम** जाति वह है जिसमें पृथक्-पृथक् हेतुओं से साध्य और उसके विरोध दोनों की सिद्धि की जा सके। यदि कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है तो अवयवरहित होने के कारण वह नित्य क्यों नहीं हो सकता ? पहले वाद में घट दृष्टान्त होगा, दूसरे में आकाश।

(२०) **उपलब्धिसम** जाति उसे कहते हैं जिसमें वादी का खंडन करने के लिए यह कहा जाता है कि आपके द्वारा निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी दूसरे कारणों से (प्रत्यक्षादि से) हम साध्य का ज्ञान पा लेते हैं। वादी की यह उक्ति कि पर्वत धूम के कारण अग्निमान् है, खंडित हो सकती है कि धूम के बिना भी आलोक आदि देखकर हम अग्नि का पता लगा लेते हैं। शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए 'कृतकत्व' हेतु देने की आवश्यकता नहीं, उसके बिना भी हवा के झकोरे से पेड़ों की डालों को टूटते देखकर शब्द की अनित्यता सिद्ध होती

है। शब्द हुआ और समाप्त। एक कार्य का एक ही कारण होता है, ऐसी धारणा है, इसीलिए यह जाति लगती है।

(२१) **अनुपलब्धिसम** वह जाति है जिसमें किसी वस्तु की अनुपलब्धि (Non-perception अप्रत्यक्ष) देखकर उस वस्तु का अभाव सिद्ध करनेवाले वाद का खण्डन (उसके विरुद्ध निगमन की सिद्धि) अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि दिखाकर करते हैं। नैयायिक (वादी) कहता है कि शब्द को ढँकनेवाला कोई आवरण नहीं है क्योंकि हम उसे नहीं पाते (२।२।१८)। अब प्रतिवादी कहता है कि आवरण है क्योंकि इसके अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रतिवादी के अनुसार यदि किसी वस्तु के अप्रत्यक्ष से वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाय तो उसके अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष न होने से वस्तु की सत्ता अवश्य सिद्ध हो जायगी। तदनुसार शब्द को अनित्य नहीं मानें।

(२२) **नित्यसम** जाति वह है जिसमें धर्म के नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो विकल्पों के द्वारा धर्मी को नित्य सिद्ध करते हुए वादी का खण्डन करते हैं। नैयायिक सिद्ध करते हैं कि शब्द (धर्मी) अनित्य है। अब प्रतिवादी पूछता है कि शब्द का यह अनित्य-धर्म स्वयं नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो धर्मी के बिना धर्म की स्थिति असम्भव है इसलिए धर्मी (शब्द) की भी नित्यता माननी पड़ेगी। यदि अनित्य है तो इसका अर्थ यही हुआ कि शब्द की अनित्यता अनित्य है अर्थात् शब्द नित्य है। किसी प्रकार भी शब्द की नित्यता ही सिद्ध हो जाती है।

(२३) **अनित्यसम** जाति वह है जब कुछ वस्तुओं की समता देखकर उनमें समान धर्म की सिद्धि करके सभी वस्तुओं को अनित्य मान लें। यदि कृतक होने के कारण घट के साधर्म्य से शब्द को आप लोग अनित्य मानते हैं तो प्रमेयत्व (Knowability) होने के कारण घट के साधर्म्य से सभी वस्तुएँ ही अनित्य हो जायँगी। इस प्रकार सभी वस्तुओं को अनित्य मानने का दोष लगा कर जाति के द्वारा शब्द की अनित्यता का खण्डन करते हैं।

(२४) **कार्यसम** जाति उसे कहते हैं जहाँ किसी प्रयत्न के अनेक कार्य (परिणाम Effect) दिखाकर किसी वाद का खण्डन करते हैं। वादी कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि यह प्रयत्न का परिणाम है। अब प्रतिवादी कहता है कि प्रयत्न के कार्य दो प्रकार के हैं—(१) असत् वस्तु की उत्पत्ति जैसे घट और (२) पहले से विद्यमान (सत्) वस्तु की अभिव्यक्ति जैसे कूपजल। शब्द इन दोनों में किस प्रकार का कार्य है ? पहली स्थिति में तो शब्द अनित्य रहेगा किन्तु दूसरी स्थिति में नित्यता आ जाती है। इस प्रकार कार्य की अनेकता से शब्दानित्यत्व सिद्ध होना कठिन है।

गौतम ने न्यायशास्त्र के पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में इन जातियों की विवेचना करते हुए इनमें दोषों की उद्भावना करने की विधि भी बतलाई है। विशेष ज्ञान के लिए वात्स्यायनभाष्य देखें।

(६ क. निग्रहस्थान और उसके बाईस भेद)

पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानम्। तद् द्वाविंशतिप्रकारम्। प्रतिज्ञाहानि-प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञाविरोध-प्रतिज्ञासंन्यास-हेत्वन्तरार्थान्तर-निरर्थकाविज्ञातार्थापार्थकाप्राप्तकाल-न्यूनाधिक-पुनरुक्तानुनुभाषणाज्ञानाप्रतिभा-विक्षेप-मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्योपेक्षण-निरनुयोज्यानुयोगापसिद्धान्त-हेत्वाभासभेदात्।

अत्र सर्वान्तर्गणिकस्तु विशेषस्तत्र शास्त्रे विस्पष्टोऽपि विस्तरभिया न प्रस्तूयते।

[किसी शास्त्रार्थ में] पराजय प्राप्त करने के जो-जो कारण हैं उन्हें निग्रहस्थान (Occasion for rebuke) कहते हैं। ये बाईस प्रकार के हैं—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास।

यहाँ इन सब के अवान्तर भेदों का वर्णन विस्तार के भय से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं क्योंकि [न्याय-] शास्त्र में ये अच्छी तरह से स्पष्ट किये गये हैं।

विशेष—कोई वादी शास्त्रार्थ में इसलिए परास्त होता है कि वह निग्रहस्थान के किसी न किसी भेद की चपेट में पड़ जाता है। मध्यस्थों के लिए निग्रहस्थान बड़े काम की चीज है कि जब कोई शास्त्रार्थी आँखों में धूल झोंककर आगे बढ़ा जा रहा हो तो उसे रोकें!

(१) अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होता देखकर उसका निषेध करने वाली प्रतिज्ञा मान लेना प्रतिज्ञाहानि है। शब्द ऐन्द्रियक होने के कारण अनित्य है, इस वाद का विरोध प्रतिवादी करता है कि सामान्य भी तो ऐन्द्रियक है पर नित्य है। ऐसा सुनते ही वादी कहता है कि तब शब्द नित्य है। स्पष्ट रूप से यह पराजय है। (२) अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन देखकर दूसरी प्रतिज्ञा मान लेना प्रतिज्ञान्तर है। वादी की प्रतिज्ञा पूर्ववत् है, प्रतिपक्षी ने उसी तरह

खण्डन किया। अब वादी महाशय करवट बदलते हैं—सामान्य तो व्यापक है, अव्यापक शब्द अनित्य है। स्पष्टत: अपनी प्रतिज्ञा का वादी ने मौका देखकर संशोधन कर लिया, पर यह पकड़ा जायगा। (३) प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्य में विरोध होने से **प्रतिज्ञाविरोध** होता है। द्रव्य गुण से भिन्न है क्योंकि इसमें रूप, रस आदि गुणों से भिन्नता नहीं मिलती है। प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार द्रव्य गुण से भिन्न है जब कि हेतुवाक्य के अनुसार द्रव्य गुण से भिन्न नहीं। बहुधा मन और वाणी का संबंध न होने से ऐसी बातें निकल पड़ती हैं जहाँ हारने का अवसर आ जाता है। (४) अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन देखकर अपनी कही हुई बातों को अस्वीकार करना **प्रतिज्ञा-संन्यास** है। शब्द के अनित्य होने की प्रतिज्ञा का किसी ने अच्छी तरह खण्डन किया। अब वादी महाशय अपनी प्रतिज्ञा पर ही टूटे कि किसने कहा था कि शब्द अनित्य है ? मैंने कहा था ? कभी नहीं। (५) साधारण हेतु के काट दिये जाने पर विशेष प्रकार का हेतु देना **हेत्वन्तर** है। शब्द अनित्य है क्योंकि बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य है। अब प्रतिवादी दोष दिखाता है कि ऐसा करने पर सामान्य नामक पदार्थ में व्यभिचार होगा अर्थात् सामान्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष है पर नित्य नहीं। तब हेतु में संशोधन करने की आवश्यकता पड़ती है—'सामान्य से युक्त होने पर' (सामान्यवत्त्वे सति) बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष होने के कारण······इत्यादि। सायण की ऋग्वेद-भाष्यभूमिका में मन्त्रों की प्रामाणिकता दिखाने के समय या व्याप्ति के लक्षण देने में नव्यन्याय में इसका बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। सूक्ष्मता के लिए या शुद्धतम लक्षण देने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है।

(६) किसी प्रकरण में अप्रासंगिक बातें देना **अर्थान्तर** है। कोई हेतु का प्रयोग करे और हि-धातु (हिनोति) में तुन् प्रत्यय करने से धातु को गुण करके 'हेतु' शब्द की व्युत्पत्ति समझाने लगे, तो उसे न्याय-शास्त्र में क्या कहेंगे ? बहुधा वैद्यराज किसी रोग का विवेचन करने के पूर्व अपने वैयाकरण-तत्त्व का प्रदर्शन अवश्य करते हैं। यह अप्रासंगिकता भी पराजय का कारण है। (७) निरर्थक अक्षरों का प्रयोग करके तर्क करना **निरर्थक** निग्रहस्थान है जैसे—कचटतप शब्द नित्य हैं क्योंकि ये खछठथफ से संबद्ध हैं जैसे गजडदब। इन वर्णसमूहों का कोई मतलब नहीं। (८) जब वादी ऐसा बोले कि तीन बार कहने पर भी न तो परिषद् के सदस्य (निर्णायकादि) समझें और न प्रतिवादी ही समझे तो उसे **अविज्ञातार्थ** कहते हैं। ऐसा तब होता है जब वादी श्लिष्ट, असमर्थ, अप्रतीत या भिन्नभाषा के शब्दों का प्रयोग करता है अथवा शब्दों का जल्दी-जल्दी उच्चारण करता है। (९) आकांक्षा, योग्यता आदि से रहित तथा पूर्वापर से

असंबद्ध उक्ति को **अपार्थक** कहते हैं। कोई व्यक्ति परास्त होने के भय से कोई उपाय न देखकर बचने के लिए—दश दाडिमानि, षडपूपाः (दस अनार, छह पुए) या आग से सींचता है आदि—बकने लगता है। (१०) प्रतिज्ञा, हेतु आदि वाक्यों को उलट-पुलट कर रखना **अप्राप्तकाल** कहलाता है। पंचावयव अनुमान के नियम का उल्लंघन करना वास्तव में परास्त होना है। (११) प्रतिज्ञादि अवयवों में से एकाध अवयव का प्रयोग न करना **न्यून** कहलाता है। (१२) एक से अधिक हेतु या उदाहरण देना **अधिक** है। एक ही हेतु या उदाहरण से साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी अधिक का प्रयोग करनेवाला हारेगा ही।

(१३) किसी वाक्य का उसी रूप में या प्रकारान्तर से बार-बार कहना **पुनरुक्त** है। हाँ, अनुवाद में कोई दोष नहीं। अनुवाद विधि के द्वारा विहित वस्तु की आवृत्ति करने को कहते हैं (न्यायसूत्र २।१।६५)। (१४) जब निर्णायक लोग तीन बार बोलने को कहें फिर भी वादी कुछ न बोले तो इसे **अननुभाषण** कहते हैं जिससे वादी पराजित माना जाता है। (१५) वादी या पतिवादी की उक्ति को प्रतिवादी या वादी न समझे किन्तु मध्यस्थ समझ रहे हों तो उसे **अज्ञान** कहते हैं। जबतक शास्त्रार्थी एक दूसरे की बात नहीं समझेंगे तबतक शास्त्रार्थ करेंगे ही कैसे ? (१६) दूसरे के द्वारा दिये गये उत्तर को समझ लेनेपर भी उसका उत्तर न देना **अप्रतिभा** है। इससे भी पराजय होती है। (१७) जब कोई शास्त्रार्थी हारने के डर से किसी काम का बहाना करके शास्त्रार्थ छोड़कर चल दे तो उसे **विक्षेप** कहते हैं। जैसे शास्त्रार्थ करते-करते कोई कहता है कि मेरे शौच का समय है, मैं चला। यदि इसके लिए पर्याप्त कारण हो तो कोई दोष नहीं। (१८) अपने पक्ष पर दोष आते देख कर दूसरे पक्ष पर भी वही दोष लगा देना और अपने दोष का निराकरण न करना **मतानुज्ञा** है। इससे वादी अपने दोष को स्वीकार करता है, ऐसा समझा जाता है। वादी को कहा गया कि तुम चोर हो। अब वादी इसका प्रतिवाद तो करता नहीं, उलटे दोष दिखानेवाले को भी चोर बनाता है। आज का समाज इसका मूर्तिमान् स्वरूप है।

(१९) प्रतिपक्षी की पराजय हो जाने पर भी यदि अपनी सरलता से कोई उसकी उपेक्षा कर दे तो उसे **पर्यनुयोज्योपेक्षण** कहते हैं। उपेक्षा करनेवाला भी दण्डनीय है। (२०) जहाँ किसी की पराजय वास्तव में न हुई हो किन्तु 'उसकी पराजय हुई' ऐसा कहना **निरनुयोज्यानुयोग** है। (२१) यदि कोई व्यक्ति किसी सिद्धान्त की स्थापना करके वाद के क्रम में उस सिद्धान्त

से हटने लगे तो उसे **अपसिद्धान्त** कहते हैं। परास्त होने के भय से लोग प्रायः अपने सिद्धान्तों की तिलांजलि देकर दूसरों की ओर झुकने लगते हैं पर सीधे नहीं, प्रकारान्तर से। स्वार्थ किसे अचेत नहीं करता? (२२) **हेत्वाभासों** की चपेट में पड़ जाने से भी पराजय का प्रसंग हो जाता है। इनका वर्णन हम कर ही चुके हैं।

अब हम अभी तक वर्णन किये गये न्यायशास्त्रीय पदार्थों की उपादेयता पर विचार करें। प्रमेह के बारह भेदों में जो अर्थ नामक भेद है उसके अन्दर ही प्रमेय को छोड़कर अन्य पंद्रह पदार्थ चले आते हैं, प्रमेयों में भी अर्थ को छोड़कर अन्य सभी प्रमेय उसके अन्दर ही हैं। सूत्रकार यह अन्तर्भाव मानते भी हैं किन्तु मोक्ष के साधन होने के कारण इन सबों को पृथक्-पृथक् रखा गया है। **मोक्ष** (१२) का अर्थ दुःख से बिल्कुल बच जाना। **दुःख** (११) मृत्यु तथा गर्भवासरूपी **प्रेत्यभाव** (९) से होता है। प्रेत्यभाव भी सुख-दुःख का **फल** (१०) उत्पन्न करने वाली **प्रवृत्ति** (७) से उत्पन्न होता है। प्रवृत्ति भी **मनोगत** (६) राग-द्वेष-मोह रूपी **दोषों** (८) से होती है। दोष की हानि **शरीर** (२), **इन्द्रिय** (३) और **अर्थ** (४) से पृथक् रूप में आत्मा (१) के तत्त्व के **ज्ञान** (५) से होता है। इस प्रकार ये प्रमेय मोक्ष के उपयोगी हैं।

षोडश पदार्थों की उपादेयता भी कम नहीं। **प्रमेय** (२) में गिनाये गये तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना ही **प्रमाणों** (१) का **प्रयोजन** (४) है। प्रमाणों में सूक्ष्म विषय के लिए अनुमान ही **पंचावयव** (७) से युक्त होकर **दृष्टान्त** (५) के आधार पर अनुग्राहक **तर्क** (८) की सहायता से **संशय** (३) का निराकरण करके **सिद्धान्त** (६) के अनुसार **निर्णय** (९) दे सकता है। निर्णय भी पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह करने वाली कथा के भेदों में **वाद** (१०) के द्वारा ही दृढ़ हो सकता है। कथा में भी **जल्प** (११), **वितण्डा** (१२), **हेत्वाभास** (१३), **छल** (१४), **जाति** (१५) तथा **निग्रहस्थान** (१६) का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि ये त्याज्य हैं। इस प्रकार सूत्रकार के द्वारा दिखलाये गये सभी पदार्थों का ज्ञान मोक्ष के लिए उपयोगी है।

अब, इन पदार्थों के साथ हमारा क्या व्यवहार हो? जल्प आदि का प्रयोग तो स्वयं करना ही नहीं चाहिए। यदि दूसरे प्रयोग कर रहे हैं तो मध्यस्थों को चाहिए कि वे उन्हें दोष दिखाकर रोकें। यदि प्रतिपक्षी अज्ञानी, मूर्ख या हठी हो तो मौन धारण करना ही अच्छा है। यदि मध्यस्थ अनुमति दें तो छल आदि का प्रयोग करके उस मूर्ख को परास्त कर दें। ऐसा

न होने से जनता समझेगी कि चुप हो जाने के कारण यह परास्त हो गया और प्रतिपक्षी की बात मान लेने से अज्ञानी लोग ठगे जायँगे ।*

(७. न्यायशास्त्र का नामकरण)

ननु प्रमाणादिपदार्थषोडशके प्रतिपाद्यमाने कथमिदं न्यायशास्त्रमिति व्यपदिश्यते ? सत्यम् । तथाप्यसाधारण्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन न्यायस्य परार्थानुमानापरपर्यायस्य सकलविद्यानुग्राहकतया सर्वकर्मानुष्ठानसाधनतया प्रधानत्वेन तथा व्यपदेशो युज्यते ।

कोई पूछता है कि इस शास्त्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का प्रतिपादन होता है फिर इसे 'न्यायशास्त्र' क्यों कहते हैं ? शंका ठीक है, पर एक नियम है कि किसी असाधारण (प्रधान) वस्तु के [नाम पर समूह भर का] नाम पड़ता है — इसी नियम से न्याय को, जिसका दूसरा नाम परार्थानुमान भी है, सभी ज्ञानों का अनुग्राहक (सहायक) होने के कारण तथा सभी कर्मों के सम्पादन का साधन होने के कारण प्रधान होने से वैसा नाम (व्यपदेश) ठीक ही दिया गया है । [अभिप्राय यह है कि पंचावयव वाक्यों से बने हुए परार्थानुमान को न्याय कहते हैं । जिससे विवक्षित अर्थ की सिद्धि हो वही न्याय है (नि + √इ + घञ्) । इस शास्त्र में परार्थानुमान का प्रमुख स्थान है क्योंकि इसीसे सभी ज्ञान प्राप्त होते हैं, शास्त्रार्थ चलते हैं तथा जय-पराजय होती है । किसी की प्रधानता देखकर पूरे समूह का नाम वैसा ही रख देते हैं । परार्थानुमान का नाम न्याय तो है ही, पूरे शास्त्र को ही न्याय कहते हैं ।]

तथाभाणि सर्वज्ञेन—'सोऽयं परमो न्यायो विप्रतिपन्नपुरुषं प्रति प्रतिपादकत्वात् । तथा प्रवृत्तिहेतुत्वाच्च' (न्या० सू० वार्तिक १।१।१) इति । पक्षिलस्वामिना च—'सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्यमाना—

---

* अन्यत्र कहा गया है—

दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादितिच्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥

३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता ॥
(न्या० सू० भाष्य १।१।१) इति ।

इसीलिए भासर्वज्ञ ने कहा है—'विरोधी व्यक्ति के सामने भी तत्त्व का प्रतिपादक होने के कारण यही परम न्याय (मुख्य प्रमाण, निर्णायक) है, उसी प्रकार इसी (परार्थानुमान) से प्रवृत्ति (क्रिया) भी उत्पन्न होती है ।' (न्यायसूत्रवार्तिक १।१।१) ।

पक्षिलस्वामी (वात्स्यायन, √पक्ष + इलच् = पक्ष अर्थात् तत्त्वज्ञान का परिग्रह करने वाले) ने भी कहा है—यही आन्वीक्षिकी (न्याय) विद्या है जो प्रमाण आदि सोलह पदार्थों में बँटकर—(३) यह सभी विद्याओं (ज्ञानों) के लिए दीपक के समान है, सभी कर्मों का उपाय है, सभी धर्मों का आश्रयस्थान है तथा ज्ञान के व्याख्यान में पूर्णतः परीक्षित हो चुकी है ।) (वात्स्यायन भाष्य १।१।१) ।

विशेष—प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा जिस पदार्थ को देख चुके हैं उन्हें अनुमान के द्वारा फिर से देखना (परीक्षा करना) अन्वीक्षा है अर्थात् अन्वीक्षा = अनुमान (प्रत्यक्ष और आगम पर आश्रित) । अन्वीक्षा (अनुमान) से जो शास्त्र चलता है (प्रवृत्त होता है) वह आन्वीक्षिकी या न्यायशास्त्र है। उक्त श्लोक में वात्स्यायन ने न्याय की बड़ी प्रशंसा की है ।

(८. अपवर्ग के साधन—न्याय का द्वितीय सूत्र)

ननु तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं भवतीत्युक्तम् । तत्र किं तत्त्वज्ञानादनन्तरमेव निःश्रेयसं संपद्यते ? नेत्युच्यते । किन्तु तत्त्वज्ञानाद् 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२) इति ।

तत्र मिथ्याज्ञानं नामानात्मनि देहादावात्मबुद्धिः । तदनुकूलेषु रागः । तत्प्रतिकूलेषु द्वेषः । वस्तुतस्त्वात्मनः प्रतिकूलमनुकूलं वा न किंचिद्वस्त्वस्ति । परस्परानुबन्धित्वाच्च रागादीनां मूढो रज्यति, रक्तो मुह्यति, मूढः कुप्यति, कुपितो मुह्यतीति ।

आप कह चुके हैं कि तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है तो अब यह बतलाइये कि तत्त्वज्ञान होने के बाद ही क्या निःश्रेयस मिल जाता है ? उत्तर होगा कि नहीं। बल्कि तत्त्वज्ञान के बाद 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान--इन सब में उत्तरोत्तर कारण का क्रमशः विनाश होने पर उस कारण के पूर्व अव्यवहित रूप से विद्यमान (अनन्तर) कार्य का विनाश होता है और अन्त में अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।' (न्यायसूत्र १।१।२)। [दुःखादि की श्रृंखला में एक कार्य है दूसरा कारण। दुःख जन्म के कारण है, जन्म प्रवृत्ति के कारण, प्रवृत्ति दोष के कारण और दोष मिथ्याज्ञान के कारण। उत्तरोत्तर वस्तु (कारण) के विनाश से पूर्व-पूर्व वस्तु (कार्य) का विनाश होगा—कारणाभावात्कार्याभावः। मिथ्याज्ञान नष्ट होने से इसके अनन्तर आने वाले दोष का नाश होगा, दोषनाश से प्रवृत्तिनाश, उसके बाद जन्मनाश और तब दुःखनाश। 'दुःख से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही तो अपवर्ग है' (न्यायसूत्र १।१।२२)। इस प्रकार तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के बीच कई सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है आदि।]

अब **मिथ्याज्ञान** का अर्थ है कि अनात्मा अर्थात् देह आदि को आत्मा मान लेना। [देह आदि = देह, स्त्री, पुत्र, धन, इन्द्रिय, मन आदि।] उसके बाद [देहादि के] अनुकूल पड़ने वाले पदार्थों में राग (प्रेम) उत्पन्न होता है तथा उसके प्रतिकूल पड़ने वाले पदार्थों से द्वेष होता है। किन्तु वास्तव में आत्मा के प्रतिकूल या अनुकूल कोई भी वस्तु नहीं है। [मिथ्याज्ञान के कारण शरीरादि के अनुकूल या प्रतिकूल पड़नेवाले पदार्थों को हम यह कह बैठते हैं कि अमुक वस्तु मेरी आत्मा के अनुकूल है या प्रतिकूल है। आत्मा तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण से भिन्न पदार्थ है। उसमें एक दोष लग जाने पर उसी के अनुषङ्ग से दूसरे दोष भी लग जाते हैं। किन्तु वास्तव में वे आत्मा के स्वरूप के साथ नहीं हैं। मिथ्याज्ञान होने के कारण दोष भी आत्मा पर लगते हैं। यदि कारण नष्ट हो जाय तो दोष भी अपने आप हट जायँगे।]

राग आदि दोषों के पारस्परिक बँधे रहने के कारण देखा जाता है कि मोह से ग्रस्त प्राणी राग (Attachment) धारण करता है; रागयुक्त प्राणी मोह धारण करता है; मूढ (मोह से ग्रस्त) क्रोध करता है, क्रोधग्रस्त मोह करता है आदि। [वात्स्यायन कहते हैं कि इसी मिथ्याज्ञान से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष का अधिकार होने से असत्य, ईर्ष्या, माया (कपटाचार) लोभ आदि भी दोष कहलाते हैं। दोषों से भर जाने पर शरीर, वाणी या मन में प्रवृत्ति जागती है जिससे नाना प्रकार की क्रियायें उत्पन्न

होती हैं। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है (जिससे धर्म होता है), बुरी भी (जिससे अधर्म होता है)। प्रवृत्ति के साधन धर्म और अधर्म को भी प्रवृत्ति शब्द में ही रखते हैं। अब इस प्रवृत्ति से निन्दित या पूजित जन्म मिलता है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि के निकाय (समूह) से बने हुए प्रादुर्भाव को ही जन्म कहते हैं। जन्म से दुःख होता है। मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक जो भी धर्म हैं वे अविच्छिन्न हैं जिनका प्रवर्तन ही संसार है। इनका विनाश होने पर अपवर्ग मिलता है। नीचे शेष धर्मों की व्याख्या हो रही है।]

ततस्तैर्दोषैः प्रेरितः प्राणी प्रतिषिद्धानि शरीरेण हिंसास्तेयादीनि आचरति। वाचा अनृतादीनि। मनसा परद्रोहादीनि। सेयं पापरूपा प्रवृत्तिरधर्मः। शरीरेण प्रशस्तानि दानपरपरित्राणादीनि। वाचा हितसत्यादीनि। मनसा अजिघांसादीनि। सेयं पुण्यरूपा प्रवृत्तिर्धर्मः। सेयमुभयी प्रवृत्तिः।

प्रवृत्ति—तब उन दोषों (राग-द्वेषादि) से प्रेरित होकर प्राणी निषिद्ध कार्यों में शरीर से हिंसा, स्तेय (चोरी) आदि कार्य, वाणी से झूठ बोलना आदि तथा मन से परद्रोह आदि आचरण करता है। तो यह प्रवृत्ति पाप की है जिसे अधर्म कहते हैं। अब प्रशस्त कार्यों में शरीर से दान, दूसरों की रक्षा आदि करना, वाणी से हितकर बातें बोलना, सत्य बोलना आदि, मन से किसी की हिंसा न करने की इच्छा आदि। यह पुण्य की प्रवृत्ति है और इसे ही धर्म कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों रूपों (धर्म और अधर्म) में प्रवृत्ति ही है। [इन पंक्तियों में वात्स्यायन-भाष्य की आत्मा गूँज रही है। वहीं से माधव ने भाव लिये हैं।]

ततः स्वानुरूपं प्रशस्तं निन्दितं वा जन्म पुनः शरीरादेः प्रादुर्भावः। तस्मिन् सति प्रतिकूलवेदनीयतया बाधनात्मकं दुःखं भवति। न ह्यप्रवृत्तस्य दुःखं प्रत्यापद्यत इति कश्चित्प्रपद्यते। त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता अविच्छेदेन प्रवर्तमानाः संसारशब्दार्थो घटीचक्रवन्निरवधिरनुवर्तते।

यदा कश्चित्पुरुषधौरेयः पुराकृतसुकृतपरिपाकवशादाचार्योपदेशेन सर्वमिदं दुःखायतनं दुःखानुषक्तं च पश्यति, तदा तत्सर्वं हेयत्वेन बुध्यते। ततस्तन्निर्वर्तकमविद्यादि निवर्तयितुमिच्छति। तन्निवृत्त्युपायश्च तत्त्वज्ञानमिति।

उसके बाद अपने अनुरूप प्रशस्त या निन्दित जन्म होता है अर्थात् पुनः शरीर आदि (शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्राण) का प्रादुर्भाव होता है। [शरीरादि-संयुक्त] जन्म मिल जाने पर दुःख होता है जिसमें प्रतिकूल (मन के विरुद्ध) वेदना या अनुभव होता है और बाधा मिलती है (हमारी इच्छा के विरुद्ध है)। ऐसा कोई नहीं मानेगा कि जो व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता उसे दुःख की प्राप्ति होगी। [प्रवृत्ति के अभाव में आवृत्ति नहीं होती, दुःख की संभावना भी नहीं रहती। इस दशा में दुःख का अनुभव नहीं होता।] तो, मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक—ये सारे धर्म अविच्छिन्न (बिना रुके हुए) रूप से चलते रहते हैं तथा 'संसार' शब्द का अर्थ भी यही है कि घटीचक्र (रँहट) की तरह लगातार चलता रहता है (संसरतीति संसारः)।

जब कोई पुरुषश्रेष्ठ अपने पुराकृत (पूर्वजन्म में अर्जित) पुण्यों के परिणामस्वरूप आचार्य के उपदेश से इस समूचे संसार को दुःख का आयतन (समूह) एवं दुःख से परिपूर्ण देखता है तो इन सभी वस्तुओं को हेय (त्याज्य) समझता है। उसके बाद इस संसार को उत्पन्न करने वाले (निर्वर्तक) कारणों जैसे अविद्या आदि को हटाना चाहता है। उनकी निवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान ही है।

कस्यचिच्चतसृभिर्विधाभिर्विभक्तं प्रमेयं भावयतः सम्यग्द-र्शनपदवेदनीयतया तत्त्वज्ञानं जायते। तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानम-पैति। मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति। दोषापाये प्रवृत्तिर-पैति। प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति। जन्मापाये दुःखमत्यन्तं निवर्तते। सा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः। निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं नाम निवर्त्यसजातीयस्य पुनस्तत्रानुत्पाद इति। तथा च पार-मर्षं सूत्रम्—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (न्या० सू० १।१।२) इति।

जो व्यक्ति चार विधाओं (प्रकारों=उद्देश, लक्षण, परीक्षा, विभाग)* में बाँटकर प्रमेय की भावना (ज्ञान) करता है उसमें तत्त्वज्ञान अर्थात् सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञान होने से मिथ्याज्ञान दूर होता है। मिथ्याज्ञान के हटने पर दोष दूर होते हैं। दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति नष्ट होती है।

* दूसरे विचार से दुःख, दुखःहेतु, दुःखनिरोध (मोक्ष) तथा मोक्षोपाय—ये चार प्रकार हैं।

प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म का विनाश होता है। जन्म के अपाय के बाद दुःख की आत्यन्तिक (पूर्ण रूप से) निवृत्ति होती है। दुःख की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपवर्ग है। निवृत्ति तभी आत्यन्तिक कहलाती है जब निवृत्त होनेवाले (दुःख) के सजातीय [किसी भी दूसरे दुःख] की फिर वहाँ उत्पत्ति न हो। इसीलिए परमर्षि गौतम का सूत्र ही है—'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इनमें उत्तरोत्तर वस्तु का अपाय होने पर, उसके अनन्तर (पूर्व-पूर्व) की वस्तु का अपाय होता है तथा अन्त में अपवर्ग मिलता है।' (न्या० सू० १।१।२)।

(९. मोक्ष का स्वरूप—माध्यमिक मत)

ननु दुःखात्यन्तोच्छेदोऽपवर्ग इत्येतदद्यापि कफोणिगुडायितं वर्तते। तत्कथं सिद्धवत्कृत्य व्यवह्रियते इति चेत्—मैवम्। सर्वेषां मोक्षवादिनामपवर्गदशायामात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरस्तीत्यस्यार्थस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धतया घण्टापथत्वात्। तथा हि—आत्मोच्छेदो मोक्ष इति माध्यमिकमते दुःखोच्छेदोऽस्तीत्येतावत्तावदविवादम्।

कोई शंका करता है—अपवर्ग का जो लक्षण आपने दिया है कि यह दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है यह तो आज तक केहुनी (Elbow, हाथ के बीच का भाग) को गुड़ समझने की भूल के बराबर ही है (=असिद्ध या निष्फल है)। [जैसे केहुनी में गुड़ नहीं है किन्तु कोई भूल से उसका आस्वादन करने लगे उसी प्रकार मोक्ष का उक्त स्वरूप असिद्ध है।] तो आप लोग सिद्ध की तरह उसे मानकर क्यों प्रयोग कर रहे हैं ?

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सभी मोक्षवादी (मोक्ष माननेवाले, इसका लक्षण करने वाले) तो मानते हैं कि अपवर्ग की दशा में दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है—इस प्रकार यह बात सभी तन्त्रों के सिद्धान्त से सिद्ध होने के कारण घण्टापथ (राजमार्ग, हाथी आदि जहाँ घंटे की ध्वनि करते हुए चलें) की तरह [प्रशस्त और प्रतिष्ठित] है। इसे यों देखें—माध्यमिक (बौद्धों) के मत से तो आत्मा का विनाश कर देना ही मोक्ष है, इस प्रकार [उनके मत में भी] दुःख का नाश होता है, इतना तो निर्विवाद है।

अथ मन्येथाः—शरीरादिवदात्मापि दुःखहेतुत्वादुच्छेद्य इति तन्न संगच्छते। विकल्पानुपपत्तेः। किमात्मा ज्ञानसंतानो

विवक्षितस्तदतिरिक्तो वा ? प्रथमे न विप्रतिपत्तिः । कः खल्वनुकूलमाचरति प्रतिकूलमाचरेत् ? द्वितीये तस्य नित्यत्वे निवृत्तिरशक्यविधानैव । अनित्यत्वे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । व्यवहारानुपपत्तिश्चाधिकं दूषणम् । न खलु कश्चित्प्रेक्षावानात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छेदाय प्रयतते । सर्वो हि प्राणी सति धर्मिणि मुक्त इति व्यवहरति ननु ।

अब यदि आप मानते हों कि शरीर आदि की तरह आत्मा भी दुःख का कारण है और इसीलिए उसका उच्छेद (विनाश) होना चाहिए; तो यह ठीक नहीं । [शंका करने वाले यह कहते हैं कि माध्यमिक बौद्धों की समता करने से नैयायिकों को भी 'आत्मोच्छेद ही मोक्ष है' यह मानना पड़ेगा । पर नैयायिक पहले ही कह चुके हैं कि माध्यमिकों की उक्ति से हमें यही लेना है कि वे भी दुःखोच्छेद को मोक्ष मानते हैं । आत्मोच्छेद वाले पक्ष का तो हम खंडन करेंगे । आत्मा का उच्छेद मानने पर] इन दोनों विकल्पों की असिद्धि हो जायगी । अच्छा यह बतलाइये कि आत्मा को आप ज्ञानसंतान (Successive cognition) मानते हैं या उससे कुछ भिन्न ? [विकल्प ये हैं—आत्मा का अर्थ क्या ज्ञान का प्रवाह है या ज्ञानप्रवाह से भिन्न उसका आश्रय ?]

यदि पहली बात है (कि आत्मा का अर्थ ज्ञान है) तो कोई झंझट नहीं है । कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसके अनुकूल बात करने वाले पक्ष के विरुद्ध अपने आचरण दिखायेगा ? [तात्पर्य यह है कि आत्मा को ज्ञान मानने से आत्मोच्छेद का अर्थ ज्ञानोच्छेद हो जायगा जो नैयायिकों के अनुकूल ही है । मोक्ष में ये ज्ञाननाश मानते ही हैं । नैयायिकों का सिद्धान्त है कि मोक्ष में जीव की स्थिति प्रायः पाषाण की तरह हो जाती है । जब माध्यमिक लोग नैयायिकों के पक्ष में ही बोल रहे हैं तब उनका खण्डन करने की मूर्खता कौन करे ?]

यदि दूसरी बात है (कि आत्मा का अर्थ ज्ञान का आश्रय है) तो यदि वह नित्य हुई तो उसकी निवृत्ति (विनाश) का विधान करना असंभव है । यदि अनित्य हुई तो भी ['उसके विनाश के लिए किसी व्यक्ति में] प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होगी । एक और दोष होगा कि ['अमुक व्यक्ति मुक्त हुआ' इस प्रकार का] व्यवहार भी लोक में नहीं चल सकता । 'आत्मा की प्रसन्नता के ही लिए सारी वस्तुएँ प्रिय लगती हैं' इसलिए जो आत्मा संसार में सबसे अधिक प्रिय है, उसके विनाश के लिए कौन बुद्धिमान् व्यक्ति प्रयत्न करेगा ?

[इसलिए आत्मोच्छेद की प्रवृत्ति होगी ही नहीं ।] दूसरी ओर, सभी प्राणी, धर्मी (आत्मा) के रहने पर ही तो उसका मोक्ष हुआ, ऐसा व्यवहार करते हैं ? [कहने का यह अभिप्राय है कि जब हम कहते हैं कि शुक मुक्त हुए, वामदेव मुक्त हुए तो उस उक्ति के पीछे यह तात्पर्य है—मोक्ष धर्म है, इसका आश्रय धर्मी (आत्मा के रूप में) कोई अवश्य है । यदि मोक्ष हो जाने पर आत्मा का विनाश हो जाता तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं करते कि अमुक मुक्त हुआ । सत्य तो यह है कि व्यवहार से प्रतीत होता है कि मुक्त होने पर भी आत्मा की सत्ता रहती है ।]

(९ क. मोक्ष के विषय में विज्ञानवादियों का मत)

धर्मिनिवृत्तौ निर्मलज्ञानोदयो महोदय इति विज्ञानवादिवादे सामग्र्यभावः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च । भावनाचतुष्टयं हि तस्य कारणमभीष्टम् । तच्च क्षणभङ्गपक्षे स्थिरैकाधारासंभवात् लङ्घनाभ्यासादिवत् अनासादितप्रकर्षं न स्फुटमभिज्ञानमभिजनयितुं प्रभवति सोपप्लवस्य ज्ञानसंतानस्य बद्धत्वे निरुपप्लवस्य च मुक्तत्वे यो बद्धः स एव मुक्त इति सामानाधिकरण्यं न संगच्छते ।

धर्मी (ज्ञान का आश्रय = आत्मा) की निवृत्ति हो जाने पर निर्मल ज्ञान का उदय होना ही महोदय (मोक्ष) है—विज्ञानवादियों के इस मत में हमारी यह आपत्ति है कि इसमें एक तो कारणसामग्री (साधन) नहीं है; दूसरे दोनों दशाओं का समानाधिकरण (एकाधार) होना भी सिद्ध नहीं किया जा सकता । [विज्ञानवादी मानते हैं कि ज्ञान स्वभावतः निर्मल तथा क्षणिक है । ज्ञान इसलिए मलयुक्त हो जाता है कि उससे उसके धर्मी या आश्रय आत्मा का संसर्ग होता है । जब आश्रय की निवृत्ति हो जायगी तब अपने आप निर्मल ज्ञान क्षण-क्षण में उत्पन्न होने लगता है । पर इस प्रकार के मोक्ष में दो दोष नैयायिकों को दिखलाई पड़ते हैं—पर्याप्त साधन का अभाव तथा समानाधिकरण न होना ।]

[हमारी प्रथम आपत्ति के उत्तर में यदि ये उत्तर दें कि निर्मल ज्ञानोदय के] कारण के रूप में हम चार भावनाओं (सर्वं दुःखं, क्षणिकं, स्वलक्षणं, शून्यम्) को मानते हैं तो हम कहेंगे कि इस स्थिति में जब बौद्धों का क्षण-भंग पक्ष मान लेंगे तो कोई भी आधार स्थिर नहीं हो सकता ! [जब क्षण-क्षण

में ज्ञान बदल रहा है तो उसका आधार कैसे स्थिर हो सकता है, आत्मा (आश्रय) भी तो स्थिर नहीं हो सकती।] जैसे बीच-बीच में छोड़कर अभ्यास करने से अध्ययन प्रकृष्ट नहीं हो सकता उसी तरह [किसी एक स्थिर आधार के अभाव में छिटपुट हो जाने से ये भावनायें भी] प्रकृष्ट नहीं हो सकतीं। फल यह होगा कि ये भावनायें किसी भी निश्चित (स्फुट) ज्ञान या तत्वज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकतीं। [जब तक भावना प्रकृष्ट न हो उससे अभिज्ञान हो नहीं सकता। सामान्य भावना से कुछ नहीं होता। जैसे किसी स्फुट लक्षण से रहित मणि को देखने पर भी, 'यह मणि है' केवल इतना कह देने से, मणित्व की भावना होने पर भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। बार-बार देखने के बाद प्रकृष्ट भावना होती है और तब किसी वस्तु को पहचाना जा सकता है। छोड़-छोड़ कर या लंघन करके अभ्यास* करने से ज्ञान का प्रकर्ष नहीं होता। उसी प्रकार क्षण-क्षण में बदलने वाले ज्ञान से प्रकर्ष नहीं होता—ऐसी भावना स्फुट ज्ञान नहीं दे सकती। इसलिए दु:ख, क्षणिक, स्वलक्षण और शून्य के रूप में प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। फल यह हुआ कि मोक्ष की सामग्री (साधन) भावना नहीं है। कोई भी मोक्ष के साधक तत्वज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता।]

दूसरे, उपप्लव (स्वाभाविक क्लेश, मल) से युक्त ज्ञान का प्रवाह बद्ध कहलाता है जब कि उपप्लव से रहित ज्ञान-प्रवाह मुक्त होता है—ऐसी दशा में 'जो बद्ध था वही मुक्त हुआ' ऐसा समानाधिकरण होना सम्भव ही नहीं। [मुक्त की दशा में समानाधिकरण होना बहुत आवश्यक है—जो बद्ध हुआ था उसे ही मुक्त होना चाहिए। किन्तु यहाँ तो जो ज्ञानप्रवाह बद्ध था वह दूसरा है। मुक्त होने वाला ज्ञानप्रवाह दूसरा ही है। इस प्रकार विज्ञानवादियों का मोक्ष भी ठीक नहीं माना जा सकता।]

(१०. जैनों के मत से मोक्ष का विचार)

आवरणमुक्तिर्मुक्तिरिति जैनमताभिमतोऽपि मार्गो न निसर्गतो निरर्गलः। अङ्ग, भवान्पृष्टो व्याचष्टां किमावरणम्। धर्माधर्मभ्रान्तय इति चेत्—इष्टमेव। अथ देहमेवावरणम्। तथा च तन्निवृत्तौ पञ्जरान्मुक्तस्य शुकस्येवात्मनः सततोर्ध्वगमनं मुक्तिरिति चेत्—तदा वक्तव्यम्।

*अभ्यंकर जी ने लंघन का 'उड़ना' अर्थ लेकर समझाया है कि उड़ने की कला में भी प्रकर्ष तभी हो सकता है जब अभ्यास किया जाय। उसी प्रकार भावना की आवृत्ति से प्रकृष्टता आती है।

'आवरणों (व्याघात, बाधा, रुकावट) से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है'—जैन-सिद्धान्त से सम्मत यह मार्ग भी स्वभावतः प्रतिबन्ध-रहित नहीं है। महाशय, आप से (जैनों से) हम पूछते हैं, बतलावें तो—आवरण क्या है ? यदि वे कहें कि हम धर्म, अधर्म और भ्रान्ति को आवरण मानते हैं तब तो हमारी बात का ही समर्थन होगा। यदि देह को आवरण मानते हुए उसका विनाश हो जाने पर पिंजड़े से छूटे हुए सुग्गे की तरह आत्मा का लगातार ऊपर जाते रहना ही मुक्ति समझते हैं तो अब हमारी बात का उत्तर दीजिये।

किमयमात्मा मूर्तोऽमूर्तो वा ? प्रथमे निरवयवः सावयवो वा ? निरवयवत्वे निरवयवो मूर्तः परमाणुरिति परमाणुलक्षणापत्त्या परमाणुधर्मवदात्मधर्माणामतीन्द्रियत्वं प्रसजेत्। सावयवत्वे यत्सावयवं तदनित्यमिति प्रतिबन्धबलेनानित्यत्वापत्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमौ निष्प्रतिबन्धौ प्रसरेताम्।

अमूर्तत्वे गमनमनुपपन्नमेव। चलनात्मिकायाः क्रियाया मूर्तत्वप्रतिबन्धात्।

क्या यह आत्मा मूर्त है या अमूर्त ? यदि मूर्त है तो अवयवों से रहित है या सावयव है ? यदि आत्मा को निरवयव मानते हैं तो 'निरवयव मूर्त पदार्थ परमाणु है' इस प्रकार आत्मा पर परमाणु के लक्षण का आपादन हो जायगा तथा जिस प्रकार परमाणु के धर्म अतीन्द्रिय हैं आत्मा के धर्म भी अतीन्द्रिय हो जायँगे। यदि आत्मा अवयवयुक्त हो तो 'जो पदार्थ सावयव होता है वह अनित्य है' इस प्रकार व्याप्ति (प्रतिबन्ध) की स्थापना होने से यह (आत्मा) अनित्य हो जायगी और बिना किसी रुकावट के 'कृत-प्रणाश' तथा 'अकृताभ्यागम' ये दोनों दोष चले आयेंगे। [यदि आत्मा अनित्य हो जाती है तो इसकी निवृत्ति भी होगी तथा जो काम इसने किया था। उसका फल निवृत्ति होने के साथ-साथ ही नष्ट हो जायगा। इस प्रकार कृत-प्रणाश होगा। जो काम आत्मा ने नहीं किया था उसका फल इसे मिलने लगेगा। अच्छा या बुरा फल जो किसी आत्मा को भोगना पड़ेगा वह उसके पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का तो फल नहीं है। यही 'अकृताभ्यागम' दोष है। ये दोष संसार के कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।]

अब यदि वे आत्मा को अमूर्त मानें तो उसका गमन (ऊर्ध्वगमन) ही कैसे होगा ? चलने का काम ऐसा है जो किसी मूर्त पदार्थ से ही हो सकता है। [प्रतिबन्ध = व्याप्ति। मूर्त के साथ ही चलन-क्रिया की व्याप्ति संभव है।]

(११. चार्वाक और सांख्य-मत में मोक्ष)

'पारतन्त्र्यं बन्धः, स्वातन्त्र्यं मोक्षः' इति चार्वाकपक्षेऽपि स्वातन्त्र्यं दुःखनिवृत्तिश्चेत्—अविवादः । ऐश्वर्यं चेत्—सातिशयतया सदृक्षतया च प्रेक्षावतां नाभिमतम् ।

चार्वाक का पक्ष है कि परतंत्रता बन्धन है और स्वतंत्रता मोक्ष। इस मत में भी यदि 'स्वतंत्रता' से दुःख की निवृत्ति समझते हैं तो हमारा उनसे कोई विवाद नहीं [क्योंकि हम भी दुःख का उच्छेद ही मुक्ति मानते हैं।] किन्तु यदि वे 'स्वतंत्रता' का अर्थ ऐश्वर्य लेते हैं तो कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इसे स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि ऐश्वर्य को कोई पार कर सकता है या उसके समान बन सकता है। [मोक्ष ऐसा होना चाहिए कि उससे कोई बढ़े नहीं, और न ही कोई उसके समान बने। दूसरे शब्दों में परम पुरुषार्थ को निरतिशय तथा निरुपम होना चाहिए। परन्तु ऐश्वर्य का अतिशय (पार) किया जा सकता है क्योंकि वह पार्थिव है। राजा के ऐश्वर्य से भी दूसरे राजा का ऐश्वर्य बढ़ सकता है। ऐश्वर्य की समकक्षता भी हो सकती है। अतः ऐसा ऐश्वर्यात्मक मोक्ष नहीं चाहिए।]

प्रकृतिपुरुषान्यत्वख्यातौ प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मुक्तिरिति सांख्याख्यातेऽपि पक्षे दुःखोच्छेदोऽस्त्येव। विवेकज्ञानं पुरुषाश्रयं प्रकृत्याश्रयं वेत्येतावदवशिष्यते। तत्र पुरुषाश्रयमिति न श्लिष्यते। पुरुषस्य कौटस्थ्यावस्थाननिरोधापातात्। नापि प्रकृत्याश्रयः। अचेतनत्वात्तस्याः।

किं च प्रकृतिः प्रवृत्तिस्वभावा निवृत्तिस्वभावा वा? आद्येऽनिर्मोक्षः। स्वभावस्यानपायात्। द्वितीये संप्रति संसारोऽस्तमियात्।

'प्रकृति (जडवर्ग का अचेतन त्रिगुणात्मक मूल कारण) और पुरुष (जीव) के भेद का ज्ञान (ख्याति) हो जाने पर, प्रकृति के हट जाने पर, पुरुष का अपने रूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है'—सांख्य-दर्शन के इस पक्ष में दुःख का उच्छेद तो होता ही है। अब विवाद करने के लिए बचा है तो इतना ही कि यह विवेकज्ञान पुरुष पर आश्रित है या प्रकृति पर? उनमें विवेकज्ञान का पुरुष पर आश्रित होना ठीक नहीं है क्योंकि सांख्य में पुरुष को कूटस्थ

(मूल रूप में सदा एक) रूप में अवस्थित माना जाता है जिसका निरोध हो जायगा। [पुरुष को अविकृत मानते हैं। यदि उसे विवेकज्ञान होता है तो इसका यही तात्पर्य है कि पहले यह अज्ञान में लिप्त था। फिर अविकृत कैसे रहा ?] विवेकज्ञान को प्रकृति पर आश्रित भी नहीं मान सकते क्योंकि वह अचेतन है।

अच्छा अब यह बतलावें कि प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्त होना है या निवृत्त होना ? यदि इसके स्वभाव में प्रवृत्ति है तब तो इसका मोक्ष हो नहीं सकता क्योंकि स्वभाव छूटता नहीं [और जब तक प्रवृत्ति रहेगी तब तक मोक्ष नहीं होगा।] यदि इसके स्वभाव में निवृत्ति है तो इसी समय संसार का अस्त हो जायगा।

(११ क. मीमांसा-मत से मुक्ति-विचार)

नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टसर्वज्ञाद्यभिमतेऽपि दुःखनिवृत्तिरभिमतैव। परं तु नित्यसुखं न प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। श्रुतिस्तत्र प्रमाणमिति चेत्—न। योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात्। अवकाशे वा ग्रावप्लवेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्।

भट्ट सर्वज्ञ (कुमारिल) आदि के मत से नित्य और निरतिशय (सर्वोच्च) सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। इन्हें भी दुःख की निवृत्ति अभिमत ही है [क्योंकि थोड़ा भी दुःख रहने से सुख निरतिशय नहीं रह सकता।] लेकिन मोक्ष होने पर नित्य सुख की प्राप्ति होती है, यह प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि इसमें श्रुतिप्रमाण है, तो ठीक नहीं। श्रुतिप्रमाण वहाँ नहीं लगाया जा सकता जहाँ योग्य (उचित) अनुपलब्धि से विषय का खण्डन होता हो। यदि श्रुति-प्रमाण लगाया गया हो तो 'पत्थर तैरते हैं' इस तरह के वाक्यों में भी [मुख्यार्थ लेकर ही इनकी] प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ेगी।

विशेष—नित्य और निरतिशय सुख के प्रकाशन को मोक्ष माननेवाले मीमांसकों की बात में नैयायिकों को अपनी बात की पुष्टि तो मिल जाती है कि मुक्ति में दुःखोच्छेद हो जाता है पर 'नित्यसुख' का प्रयोग उन्हें खटकता है। मीमांसक लोग कह सकते हैं कि 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै० २।१) आदि वेद-वाक्य प्रामाणिक हैं जहाँ मोक्ष होने पर सभी कामनाओं की प्राप्ति का वर्णन है। तो, सुख तो स्वीकार्य ही है। पर उन्हें यह जानना चाहिए कि श्रुति में प्रतिपादित होने पर भी जिस विषय का अभाव मिले, जो

विषय बाधित हो—वैसे स्थानों पर श्रुतियाँ प्रमाण नहीं होतीं। तात्पर्य यह है कि वहाँ श्रुतियों का मुख्यार्थ नहीं लिया जा सकता। गौणार्थ में वैसे वाक्यों का उपयोग होता है। 'आत्मनः आकाशः संभूतः' (तै० २।१) में आकाश की उत्पत्ति का वर्णन है। अब प्रश्न होगा कि अवयव-रहित आकाश की उत्पत्ति कैसे संभव है ? अतः यह अर्थ बाधित हो गया तो उत्पत्ति का अर्थ (गौणार्थ) हमें लेना होगा—अभिव्यक्ति। उसी प्रकार मोक्षावस्था में शरीर और इन्द्रियों का संबन्ध न होने के कारण सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह विषय बाधित हो गया। गौणार्थ लेना चाहिए। सर्व कामों की अवाप्ति = सर्व कामों की अनवाप्ति का अभाव। मोक्ष में जब शरीर और इन्द्रियाँ ही नहीं हैं तो काम की प्राप्ति या अप्राप्ति क्या होगी ? इसलिए अप्राप्ति का अभाव ही मानना पड़ेगा। दूसरे, उस वाक्य में 'सह अश्नुते' का प्रयोग है। सह का अर्थ होता है एक ही साथ। सभी इन्द्रियों से सभी विषयों का एक ही साथ भोग करना कभी संभव नहीं। मन तो अणु है, वह एक बार में एक ही विषय से संबद्ध हो सकता है। अतः हमें किसी भी दशा में श्रुतिवाक्य का गौणार्थ ही मानना पड़ेगा। यदि श्रुति में गौणार्थ न मानकर हठ से मुख्यार्थ ही मानेंगे तो 'प्लवन्ते ग्रावाणः' (पत्थर तैरते हैं, षड्विंश ब्राह्मण ५।१२) ऐसे वाक्यों का भी मुख्यार्थ ही प्रमाण मानना पड़ेगा।

सभी मतों का खण्डन करके नैयायिक लोग अपने मत—'दुःखोच्छेदवाद'—का विश्लेषण तथा प्रतिपादन करते हैं।

(१२. नैयायिक-मत से मुक्ति-विचार)

ननु सुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति पक्षं परित्यज्य दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति स्वीकारः क्षीरं विहायारोचकग्रस्तस्य सौवीररुचिमनुभावयतीति चेत्—तदेतन्नाटकपक्षपतितं त्वद्वच इत्युपेक्ष्यते। सुखस्य सातिशयतया सदक्षतया बहुप्रत्यनीकाक्रान्ततया साधनप्रार्थनपरिक्लिष्टतया च दुःखाविनाभूतत्वेन विषानुषक्तमधुवद् दुःखपक्षनिक्षेपात्।

अब कोई कह सकता है—'सुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है', इस सुन्दर पक्ष को छोड़कर 'दुःख की निवृत्ति मोक्ष है' यह स्वीकार करना ठीक वैसा ही हुआ जैसे अरुचि से ग्रस्त व्यक्ति को दूध तो दे नहीं, उलटे नीरस काँजी (सौवीर = खट्टा तीता रस) पिलाकर रुचि बढ़ाने का प्रयास करें। [अरुचि से ग्रस्त व्यक्ति

को एक तो किसी चीज की रुचि स्वभावतः नहीं होती। यदि उन्हें कुछ स्वादयुक्त पदार्थ दें तो रुचि बढ़े भी। परन्तु नीरस काँजी पिलाने से रुचि बढ़ेगी क्या, उलटे उस व्यक्ति में अरुचि और बढ़ती ही जायगी। वैसे ही प्राणियों में मोक्ष की प्रवृत्ति एक तो स्वभाव से ही कम है, दूसरे यदि उन्हें आप बतलायेंगे कि मुक्ति में सुख तनिक नहीं है तो कौन मूर्ख इसमें प्रवृत्त होगा ? कोई नहीं।]

हम उत्तर देंगे कि आपकी बात नाटक के संवाद की तरह है, इसलिए उपेक्षणीय है। [गम्भीर दार्शनिक विवेचन में इस तरह के क्षणिक चमत्कारी वाक्यों से काम नहीं चलता। वैसी बातों की असिद्धि दूसरे प्रमाणों से तुरत ही कर दी जायगी। अनुकूल तर्क के अभाव में केवल दृष्टान्त देने से कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। आप लोगों में किस तरह अनुकूल तर्क का अभाव है वह देखें—] सुख का दुःख के साथ अविनाभाव (व्याप्ति) संबंध है क्योंकि सुख सातिशय (एक दूसरे से बढ़ने वाला) है, उसके समान दूसरे सुख हो सकते हैं, नाना प्रकार के विघ्नों से भरा भी है तथा सुख के साधनों की प्रार्थना (याचना) करने में क्लेश भी खूब ही होते हैं। फलतः विषरस से भरे मधु के समान सुख भी दुःख की ही श्रेणी में चला आता है। [संसार में एक से बढ़कर दूसरे सुख हैं, कहीं उसकी इयत्ता नहीं। जब अतिशय की प्राप्ति नहीं होगी तो प्राणी उसकी आशा में लगा रहेगा और 'आशा हि परमं दुःखम्।' सुखानुभव के बाद परिणाम दुःखद ही होता है। तो, क्या ऐसे सुख की प्राप्ति के लिए प्राणी प्रयत्नवान् होगा ? सुखोद्देश्य से मुक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।]

नन्वेकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायेन दुःखवत्सुखमप्युच्छिद्यत इत्यकाम्योऽयं पक्ष इति चेत्—मैवं मंस्थाः। सुखसंपादने दुःखसाधनबाहुल्यानुषङ्गनियमेन तप्तायःपिण्डे तपनीयबुद्ध्या प्रवर्तमानेन साम्यापातात्। तथा हि—न्यायोपार्जितेषु विषयेषु कियन्तः सुखखद्योताः कियन्ति दुःखदुर्दिनानि। अन्यायोपार्जितेषु तु यद् भविष्यति तन्मनसापि चिन्तयितुं न शक्यमिति।

अब कोई यह शंका करें कि 'एक की खोज में चले और दूसरा भी नष्ट हो जाय' इस नियम से दुःख की तरह (दुःख-निवृत्ति के साथ) सुख की भी निवृत्ति हो जायगी, इसलिए [नैयायिकों के दुःखोच्छेदवाद का] यह पक्ष कभी

काम्य नहीं हो सकता। [दुःख की निवृत्ति करने चले और हाथों से सुख भी चला जाय तो अच्छा नहीं है। एक की खोज में दूसरा खोना नहीं चाहिए। कम-से-कम सुख तो मिलता रहेगा।]

नैयायिक उत्तर देते हैं कि ऐसा न समझें। सुख का संपादन करने वाले पदार्थों में दुःख के ही साधनों की प्रचुरता रहती है, यह नियम है। [दुःखप्रद वस्तुओं को सुखद समझना वैसा ही है] जैसे कोई व्यक्ति तप्त लोहे के पिण्ड को स्वर्ण (तपनीय) समझकर पकड़ने जाय। [स्वर्ण की प्राप्ति तो उसे नहीं ही होगी, उलटे गर्म लोहे से वह जल जायगा। उसी प्रकार विषयों को सुखप्रद समझने वालों को सुख तो मिलेगा कि नहीं, संदेह है। किन्तु दुःख अनिवार्य है। ऐसे दुःख से सने सुख की कामना किसे होगी ? सुख में दुःख अनिवार्य ही नहीं, प्रत्युत दुःख की अधिकता भी है।] देखिये—न्याय से उपार्जित विषयों में सुख के खद्योत (जुगनू) कितने थोड़े हैं [जो जहाँ-तहाँ चमक उठते हैं] और कितने ही दुःख के दुर्दिन (मेघाच्छन्न वर्षादिन) हैं [जो सुखों को निगल जाते हैं।] अन्याय से उपार्जित विषयों में तो जो होगा उसका चिन्तन मन से हो ही नहीं सकता।

एतत्स्वानुभवमप्रच्छादयन्तः सन्तो विदांकुर्वन्तु विदां वरा भवन्तः। तस्मात्परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशात् श्रवणादिक्रमेण आत्मतत्त्वसाक्षात्कारवतः पुरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति निरवद्यम्।

इस विषय में आप लोग अपना अनुभव विरूपित न करके इस पर विचार करें क्योंकि आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं। इसलिए अब बात इतनी ही बची है कि परमेश्वर के अनुग्रह से श्रवण (श्रुति-वाक्यों का श्रवण) आदि के क्रम से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष-श्रेष्ठ के लिए दुःखों से आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाना ही निःश्रेयस (मोक्ष) है, यह स्पष्ट है।

(१३. ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण—पूर्वपक्ष)

नन्वीश्वरसद्भावे किं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा। न तावदत्र प्रत्यक्षं क्रमते। रूपादिरहितत्वेनातीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानम्। तद्व्याप्तलिङ्गाभावात्। नागमः। विकल्पासहत्वात्। किं नित्योऽवगमयति अनित्यो वा ? आद्येऽपसिद्धा-

न्तापातः। द्वितीये परस्पराश्रयापातः। उपमानादिकमशक्य-शङ्कम्। नियतविषयत्वात्। तस्मादीश्वरः शशविषाणायत इति चेत्—।

अब पूर्वपक्षी यह शंका करते हैं कि ईश्वर की सत्ता के लिए कौन-सा प्रमाण है—प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम ? इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं लग सकता क्योंकि [ईश्वर] रूप आदि से रहित होने के कारण इन्द्रियों की पहुँच के भीतर नहीं है। [प्रत्यक्ष में इन्द्रियों के साथ संनिकर्ष चाहिए। ईश्वर के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष संभव ही नहीं।] अनुमान भी ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकता क्योंकि ईश्वर के द्वारा व्याप्त कोई लिंग (हेतु) ही नहीं है। [अनुमान में लिङ्ग या ज्ञापक वस्तु (Middle term) का होना अनिवार्य है। हेतु साध्य (ईश्वर) के द्वारा व्याप्त होना चाहिए, परन्तु ईश्वर का ज्ञापक कोई पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता।]

आगम प्रमाण भी नहीं लग सकता क्योंकि दोनों निम्नांकित विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। ईश्वर को बतलाने वाला आगम स्वयं नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो अपसिद्धान्त हो जायगा [अर्थात् आप नैयायिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध हो जायगा। अभिप्राय यह है कि विशेष वर्णों के विशेष संघटन को आगम कहते हैं। वर्णों का उच्चारण होने के बाद ही प्रध्वंस हो जाता है इसलिए वे अनित्य हैं तथा आगम की भी अनित्यता सिद्ध होती है। यही नैयायिकों का सिद्धान्त है। पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि नैयायिक लोग नित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करें तो अपने ही सिद्धान्तों की हत्या करनी पड़ेगी।] यदि अनित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करते हैं तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। [आगम अनित्य है तो उसका प्रामाण्य कर्ता (ईश्वर) के प्रामाण्य पर निर्भर करता है और उधर कर्ता (ईश्वर) की प्रामाणिकता उसके बनाये आगम पर निर्भर करती है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होता है।]

उपमान आदि प्रमाणों का तो यहाँ पर प्रश्न ही नहीं उठता। उन सभी प्रमाणों के विषय निश्चित हैं [तथा ईश्वर-सिद्धि के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकते।] इसलिए हमारी सम्मति में ईश्वर शश-विषाण (खरहे की सींग) की तरह असिद्ध है।

(१३ क. नैयायिकों का उत्तर—ईश्वरसिद्धि)

तदेतन्न चतुरचेतसां चेतसि चमत्कारमाविष्करोति। विवादास्पदं नगसागरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवत्। न

चायमसिद्धो हेतुः। सावयवत्वेन तस्य सुसाधनत्वात्। ननु किमिदं सावयवत्वम्? अवयवसंयोगित्वमवयवसमवायित्वं वा? नाद्यः। गगनादौ व्यभिचारात्। न द्वितीयः तन्तुत्वादावनैकान्त्यात्।

उपर्युक्त तर्क चतुर बुद्धि वाले व्यक्तियों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकता, (मूर्ख लोग भले ही ठगे जायँ)। इन प्रस्तुत (विवादास्पद) पर्वत, सागर आदि सारे पदार्थों का कोई कर्ता होगा क्योंकि ये कार्य हैं जैसे घट। [इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है। यहाँ पर 'कार्यत्व' के रूप में] जो हेतु दिया गया है वह असिद्ध (साध्यसम) नहीं है। 'सावयव' हेतु के द्वारा उसकी सिद्धि अच्छी तरह से की जा सकती है। ['कार्यत्व' हेतु की सिद्धि इस प्रकार हो सकती है—'पर्वत, सागर आदि पदार्थ कार्य हैं क्योंकि ये अवयवों से युक्त हैं जैसे घट। इस अनुमान से कार्यत्व की सिद्धि करके पूर्व के अनुमान में कार्यत्व को हेतु रख दिया गया है तथा कार्य होने के कारण ही संसार को सकर्तृक सिद्ध किया गया है।]

अब प्रश्न है कि अवयवों से युक्त होना क्या है? अवयवों के साथ संयोग-सम्बन्ध होना या अवयवों के साथ समवाय (Inherent) सम्बन्ध होना? अवयवों के साथ संयोगी होना ठीक नहीं है क्योंकि गगन आदि में व्यभिचार होगा। [आकाश का संयोग-संबन्ध घटादि पदार्थों के अवयवों से रहता है। इसलिए आकाश को भी कार्य मानना पड़ेगा। पर नैयायिक लोग आकाश को कार्य नहीं मानते। अतः, यदि अवयवों के साथ सयोगी होने के कारण कोई वस्तु कार्य मानी जाय तो आकाश को भी इस लक्षण में समेट लेना पड़ेगा। यही नहीं, अपने अवयवों के साथ संयोगी कार्य मानने पर तो घटादि अवयवयुक्त कहे ही नहीं जा सकते। अवयव और अवयवी में संयोग-संबन्ध नहीं, समवाय-संबन्ध है।]

दूसरा पक्ष [कि अवयवों के साथ समवाय संबन्ध होने से कार्य की सिद्धि होती है] भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से तन्तुत्व (तन्तु के सामान्य) में व्यभिचार होगा। [तन्तुत्व भी तो तन्तुओं में समवेत रहता है पर उसे हम कार्य नहीं मानते। फल यह हुआ कि अवयवों में समवेत रहने से कार्यत्व की सिद्धि नहीं होती। पूर्वपक्षी का यह तर्क नैयायिकों के कार्यत्व-साधन के विरुद्ध दिया गया है।]

तस्मादनुपपन्नमिति चेत्—मैवं वादीः समवेतद्रव्यत्वं

सावयवत्वमिति निरुक्तेर्वक्तुं शक्यत्वात्। अवान्तरमहत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वात्।

इसलिए ['सावयवत्व' हेतु के द्वारा कार्यत्व का अनुमान करना] असिद्ध है। तो उत्तर में हम यह कहेंगे कि ऐसा मत कहिये। सावयव होने का मतलब है समवेत होना और द्रव्य होना—इस प्रकार निर्वचन (पदव्याख्या) करके कहा जा सकता है। [आकाश के अवयव नहीं होते इसलिए वह किसी से समवेत नहीं हो सकता—उसमें व्यभिचार नहीं होगा। तन्तुत्व द्रव्य नहीं है इसलिए उसमें भी व्यभिचार नहीं होगा। अतः सावयव की इस व्याख्या से प्रश्न बिल्कुल सहज हो जाता है और इसके द्वारा हम कार्यत्व की सिद्धि करके संसार को कार्य मानते हुए ईश्वर की सिद्धि कर सकते हैं।]

इसके अतिरिक्त निम्न कोटि के महत्त्व (आकार Magnitude) के द्वारा भी [संसार को] कार्य सिद्ध करने के लिए अनुमान करना सरल है। [महत्त्व या आकार दो प्रकार के हैं—परम महत्त्व अर्थात् सबसे अधिक आकार तथा अवान्तर महत्त्व जो परम महत्त्व के नीचे के पदार्थों का बोधक है। अवान्तर महत्त्व के अन्तर्गत द्वयणुक से लेकर पर्वत, सागर आदि सारे पदार्थ हैं। अवान्तर महत्त्व से अनुमान इस प्रकार होगा—पर्वत, सागर आदि कार्य हैं क्योंकि इनमें अवान्तर महत्त्व है जैसे घट आदि।]

नापि विरुद्धो हेतुः। साध्यविपर्ययव्याप्तेरभावात्। नाप्यनैकान्तिकः। पक्षादन्यत्र वृत्तेरदर्शनात्। नापि कालात्ययापदिष्टः। बाधकानुपलम्भात्। नापि सत्प्रतिपक्षः। प्रतिभटादर्शनात्।

ननु नगादिकमकर्तृकं शरीराजन्यत्वाद् गगनवदिति चेत्—नैतत्परीक्षाक्षममीक्ष्यते। न हि कठोरकण्ठीरवस्य कुरङ्गशावः प्रतिभटो भवति। अजन्यत्वस्यैव समर्थतया शरीरविशेषणवैयर्थ्यात्।

[संसार को सकर्तृक सिद्ध करनेवाला यह 'कार्यत्व'] विरुद्ध हेतु नहीं है। कारण यह है कि साध्य (सकर्तृकत्व) के विरुद्ध कोई भी व्याप्ति नहीं मिलती। [विरुद्ध हेतु या हेत्वाभास वही है जो साध्य में कभी प्राप्त न हो, साध्याभाव में रहे। कार्यत्व हेतु साध्याभाव (अकर्तृक) में प्राप्त नहीं होता—जो कार्य होगा

उसका कर्ता कोई अवश्य होगा, बिना कर्ता के कार्य नहीं हो सकता।] यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि पक्ष के अलावे और कहीं इस हेतु की प्राप्ति (वृत्ति) नहीं होती। [सकर्तृक साध्य है, परमाणु आदि में उसका अभाव है किन्तु उनमें कार्यत्व भी नहीं है इसलिए 'कार्यत्व' हेतु का व्यभिचार परमाणु आदि में नहीं होता। अतः सव्यभिचार या अनैकान्तिक हेतु यहाँ नहीं]। यह हेतु कालात्ययापदिष्ट या बाधित भी नहीं है। क्योंकि बाधक प्रमाण नहीं मिलता। सत्प्रतिपक्ष हेतु भी यह नहीं है क्योंकि [साध्याभाव को सिद्ध करने-वाला 'कार्यत्व' हेतु के] टक्कर का कोई दूसरा हेतु नहीं है। [इस प्रकार पाँचों हेत्वाभास खण्डित हो जाते हैं जिससे संसार को सकर्तृक सिद्ध करनेवाले अनुमान में 'कार्यत्व' शुद्ध हेतु माना गया।]

अब यदि कोई पूर्वपक्षी शंका करे कि पर्वत आदि का कोई कर्ता नहीं (= पर्वत अकर्तृक है) क्योंकि ये शरीर से उत्पन्न नहीं होते जैसे आकाश, तो उत्तर में कह सकते हैं कि यह प्रतिद्वन्द्वी हेतु (जो सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास सिद्ध करने के लिए दिया गया है) परीक्षा के योग्य नहीं दिखलाई पड़ता। हरिण का बच्चा प्रौढ़ सिंह (कण्ठीरव) का प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता।* 'उत्पन्न न होना' (अजन्यत्व) हेतु ही पर्याप्त है, 'शरीर' विशेषण उसमें व्यर्थ ही लगाया गया है। [ऊपर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का खंडन इस आधार पर किया गया है कि कोई प्रतिद्वन्द्वी हेतु (प्रतिभट) साध्याभाव सिद्ध करने वाला नहीं मिल रहा है। अब पूर्वपक्षी कहते हैं कि हेत्वन्तर की सत्ता है जो साध्याभाव (अकर्तृ-कत्व) सिद्ध कर दे। वह हेतु है—'शरीराजन्यत्व'। नैयायिक कहते हैं कि अजन्यत्व ही पर्याप्त है, शरीराजन्यत्व क्यों रखते हैं ? नैयायिक अपने प्रतिद्वन्द्वी को तर्क करना भी सिखाते हैं। अस्तु, कोई बात नहीं। पूर्वपक्षी अपने हेतु को सुधार कर फिर तर्क करता है—]

तर्ह्यजन्यत्वमेव साधनमिति चेत्—न। असिद्धेः। नापि सोपाधिकत्वशङ्काकलङ्काङ्कुरः संभवी। अनुकूलतर्कसंभवात्। यद्ययमकर्तृकः स्यात्कार्यमपि न स्यात्। इह जगति

---

* बड़े सिंह का प्रतिभट हरिण का बच्चा नहीं हो सकता, वैसे ही सकर्तृकत्व की सिद्धि के लिए दिये गये 'कार्यत्व' हेतु का प्रतिद्वन्द्वी (हेत्वन्तर) अकर्तृकत्वसाधन के लिए दिया गया 'शरीराजन्यत्व' हेतु नहीं हो सकता। सत्प्रतिपक्ष हेतु वहीं होता है जहाँ पूर्व हेतु के समान ही दूसरा हेतु हो। दोनों में समान बल रहना चाहिए।

नास्त्येव तत्कार्यं नाम यत्कारकचक्रमवधीर्यात्मानमासादयेदि-त्येतदविवादम् । तच्च सर्वं कर्तृविशेषोपहितमर्यादम् ।

तब यदि ये पूर्वपक्षी 'अजन्यत्व' को ही साधन (हेतु) मानें तो भी ठीक नहीं। इसकी भी सिद्धि नहीं होती। [अजन्य का अर्थ है उत्पत्ति से रहित होना। कोई नहीं कहेगा कि पर्वत, सागरादि की उत्पत्ति नहीं होती या ये अजन्य हैं। किसी प्रमाण से इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। नैयायिकों ने पूर्वपक्षियों को अच्छा फँसा दिया ! 'शरीर' विशेषण हटवा कर उन्हें विधिवत् परास्त किया।] इसके अलावे, [वस्तुतः उपाधि न होने पर भी] यदि कोई 'कार्यत्व' हेतु के सोपाधिक होने की शंका करे तो भी इस हेतु पर कलंक का अंकुर नहीं उग सकता। कारण यह है कि अनुकूल तर्क दिया जा सकता है। [यदि 'सकर्तृकत्व' (साध्य) का व्यापक तथा 'कार्यत्व (हेतु) का अव्यापक कोई पदार्थ निकले तभी उपाधि की शंका की जा सकती है। ऐसी संभावना तभी है जब कार्यत्व व्यभिचारी हो। व्यभिचार की भी संभावना तभी है जब कर्ता से रहित (अकर्तृक) वस्तु कार्य उत्पन्न करने लगे। अनुकूल तर्क से इसका खंडन किया जा सकता है। अनुकूल तर्क का स्वरूप दिखलाया जाता है—]

यदि यह (संसार, पर्वतादि) अकर्तृक (Without a maker) होता तो कार्य भी नहीं होता [क्योंकि कर्ता से उत्पन्न वस्तुओं को ही कार्य कहते हैं।] इस संसार में ऐसा कोई कार्य ही नहीं जो कारकचक्र (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण) का तिरस्कार करके अपनी स्थिति दृढ़ कर ले—इतना तो निर्विवाद है। सारे कार्यों की मर्यादा किसी न-किसी कर्ता पर ही आधारित है। [घट, पट आदि की उत्पत्ति के समय कुम्भकार, तन्तुवाय आदि कर्ता सभी कारकों को कार्योत्पत्ति के गुण के अनुसार बैठाता है। कर्ता अपने को भी वैसे ही बैठाता है।]

(१३ ख. कर्ता का लक्षण तथा ईश्वर का कर्तृत्व)

कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्तृत्व-लक्षणं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वम् । एवं च कर्तृव्यावृत्ते-स्तदुपहितसमस्तकारकव्यावृत्तौ अकारणककार्योत्पादप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः । तथा निरटङ्कि शङ्करकिङ्करेण—

४. अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने ।
साध्यव्यापकताभङ्गात्पक्षे नोपाधिसंभवः ॥ इति ।

कर्ता वह है जो दूसरे कारकों (कर्म, करणादि) से प्रयोजित नहीं हो, प्रत्युत सभी कारकों को प्रयोजित करे तथा ज्ञान, चिकीर्षा (उत्पन्न करने की इच्छा) और प्रयत्न का आधार भी हो। [मिट्टी, डण्डा, चाक आदि पदार्थ जो घटोत्पादन कार्य में विभिन्न कारक हैं, कुम्भकार (कर्ता) को घटनिर्माण के लिए प्रयोजित नहीं करते। उलटे कुम्भकार ही उन्हें अपनी इच्छा से प्रयोजित करता है। यह स्पष्ट है कि कर्ता में पहले घट का ज्ञान होता है तब इच्छा और अन्त में उसमें प्रयत्न होता है। इन तीनों का आधार कर्ता ही है।]

कर्ता का उक्त लक्षण मान लेने पर, यदि कर्ता को त्याग दें [क्योंकि, आप लोग = पूर्व पक्षी, अकर्तृक कार्य मानने जा रहे हैं] तो कर्ता पर निर्भर करनेवाले सब के सब कारक भी तो हट जायँगे और इस दशा में [कारकों के अभाव में भी कार्य मानने वालों का] यह स्थूल प्रमाद ही न है कि बिना कारण के भी कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ?

शंकर किंकर नामक विद्वान् ने इस विषय का संकलन किया है—'जब हेतु अनुकूल (शुद्ध) तर्क से अलंकृत किया जाता है तब साध्य की व्यापकता (जो उपाधि होने के लिए आवश्यक है) का नाश हो जाता है तथा पक्ष में उपाधि की संभावना नहीं रहती।' [अनुकूल तर्क से यह निश्चय किया जाता है कि हेतु साध्य के द्वारा व्याप्य है। ऐसे स्वव्याप्य का जो व्यापक नहीं है तथा कहीं-कहीं इस प्रकार का व्याप्य होने पर भी न रहे वह (हेतु) अपने साध्य का व्यापक कैसे हो सकता है। जो अपने व्याप्य का व्यापक नहीं रहता उसमें अपने (साध्य) को व्याप्त करने का सामर्थ्य नहीं रहता। ऐसा नियम है। फलतः साध्य को व्याप्त न करने के कारण उपाधि नहीं हो सकती।]

यदीश्वरः कर्ता स्यात्तर्हि शरीरी स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कजातं जागर्तीति चेत्—ईश्वरसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः। तदुदितमुदयनेन—

> ५. आगमादेः प्राणत्वे बाधनादिनिषेधनम्।
> आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता॥
> (न्या० कु० ३।५) इति।

न च विशेषविरोधः शक्यशङ्कः। ज्ञातत्वाज्ञातत्वविकल्पपराहतत्वात्।

'यदि ईश्वर कर्ता होता तो वह शरीरधारी होता'—इस प्रकार के प्रतिकूल तर्क भी जागृत हो सकते हैं [जिनसे ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन होगा] तो हम उत्तर देंगे कि ऐसा तर्क दोनों ही दशाओं में खंडित होता है, हम ईश्वर की सिद्धि करें या असिद्धि। [यदि आगम आदि प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की जाय तो उन्हीं प्रमाणों से 'संसार का कर्ता ईश्वर है' यह भी मानना पड़ेगा ऐसी स्थिति में आपका अनुमान खण्डित हो जायगा और ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध नहीं हो सकता। अब यदि आगमादि को प्रमाण न मान कर प्रमाणाभास कहें और ईश्वर की असिद्धि करें तो भी आपके अनुमान में पक्ष की असिद्धि होगी ही। पक्ष (Minor term) स्वयं तो असत् है इसलिए किसी निषेध-वाक्य का यह उद्देश्य नहीं होगा। तुलनीय—न्यायकुसुमांजलि (३।२)। इस प्रकार दोनों स्थितियों में आपकी उक्ति खण्डित हो जाती है।]

इसे ही उदयन ने कहा है—'आगम आदि को प्रमाण मानने पर [पूर्वोक्त अनुमान का] खंडन हो जाने से [ईश्वर का] निषेध नहीं किया जा सकता। [यदि आगमादि को केवल प्रमाण का] आभास अर्थात् दोषपूर्ण प्रमाण मानें तो 'आश्रयासिद्ध' दोष उठ खड़ा हो जाता है।' (न्या० कु० ३।५)।

इसके अलावे, विशेष होने के कारण [ईश्वर में कर्तृत्व का] विरोध होगा ऐसी शंका नहीं की सकती क्योंकि [ईश्वर के] ज्ञात होने या अज्ञात होने, इन दोनों विकल्पों का खण्डन हो जाता है। [ईश्वर नित्य द्रव्य है तथा नैयायिकों के अनुसार विशेष लक्षणों से युक्त है—स्वलक्षण अर्थात् सभी पदार्थों से विलक्षण है। संसार में साधारण जीवों का कर्तृत्व देखकर उनके सादृश्य से सर्वतो-विलक्षण एवं विशेष ईश्वर का कर्तृत्व मानने का क्या अधिकार है? विशेष तो सामान्य से पृथक् ही रहेगा न? नैयायिक कहते हैं कि ऐसी शंका आप लोग नहीं कर सकते। विशेष (ईश्वर) या तो ज्ञात रहेगा या अज्ञात। विशेष यदि ज्ञात है तो स्वभावतः सभी वस्तुओं से विलक्षण है, इसलिए अन्यत्र कहीं भी न देखे गये कर्तृत्व (संसार का कर्तृत्व) का साधक होगा। इसका कोई बाधक नहीं। यदि विशेष अज्ञात है तब तो उसके आधार पर किये गये अनुमान में विरोध की संभावना ही नहीं रहेगी। यदि विशेष ज्ञात है तो उसकी सत्ता स्पष्टतः मानी गई है, यदि अज्ञात है तो उसके विषय में तर्क व्यर्थ है। किसी तरह ईश्वर पर शंका संभव नहीं।]

(१४. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण—पूर्वपक्ष)

स्यादेतत्। परमेश्वरस्य जगन्निर्माणे प्रवृत्तिः किमर्था? स्वार्था परार्था वा? आद्येऽपि, इष्टप्राप्त्यर्थाऽनिष्टपरिहारार्था

वा ? नाद्यः । अवाप्तसकलकामस्य तदनुपपत्तेः । अत एव न द्वितीयः । द्वितीये प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । कः खलु परार्थं प्रवर्तमानं प्रेक्षावानित्याचक्षीत ?

अच्छा, यह सब मान लिया गया । अब कहिये कि संसार का निर्माण करने में परमेश्वर की प्रवृत्ति किस लिए है—अपने लिए या दूसरों के लिए ? यदि अपने लिए है तो फिर कहिये कि इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए या अनिष्ट वस्तु के परिहार के लिए ? पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि सभी कामों को प्राप्त किये हुए ईश्वर का इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होना ठीक नहीं जँचता । इसीलिए दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं [क्योंकि जो सभी कामों को पा चुका है उसे अनिष्ट ही नहीं रहेंगे जिनके लिए वह प्रवृत्त होगा ।] यदि यह मानें कि दूसरों के लिए प्रवृत्त होता है तो इसमें प्रवृत्ति की ही सिद्धि नहीं होती । दूसरों के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को समझदार (बुद्धिमान्) कौन कहेगा ?

अथ करुणया प्रवृत्त्युपपत्तिरित्याचक्षीत कश्चित्, तं प्रत्याचक्षीत । तर्हि सर्वान् प्राणिनः सुखिन एव सृजेदीश्वरः । न दुःखशबलान् । करुणाविरोधात् । स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । तस्मादीश्वरस्य जगत्सर्जनं न युज्यते । तदुक्तं भट्टाचार्यैः—

६. प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत् ॥ इति ।

अब यदि [नैयायिक या] कोई ऐसा कहे कि करुणा से ईश्वर की प्रवृत्ति मानी जा सकती है तो उसके प्रति हम (पूर्वपक्षी) कहेंगे कि तब तो ईश्वर सभी प्राणियों को सुखी बनाकर पृथ्वी पर उत्पन्न करता । वह किसी को दुःख से नहीं रंगता क्योंकि ऐसा करने से उसकी करुणा का विरोध होगा । स्वार्थ की अपेक्षा न रखते हुए दूसरों के दुःख का हरण करने की इच्छा ही करुणा कहलाती है । इसलिए ईश्वर के द्वारा संसार की सृष्टि मानना युक्तियुक्त नहीं है । इसे भट्टाचार्य ने कहा है—'प्रयोजन का बिना उद्देश्य रखे हुए मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता । वह (ईश्वर) यदि संसार की सृष्टि करता है तो कौन-सा काम नहीं करता (सभी वस्तुओं का निर्माण वह करता है) ?' [ईश्वर सब कुछ करता है किन्तु किसी प्रयोजन से नहीं । कोई प्रयोजन सिद्ध न होने के कारण ईश्वर की सिद्धि ही नहीं होती ।]

(१५. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण—सिद्धान्त)

अत्रोच्यते—नास्तिकशिरोमणे! तावदीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्। करुणया प्रवृत्तिरस्त्येव। न च निसर्गतः सुखमयसर्गप्रसङ्गः। सृज्यप्राणिकृतदुष्कृतसुकृतपरिपाकविशेषाद् वैषम्योपपत्तेः। न च स्वातन्त्र्यभङ्गः शङ्कनीयः। स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवतीति न्यायेन प्रत्युत तन्निर्वाहात्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६) इत्यादिरागमस्तत्र प्रमाणम्।

अब हम उत्तर देते हैं। हे नास्तिकों के शिरोमणि! पहले आप ईर्ष्या में डूबी हुई अपनी आँखों को बंद कर लें तब विचार करें। करुणा से तो ईश्वर की प्रवृत्ति होती ही है। प्राकृतिक रूप से ही सुखी संसार की सृष्टि हो, ऐसा प्रसंग नहीं आ सकता क्योंकि उत्पन्न होने वाले प्राणियों के द्वारा किये गये विभिन्न पुण्यों और पापों के परिणामस्वरूप विषमता तो रहेगी ही।

उक्त आधार पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि [प्राणियों के द्वारा किये गये कर्म पर निर्भर करने के कारण] ईश्वर स्वतंत्र नहीं है। [जब संसार की सृष्टि करने में अपनी इच्छा से कुछ भी काम नहीं कर सकता, प्राणियों के कर्म के अनुसार उन्हें सुख-दुःख देता है तो ईश्वर स्वतन्त्र कैसे हुआ ? प्राणिकर्म के अधीन ही वह रहता है। किन्तु वैसी बात नहीं।] 'अपना ही अंग अपने ही कार्य का विरोध नहीं करता'—इसी नियम से तो और अच्छी तरह से उसका निर्वाह हो जायगा। [संसार और इसके सारे पदार्थ, कर्म आदि सब कुछ ईश्वर का शरीर है। प्राणियों के द्वारा किये गये कर्म उसके अंग ही हैं। यदि ईश्वर सृष्टि के कार्य में इन कर्मों अर्थात् अपने अंगों की अपेक्षा रखे तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पराधीन है। अपने ही हाथ-पैर से काम लेने से कोई पराधीन नहीं कहलाता, भले ही दूसरों से काम लेने पर पराधीनता आती है। अपने अंगों से काम लेने से बल्कि बड़ाई ही होती है। वैसे ही ईश्वर के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य का साधन भी स्वतंत्र है, इस में स्वतंत्रता का ही गौरव बढ़ता है।]

[ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए] आगम का भी प्रमाण है—'रुद्र एक ही है, दूसरा कोई हुआ ही नहीं' (तैत्तिरीय संहिता १।८।६ तथा श्वेता० ३।२)।

यद्येवं तर्हि परस्पराश्रयबाधव्याधिं समाधत्स्वेति चेत्—तस्यानुत्थानात्। किमुत्पत्तौ परस्पराश्रयः शङ्क्यते ज्ञप्तौ वा। नाद्यः। आगमस्येश्वराधीनोत्पत्तिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः। नापि ज्ञप्तौ। परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यतोऽवगमात्। नापि तदनित्यत्वज्ञप्तौ। आगमानित्यत्वस्य तीव्रादिधर्मोपेतत्वादिना सुगमत्वात्। यस्मान्निवर्तकधर्मानुष्ठानवशादीश्वरप्रसादसिद्धावभिमतेष्टसिद्धिरिति सर्वमवदातम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहेऽक्षपाददर्शनम्॥



यदि ऐसी बात है तो अन्योन्याश्रय-दोष रूपी रोग का तो निराकरण कीजिए। [ईश्वर की सिद्धि आगम से करने पर तथा आगम को ईश्वर-शरीर मानने पर, ईश्वर और आगम में तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। इसका निराकरण करना कठिन है। आप करें तो जानें। पूर्वपक्षियों की इस शंका पर नैयायिक कहते हैं कि] यह दोष उठाता ही नहीं। इस परस्पराश्रय-दोष की शंका उत्पत्ति के विषय में मानते हैं या ज्ञान के विषय में ? पहला विकल्प नहीं माना जा सकता क्योंकि यद्यपि आगम ईश्वर के अधीन उत्पन्न हुआ है तथापि परमेश्वर नित्य है इसलिए [वह अपने आप में प्रमाण है, आगम से उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। आगम की प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर करती है परन्तु ईश्वर की प्रामाणिकता आगम पर निर्भर नहीं करती। आगम अनित्य है, ईश्वर नित्य—दोनों में अन्योन्याश्रय कैसा ?]

ज्ञान के विषय में दोष नहीं उठता क्योंकि यद्यपि परमेश्वर का ज्ञान आगम पर निर्भर करता है पर आगम को दूसरे स्थानों से जानते हैं। [उत्पत्ति के लिए घट कुम्भकार पर निर्भर करता है पर ज्ञान के लिए तो प्रकाश आदि की ही अपेक्षा रहती है। वैसे ही उत्पत्ति के लिए आगम ईश्वर की अपेक्षा रखता है पर ज्ञान के लिए तो नहीं। आगम का ज्ञान ईश्वर नहीं कराता है—गुरु की परंपरा आदि से हम आगम को जान पाते हैं।]

आगम [के धर्मों] की अनित्यता के ज्ञान में भी शंका नहीं हो सकती। आगम की अनित्यता का ज्ञान तीव्र आदि धर्मों (तीव्र, तीक्ष्ण, दुःसह, भयंकर,

कटु) से युक्त होने से लोग सरलता से कर लेते हैं। [अर्थयुक्त शब्द को आगम कहते हैं। अर्थ में तीक्ष्णत्व, दुःसहत्व आदि दोष होते हैं, शब्द में कर्णकटुत्व आदि। ये धर्म अनित्यत्व के द्वारा व्याप्त होते हैं इसलिए आगम की अनित्यता सिद्ध करते हैं। अभ्यंकर जी ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया है कि जैसे जमीन पर नाव को ले जाने में बैलगाड़ी की जरूरत होती है और पानी में बैलगाड़ी ले जाने में नाव की, फिर भी आधार का भेद होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता— उसी प्रकार यह मानने पर दोष नहीं होता कि आगम की उत्पत्ति के लिए ईश्वर की अपेक्षा है, ज्ञान के लिए नहीं तथा ईश्वर के ज्ञान के लिए आगम की अपेक्षा है, उत्पत्ति के लिए नहीं। विषयभेद के कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं।

इस प्रकार निवृत्ति-परक धर्मों का अनुष्ठान करने से ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है और इसी से अभिमत इष्टसिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) होती है—यह सब स्पष्ट है।

इस प्रकार सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में अक्षपाद-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामक्षपाददर्शनमवसितम्।



(१२) जैमिनि-दर्शनम्

वेदोक्तकर्मसरणिः स तु यागरूपो
विध्यर्थवादयुगलं परिलम्बमानः ।
धर्मो भवेत्किल ततो जननान्तरेषु
कर्मैव सर्वमिति जैमिनये नमोऽस्तु ॥—ऋषिः

(१. मीमांसा-सूत्र की विषय-वस्तु)

ननु धर्मानुष्ठानवशादभिमतधर्मसिद्धिरिति जेगीयते भवता । तत्र धर्मः किंलक्षणकः किंप्रमाणक इति चेत्—उच्यते । श्रूयतामवधानेन । अस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं प्राच्यां मीमांसायां प्रादर्शि जैमिनिना मुनिना । सा हि मीमांसा द्वादशलक्षणी ।

आप लोग (मीमांसक) बार-बार यही कहते हैं कि धर्म (वेदविहित कर्म) का अनुष्ठान करने से अभीष्ट धर्म की प्राप्ति होती है। हम पूछते हैं कि उस धर्म का क्या लक्षण है, उसके लिए प्रमाण क्या है ? हम इसे बतलाते हैं, ध्यान देकर सुनिये । इस प्रश्न का उत्तर जैमिनि मुनि ने अपनी पूर्व-मीमांसा में अच्छी तरह दिखाया है । उस पूर्व-मीमांसा में बारह अध्याय हैं । [लक्षण = अध्याय । मीमांसा का विषय ही धर्म है ।]

तत्र प्रथमेऽध्याये विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतिनामधेयार्थकस्य शब्दराशेः प्रामाण्यम् । द्वितीये उपोद्घातकर्मभेदप्रमाणापवादप्रयोगभेदरूपोऽर्थः । तृतीये श्रुतिलिङ्गवाक्यादिविरोधप्रतिपत्तिकर्मानारभ्याधीतबहुप्रधानोपकारकप्रयाजादियाजमानचिन्तनम् ।

उसमें पहले अध्याय में विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय के अर्थ में जो शब्दराशि है—उसी की प्रामाणिकता बतलाई गई है। [इसके प्रथम पाद (३२ सूत्र) में विधि का प्रामाण्य, द्वितीय पाद (५३ सूत्र) में अर्थवाद और मन्त्रों का प्रामाण्य, तृतीयपाद (३५ सूत्र) में मनु आदि स्मृतियों का प्रामाण्य, तथा चतुर्थ पाद (३०) में नामधेय (Names) की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है ।]

दूसरे अध्याय में उपोद्घात, कर्मभेद, कर्मभेद के प्रामाण्य का अपवाद तथा प्रयोगों में भेद—इन विषयों का प्रतिपादन हुआ है। [प्रथम पाद (४९) में कर्मभेद का वर्णन करने के लिए उपोद्घात दिया गया है जिसमें अपूर्व का बोध कराने के लिए आख्यात को उपयुक्त माना गया है, धर्म का वर्णन ही तीनों वेदों में है जिनकी रचना सर्वोत्तम भाषा में हुई है। द्वितीय पाद (२९) में धातु-भेद, पुनरुक्ति आदि के कारण कर्म में भेद पड़ने का वर्णन है। तृतीय पाद (२९) में उपर्युक्त कर्मभेद की प्रामाणिकता के अपवाद वर्णित हैं जब कि चतुर्थ पाद (३२) में नित्य और काम्य प्रयोगों के बीच भेद का प्रदर्शन है।]

तीसरे अध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य आदि और उनके पारस्परिक विरोध, प्रतिपत्तिकर्म (उपयुक्त द्रव्यों का विनियोग करना), आकस्मिक रूप से निर्दिष्ट वस्तुओं, बहुत से प्रधान कर्मों के सहायक प्रयाज आदि कर्म तथा यजमान के कर्मों का विचार हुआ है। [मीमांसा सूत्र के तीसरे अध्याय में आठ पाद हैं। प्रथमपाद (२७ सूत्र) में श्रुति-प्रमाण, द्वितीय पाद (४३) में लिंग-प्रमाण, तृतीय पाद (४६) में वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या ये चार प्रमाण, चतुर्थ पाद (५७) में निवीत, उपवीत आदि कर्मों में, विधि है कि अर्थवाद, इसका निर्णय करने के लिए श्रुति आदि छहों प्रमाणों के परस्पर विरोध की मीमांसा, पंचम पाद (५३) में प्रतिपत्ति कर्मों का वर्णन, षष्ठ पाद (४७) में अनारभ्याधीत अर्थात् सामान्य रूप से विहित कर्मों का वर्णन, सप्तम पाद (५१) में बहुत से प्रधान कर्मों के सहायक प्रयाजादि कर्मों का वर्णन तथा अष्टम पाद (४४) में यजमान के कर्मों का वर्णन—इस प्रकार इसका पादगत विभाजन हुआ है।]

विशेष—श्रुति आदि छह प्रमाणों पर मीमांसा में बहुत जोर दिया जाता है। जैमिनि ने लिखा है—**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** (जै० सू० ३।३।१४) श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—इन छहों में एक दूसरे से संघर्ष होने पर पहले वाला प्रबल रहता है दूसरा दुर्बल होता है। क्योंकि विनियोग (Application) रूपी अर्थ पहले वाले की अपेक्षा दूसरे में विलंब से प्रतीत होता है।

इन्हें समझने से पहले यह जानना चाहिए कि मीमांसा-दर्शन में सम्पूर्ण वैदिक भाग (वेद, अपौरुषेय वाक्य) को पाँच भागों में बाँटा है—विधि, मंत्र नामधेय, निषेध और अर्थवाद। अज्ञात वस्तु (किसी भी अन्य प्रमाण से अज्ञात) का ज्ञान कराने वाला वैदिक भाग विधि है जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस विधि में किसी भी अन्य प्रमाण से प्राप्त न होने वाले स्वर्ग के प्रयोजन से किये गये होम का विधान किया गया है। इस वाक्य का अर्थ है कि

अग्निहोत्र-होम से स्वर्ग की भावना करनी चाहिए (भावना=उत्पत्ति)। इस विधि के चार भेद हैं—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोगविधि। इनमें जो दूसरी विनियोग-विधि है उसका अर्थ है 'प्रधान (होम) के साथ अङ्गों (=देवता, द्रव्य, साधन आदि) का सम्बन्ध बतलाना'। उदाहरण–'दध्ना जुहोति' यहाँ दधि अंग है क्योंकि यह होम का साधन है, दधि तृतीया-विभक्ति के द्वारा अपने अंग होने का प्रदर्शन कर रहा है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस प्रधान के साथ इसका संबंध है जिसका बोध कराने के लिए उक्त 'दध्ना जुहोति' वाक्य आया है। इस प्रकार वाक्यार्थ होगा कि दधि के द्वारा होम की भावना करें।

इसी विनियोग-विधि की सहायता करने के लिए श्रुति आदि छह प्रमाण हैं। जिस समय यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मंत्र के देवता, हवि के द्रव्य या किसी अन्य वस्तु (अंग) का विनियोग कहाँ पर हो तो इसका निर्णय ये छह प्रमाण ही करते हैं। जब दो प्रमाण एक साथ आ रहे हों तो पहले वाला ही मान्य होता है। अब हम इनका पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करें।

(१) **श्रुति**—प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं। इससे सर्वत्र निर्णय किया जाता है। इसके मूलतः दो भेद हैं—साक्षात् पढ़ी गई तथा अनुमान से सिद्ध। सीधे पढ़ी गई श्रुति के उदाहरण में 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' दे सकते हैं। यह श्रुति का ही वाक्य है जिसमें बतलाया गया है कि इन्द्र देवता से संबद्ध ऋचा का अंग के रूप में प्रधान गार्हपत्य अग्नि की उपस्थापना में विनियोग होगा। अनुमान से सिद्ध श्रुतियों के उदाहरण में—'स्योनं ते' इति पुरोडाशस्य सदनं करोति' है। यह वाक्य श्रुति में कहीं नहीं मिलता किन्तु 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'(तै० ब्रा० ३।६) इस मंत्र के अर्थ को देखकर उसी लिङ्ग से मंत्र के अर्थ के अनुसार मंत्र का विनियोग करने वाली श्रुति का अनुमान करते हैं। उसी तरह का विनियोग भी होता है।

(२) **लिङ्ग**—किसी शब्द में जो अर्थ प्रकाशन की सामर्थ्य रहती है उसे ही लिङ्ग कहते हैं। श्रुति का अनुमान कराने वाला लिंग दो प्रकार का है—सीधा दिखलाई पड़ने वाला तथा अनुमान के द्वारा ज्ञात। सामर्थ्य का अर्थ रूढि है, अतः लिंग-प्रमाण में रूढि (परंपरागत शब्दार्थ) का अभिधान होता है जब कि समाख्या में यौगिक शब्द का अर्थ देखा जाता है। उदाहरण के लिए 'बर्हिर्देव सदनं दामि' (हे देव ! मैं तुम्हारे स्थान के लिए कुश काटता हूँ)—यह मंत्र कुशलवन (छेदन) रूपी अंग है। बर्हिष् शब्द कुश के अर्थ में ही रूढ़ है अतः अन्य तृणों के काटने का प्रसंग उत्पन्न नहीं होता। उसी

प्रकार—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्ने जुष्टं निर्वपामि (तै० सं० १।१।४) यह एक ही वाक्य है जिसमें योग्यता, आकांक्षा आदि के कारण परस्पर अन्वित पदों का समूह है। इसमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है कि 'देवस्य त्वा' इस वाक्य में 'अग्नये जुष्टम्' आदि भाग की सामर्थ्य निर्वाप-अर्थ का प्रकाशन करने की है। वाक्य आदि की अपेक्षा लिंग प्रबलतर होता है। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इस मंत्र को पुरोडाश-स्थापन रूपी प्रधान कर्म के अंग के रूप में जानते हैं। यह ज्ञान 'सदनं कृणोमि' इस लिंग को देखकर ही होता है वाक्य से नहीं।

(३) **वाक्य**—अंग (शेष) और प्रधान (शेषी) बोधक पदों का एक साथ उच्चारण करना (समभिव्याहार) वाक्य है। योग्यता, आकांक्षा आदि इसमें रहती है। वाक्य उपर्युक्त लिंग का अनुमान करता है। उदाहरण में 'समिधो यजति' दे सकते हैं। इसमें इष्ट-विशेष का निर्देश नहीं किया गया है अतः आकांक्षा होती है कि समिधाओं के याग से भावना किसकी करें? दर्शपूर्णमास के विधि वाक्य में भी स्वर्ग की भावना कैसे करें, यह आकांक्षा होती ही है। स्मरणीय है कि इसी आकांक्षा को प्रकरण-प्रमाण कहते हैं। 'यस्याः पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस वाक्य में पर्णता और जुहू (अर्धचन्द्राकार एक पात्रविशेष) का एक साथ उच्चारण हुआ है अतः इसी से जुहू (प्रधान) का अंग पर्ण (पलाश) है, यह मालूम होता है। जुहू के द्वारा जिस अपूर्व (कर्मफल, पुण्य) की भावना अर्थात् उत्पादन करते हैं उसके लिए पर्ण की अनिवार्य आवश्यकता है। बिना पर्ण के अपूर्व की सिद्धि नहीं होती।

(४) **प्रकरण**—जहाँ पर उपकारी की (किसकी भावना करें, इसकी) तथा उपकारक की (कैसे भावना करें, इसकी) आकांक्षा हो उसे प्रकरण कहते हैं। उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। 'समिधो यजति'। जहां मुख्य भावना से सम्बद्ध प्रकरण हो उसे महाप्रकरण कहते हैं, जहाँ अंग की भावना से सम्बद्ध प्रकरण हो उसे अवान्तर प्रकरण कहते हैं। महाप्रकरण के कारण ही प्रयाज आदि कर्मों को दर्शपूर्णमास का अङ्ग मानते हैं। अवान्तर प्रकरण के कारण अभिक्रमण (घूमना) आदि प्रयाज के अंग होते हैं। स्थान आदि की अपेक्षा प्रकरण बलवान् होता है, यही कारण है कि 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यो जिनाति' इत्यादि वाक्यों में, जहाँ क्रीडा, विजय आदि का उल्लेख है, सन्देह होता है कि यह राजसूय का अङ्ग है कि सोमयाग का? समान देश में पाठ होने से तो इसे (स्थान-प्रमाण से) सोमयाग का अंग समझना चाहिए किन्तु राजसूय में उपकारक की आकांक्षा होने के कारण देवन (दीव्यति) आदि का विधान है, अतः प्रकरण प्रमाण से वह राजसूय का ही अंग हो जायगा।

(५) **स्थान**—एक ही देश स्थान है। स्थान को क्रम भी कहते हैं। 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।११), 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।५) इस क्रम से इष्टियों का विधान किया गया है। अतः 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' (तै० सं० ४।२।११) इत्यादि जो याज्यानुवाक्या ('यज' विधि के बाद ब्रह्मा के द्वारा उच्चारित) मन्त्रों का विनियोग क्रम से होगा—पहले मन्त्र का पहले, दूसरे मन्त्र का बाद में आदि। इस प्रकार पाठ के विशेष क्रम के कारण दोनों की आकांक्षा (प्रकरण) का अनुमान होता है। प्रकरण के द्वारा वाक्य का, वाक्य से लिंग का और उससे श्रुति का—श्रुति के द्वारा विनियोग का अनुमान होता है।

(६) **समाख्या**—यौगिक शब्दों को समाख्या कहते हैं। जैसे—हौत्रम्, औद्गात्रम्। होतृ के द्वारा किये जाने वाले कर्मों को हौत्र कहते हैं अतः 'हौत्र' नाम से जिसका विधान हो उसे होतृ के द्वारा किये जाने योग्य कर्म समझें।

इस प्रकार विनियोग-विधि के लिए ये छह प्रमाण होते हैं। यौगिक शब्दों के अर्थ से जो विधान होता है उससे अधिक प्रबल पाठ का क्रम होता है। क्योंकि उससे शीघ्र ही विनियोग समझ में आता है। यौगिक शब्द के द्वारा विलंब की सम्भावना है। क्रम से अधिक प्रबल प्रकरण है क्योंकि आकांक्षा का श्रवण होने से अर्थबोध शीघ्र होता है। वाक्य में आकांक्षा से भी अधिक प्रबलता है क्योंकि अंग और प्रधान का एक साथ उसमें उच्चारण ही होता है। वाक्य की अपेक्षा लिंग में अर्थबोध की अधिक शक्ति है और अन्त में श्रुति तो सर्वोच्च है ही। जहाँ विनियोग के लिए साक्षात् श्रुति नहीं मिलती वहीं पर अन्य प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है। (विशेष विवरण के लिए अर्थ-संग्रह या मीमांसा-न्यायप्रकाश देखें।)

चतुर्थे प्रधानप्रयोजकत्वाप्रधानप्रयोजकत्वजुहूपर्णतादिफल-राजसूयगतजघन्याङ्गाक्षद्यूतादिचिन्ता। पञ्चमे श्रुत्यादिक्रम-तद्वि-शेषवृद्ध्यवर्धनप्राबल्यदौर्बल्यचिन्ता। षष्ठेऽधिकारितद्धर्मद्रव्यप्र-तिनिध्यर्थलोपनप्रायश्चित्त-सत्रदेयवह्निविचारः। सप्तमे प्रत्यक्षवच-नातिदेशशेषनामलिङ्गातिदेशविचारः।

चौथे अध्याय में प्रधान कर्मों की प्रयोजकता (जैसे प्रधान कर्म आमिक्षा दध्यानयन-रूपी दूसरे कर्म का प्रयोजक है), अप्रधान कर्मों की प्रयोजकता (जैसे वत्सापाकरण कर्म शाखाच्छेद का प्रयोजक है), पर्ण अर्थात् पलाश की बनी हुई जुहू आदि के फल तथा राजसूय-याग (प्रधान) के अन्तर्गत आने वाले

अप्रधान (जघन्य) अङ्गों जैसे अक्ष-द्यूत (अक्षैर्दीव्यति) आदि का विचार हुआ है। [उक्त चारों प्रश्नों का विचार इसके चार पादों (४८ + ३१ + ४१ + ४१) में हुआ है जो स्पष्ट है।]

पाँचवें अध्याय में श्रुति आदि का क्रम, उनके विभिन्न भागों का क्रम, कर्मों की वृद्धि और अवृद्धि, तथा श्रुति आदि की प्रबलता एवं दुर्बलता का विचार किया गया है। [इसके प्रथम पाद (३५) में श्रुति, अर्थ, पठनादि के क्रम का निरूपण हुआ है।* द्वितीय पाद (२३) में क्रम के विशिष्ट भागों का वर्णन हुआ है जैसे अनेक पशुओं के होने पर एक-एक पशु के धर्म की समाप्ति की जाय। तृतीय पाद (४४) में वृद्धि और अवृद्धि पर विचार हुआ है जैसे अग्नि और सोम को एक साथ दिये जाने वाले (अग्निषोमीय) पशु में ग्यारह प्रयाजों का यज्ञ होता है। तो इसमें पाँच प्रयाजों की पुनः आवृत्ति करके अन्तिम प्रयाज की एक बार और आवृत्ति करने पर ग्यारह संख्या पूर्ण हो जाती है। यह वृद्धि हुई, कहीं पर ऐसा नहीं करके पहले जैसी ही संख्या छोड़ देते हैं। चतुर्थ पाद (२६) में श्रुति आदि छह प्रमाणों में पहले के प्रमाण प्रबल हैं, बाद के दुर्बल, इसका विचार हुआ है।]

छठे अध्याय में यज्ञ करने के अधिकारी व्यक्ति, उनके धर्म, यज्ञ में प्रयुक्त होने के लिए विहित द्रव्यों के (न मिलने पर) स्थान में दिये गये द्रव्य, द्रव्यों का लोप, प्रायश्चित्त कर्म, सत्रकर्म, देय वस्तु, तथा विभिन्न अग्नियों में होम— इनका वर्णन है। [षष्ठाध्याय में आठ पाद हैं। प्रथम पाद (५२) में यज्ञ

---

* जिस प्रकार विनियोग-विधि के छह प्रमाण हैं उसी प्रकार प्रयोगविधि के भी छह प्रमाण हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य तथा प्रवृत्ति। ये क्रम (order) का बोध कराकर प्रयोग-विधि की सहायता करते हैं। वेदं कृत्वा वेदिं करोति— में श्रुति से ही कर्मों की पूर्वापरता मालूम होती है। 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति'—में प्रयोजन या अर्थ के द्वारा क्रम मालूम होता है कि यवागू होमार्थक है अतः उसका वाक्य पीछे रहने पर भी पहले वही काम होगा (यवागूपाक)। इन दोनों क्रमों के न रहने पर पाठ का क्रम ही प्रामाणिक होता है—जिस क्रम से वेद में पाठ है उसी क्रम से काम करना है। देश-काल के अनुसार जो जहाँ उपस्थित है वह पहले करें, दूसरा पीछे, (यह स्थान-क्रम है)। प्रधान के क्रम से अंगों को रखना मुख्य-क्रम है। जिस क्रम से आदित्यादि प्रधान देवताओं की पूजा हो उसी क्रम से उनके अधिदेवताओं की पूजा करें। प्रवृत्ति-क्रम वह है, जिसमें, एक स्थान पर जैसा हुआ हो उसी क्रम से दूसरी जगह भी होगा—ऐसा विचार रहे।

करने के अधिकारी का निरूपण हुआ है कि आँखवाला ही यज्ञ कर सकता है अन्धा नहीं। द्वितीय पाद (३१) में अधिकारियों के धर्म का विचार हुआ है। तृतीय पाद (४१) में मुख्य वस्तु के अभाव में प्राप्य वस्तु का कहाँ-कहाँ ग्रहण करें, कहाँ नहीं, इसका विचार हुआ है। चतुर्थ पाद (४७) में किस वस्तु का कहाँ लोप होता है यह निरूपित हुआ है। पंचम पाद (५६) में कहीं पर भूल हो जाने से प्रायश्चित्त करने का विधान है। षष्ठ पाद (३९) में सत्र नामक यज्ञ के अधिकारियों का वर्णन हुआ है। सप्तम पाद (४०) में अदेय तथा देय वस्तुओं का वर्णन हुआ है। अष्टम पाद (४३) में यह विचार है कि लौकिक अग्नि में कहाँ होम करें।]

सातवें अध्याय में वैदिक वाक्यों के प्रत्यक्ष आदेश से किसी यज्ञ के कर्मों का दूसरे यज्ञ में स्थानान्तरण (प्रथम पाद २३), अवशिष्ट विचार (द्वितीय पाद २१), [अग्निहोत्र आदि] नामों के कारण स्थानान्तरण (तृतीय पाद ३६) तथा लिंग के कारण स्थानान्तरण (चतुर्थ पाद २०) का वर्णन है।

अष्टमे स्पष्टास्पष्टप्रबललिङ्गातिदेशापवादविचारः। नवमे ऊहविचारारम्भसामोहमन्त्रोहतत्प्रसङ्गागतविचारः। दशमे बाध-हेतुद्वारलोपविस्तारबाधकारणकार्यैकत्वसमुच्चयग्रहादिसामप्रकीर्ण-नञर्थविचारः। एकादशे तन्त्रोपोद्घाततन्त्रावापतन्त्रप्रपञ्चनावाप-प्रपञ्चनचिन्तनानि। द्वादशे प्रसङ्गतन्त्रिनिर्णयसमुच्चयविकल्प-विचारः।

आठवें अध्याय में स्पष्ट लिंगों के द्वारा किये गये अतिदेश (प्रथम पाद ४३), अस्पष्ट लिंगों के द्वारा किये गये अतिदेश या स्थानान्तरण (द्वितीय पाद ३२), प्रबल लिंगों से किये गये स्थानान्तरण (तृतीय पाद ३६) तथा अंत में इन अतिदेशों अर्थात् स्थानान्तरणों के अपवाद प्रदर्शित हैं (चतुर्थ पाद २७)।

नवें अध्याय में ऊह (मंत्र में आये हुए देवता, लिंग, संख्या आदि के वाचक शब्दों का प्रयोगविशेष में अवसर के अनुसार परिवर्तन) के विचार का प्रारंभ (प्रथम पाद ५८), सामों का ऊह (द्वितीय पाद ६०) मंत्रों का ऊह (तृतीय पाद ४३) तथा अंत में ऊह के प्रसंग में उठने वाले प्रश्नों पर विचार किया गया है (चतुर्थ पाद ६०)।

दसवें अध्याय (आठ पाद) में पहले बाध (निषेध) के कारणस्वरूप द्वारों (कारणों) के लोप का वर्णन हुआ है (प्रथम पाद ५८) [जहाँ वेदि-

निष्पादनरूपी मुख्य कर्म (द्वार) का ही अभाव है वहाँ वेदि-निष्पादन कर्म में सहायक उद्धनन आदि अंग-कार्यों का बाध (निषेध) हो ही जायगा। जहाँ धान्य को तुषरहित करना ही नहीं है वहाँ अवहनन का निषेध हो जायगा।] तब उसी द्वारलोप का विस्तार बहुत से उदाहरणों के द्वारा किया गया है (द्वितीय पाद ७४)। इसके बाद कार्य की एकता को बाध का कारण बतलाया है (तृतीय पाद ७५) [जैसे प्रकृति (Sample) याग में गो, अश्व आदि की दक्षिणा का कार्य ऋत्विक्परिग्रह माना गया है, विकृति (Deviating from the sample) याग में उसी कार्य के लिए धेनु की दक्षिणा कही गयी है। इस प्रकार 'प्रकृतिवत्' शब्द के द्वारा जहाँ अतिदेश या स्थानान्तरण किया गया है उससे प्राप्त होने वाली गो, अश्व आदि की दक्षिणा का निषेध है।] उसके बाद बाध के कारणों के न होने पर समुच्चय (चतुर्थ पाद ५९), बाध का प्रसंग उठने पर ग्रहादि का विचार (पंचम पाद ८८), बाध के प्रसंग में ही सामविचार (षष्ठ पाद ८०), इसी प्रसंग में विभिन्न सामान्य प्रश्नों पर विचार (सप्तम पाद ७३) तथा अन्त में बाध करने वाले नञर्थ का विचार किया गया है (अष्टम पाद ७०) [स्मरणीय है कि परिमाण की दृष्टि से दशमाध्याय सभी अध्यायों से बड़ा है।]

ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र का उपोद्घात (प्रथम पाद ७१), तन्त्र और आवाप (द्वितीय पाद ६६), तन्त्र का विस्तार (तृतीय पाद ५४) तथा आवाप के विस्तार (चतुर्थ पाद ५६) पर विचार हुआ है। [अनेक लक्ष्यों का ध्यान रखते हुए एक ही साथ अनुष्ठान करना तन्त्र है। एक ही काम करें और बहुतों को लाभ हो जैसे बहुत लोगों के बीच स्थापित दीपक। लेकिन जो आवृत्ति (दुहराने) पर बहुतों का उपकार करे वह आवाप है जैसे बहुत लोगों का भोजन जो पारी-पारी से संभव है। जब दूसरे के उद्देश्य से दूसरी वस्तुओं का भी एक ही साथ अनुष्ठान करें तो उसे प्रसंग कहते हैं।]

बारहवें अध्याय में प्रसंग (एक मुख्य उद्देश्य से किया जाने पर भी दूसरे का प्रसंगतः उल्लेख) का विचार (प्रथम पाद ४६), तन्त्रियों (साधारण धर्मों से युक्त) का निर्णय (द्वितीय पाद ३७), समुच्चय (तृतीय पाद ३८) तथा विकल्प (चतुर्थ पाद ४७) का विचार किया गया है।

विशेष—आस्तिक दर्शनों की व्याख्या में माधवाचार्य की एक प्रवृत्ति देखने में आती है कि उन्होंने सूत्र-ग्रन्थों की विषयवस्तु की सूची दे दी है। जिन दर्शनों में (जैसे सांख्य) वे ऐसा नहीं कर सके उनके सूत्रग्रन्थ उनके समक्ष उपलब्ध नहीं थे या थे तो प्रामाणिक नहीं थे। इससे पूरे ग्रन्थ के विषयों

का अवगाहन कराना उनका लक्ष्य था। इसके बाद उस दर्शन की मुख्य समस्याओं पर भी वे विचार करते हैं।

(२. प्रथम सूत्र तथा अधिकरण का निरूपण)

तत्राथातो धर्मजिज्ञासा (जै० सू० १।१।१) इति प्रथममधिकरणं पूर्वमीमांसारम्भोपपादनपरम्। अधिकरणं च पञ्चावयवमाचक्षते परीक्षकाः। ते च पञ्चावयवा विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तसंगतिरूपाः।

उनमें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (अब इसलिए धर्म की जिज्ञासा आरम्भ होती है, जै० सू० १।१।१)—यह प्रथम अधिकरण (Topic) है जिसका उद्देश्य पूर्व, मीमांसा के आरम्भ का उपपादन (सिद्धि) करना है। परीक्षक लोग कहते हैं कि अधिकरण में पाँच अवयव (अंग) रहते हैं। वे पाँचों अवयव हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और संगति।

विशेष - वेदों में प्रतिपादित याग आदि को धर्म कहते हैं, उसकी जिज्ञासा अर्थात् विचार करना चाहिए। चूँकि अध्ययन का फल है अर्थज्ञान, इसलिए गुरुकुल में रहकर वेदाध्ययन करके धर्म का विचार करना चाहिए—यही सूत्र का अर्थ है।

किसी भी शास्त्र का अध्ययन कई अधिकरणों में बँटा रहता है। इन अधिकरणों की एक निश्चित विधा है जिसमें पाँच अवयव रहते हैं। जिस पर आधारित होकर कोई विचार प्रवृत्त होता है उसे **विषय** (Subject) कहते हैं। यहाँ पर शास्त्र ही विषय है। विषय का उल्लेख करने के अनंतर **संशय** (Doubt) का स्थान है जिसमें दो या दो से अधिक पक्षों की संभावना पर विचार होता है। ये दोनों पक्ष कहीं तो भावरूप (Affirmatvie) होते हैं—यह स्थाणु है या पुरुष ? कहीं पर भाव और अभाव दोनों रूपों में रहते हैं—यहाँ पुरुष है या नहीं ? वादी के द्वारा प्रतिपादित वस्तु को **पूर्वपक्ष** (Opposition) कहते हैं जिसमें प्रस्तुत वस्तु के विरोध में तर्क का उपन्यास होता है। निर्णय करना **सिद्धान्त** (Reply) है। **संगति** (Reconciliation) में तीन हैं—शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति तथा पादसंगति। कोई विचार किस शास्त्र में, किस अध्याय में और किस पाद में करना ठीक है, यही संगति है। उसी प्रकार पूर्वाधिकरण और उत्तराधिकरण में पारस्परिक अवान्तरसंगति भी ठीक की जाती है। कुमारिल भट्ट के अनुयायी लोग संगति को अधिकरण के अंग के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे लोग **उत्तर** को अधिकरण मानते हैं। वादियों के मत का खंडन करनेवाला वाक्य ही उत्तर है। उसके बाद **निर्णय** का स्थान

है। चूँकि खंडन गलत उत्तर देकर भी हो सकता है अतः निर्णय को पृथक् रखा गया है। भाट्टों का यह कहना है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

विशय का अर्थ है संशय (संदेह)। यद्यपि सभी दर्शनों में अधिकरणों की सिद्धि हो सकती है परन्तु दोनों मीमांसायें (पूर्व और उत्तर) इस दृष्टि से बहुत आगे हैं। उनमें भी जैमिनि की पूर्वमीमांसा के अधिकरण और भी प्रसिद्ध हैं क्योंकि सूत्र भी अधिकरणों को दृष्टि में रखकर ही लिखे गये लगते हैं। मीमांसा के अधिकरणों का संकलन भी जैमिनीन्यायमाला आदि ग्रन्थों में हुआ है।

(३. भाट्टमत से अधिकरण का निरूपण)

तत्राचार्यमतानुसारेणाधिकरणं निरूप्यते। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्येतद्वाक्यं विषयः। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२) इति आरभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (जै० सू० १२।४।४७) इत्येतदन्तं जैमिनीयं धर्मशास्त्रमनारभ्यमारभ्यं वेति संदेहः। अध्ययनविधेरदृष्टार्थत्वदृष्टार्थत्वाभ्याम्।

अब उनमें आचार्य (कुमारिल भट्ट) के मत से अधिकरण का निरूपण करें। 'स्वाध्याय अर्थात् वेद का अध्ययन करना चाहिए' यह वाक्य ही **विषय** है। 'प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले वाक्यों से लक्षित वस्तु ही धर्म है' (जै० सू० १।१।२) यहाँ से आरंभ करके 'इसे अन्वाहार्य में देखने पर भी यही सिद्ध होता है' (जै० सू० १२।४।४७) यहाँ तक जो जैमिनि का लिखा हुआ धर्मशास्त्र है, उसे आरंभ करें या नहीं—यही **संदेह** है। कारण यह है कि अध्ययन-विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) को कुछ मतों से दृष्टार्थ (साक्षात्प्रयोजन की सिद्धि करने वाला) और कुछ मतों से अदृष्टार्थ (अदृष्ट प्रयोजन जैसे स्वर्गप्राप्ति आदि प्रयोजनों की सिद्धि करनेवाला) मानते हैं। ['स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का दृष्ट प्रयोजन है अर्थज्ञान। यद्यपि आचार्य के द्वारा किये गये उच्चारण के अनुसार उसी तरह की आनुपूर्वी रखते हुए शिष्य को भी उच्चारण करना चाहिए। किन्तु अध्ययन-विधि का तात्पर्य केवल यहीं तक नहीं है। अर्थज्ञान-रूपी साक्षात् प्रयोजन तक इसका तात्पर्य है। अर्थज्ञान विचार के बिना संभव ही नहीं अतः जैमिनि के द्वारा प्रोक्त (Taught) यह विचार-शास्त्र विधि पर कृपा करके शुरू करना ही चाहिए। अध्ययन-विधि को दृष्टार्थ मानने पर मीमांसा-शास्त्र का आरंभ आवश्यक है। दूसरी ओर, यदि अध्ययन-विधि को अदृष्टार्थ मानें, यह कहें कि स्वाध्याय का तात्पर्य्य केवल स्वर्गादि की प्राप्ति

पर्यन्त है अर्थज्ञान पर्यन्त नहीं, तो विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। विचार-शास्त्र से विधि पर कोई प्रभाव पड़ेगा ही नहीं तो मीमांसासूत्र का आरंभ ही क्यों करें ? इसीसे दो पक्ष हो जाते हैं और संदेह उत्पन्न होता है।]

(३ क. पूर्वपक्ष—शास्त्रारंभ ठीक नहीं)

तत्रानारभ्यमिति पूर्वः पक्षः। अध्ययनविधेरर्थावबोधलक्षणदृष्टफलकत्वानुपपत्तेः। अर्थावबोधार्थमध्ययनविधिरिति वदन् वादी प्रष्टव्यः—किमत्यन्तमप्राप्तमध्ययनं विधीयते किं वा पाक्षिकमवघातवन्नियम्यत इति ?

तो, **पूर्वपक्ष** यह हुआ कि मीमांसाशास्त्र का आरम्भ ही नहीं करना चाहिए। अध्ययन-विधि से अर्थावबोध होता है, इस अदृष्ट फल की सिद्धि नहीं होती। जो वादी ऐसा कहते हैं कि अर्थावबोध के लिए अध्ययन-विधि है तो उनसे पूछना चाहिए—क्या अध्ययन किसी भी दूसरे साधन से प्राप्त नहीं था इसलिए विधान करते हैं (क्या अध्ययन-विधि अपूर्व-विधि है) या दूसरे साधन से वैकल्पिक हो जाने के चलते, अवघात-विधि के समान, इसे नियम में बाँधते हैं (क्या अध्ययन-विधि नियम है ?)

विशेष—पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि अध्ययन वाली विधि अपूर्व-विधि है या नियमविधि ? अपूर्व-विधि उसे कहते हैं जिसमें किसी विधि (Injunction) का प्रयोजन किसी भी अन्य प्रमाण से प्राप्त न हो अतः उस प्रयोजन के लिए विधि दी जाय। उदाहरण के लिए 'यजेत स्वर्गकामः'। याग से स्वर्ग-प्राप्ति होगी, इस प्रयोजन की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होगी, केवल इसी विधि से इसका ज्ञान हो सकता है अतः इसे अपूर्व-विधि कहते हैं। जहाँ पर अनेक साधनों से क्रिया की सिद्धि हो सके, एक साधन प्राप्त हो किन्तु दूसरे अप्राप्त—तो इन अप्राप्त कारणों का बोध कराने वाली विधि नियमविधि (Restrictive injunction) कहलाती है। जैसे—व्रीहीनवहन्ति (अवघात-विधि)। इस विधि से यह सूचित नहीं होता कि अवघात धान को तुषरहित करने के लिए होता है क्योंकि यह तो लोक में प्रसिद्ध ही है। किन्तु यहाँ पर नियम-विधि है कि अप्राप्त अंश की पूर्ति की जाती है। तुषरहित करना नाना उपायों से हो सकता है—कोई धान को नाखूनों से छील सकता है, कोई चक्की में दल सकता है, कोई अवघात कर सकता है आदि। जब कोई व्यक्ति अवघात (मुसल से छाँटना) छोड़ कर किसी दूसरे उपाय का ग्रहण करना चाहता है तो अवघात की अप्राप्ति हो जाती है। इस विधि के द्वारा उसी अप्राप्त अवघात का नियमन

करते हैं कि अन्य उपायों से नहीं, केवल अवघात के द्वारा ही धान का तुष छुड़ायें। पाक्षिक रूप से अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करानेवाली विधि नियम-विधि है। इसे कहा गया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते॥

नियम विधि में तो एक की अप्राप्ति और दूसरे की प्राप्ति रहने पर अप्राप्त वस्तु की पूर्ति की जाती है, परिसंख्या-विधि (Exclusive Specification) में एक ही साथ दो की प्राप्ति रहती है और तब एक की निवृत्ति करते हैं जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'। इसका अर्थ है पाँच पंचनखों के अतिरिक्त (शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः) किसी दूसरे पंचनख जीव का भक्षण मना है। इस प्रकार यह निवृत्ति परिसंख्या द्वारा ही होती है।

न तावदाद्यः। विवादपदं वेदाध्ययनमर्थावबोधहेतुरध्ययनत्वाद्, भारताध्ययनवत्—इत्यनुमानेन विध्यनपेक्षतया प्राप्तत्वात्। अस्तु तर्हि द्वितीयो यथा नखविदलनादिना तण्डुलनिष्पत्तिसंभवात् पाक्षिकोऽवघातोऽवश्यं कर्तव्य इति विधिना नियम्यते, तथा लिखितपाठेनार्थज्ञानसंभवात्पाक्षिकमध्ययनं विधिना नियम्यत इति चेत्।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] इनमें पहला विकल्प तो माना नहीं जा सकता क्योंकि निम्नलिखित अनुमान से यह सिद्ध हो जायगा कि किसी विधि की अपेक्षा न रखते हुए भी यह (वेदाध्ययन) [उस अर्थावबोध के साधन के रूप में] प्राप्त होगा—

'प्रस्तुत वेदाध्ययन अर्थ बोध करने के लिए है,
क्योंकि यह एक अध्ययन है,
जैसे महाभारत का अध्ययन [अर्थज्ञान के लिए होता है]।'

[अभिप्राय यह है कि यदि अपूर्वविधि मानकर आप (सिद्धान्ती) लोग, वेदाध्ययन अर्थज्ञान के लिए है, ऐसा सिद्ध करते हैं, तो विधि की कोई आवश्यकता ही नहीं है। महाभारत के अध्ययन की तरह वेद का अध्ययन भी लोग बिना किसी विधि के अर्थज्ञान के लिए ही कर लेंगे।]

अच्छा, दूसरा विकल्प लीजिए [कि यह नियमविधि है]। जैसे नखों के द्वारा विदलन (नाखून से धान के दानों की छीलना) आदि (=अवघात) से

चावल की निष्पत्ति हो सकती है किन्तु पाक्षिक रूप से (एक विशेष उपाय) अवघात का ही प्रयोग आवश्यक है, इस विधि के द्वारा नियमन (Restriction) किया जाता है [कि अन्य उपायों से तण्डुल-निष्पत्ति नहीं की जाय]। उसी प्रकार लिखित पाठ से भी अर्थ के ज्ञान की सम्भावना होने से पाक्षिक रूप से (एक विशेष उपाय) अध्ययन को ही विधि के द्वारा नियमित किया जाता है। [तात्पर्य यह है कि गुरु के उपदेश को छोड़कर केवल लिखित पाठ से ही अर्थज्ञान के लिए कोई प्रवृत्त हो जाय तो अध्ययन अप्राप्त हो जायगा जिसका विधान करना चाहिए। इसलिए पाक्षिक रूप से जो अध्ययन अप्राप्त है उसी के नियमन के लिए यह विधि है।]

नैतच्चतुरस्रम्। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यसंभवात्। अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैः पिष्टपुरोडाशादिकरणेऽवान्तरापूर्वद्वारा दर्शपूर्णमासौ परमापूर्वमुत्पादयतो नापरथा। अतोऽपूर्वमवघातस्य नियमहेतुः। प्रकृते लिखितपाठजन्येनाध्ययनजन्येन वार्थावबोधेन क्रत्वनुष्ठानसिद्धेरध्ययनस्य नियमहेतुर्नास्त्येव। तस्मादर्थावबोधहेतुविचारशास्त्रस्य वैधत्वं नास्तीति।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] आपका यह कहना ठीक नहीं (चतुरस्र = अच्छा)। कारण यह है कि दृष्टान्त (instance) तथा प्रस्तुत वस्तु (दार्ष्टान्तिक the object for which the instance is given) में वैधर्म्य की संभावना है। केवल अवघात के द्वारा निष्पन्न चावलों के पीसे जाने पर जब पुरोडाश (यज्ञ में प्रयुक्त रोटी की तरह का पदार्थ) आदि निर्मित होते हैं तभी अवान्तर (सहायक) अपूर्व के द्वारा दर्श (अमावस्या का याग) और पूर्णमास याग परम (मुख्य) अपूर्व (अर्थात् स्वर्गादि) उत्पन्न कर सकते हैं, किसी अन्य साधन से नहीं। [दर्शपूर्णमास आदि यागों से मुख्य अपूर्व अर्थात् पुण्य की उत्पत्ति होती है। स्वर्गादि मुख्य पुण्य हैं। इनकी उत्पत्ति में सहायक पुण्य को अवान्तर अपूर्व कहते हैं। अवघातादि से इनकी उत्पत्ति होती है। अदृष्ट वस्तु की उत्पत्ति में कार्य-कारण भाव शास्त्र से ही मालूम होता है।]

अतः अवघात के नियमन का कारण अपूर्व (पुण्य) ही है। [यदि अवघात रूपी नियम से उत्पन्न होनेवाले अदृष्ट की कल्पना नहीं होती या कल्पना करने पर भी यदि वह मुख्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहायक नहीं बनता तो अवघात-विधि का शास्त्र ही व्यर्थ हो जाता। धान को तुषरहित करने के लिए विधि की आवश्यकता नहीं थी। लोग धान से चावल निकालना भली-भाँति जानते हैं।

इसलिए अवघातनियम का एकमात्र कारण यही है कि दर्शपूर्णमास याग से उत्पन्न होनेवाले मुख्य अपूर्व की सिद्धि इससे होती है।]

प्रस्तुत विधि में, लिखित पाठ से भी अर्थबोध हो सकता है और अध्ययन से भी,—अतः अर्थबोध के बाद जो क्रतु (यज्ञ) का अनुष्ठान किया जायगा, उसमें नियम-हेतु रहेगा ही नहीं। [अवघात-विधि और अध्ययन-विधि में समानता स्थापित नहीं की जा सकती। अवघात-विधि कम से कम अपूर्व का हेतु है परन्तु अध्ययन-विधि अपूर्व का हेतु नहीं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की विधि अर्थज्ञान (फल) के उद्देश्य से दी गई है, क्योंकि अध्ययन के बिना भी केवल लिखित पाठ से अर्थज्ञान हो सकता है। जब अर्थज्ञान हो जायगा तब यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान करना संभव ही है। जैसे अवघात-नियम से उत्पन्न होनेवाले अवान्तरापूर्व को अस्वीकार करने पर मुख्यापूर्व की उत्पत्ति नहीं होती अतः मुख्यापूर्व ही अवान्तर अपूर्व का हेतु है, वह बात अध्ययन-विधि के साथ नहीं। अर्थ के ज्ञान के लिए अध्ययन के नियम से उत्पन्न अवान्तर अपूर्व स्वीकार कर लेने में कोई हेतु दिखलाई नहीं पड़ता।] अतः अध्ययन-विधि को नियमविधि नहीं मान सकते।]

तर्हि श्रूयमाणस्य विधेः का गतिरिति चेत्—स्वर्गफलकोऽक्षरग्रहणमात्रविधिरिति भवान्परितुष्यतु। विश्वजिन्न्यायेनाश्रुतस्यापि स्वर्गस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्। यथा 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' (जै० सू० ४।३।१५) इति विश्वजिति अश्रुतमप्यधिकारिणं संपादयता, तद्विशेषणं स्वर्गः फलं युक्त्या निरणायि तद्वदध्ययनेऽप्यस्तु। तदुक्तम्—

१. विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात्स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥

तब उक्त श्रौत (वेदोक्त) विधि की क्या गति होगी? आप घबरायें नहीं, संतोष करें, [अपूर्व का उत्पादन करके] यह विधि स्वर्ग का फल देने वाली है और यह केवल अक्षर-ग्रहण करने के लिए ही विहित है। [यह अपूर्वविधि है क्योंकि इस विधि के बिना मालूम नहीं हो सकता कि अध्ययन स्वर्ग-प्राप्ति कराता है। यह पूछ सकते हैं कि अध्ययन-विधि में स्वर्ग-प्राप्ति कहाँ दी हुई है कि आप इससे स्वर्ग-फल की उपलब्धि बोले चले जा रहे हैं?] यद्यपि अध्ययन-विधि (=स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) में स्वर्ग-शब्द नहीं सुनाई पड़ता परन्तु

विश्वजित्-न्याय से उसकी कल्पना की जा सकती है। जैसे जैमिनि ने अपने सूत्र–'वह फल स्वर्ग ही है क्योंकि सबोंके लिए यह एक समान है (४।३।१५)'– में यह निश्चय किया है कि विश्वजित्-याग में जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है वे लोग भी इसके अधिकारी हैं, पुनः युक्तिपूर्वक उन्होंने यह भी निर्णय किया है कि विश्वजित्-याग का विशिष्ट फल स्वर्ग ही है,—अध्ययन-विधि में भी यही बात क्यों न मान ली जाय ? [सूत्र का अर्थ है कि स्वर्ग चूँकि दुःख से सर्वथा अस्पृष्ट और निरतिशय सुख का आगार है अतः विश्वजित्-याग का फल हम इसे ही मान लें। स्मरणीय है कि जिस प्रकार अध्ययन-विधि का कोई फल श्रुति में नहीं दिया गया है, उसी प्रकार विश्वजित्-विधि (विश्वजिता यजेत) का भी कोई फल नहीं दिया गया है। जैमिनि सिद्ध करते हैं कि विश्वजित् का फल स्वर्ग है क्योंकि सारे सकाम व्यक्ति इसकी ही कामना करते हैं। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' जैसी स्पष्ट विधि है वैसी 'विश्वजिता यजेत' नहीं क्योंकि इसमें किसी कर्ता का उल्लेख ही नहीं कि अमुक कामना वाला व्यक्ति इस (विश्वजित्-याग) के द्वारा अपूर्व की भावना करे। तब इसका अधिकारी कौन हो ? इसीलिए कुछ फल की कल्पना करनी ही पड़ेगी और उसी फल की कामना रखने वाला व्यक्ति इस याग का अधिकारी बनेगा। जब कल्पना ही पर चलना है तो ऐसा फल क्यों न चुनें जिसके लिए सभी उत्सुक हों। वह फल है स्वर्ग, जिसकी अभिलाषा सभी लोग करते हैं। यही है विश्वजित्–न्याय। इसी न्याय से अध्ययन-विधि के फल की कल्पना की जाय कि इसका फल भी स्वर्ग ही है।]

यही कहा भी गया है—'चूँकि दृष्ट फल (अर्थज्ञान) की प्राप्ति विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के बिना भी हो जाती है अतः यह विधि उस (दृष्ट फल) के लिए नहीं है। विश्वजित्-न्याय से, विधि की सामर्थ्य से स्वर्ग की कल्पना करनी चाहिए।' [अध्ययन-विधि में इतनी सामर्थ्य है कि उससे स्वर्ग मिल सकता है अतः उसी फल के लिए अध्ययन-विधि है, अर्थज्ञान-रूपी दृष्ट फल के लिए नहीं। सारांश यह कि अर्थज्ञान विधिसंमत नहीं है, अतः अर्थज्ञान में उपयोगी यह मीमांसाशास्त्र भी विधिसंमत नहीं ही होगा। इसका आरम्भ नहीं ही करना चाहिए। इसे आगे स्पष्ट कर के पूर्वपक्ष का उपसंहार करेंगे।]

एवं च सति वेदमधीत्य स्नायादिति स्मृतिरनुगृहीता भवति। अत्र हि वेदाध्ययनसमावर्तनयोरव्यवधानमवगम्यते। तावके मते त्वधीतेऽपि वेदे धर्मविचाराय गुरुकुले वस्तव्यम्।

तथा सत्यव्यवधानं बाध्येत। तस्माद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वाभावात्पाठमात्रेण स्वर्गसिद्धेः समावर्तनशास्त्राच्च धर्मविचारशास्त्रमनारम्भणीयमिति पूर्वपक्षसंक्षेपः।

ऐसा होने पर (अध्ययन-विधि को अर्थज्ञान का बोधक न मानने पर) ही, 'वेद का अध्ययन करके स्नान (गार्हस्थ्य का अधिकार प्राप्त कराने वाला स्नान, जिसे समावर्तन भी कहते हैं) करे' इस स्मृति-वाक्य का पालन होता है। इस विधि (वेदमधीत्य स्नायात्) से वेदाध्ययन तथा समावर्तन के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहे, ऐसा मालूम पड़ता है। किन्तु यदि आपका मत मानें [कि अध्ययन का तात्पर्य अर्थज्ञान भी है] तब तो वेद का अध्ययन करने के बाद भी धर्म का विचार करने के लिए गुरुकुल में ही रहना आवश्यक हो जायगा तथा [वेदाध्ययन और समावर्तन के बीच में] व्यवधान नहीं पड़े, इसका उल्लघंन करना पड़ेगा। विचारशास्त्र (मीमांसा-शास्त्र) विधिसंमत नहीं है क्योंकि पाठ करने से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है (अर्थज्ञान से नहीं); इसके अतिरिक्त 'समावर्तन-शास्त्र' (वेदमधीत्य स्नायात्) के पालन के लिए भी धर्मविचार-शास्त्र का आरंभ नहीं करना चाहिए। यही पूर्वपक्ष का सारांश है।

(४. सिद्धान्तपक्ष—शास्त्रारंभ करना सर्वथा उचित है)

सिद्धान्तस्त्वन्यतः प्राप्तत्वादप्राप्तविधित्वं मास्तु। नियमविधित्वपक्षस्तु वज्रहस्तेनापि नापहस्तयितुं पार्यते। तथा हि—'स्वध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति तव्यप्रत्ययः प्रेरणापरपर्यायां पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाभाव्यामभिधाभावनां प्रत्याययति। सा ह्यर्थभावना भाव्यमाकाङ्क्षति।

अब सिद्धान्त (Conclusion, Reply) का निरूपण करते हैं—हम स्वीकार करते हैं कि दूसरे स्थानों में भी प्राप्त होने के कारण यह (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) अप्राप्त विधि अर्थात् अपूर्व विधि नहीं है। [अपूर्व-विधि और कहीं से प्रमाणित नहीं होती है। अर्थज्ञान लिखित पाठ से भी संभव है अतः अन्यत्र भी प्राप्ति होती है।] किन्तु इसे नियमविधि मानने का पक्ष तो वज्रहस्त (इन्द्र) के द्वारा भी मिटाया नहीं जा सकता। देखिये—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में विद्यमान तव्य-प्रत्यय उस अभिधा (शाब्दी) भावना की प्रतीति

कराता है जिसका दूसरा नाम 'प्रेरणा' भी है तथा जो पुरुष-प्रवृत्ति के रूप में रहने वाली आर्थी भावना के द्वारा साध्य है। वह आर्थी भावना किसी भाव्य (साध्य, उद्देश्य) की अपेक्षा रखती है। [किसी व्यापार को **भावना** कहते हैं जैसे किसी को प्रेरणा देना या मनुष्यों में प्रवृत्ति उत्पन्न करना। आख्यात (क्रिया) और लिङ् दोनों अंशों के द्वारा भावना का अभिधान होता है जैसे—'यजेत' में लिङ् है, 'जुहोति' में आख्यात है। इस प्रकार तिङ् प्रत्यय के द्वारा ही भावना अभिहित होती है। भावना के दो भेद हैं—आर्थी और शाब्दी। शब्द की ओर से (जैसे तव्य-प्रत्यय की ओर से) जो प्रेरणात्मक व्यापार उत्पन्न हो उसे **शाब्दी भावना** कहते हैं। प्रस्तुत स्थल में यह तव्य-प्रत्यय के द्वारा अभिहित होती है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में तव्य प्रत्ययात्मक शब्द सुनने के अनंतर यह प्रतीति होती है कि यह शब्द मुझे अध्ययन-कर्म में प्रेरित कर रहा है। जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति नियमपूर्वक होती है वह अर्थ उस शब्द का वाच्य है। ऐसे भ्रम में न पड़ें कि संसार की अन्य प्रेरणाओं की तरह यह प्रेरणा भी पुरुष पर निर्भर करती है। वेद अनादि है, उसके कर्ता कोई पुरुष नहीं हैं। अतः अभिधा-भावना (या शाब्दी भावना) का आधार तव्य प्रत्यय ही है। वही तव्य प्रत्यय शाब्दी भावना का वाचक है।

अभिधा-भावना के द्वारा अध्ययन की ओर पुरुषों की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। यह प्रवृत्ति ही **आर्थी भावना** कहलाती है क्योंकि प्रवृत्ति पुरुष आदि अर्थों (विषयों) पर निर्भर करती है। आर्थी भावना का वाचक तव्य प्रत्यय ही है क्योंकि अध्ययन मात्र का बोध धातु से ही होता है। यह आर्थी भावना अपने भाव्य की आकांक्षा करती है कि इसके द्वारा कौन-सी भावना करें (किं भावयेत्) ? उसका साध्य अध्ययन है किन्तु वह आर्थी भावना के द्वारा भावित नहीं हो सकता। इसे ही स्पष्ट करते हैं।]

न तावत्समानपदोपात्तमध्ययनं भाव्यत्वेन परिरमते। अध्ययनशब्दार्थस्य स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वस्य वाङ्मनसव्यापारस्य क्लेशार्थकस्य भाव्यत्वासंभवात्। नापि समानवाक्योपात्तः स्वाध्यायः। स्वाध्यायशब्दार्थस्य वर्णराशेर्नित्यत्वेन विभुत्वेन चोत्पत्त्यादीनां चतुर्णां क्रियाफलानामसंभवात्।

चूँकि अध्ययन का उपादान उस एक ही पद (अध्येतव्यः) में हुआ है [जिसमें आर्थी भावना के तव्य प्रत्यय का भी स्थान है] अतः इस आधार पर यह नहीं हो सकता कि आर्थी भावना का भाव्य (साध्य) अध्ययन ही

है। कारण यह है कि 'अध्ययन' शब्द का अर्थ है प्रत्येक वर्ण का स्पष्ट (स्वाधीन) उच्चारण में समर्थ होना; इसमें वाणी और मन का व्यापार होता है तथा बड़ा क्लेश भी होता है अतः यह (अध्ययन) भाव्य नहीं हो सकता। [पुरुष की प्रवृत्ति का भाव्य वही हो सकता है जो सुखकर हो। सुखद वस्तु की ओर ही प्रवृत्ति हो सकती है। अतः कष्टप्रद अध्ययन की भावना तो की ही नहीं जा सकती।]

उसी वाक्य में आनेवाला 'स्वाध्याय' भी भाव्य नहीं हो सकता क्योंकि 'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ है वर्णराशि (वेद), जो नित्य (Eternal) तथा विभु (All-pervading) है,—उस पर उत्पत्ति आदि चार क्रियाफलों (कर्मों) में से कोई भी आरोपित नहीं किया जा सकता। [उसी **शब्द** 'अध्येतव्यः' में स्थित अध्ययन जब भाव्य नहीं बन सका तब उसी **वाक्य** में स्थित 'स्वाध्याय' शब्द को भाव्य बनाने के सपने आने लगे। किन्तु फिर मुँह की खानी पड़ी। स्वाध्याय (वेदराशि) साध्य नहीं हो सकता। क्रिया के चार फल हैं—उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार। कुम्भकार की क्रिया से घट की **उत्पत्ति** होती है। गमन-क्रिया से देशान्तर की **प्राप्ति** होती है। पाकक्रिया से तण्डुल में **विकार** होता है। वैज्ञानिक क्रियाओं से पेट्रोलियम के दोषों को दूर करके **संस्कार** होता है। प्रस्तुत प्रसंग में अध्ययन में प्रवृत्ति होने से वेदराशि की उत्पत्ति तो होती नहीं क्योंकि वह नित्य है। उसकी प्राप्ति भी नहीं होगी क्योंकि वह सर्वत्र है। प्राप्ति उसी की होती है जो अप्राप्त है, किन्तु वेद तो विभु है, कहाँ नहीं है? इसका विकार भी नहीं होता क्योंकि ऐसा मानना अनित्यत्व को निमन्त्रण दे देना है। अध्ययन-प्रवृत्ति के द्वारा वेद का संस्कार भी नहीं होता। संस्कार का अर्थ है किसी दूसरे कार्य की योग्यता प्राप्त करना। नित्य स्फोटरूप शब्द-ब्रह्म में कोई अपूर्व गुण नहीं दिया जा सकता। फलतः 'स्वाध्यायः' भी भाव्य नहीं हो सकता। तब भाव्य होगा कौन? बिना भाव्य के अध्ययन-विधि निरर्थक होने जा रही है। इसीलिए अर्थबोध को भाव्य मानेंगे।]

(४ क. अध्ययन-विधि का लक्ष्य अर्थबोध ही है)

तस्मात्सामर्थ्यप्राप्तोऽवबोधो भाव्यत्वेनावतिष्ठते। अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियत इति न्यायेन दर्शपूर्णमासादिविधयः स्वविषयावबोधमपेक्षमाणाः स्वार्थबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्याऽध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्यावगमयति।

इसलिए [अध्ययन-विधि की] सामर्थ्य से प्राप्त अर्थावबोध ही भाव्य के रूप में अवस्थित हो सकता है। [अर्थ यह निकला कि अध्ययन से अर्थबोध का संपादन करें। स्वर्गादि फल, विश्वजित्-न्याय से अनुगृहीत होने पर भी अदृष्ट होने के कारण मान्य नहीं हैं। दृष्ट फल विद्यमान रहने पर भी अदृष्ट फल की कल्पना करना अनुचित है। यह अपूर्व-विधि नहीं है क्योंकि इसका दृष्टफल (अर्थावबोध) लोकसिद्ध है। अध्ययन के बाद अर्थज्ञान का संपादन करना चाहिए—इस नियम में दृष्टफल न रहने से विवश होकर अवान्तर-अपूर्व (अदृष्ट) की कल्पना की जाती है। इस कल्पना का कारण है सभी यज्ञों से उत्पन्न होने वाला अपूर्व। अर्थज्ञान के बिना यज्ञ करना असंभव है इसलिए अर्थज्ञान के लिए यह श्रुति अध्ययन-नियम निर्धारित करती है।]

यह एक नियम है कि धनवान्, समर्थ तथा विद्वान् पुरुष यज्ञ करने के अधिकारी हैं (देखिये, मीमांसा-सूत्र, ६।१)। इसलिए दर्श, पूर्णमास आदि विधियाँ अपने-अपने विषय के ज्ञान की अपेक्षा [याजकों से] करती हैं और वे अपने अर्थावबोध के लिए स्वाध्याय का विनियोग भी करती हैं। दूसरी ओर अध्ययन-विधि भी लिखित-पाठ आदि [अर्थावबोध के दूसरे साधनों] को हटाकर यह बतलाती है कि स्वाध्याय का संस्कार (अर्थज्ञानरूपी फल का संपादन) भी अध्ययन से ही होता है। [यहाँ संस्कार-शब्द से गुणाधान या दोषनिवर्तन न समझें। स्वाध्याय से अर्थरूपी फल प्राप्त होता है किन्तु अध्ययन करने पर ही। स्वाध्याय पर इसका कोई असर नहीं पड़ता, व्यक्ति ही प्रभावित होता है।]

तथ च यथा दर्शपूर्णमासादिजन्यं परमापूर्वमवघातादिजन्यस्यावान्तरापूर्वस्य कल्पकं तथा समस्तक्रतुजन्यमपूर्वजातं क्रतुज्ञानसाधनाध्ययननियमजन्यमपूर्वं कल्पयिष्यति। नियमादृष्टानिष्टौ विधिश्रवणवैफल्यमापद्येत। न च विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनावकल्प्यते। अर्थावबोधे दृष्टे फले सति फलान्तरकल्पनाया अयोगात्। तदुक्तम्—

२. लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति॥ इति।

जिस प्रकार दर्श-पूर्णमास आदि यागों से उत्पन्न होने वाला परम अपूर्व, अवघात आदि अवान्तर कर्मों से उत्पन्न होने वाले अवान्तर अपूर्व की कल्पना

कराता है उसी प्रकार समस्त क्रतुओं से उत्पन्न होने वाला अपूर्व-समूह (पुण्यराशि), क्रतुओं के ज्ञान के साधन-स्वरूप अध्ययन-नियम से उत्पन्न होने वाले अपूर्व की कल्पना करेगा। यदि नियम (अध्ययन-नियम) में अदृष्ट (अपूर्व) आप नहीं मानना चाहते हैं तो विधियों का श्रवण (श्रुति) भी व्यर्थ हो जायगा [क्योंकि विधि और नियम एक प्रकार की ही चीजें हैं। एक में अदृष्ट न मानें और दूसरे में मानें तो यह ठीक नहीं होगा।] विश्वजित्-न्याय से फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए क्योंकि अर्थावबोधरूपी दृष्ट फल के होते हुए किसी दूसरे फल (=अदृष्ट) की कल्पना करना उचित नहीं है। यही कहा गया है—'दृष्ट (Direct) फल के प्राप्य होने पर अदृष्ट (Indirect) फल की कल्पना नहीं हो सकती। अध्ययन-विधि नियम के लिए है [कि अर्थज्ञान के दूसरे उपाय काम में न लायें], अतः यह विधि निरर्थक नहीं हो सकती।'

(४ ख. मीमांसा के विषय में अन्य शंका और उत्तर)

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि साङ्गवेदाध्यायिनः पुरुषस्यार्थावबोधसंभवाद्विचारशास्त्रस्य वैफल्यमिति चेत्—तदसमञ्जसम् । बोधमात्रसंभवेऽपि निर्णयस्य विचाराधीनत्वात् । तद्यथा—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' (तै० ब्रा० ३।१२।५) इत्यत्र घृतेनैव न तैलादिना इत्ययं निर्णयो व्याकरणेन निगमेन निरुक्तेन वा न लभ्यते । विचारशास्त्रेण तु तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषवशादर्थनिर्णयो लभ्यते ।

अब यह शंका हो सकती है कि केवल वेद का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को भले ही अर्थ का ज्ञान न हो सके किन्तु जो व्यक्ति अंगों (शिक्षा, कल्प, छंद, निरुक्त, ज्योतिष और व्याकरण) के साथ वेद का अध्ययन करेंगे उन्हें तो अर्थ-बोध हो सकेगा। अतः विचारशास्त्र (मीमांसा) व्यर्थ है। [उत्तर यह है कि यह कहना बिल्कुल] असंगत है। बोध तो हो जायगा किन्तु जहाँ तक निर्णय का प्रश्न है वह विचारशास्त्र के ही अधीन रहेगा। जैसे—'सिक्त शर्करा (कंकड़ों) का उपधान (स्थापन) करता है' (तै० ब्रा० ३।१२।५) यहाँ पर 'घी से सिक्त, तेल आदि से नहीं' इसका निर्णय व्याकरण, निगम (वैदिक वाक्य का निरुक्त में उद्धरण, जिसमें शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है) या निरुक्त से नहीं किया जा सकता। विचार-शास्त्र की सहायता लेने पर

उस वाक्य के अवशिष्ट अंश—'घी ही तेज है'—इसके द्वारा अर्थ का निर्णय हो जाता है। [किसी भी स्थिति में मीमांसा-शास्त्र की अवहेलना नहीं की जा सकती।]

(५. सिद्धान्तपक्ष का उपसंहार और संगति का निरूपण)

तस्माद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वं सिद्धम्। ते च वेदमधीत्य स्नायादिति शास्त्रं गुरुकुलनिवृत्तिपरं व्यवधानप्रतिबन्धकं बाध्येतेति मन्तव्यम्। 'स्नात्वा भुङ्क्ते' इतिवत् पूर्वापरीभावसमानकर्तृकत्वमात्रप्रतिपत्त्या अध्ययनसमावर्तनयोर्नैरन्तर्याप्रतिपतेः। तस्माद्विधिसामर्थ्यादेवाधिकरणसहस्रात्मकं पूर्वमीमांसाशास्त्रमारम्भणीयम्।

इदं चाधिकरणं शास्त्रेणोपोद्घातत्वेन संबध्यते। तदाह—
चिन्तां प्रकृतिसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते। इति।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विचार-शास्त्र विधि-संमत है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' (वेदाध्ययन करके समावर्तन संस्कार वाला स्नान करे)—यह स्मृति गुरुकुल से शिष्य को हटने का उपदेश देती है तथा तनिक भी व्यवधान को रोकती है, अतः [विचारशास्त्र का अध्ययन करने से] उक्त स्मृति का उल्लंघन होगा। [वास्तव में उक्त स्मृति से मीमांसाशास्त्र का कोई विरोध नहीं है।] जिस प्रकार 'स्नात्वा भुङ्क्ते' (नहाकर खाता है) इस वाक्य से केवल इतना ही मालूम होता है कि दोनों क्रियाओं में पूर्वापर का संबंध है और दोनों के कर्ता एक ही हैं (यह नहीं ज्ञात होता कि दोनों के बीच कोई व्यवधान नहीं है—नहाकर कोई पूजा-पाठ भी कर सकता है) उसी प्रकार अध्ययन और समावर्तन लगातार (जल्दी से बिना व्यवधान के) हो जायँगे, यह प्रतीति नहीं होती। [जिस वाक्य से जितना अर्थ लगे वहीं तक दौड़ लगानी चाहिए। पाणिनि अपने 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) सूत्र में क्त्वा का विधान करते हुए यह नहीं कहते कि दोनों क्रियाओं के बीच क्त्वा के कारण व्यवधान रहेगा ही नहीं।] इसलिए विधि की सामर्थ्य रहने के कारण ही एक हजार (वस्तुतः ९१५) अधिकरणों के बने हुए पूर्वमीमांसा-शास्त्र का आरंभ करना चाहिए।

संगति—यह अधिकरण उपोद्घात (भूमिका, सहायक) के रूप में शास्त्र से संबद्ध है। यही कहा गया है—'प्रकृत विषय की सिद्धि के लिए जो विचार

किया जाय उसे उपोद्घात कहते हैं।' [इस प्रकार कुमारिल भट्ट के मत से अधिकरण पर विचार हुआ।]

(६. प्रभाकर के मत से उक्त अधिकरण का निरूपण)

इदमेवाधिकरणं गुरुमतमनुसृत्योपन्यस्यते। अष्टवर्षं ब्राह्मण-मुपनयीत, तमध्यापयीतेत्यत्राध्यापनं नियोगविषयः प्रतिभा-सते। नियोगश्च नियोज्यमपेक्षते। कश्चात्र नियोज्य इति चेत्-आचार्यककाम एव। 'संमानन—' (पा० सू० १।३।३६) इत्यादिना पाणिन्यनुशासनेनाचार्यके गम्यमाने नयतेर्धातोरा-त्मनेपदस्य विधानात्। उपनयने यो नियोज्यः स एवाध्याप-नेऽपि। तयोरेकप्रयोजनत्वात्।

अब इसी अधिकरण का निरूपण गुरु (प्रभाकर)-मत से किया जाता है। 'आठ वर्ष के ब्राह्मण के बालक का उपनयन कर दे तथा उसे पढ़ाये' (आश्व० गृ० सू० १।१९।१)—इस प्रकार अध्यापन ही नियोग (विधि) का विषय प्रतीत होता है। नियोग (विधि) नियोज्य (विधि के पात्र) की अपेक्षा रखता है, तो कौन नियोज्य होगा ? [विधि किस के लिए है ?]

[उत्तर होगा कि] जो व्यक्ति आचार्य के कर्म की कामना करता है उसके लिए ही विधि है। पाणिनि के सूत्र 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगण-नव्ययेषु नियः (१।३।३६)' के द्वारा आचार्य के कर्म (करण) का अर्थ प्रतीत होने पर नी-धातु से आत्मनेपद होने का विधान किया गया है। [उपपूर्वक नी धातु का अर्थ है विधिपूर्वक अपने पास पहुँचाना। इस प्रापण क्रिया के द्वारा माणवक (शिष्य) में संस्कार उत्पन्न किया जाता है। यह फल चूँकि आचार्य को (कर्ता होने के नाते) नहीं मिलता, संस्कार-रूपी फल माणवक को ही मिलता है अत; 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (पा० सू० १।३।७२) से आत्मनेपद नहीं होता। यही कारण है कि एक दूसरे सूत्र के द्वारा आचार्यकरण अर्थ में नी-धातु को आत्मनेपद सिद्ध किया गया है। आचार्यक = आचार्य का कर्म। वुञ् प्रत्यय (पा० सू० ५।१।१३२)।]

उपनयन में जो व्यक्ति नियोज्य है (आचार्य) वही व्यक्ति अध्यापन में भी नियोज्य बनता है क्योंकि दोनों क्रियाओं का लक्ष्य (प्रयोजन) एक ही है (=आचार्यत्व की प्राप्ति)।

विशेष—यहाँ प्रभाकर-गुरु के विषय में एक किंवदन्ती है कि ये गुरु कैसे हुए। इनके गुरु एक बार एक फक्किका के फेरे में थे—'अत्र तु नोक्तम्। तत्रापि नोक्तम्। अतः पौनरुक्त्यम्।' जब दोनों जगह नहीं ही कहा गया है तब पुनरुक्ति कैसे हुई? प्रभाकर के गुरु संशय में थे। प्रभाकर को स्फुरण हुआ कि पुस्तक में पदच्छेद की गड़बड़ी है। होना यह चाहिए—अत्र तुना उक्तम् (यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा कहा गया है)। तत्र अपिना उक्तम् (वहाँ 'अपि' शब्द के द्वारा कहा गया है)—दोनों जगहों पर कहे जाने के कारण पुनरुक्ति है। गुरु जी इनकी इस प्रतिभा पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें ही गुरु कहने लगे।

मीमांसा-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास देना यहाँ असंगत नहीं होगा। वेदों के कर्मकाण्ड-पक्ष पर विचार करने के उद्देश्य से मीमांसा-सूत्र की रचना **जैमिनि** ने की (३०० वि० पू०)। सभी दर्शन-सूत्रों की अपेक्षा यह ग्रन्थ बड़ा है। प्रायः २६५० सूत्र हैं जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इस पर उपवर्ष और बोधायन ने वृत्तियां लिखी थीं किन्तु वे उद्धरणों में ही उपलब्ध हैं। **शबरस्वामी** (१०० ई० पू०) ने मीमांसासूत्र पर अपना विस्तृत भाष्य लिखा जो शबरभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। सूत्रों को समझने के लिए यह एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। शबरभाष्य पर विभिन्न टीकायें हुई जिनसे मीमांसा के तीन संप्रदाय हो गये—भाट्ट, गुरु और मुरारि।

भाट्ट-मत के प्रवर्तक **कुमारिल** (७५० ई०) शंकराचार्य के समकालिक थे। इन्होंने शबरभाष्य पर तीन वृत्तिग्रन्थ लिखे—(१) प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद पर विशाल **श्लोकवार्तिक**, जो कारिकाओं में उक्त पाद की व्याख्या है। (२) प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय तक गद्य में **तन्त्र-वार्तिक** तथा (३) अवशिष्ट अध्यायों की संक्षिप्त टिप्पणी **टुपटीका** के नाम से की। दोनों वार्तिकों में बौद्धों का पूर्ण समीक्षण किया गया है। कुमारिल के प्रधान शिष्य **मण्डन मिश्र** थे जो शंकराचार्य से परास्त होकर सुरेश्वराचार्य बन गये थे (८०० ई०)। इन्होंने तंत्रवार्तिक की व्याख्या, विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक (पाँच ख्यातियों की व्याख्या) तथा मीमांसा-सूत्रानुक्रमणी लिखी। **वाचस्पति मिश्र** ने (८५०) विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' व्याख्या की। कुमारिल के दूसरे शिष्य **उम्बेक** (जो भवभूति ही समझे जाते हैं) ने भावनाविवेक की टीका तथा श्लोकवार्तिक की प्रथम टीका 'तात्पर्यटीका' नाम से की। अपूर्ण होने के कारण इसकी पूर्ति जयमिश्र ने की थी।

पार्थसारथि मिश्र (११०० ई०) ने भाट्टमत की पुष्टि के लिये तर्करत्न (टुप्टीका की व्याख्या), न्याय-रत्नाकर (श्लोकवार्तिक की टीका), न्यायरत्न-

माला (मीमांसा के सात विषयों पर स्वतंत्र निबन्ध) तथा शास्त्रदीपिका—ये चार ग्रन्थ लिखे। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक **माधवाचार्य** ने श्लोकों में जैमिनीयन्यायमाला तथा उसकी टीका 'विस्तर' के नाम से लिखी। **खण्डदेव मिश्र** (१६५० ई०) ने भाट्टकौस्तुभ, भाट्टदीपिका और भाट्टरहस्य लिखकर नव्य मीमांसा का प्रवर्तन किया। मीमांसान्यायप्रकाश के रचयिता आपदेव इसी समय हुए थे। इनके अतिरिक्त लौगाक्षिभास्कर (१६४० ई०) का अर्थसंग्रह तथा कृष्णयज्वा की मीमांसापरिभाषा—ये भी प्रचलित ग्रन्थ हैं।

गुरुमत का प्रवर्तन **प्रभाकर** ने (७७५ ई०) शबरभाष्य पर बृहती-टीका लिखकर किया। आचार्य शालिकनाथ ने इसपर ऋजुविमला टीका लिखी। भवदेव (नाथ) ने शालिकनाथ (७९० ई०) के मत के स्पष्टीकरण के लिए **नयविवेक** नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें अधिकरणों की व्याख्या है (९०० ई०)। इस ग्रन्थ की चार टीकायें उपलब्ध हैं—रन्तिदेव का विवेकतत्त्व, वरदराज की नयविवेकदीपिका, शंकरमिश्र की पंचिका तथा दामोदर का नयविवेकालंकार। **रामानुजाचार्य** (११५० ई०) का तंत्ररहस्य बहुत सरल तथा स्पष्ट पुस्तक है जो गुरुमत का प्रवेशक है। अपने उदारवादी दृष्टिकोण के कारण भाट्टमत के सामने गुरुमत नहीं ठहर सका।

मुरारि-मत के प्रवर्तक मुरारि मिश्र का नाम गंगेश तथा वर्धमान ने अपने ग्रन्थों में लिया है परन्तु ये अत्यन्त अल्पज्ञात आचार्य हैं। दो पुस्तकें—त्रिपादी-नीतिनयन तथा एकादशाध्यायाधिकरण—इनके नाम से मिली हैं। संभवतः इनका समय १२ वीं शताब्दी में हो। इनके नाम पर लोकोक्ति भी चल पड़ी है—मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।

अत एवोक्तं मनुना मुनिना—

३. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनु० २।१४०) इति।

ततश्चाचार्य्यकर्तृकमध्यापनं माणवककर्तृकेनाध्ययनेन विना न सिध्यतीत्यध्यापनविधिप्रयुक्त्यैवाध्ययनानुष्ठानं सेत्स्यति। प्रयोज्यव्यापारमन्तरेण प्रयोजकव्यापारस्यानिर्वाहात्।

इसलिए महर्षि मनु ने कहा है—'जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्य का उपनयन करके उसे वेदांगों और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता है उसे ही

आचार्य कहते हैं।' (मनुस्मृति २।१४०)। [उपनयन के बाद अध्यापन करने से आचार्य में कुछ अतिशय की उत्पत्ति होती है। यही अतिशय अध्यापक को आचार्य बनाता है। यद्यपि उपनिषदें वेद के अन्तर्गत ही हैं तथापि प्रधानता दिखलाने के लिए उनका निर्देश पृथक् किया गया है। मेधातिथि का कहना है कि उपनिषदें वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। कितने लोग वेदान्त का अर्थ 'वेद के पास होना' कर लेते हैं अतः उनके वेद न होने की भ्रान्ति हो जाती है। यही कारण है कि रहस्य शब्द का भी ग्रहण किया गया है।]

तो, आचार्य का अध्यापन तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक कोई शिष्य अध्ययन न करे। इसलिए अध्यापन-विधि (वेदमध्यापयीत) के प्रयोग से ही अध्ययन के अनुष्ठान की सिद्धि हो जायगी। [अध्ययन के लिए विधि हो या नहीं हो, अध्यापन के लिए तो है। जब तक अध्ययन करने वाला कोई नहीं हो आचार्य अध्यापन क्या करेंगे ? अध्यापन की विधि ही अध्ययन की सिद्धि कर देगी क्योंकि] प्रयोज्य (= शिष्य) के व्यापार के बिना प्रयोजक का व्यापार नहीं चल सकता। [अध्यापन-योग्य शिष्य के रहने पर ही अध्यापक की क्रिया चल सकती है।]

तर्हि 'अध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इत्यस्य विधित्वं न सिध्यतीति चेत्—मा सैत्सीत्का नो हानिः ? पृथगध्ययनविधेरभ्युपगमे प्रयोजनाभावात्। विधिवाक्यस्य नित्यानुवादत्वेनाप्युपपत्तेः। तस्मादध्ययनविधिमुपजीव्य पूर्वमुपन्यस्तौ पूर्वोत्तरपक्षौ प्रकारान्तरेण प्रदर्शनीयौ।

विचारशास्त्रमवैधत्वेनानारब्धव्यमिति पूर्वपक्षः। वैधत्वेनारब्धव्यमिति राद्धान्तः।

तब यदि यह शंका हो कि 'अध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५)—यह वाक्य विधि के रूप में नहीं सिद्ध होगा, तो मत सिद्ध हो, हमारी हानि इसमें क्या है ? [अध्यापन-विधि के अन्तर्गत ही अध्ययन चला आता है, अतः 'अध्येतव्यः' को तो विधि नहीं कह सकेंगे क्योंकि विधि होने पर इसे विधि की आवश्यक शर्तों की पूर्ति करनी होगी—यह अज्ञातज्ञापक या अप्रवृत्तप्रवर्तक हो, किन्तु अध्ययन का ज्ञान या इसकी प्रवृत्ति पहले ही अध्यापन विधि के द्वारा हो चुकी है। अतः यह वाक्य विधि नहीं है।] अलग से अध्ययन के लिए विधि मानने का कोई प्रयोजन (कारण) नहीं है। कहीं-कहीं विधि-वाक्य (विधायक के रूप में प्रतीत होने वाला वाक्य) नित्य रूप से प्राप्त वस्तु का अनुवाद (आवृत्ति,

पुष्टि) करता है, यह भी देखा जाता है (सम्भवतः 'अध्येतव्यः' भी किसी का अनुवादक ही हो)। इसलिए अध्ययन-विधि को आधार मान कर इसके पहले दिये गये पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष, दोनों को दूसरे प्रकार से प्रदर्शित करना चाहिए।

इसमें पूर्वपक्ष यह रखते हैं कि विचार-शास्त्र विधि-संमत नहीं है, अतः उसका आरंभ नहीं करना चाहिए। उत्तरपक्ष में कहते हैं कि यह शास्त्र विधि-संमत है, अतः उसका आरंभ करें।

(६ क. प्रभाकर के मत से पूर्वपक्ष)

तत्र वैधत्वं वदता वदितव्यं—किमध्यापनविधिर्माणवकस्यार्थावबोधमपि प्रयुङ्क्ते, किं वा पाठमात्रम् ? नाद्यः, विनाप्यर्थावबोधेनाध्यापनसिद्धेः। न द्वितीयः। पाठमात्रे विचारस्य विषयप्रयोजनयोरसंभवात्। आपाततः प्रतिभातः संदिग्धोऽर्थो विचारशास्त्रस्य विषयो भवति।

[पूर्वपक्षी कहता है कि] जो लोग विचारशास्त्र को वैध (विधिसंमत) मानते हैं वे इसका उत्तर दें—क्या उपर्युक्त अध्यापन-विधि का लक्ष्य (प्रयोग) शिष्य को अर्थ का बोध करा देना भी है या केवल पाठ (अध्ययन) करना भर ही ? [अध्यापन-विधि से जो अध्ययन का अर्थ निकालते हैं उसमें अर्थबोध भी कराते हैं या केवल अध्ययन ?] पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि अर्थावबोध के बिना भी अध्यापन-विधि की सिद्धि हो ही जाती है। [तात्पर्य यह है कि विधि अध्यापन से संबंध रखती है, अध्ययन से नहीं। चूँकि अध्यापन अध्ययन के बिना नहीं हो सकता, इसीलिए विवश होकर हमें अध्ययन का आक्षेप (Inclusion) करना पड़ता है। जितनी वस्तु के बिना किसी के काम में हानि हो रही हो उतनी वस्तु का ही आक्षेप किया जाता है, अधिक का नहीं। अध्ययन का आक्षेप अनिवार्य था, अर्थावबोध के आक्षेप की आवश्यकता नहीं है।]

दूसरा विकल्प [कि अध्यापनविधि केवल पाठ से संबद्ध है] भी ठीक नहीं क्योंकि जब वेदों का अध्ययन मात्र ही लक्ष्य है तब तो विचारशास्त्र का न कोई विषय ही संभव है और न प्रयोजन ही। विचारशास्त्र का विषय वही हो सकता है जो ऊपर से प्रतीत होनेवाला किन्तु संदिग्ध हो।

तथा सति यत्रार्थावगतिरेव नास्ति तत्र सन्देहस्य का कथा ? विचारफलस्य निर्णयस्य प्रत्याशा दूरत एव। तथा च

यदसंदिग्धमप्रयोजनं, न च तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः । यथा समनस्केन्द्रियसंनिकृष्टः स्पष्टालोकमध्यमध्यासीनो घट इति न्यायेन विषयप्रयोजनयोरसंभवेन विचारशास्त्रमनारभ्यमिति पूर्वः पक्षः ।

ऐसा होने पर, जहाँ अर्थ का अवबोध ही नहीं होता वहाँ सन्देह का प्रश्न भी नहीं उठता । विचार का फल जो निर्णय के रूप में है उसकी प्रत्याशा तो और भी दूर है । इसके साथ-साथ, जिस वस्तु में कोई सन्देह नहीं हो या जिसका कोई प्रयोजन नहीं रहे, वैसी वस्तु को प्रतिपादित करने की इच्छा समीक्षकों में नहीं हुआ करती । [जिस विषय का निर्णय पहले से हो उसका प्रतिपादन करना व्यर्थ है । सन्देह होने पर ही वस्तु प्रतिपाद्य होती है । सन्देह रहने पर भी यदि प्रतिपादन का कोई प्रयोजन न हो तो उसका प्रतिपादन व्यर्थ ही है । इस प्रकार सन्देह और प्रयोजन दोनों के रहने पर ही समीक्षकों में प्रतिपादनेच्छा जागृत होती है । एक के भी अभाव में इच्छा नहीं होगी, दोनों का अभाव रहने पर तो कहना ही क्या ?] उदाहरण के लिए, मनः-संयुक्त इन्द्रिय के साथ संबद्ध तथा स्पष्ट आलोक में अवस्थित घट [प्रतिपादन का विषय नहीं बन सकता क्योंकि यह असंदिग्ध तो है ही, इसके प्रतिपादन का कोई प्रयोजन भी नहीं ।] इस नियम से, चूँकि विचारशास्त्र के विषय और प्रयोजन दोनों ही संभव नहीं हैं, अतः इसका आरंभ नहीं करना चाहिए । यह पूर्व-पक्ष हुआ ।

(६ ख. प्रभाकर-मत से सिद्धान्तपक्ष)

अध्यापनविधिनाऽर्थावबोधो मा प्रयोजि । तथापि साङ्गवेदाध्यायिनो गृहीतपदपदार्थसंगतिकस्य पुरुषस्य पौरुषेयेष्विव प्रबन्धेष्वाम्नायेऽप्यर्थावबोधः प्राप्नोत्येव । ननु यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यत्र प्रतीयमानोप्यर्थो न विवक्ष्यते । 'मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इति भोजनप्रतिषेधस्य मातृवाक्यतात्पर्यविषयत्वात् । तथाम्नायार्थस्याविवक्षायां विषयाद्यभावदोषः प्राचीनः प्रादुःष्यात् इति चेत्— मैवं वोचः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यसंभवात् ।

हमें स्वीकार है कि अध्यापन-विधि से अर्थावबोध का तात्पर्य (प्रयोग) नहीं निकल सकता । फिर भी जो व्यक्ति अंगों के साथ वेद का अध्ययन करेगा,

वह पद और पदार्थ की संगति (संबन्ध) का ग्रहण तो करेगा ही। जैसे पुरुष के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों में [अर्थ का बोध होता है] वैसे ही व्यक्ति को आम्नाय (वेद) में भी अर्थ-बोध की प्राप्ति होगी ही। [विधि न रहने पर भी बोधकत्व-शक्ति के स्वभाव से ही अर्थबोध हो जायगा।]

अब शंका हो सकती है कि जैसे 'इस वाक्य में प्रतीत होनेवाले (विष-भोजन रूपी) अर्थ की विवक्षा नहीं है क्योंकि माता के वाक्य का तात्पर्य है 'उसके घर पर भोजन मत करना'—इस तरह का प्रतिषेध करना [माता चाहती है]; ठीक उसी तरह कहीं वेद का अक्षरार्थ उसके वास्तविक अभिप्राय (विवक्षा) को प्रकट न कर पाये तो पहले जिस तरह विषयाभाव और प्रयोजनाभाव आपत्तियाँ लगाई गई थीं वे पुनः इसे दूषित कर देंगी। [वेद को समझने का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा और न यह विचार का विषय ही रह सकता।]

हमारा उत्तर है कि ऐसा मत कहो। दृष्टान्त और प्रस्तुत प्रसंग में विषमता संभव है। (दोनों समान नहीं हैं कि एक दूसरे की सहायता कर सकें।)

विशेष—किसी माता ने अपने पुत्र को शत्रु के घर पर न खाने का उपदेश दिया किन्तु उसमें व्यंजना-वृत्ति का आश्रय लिया—'विष खा लो, परन्तु उसके घर भोजन मत करो।' माता अपने पुत्र को विष खाने के लिए कभी प्रवृत्त नहीं कर सकती, अतः विषभोजन का विधान रूपी अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, प्रत्युत माता उसे शत्रु के घर पर न खाने का प्रतिषेधात्मक उपदेश ही देती है। यही अर्थ विवक्षित है। काव्य-प्रकाश के पंचम उल्लास में मीमांसाओं के द्वारा व्यंजनावृत्ति के प्रश्न पर विचार किये जाने के सिलसिले में यह उदाहरण दिया गया है। तो, इसी आधार पर शंका करने वाले कहते हैं कि हो सकता है वेद का शब्दार्थ हमने कुछ किया और विवक्षित अर्थ उससे भिन्न हो। वैसी अवस्था में तो वेदार्थ जानना, न जानना बराबर हो गया। परन्तु शंका करने वाले भ्रम में हैं। उपर्युक्त दृष्टान्त से प्रस्तुत प्रसंग का सम्बन्ध है ही नहीं। इसे आगे स्पष्ट करते हैं।

विषभोजनवाक्यस्याप्तप्रणीतत्वेन मुख्यार्थपरिग्रहे बाधः स्यादिति विवक्षा नाश्रीयते। अपौरुषेये तु वेदे प्रतीयमानोऽर्थः कुतो न विवक्ष्यते। विवक्षिते च वेदार्थे यत्र यत्र पुरुषस्य संदेहः स सर्वोऽपि विचारशास्त्रस्य विषयो भविष्यति। तन्निर्णयश्च प्रयोजनम्। तस्मादध्यापनविधिप्रयुक्तेनाध्ययनेनावगम्य-

मानस्यार्थस्य विचारार्हत्वाद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वेन विचारशास्त्रमारम्भणीयमिति राद्धान्तसंग्रहः ।

उपर्युक्त दृष्टान्त में, विष-भोजन का वाक्य चूँकि आप्त (प्रामाणिक, यहाँ पर माता ही है) व्यक्ति के द्वारा उच्चारित है और यदि इसका मुख्यार्थ ग्रहण करेंगे तो इसका विरोध (बाध Preclusion) होगा । यही कारण है कि [माता की] विवक्षा [मुख्यार्थ-प्रकाशन की है यह] नहीं मानते [और हमें दूसरे व्यंग्यार्थ के अन्वेषण में चलना पड़ता है] । किन्तु वेद तो अपौरुषेय है अतः उसमें प्रतीत होने वाला अर्थ (वाच्यार्थ) क्यों नहीं विवक्षित होगा ? [वाच्यार्थ ही वेद का विवक्षित अर्थ है ।] इस विवक्षित (अभीष्ट Intended) वेदार्थ में पुरुष को जहाँ-जहाँ संदेह उत्पन्न होगा वह सारा-का-सारा विचारशास्त्र का ही विषय हो जायगा । उसका निर्णय करना ही विचारशास्त्र का **प्रयोजन** है । [फिर आप कैसे कहेंगे कि विचारशास्त्र का न विषय है न प्रयोजन ?]

इस तरह अध्यापन-विधि के द्वारा प्रयुक्त अध्ययन से जो अर्थ अवगत होता है वह विचार के योग्य है इसलिए विचार-शास्त्र विधिसंमत है । अतः इसका आरंभ करना चाहिए । यही सिद्धान्त का संग्रह हुआ । (राद्धान्त = सिद्धान्त । राध् + क्त = राद्ध = सिद्ध ।)

(७. वेदों को पौरुषेय मानने वाले पूर्वपक्ष का निरूपण)

स्यादेतत् । वेदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधीयते ? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात् । अथ मन्येथाः 'अपौरुषेया वेदाः, संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्' इति । तदेतन्मन्दम् । विशेषणासिद्धेः । पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्य कक्षीकरणात् । किं च किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नामाप्रमीयमाणकर्तृकत्वमस्मरणगोचरकर्तृकत्वं वा ? न प्रथमः कल्पः । परमेश्वरस्य कर्तुः प्रमितेरभ्युपगमात् ।

अच्छा, ऐसा होगा । वेद को अपौरुषेय आप लोग कैसे कहते हैं ? जब कि इसका प्रतिपादन करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं ? आप (सिद्धान्ती) लोग कह सकते हैं—

'वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि संप्रदाय (tradition, परंपरा) अविच्छिन्न रहने पर भी इनके कर्ता का स्मरण नहीं किया जा सकता जैसे आत्मा ।'

[अभिप्राय यह है—जहाँ ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त में ग्रन्थकार ने कर्ता के रूप में अपने नाम का उल्लेख किया है, उसमें तो कोई विवाद ही नहीं—वह तो पोरुषेय है ही। जैसे—महाभाष्य, प्रदीप, रघुवंश, श्लोकवार्तिक आदि। जहाँ पर ग्रन्थकार से आरंभ करके अविच्छिन्न संप्रदाय के द्वारा गुरुपरंपरा से कर्त्ता का स्मरण किया जाता है वहाँ भी विवाद नहीं होता जैसे—पाणिनि, पतंजलि आदि ऋषियों के नाम व्याकरण, योगादि सूत्रग्रंथों के कर्ता के रूप में लिये जाते हैं। ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में कहीं भी कर्ता के रूप में अपना नामोल्लेख नहीं किया तथा विच्छिन्न संप्रदाय होने के कारण कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जा रहा है वहाँ पर पौरुषेयत्व में संदेह हो सकता है। किन्तु जहाँ संप्रदाय अविच्छिन्न (लगातार) रहने पर भी कर्ता का स्मरण न करें तब तो स्मरणाभाव का कारण कर्ता का न होना ही है, इस तरह वेद को अपौरुषेय सिद्ध करते हैं।]

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] आपका यह कहना कोई दम नहीं रखता (तर्क दुर्बल है)। कारण यह है कि हेतु का विशेषण (संप्रदायाविच्छेदे सति = संप्रदाय के अविच्छिन्न रहने पर भी) जो आपने दिया है वह असिद्ध है। जो लोग वेद को पौरुषेय मानते हैं वे लोग प्रलयकाल में संप्रदाय का विच्छिन्न होना भी स्वीकार करते हैं। इसके अलावे, आप यह तो बतलावें कि 'कर्ता का स्मरण नहीं किया जाता' इसका क्या अर्थ है—क्या उसका कर्ता प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता या स्मरण का विषय (गोचर) नहीं होता ?

पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि उसके कर्ता परमेश्वर की सिद्धि प्रमाणजन्य ज्ञान (प्रमिति) से होती है। [वेद में कई वाक्य हैं जो ईश्वर की सिद्धि करते हैं—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः' (बृ० उ० २।४।१०), 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (ऋ० १०।९०।९), 'इदं सर्वमसृजत ऋचो-यजूंषि सामानि' (बृ० उ० १।२।५)। इन सभी श्रुतियों में ईश्वर वेद के कर्ता उद्घोषित किये गये हैं अतः उसकी सिद्धि के लिए आगम प्रमाण तो है ही।]

न द्वितीयः। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किमेकेनास्मरणमभिप्रेयते सर्वैर्वा ? नाद्यः। 'यो धर्मशीलो जितमानरोषः' इत्यादिषु मुक्तकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः। सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञानत्वात्। पौरुषेयत्वे प्रमाणसंभवाच्च। वेदवाक्यानि

पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदासादिवाक्यवत्। वेदवाक्यान्याप्त-प्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवदिति।

दूसरा विकल्प [कि वेद का कर्ता स्मरण का विषय नहीं बनता] भी ठीक नहीं क्योंकि यह निम्नलिखित विकल्पों को सह नहीं सकता। वे ये हैं—क्या एक के द्वारा स्मरण करना अभिप्रेत है या सबों के द्वारा? पहला पक्ष नहीं लिया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से 'यो धर्मशीलः जितमानरोषः' (जो धार्मिक है तथा मान, रोष को जीत चुका है)—इत्यादि मुक्तक (फुटकर) श्लोकों में भी अपौरुषेयत्व की प्राप्ति हो जायगी। [कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तकों का भी रचयिता होता है, भले ही परंपरा याद न करे। 'उपमा कालिदासस्य' आदि मुक्तक इसी तरह के हैं। रचयिता के समकालिक लोग तो उसे याद करते ही होंगे। संभव है कितने लोगों को अभी भी मालूम हो, परन्तु कुछ लोगों को तो मालूम नहीं ही है। अतः कुछ लोगों के द्वारा कर्ता का स्मरण न किये जाने से वेद को अपौरुषेय नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा करने से इन सुभाषित मुक्तकों को भी अपौरुषेय मानना पड़ेगा, जब कि इनके रचयिता कोई पुरुष अवश्य थे।] दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि वेद के कर्ता का स्मरण कोई भी नहीं कर रहा है—यह तो सर्वज्ञ के अलावे और कोई जान ही नहीं सकता। [संसार में सर्वज्ञ कोई भी नहीं है, अतः विवश होकर वेदों को पौरुषेय ही स्वीकार करना पड़ेगा।]

यही नहीं, वेदों को पौरुषेय मानने के लिए प्रमाण भी है—

(१) वेद के वाक्य पौरुषेय हैं,
क्योंकि ये वाक्य हैं, जैसे कालिदासादि के वाक्य।

(२) वेद के वाक्य आप्त (यथार्थवक्ता) के द्वारा रचे गये हैं,
क्योंकि ये प्रामाणिक वाक्य हैं, जैसे मनु आदि के वाक्य।

ननु—

४. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥
(श्लो० वा० ७।३६६)

इत्यनुमानं प्रतिसाधनं प्रगल्भत इति चेत्—तदपि न प्रमाण-कोटिं प्रवेष्टुमीष्टे।

५. भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्ययनं यथा ॥

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात् ।

अब प्रश्न हो सकता है कि 'वेदका संपूर्ण अध्ययन पहले से गुरु के अध्ययन की अपेक्षा रखता है,क्योंकि वेदाध्ययन दोनोंही दशाओं में एक ही रहता है, [जैसे पहले का अध्ययन] वैसे ही आज का अध्ययन [इससे परंपरा की अविच्छिन्नता मालूम पड़ती है]'—श्लोकवार्तिक में दिये गये इस अनुमान को, जिसमें पूर्वपक्षी के विरुद्ध साध्य को सिद्ध करने की सामर्थ्य है, प्रबलता होगी। [मीमांसक लोग कहते हैं कि वेद का अध्ययन शिष्य गुरु से करता है, उसके पूर्व भी तो गुरु ने अध्ययन किया था। यह क्रम चलता ही रहा है। कोई अध्ययन ऐसा नहीं जो गुर्वध्ययन के बिना ही हुआ हो। यदि पौरुषेय-पक्ष स्वीकार करते हैं तो वेद के रचयिता पुरुष के द्वारा किया गया वेदाध्ययन तो बिना गुर्वध्ययन के ही सिद्ध होगा जो असंगत है। अतः हमें वेदों को अपौरुषेय ही मानना पड़ेगा क्योंकि सारे अध्ययन गुर्वध्ययन के बाद होते हैं। इस अनुमान से पूर्वपक्षी की बातों का खंडन होता है अतः यह 'प्रतिसाधन' (प्रतिकूल सिद्धि करने वाला) अनुमान है।]

यह प्रश्न प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता क्योंकि निम्न रूप से प्रतीत होने वाले अनुमान से इस अनुमान में कोई अन्तर नहीं (दोनों का योगक्षेम अर्थात् जीवन एक ही तरह का है)—'महाभारत का सारा अध्ययन गुरु के अध्ययन की अपेक्षा रखता है, क्योंकि महाभारत का अध्ययन है, जैसा पहले वैसा ही आज का अध्ययन'—[उक्त अनुमान की तुलना में ही यह अनुमान दिया गया है तो क्या महाभारत को भी आप अपौरुषेय ही मान लेंगे ? पूर्वपक्षी कहते हैं कि वास्तव में दोनों अनुमान आभासमात्र हैं क्योंकि दोनों में ही हेतु अप्रयोजक है। 'जो-जो अध्ययन है वह सब गुर्वध्ययन के बाद ही होगा'—इस नियम की स्थापना में कोई हेतु नहीं दिखलाई पड़ता। लिखित पाठ करने या पहले-पहल प्रकाशित करने में तो गुर्वध्ययन की अपेक्षा नहीं ही रहती हैं।] अतः श्लोकवार्तिक में दिया गया अनुमान हमारी बात के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकता।]

ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते—
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ।*

---

* तुलनीय—कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नाराहणं विभुम् ।
कोऽन्यो हि भुवि मैत्रेय महाभारतकृद्भवेत् ॥ (वि० पु० ३।४।५)

इत्यादाविति चेत्—तदसारम् ।

—'ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋ० १०।९०।९)'

इति पुरुषसूक्ते वेदस्य सकर्तृकताप्रतिपादनात् ।

अब आप कह सकते हैं कि वहाँ (महाभारत में) व्यास का स्मरण कर्ता के रूप में किया जाता है जैसे इस श्लोक में—'पुण्डरीकाक्ष (नारायण के अवतार व्यास) के अलावे महाभारत का रचयिता कौन हो सकता है ?' इस उक्ति में भी कोई दम नहीं। पुरुष-सूक्त (ऋ० १०।९०) में भी तो वेद के सकर्तृक होने का प्रतिपादन किया गया है—'···ऋग्वेद, सामवेद उत्पन्न हुए, उससे छन्द भी निकले तथा यजुर्वेद भी उससे उत्पन्न हुआ।' (ऋ० १०।९०।९)। [यदि महाभारत के रचयिता का स्मरण किया जाता है तो वेद के रचयिता भी तो प्रतिपादित ही हैं।]

(७ क. पौरुषेयसिद्धि का दूसरा रूप)

किं चानित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवत् । नन्विदमनुमानं स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत्—तदतिफल्गु । लूनपुनर्जातकेशकुन्दादाविव प्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वेन बाधकत्वाभावात् ।

[पूर्वपक्षी नैयायिक आगे कहते हैं कि] इसके अतिरिक्त भी, 'शब्द अनित्य है क्योंकि सामान्य से युक्त होने पर हम लोगों के बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य है, जैसे घट।' [शब्द में शब्दत्व है तथा उसके द्वारा व्याप्य कत्व, खत्व आदि जातियाँ भी हैं। वेदों को अपौरुषेय मानने के लिए उन्हें नित्य मानना जरूरी है जैसा कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते भी हैं। किन्तु पूर्वपक्ष से नैयायिक शब्दों को अनित्य मानकर वेद की पौरुषेयता सिद्ध करेंगे। यह अनुमान उसी के प्रसंग में दिया गया है।]

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि यह अनुमान तो 'यह वही गकार है'—इस तरह की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) के प्रमाण से खण्डित हो जायगा। [प्रत्यभिज्ञा एक तरह का प्रत्यक्ष है जिसमें इन्द्रियों की सहायता से संस्कार के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है। 'यह वही गकार है' कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि

गकार अनित्य नहीं है। यदि उसकी सत्ता नहीं है तो कुछ देर के बाद भी कैसे प्रतीत हुआ ?]

[नैयायिक कहते हैं कि] यह सोचना बिल्कुल व्यर्थ है। जैसे काट देने पर फिर जनमने वाले केश में या टूट जाने पर फिर खिलने वाले कुन्द के फूल में प्रत्यभिज्ञा समानता के कारण विषय का ग्रहण कर लेती है [कि यह वही केश या कुन्द-पुष्प है—यद्यपि केश या फूल वही नहीं किन्तु वस्तु की समानता से प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही यहाँ भी प्रत्यभिज्ञा हुई], अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह बाधक नहीं बन सकती।

नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणासंभवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्य स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणसंभवात्। तस्माद्वेदस्यापौरुषेयत्ववाचोयुक्तिर्न युक्तेति चेत्—।

अब कोई यह पूछ सकता है कि परमेश्वर के पास तालु आदि उच्चारण-स्थान नहीं हैं इसलिए वे वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते। फिर वेदों को उनके द्वारा रचित आप कैसे मानते हैं ? यह प्रश्न उचित नहीं है। यद्यपि परमेश्वर स्वभावतः शरीररहित है' किन्तु वे भक्तों पर कृपा करने के लिए अपनी लीला से विग्रह (शरीर, इन्द्रिय आदि) धारण कर सकते हैं। इस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानने के तर्क (वाचोयुक्ति) असंगत हैं।

(८. वेद अपौरुषेय हैं—सिद्धान्त-पक्ष)

तत्र समाधानमभिधीयते। किमिदं पौरुषेयत्वं सिसाधयिषितम् ? पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं यथास्मदादिभिरहरहरुच्चार्यमाणस्य वेदस्य ? प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय रचितत्वं वा यथास्मदादिभिरेव निबध्यमानस्य प्रबन्धस्य ? प्रथमे न विप्रतिपत्तिः।

अब हम सबों का समाधान करते हैं। यह पौरुषेयत्व सिद्ध करने की जो इच्छा करते हैं वह पौरुषेयत्व है क्या चीज ? जैसे हम लोग प्रतिदिन वेद का उच्चारण करते हैं क्या उसी प्रकार पुरुष से केवल उत्पन्न होना ही पौरुषेयत्व है ? अथवा जैसे हमलोग प्रबन्ध की रचना करते हैं उसी तरह दूसरे प्रमाणों से विषय का ग्रहण करके (तथ्य-संग्रह करके) उसके प्रकाशन के लिए रचना करना ही पौरुषेयत्व है ? यदि पहला पक्ष स्वीकार करते हैं तो हमें भी कोई

आपत्ति नहीं [क्योंकि इस दशा में पौरुषेयत्व स्वीकार करते हुए भी हमारे स्वर-में-स्वर मिलाकर यह स्वीकार करते ही हैं कि वेद ईश्वर की रचना नहीं है। जैसे वेदों का हमलोग उच्चारण करते हैं वैसे ही ईश्वर ने भी किया था। इसका अर्थ है कि वेद पहले से थे, ईश्वर ने केवल उच्चारण किया।]

द्वितीये किमनुमानबलात्तत्साधनमागमबलाद्वा ? नाद्यः। मालतीमाधवादिवाक्येषु सव्यभिचारत्वात्। अथ प्रमाणत्वे सतीति विशिष्यत इति चेत्—तदपि न विपश्चितो मनसि वैशद्यमापद्यते। प्रमाणान्तरागोचरार्थप्रतिपादकं हि वाक्यं वेदवाक्यम्। तत्प्रमाणान्तरगोचरार्थप्रतिपादकमिति साध्यमाने मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्।

दूसरे विकल्प को लेने पर क्या उक्त तथ्य की सिद्धि आप अनुमान के बल से करते हैं या आगम (शब्द) प्रमाण के बल से ? अनुमान-प्रमाण के बल से तो नहीं कर सकते क्योंकि वैसी दशा में मालतीमाधव (भवभूति-रचित एक नाटक) आदि ग्रन्थों के वाक्यों में इसका व्यभिचार होगा। [यदि प्रमाणान्तर से अर्थों का संग्रह करके ईश्वर ने वेद की रचना की है तो मालतीमाधव के कपोलकल्पित वाक्यों को प्रामाणिक मानना पड़ेगा। यहाँ पर सव्यभिचार नामक हेत्वाभास है। ऊपर जो अनुमान पूर्वपक्षियों ने दिया है कि वेदवाक्य वाक्य होने के नाते आप्त पुरुष के रचित हैं जैसे मनु आदि के वाक्य,—इसमें वाक्यत्व हेतु है, पौरुषेयत्व साध्य है और पौरुषेयत्व का प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ है प्रमाणान्तर से वस्तु का ग्रहण करके उसकी अभिव्यक्ति के लिए रचना करना। मालती-माधव में कथावस्तु काल्पनिक होने के कारण प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं की गई है। इस प्रकार मालतीमाधव में साध्य का अभाव है फिर भी वाक्यत्व की वृत्ति हो जाती है। अतः 'वाक्यत्व' हेतु सव्यभिचार है, असत् है।]

अब यदि 'प्रमाण होने पर' (=प्रामाणिक वाक्य होने के कारण—पूरा हेतु) ऐसा विशेषण लगा दें तो भी यह विद्वानों के मन को संतुष्ट नहीं ही कर सकता। [मालतीमाधव के उपर्युक्त दोष—व्यभिचार—की निवृत्ति के लिए यह विशेषण लगाया गया है। उपर्युक्त रीति से मालतीमाधव के वाक्यों को वाक्य भले ही कह सकते हैं किन्तु जब 'प्रामाणिक वाक्य' ऐसा नियम लगा देंगे तो मालतीमाधव में व्यभिचार नहीं हो सकेगा। पर यह भी ठीक नहीं है]। कारण यह है कि वेद के वाक्यों का सर्वमान्य लक्षण है कि जो वाक्य दूसरे किसी भी प्रमाण से न प्रतीत होने वाले विषयों का प्रतिपादन करे वही वेद-

वाक्य है। अब यदि आप उपर्युक्त रीति से इसे अन्य प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होने वाले विषय का प्रतिपादक सिद्ध करने लगें तो वैसा ही व्याघात (आत्मविरोध Self-contradiction) होगा जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है।

(८ क. पौरुषेयत्व का दूसरे प्रकार से खण्डन)

किं च परमेश्वरस्य लीलाविग्रहपरिग्रहाभ्युपगमेऽप्यतीन्द्रियार्थदर्शनं न संजाघटीति। देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्रहणोपायाभावात्। न च तच्चक्षुरादिकमेव तादृक्प्रतीतिजननक्षममिति मन्तव्यम्। दृष्टानुसारेणैव कल्पनाया आश्रयणीयत्वात्। तदुक्तं गुरुभिः सर्वज्ञनिराकरणवेलायाम्—

९. यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥ इति।

यदि आप (पूर्वपक्षी) लोगों के अनुसार यह भी मान लें कि परमेश्वर अपनी लीला से विग्रह धारण करते हैं तो भी इसका समाधान नहीं ही होता है कि वे अतीन्द्रिय वस्तुओं को कैसे देखते होंगे? देश, काल और स्वभाव से जो वस्तुएँ इन्द्रियों से असंबद्ध (विप्रकृष्ट) हैं उनके ग्रहण का परमेश्वर के पास कोई उपाय तो नहीं है। [देशान्तर या लोकान्तर में विद्यमान वस्तु देश से विप्रकृष्ट होती है, भूत या भविष्यत् की वस्तु काल से विप्रकृष्ट होती है। कितनी चीजें स्वभाव से इन्द्रियासंबद्ध हैं जैसे—आँख से रस और गन्ध का ग्रहण। सभी इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं जिन्हें स्वभाव कहते हैं। नाक से गंध ही ले सकते हैं रूप नहीं इत्यादि।]

आप ऐसा नहीं कह सकते कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही [ईश्वर को विप्रकृष्ट वस्तुओं की भी] वैसी प्रतीति कराने में समर्थ हैं। कल्पना भी देखी हुई वस्तुओं के आधार पर की जाती है, [बे-ठिकाने की नहीं।] सर्वज्ञ का निराकरण (ईश्वर-खण्डन) के अवसर पर प्रभाकर-गुरु ने कहा है—'जहाँ भी हम अतिशय (विशेष प्रकार की सामर्थ्य) देखते हैं वहाँ वह (सामर्थ्य) अपने विषयों (जैसे चक्षु के लिए रूप) का बिना उल्लंघन किये ही हुए देखी जाती है। [स्वविषय का अतिक्रमण बिना किये हुए ही वह सामर्थ्य] दूरस्थ वस्तुओं या सूक्ष्म वस्तुओं का ग्रहण करा पाती है। [किन्तु इसका यह अर्थ] कभी नहीं है कि रूप के विषय में श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति देखी जाय।' [किसी व्यक्ति में अधिक शक्ति होने पर यह हो सकता है वह दूर की या सूक्ष्म वस्तुओं को देख

ले किन्तु देश, काल या स्वभाव के कारण जो वस्तु इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हो गई है उसे तो नहीं देख सकता—वह व्यक्ति कान से देख नहीं सकता, नाक से सुन नहीं सकता। यही बात ईश्वर के साथ है। अतः जब आपका पुरुष (ईश्वर) ही सत्तावान् नहीं तो वेद क्या पौरुषेय होंगे—ईश्वर वेद की रचना क्या कर सकेगा ?]

अत एव नागमबलात्तत्साधनम्। यथा 'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१) इति पाणिन्यनुशासने जाग्रत्यपि काठक-कालाप-तैत्तिरीयमित्यादिसमाख्याध्ययनसंप्रदायप्रवर्तकविषयत्वेनोपपद्यते, तद्वदत्रापि संप्रदायप्रवर्तकविषयत्वेनाप्युपपद्यते।

इसीलिए (सर्वज्ञ की सिद्धि न हो सकने के कारण) आगम के बल से भी आपके साध्य (पौरुषेयत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती। [युक्ति का विरोध होने के कारण ईश्वर के सर्वज्ञत्व की सिद्धि आगम में कही गई बातों से नहीं हो सकती।] जैसे पाणिनि के 'तेन प्रोक्तम्' (उन्होंने प्रवचन किया ४।३।१०१) इस सूत्र के रहने पर भी काठक (कठ ऋषि के द्वारा प्रोक्त विषयों को पढ़ने वाले), कालाप (कलापी ऋषि के प्रोक्त विषयों को पढ़ने वाले), तैत्तिरीय (तित्तिरि······) आदि यौगिक शब्दों की सिद्धि उस ऋषि के द्वारा संचालित अध्ययन के सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में होती है, उसी प्रकार यहाँ भी (वेद उस से उत्पन्न हुए, आदि वाक्यों में भी) सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में सिद्धि की जा सकती है।

विशेष—पाणिनि जी के 'तेन प्रोक्तम्' इस अर्थांश-विधायक सूत्र से विभिन्न प्रत्ययों को लगाकर उक्त यौगिक शब्दों की सिद्धि होती है—कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः। यद्यपि कठादि ऋषियों ने अपनी-अपनी शाखा की रचना नहीं की फिर भी वे एक-एक अध्ययन-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में शाखाओं में विख्यात हैं। जैसे कठादि के आधार पर शाखाओं में समाख्या (यौगिक शब्द) बनती है वैसे ही ईश्वर में सर्वज्ञत्व का निरूपण करते हैं। वास्तव में इसका अर्थ निर्माण करना नहीं है, बल्कि अपनी या दूसरे की कृति को अध्यापन के द्वारा प्रकाश में लाना ही प्रवचन है। इस प्रकार कठादि नाम (समाख्या) अपनी मुख्य वृत्ति के ही साथ विराजमान हैं। अब शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिकों पर दण्ड-प्रहार करने जा रहे हैं।

(९. शब्दानित्यत्व का खण्डन)

न चानुमानबलाच्छब्दस्यानित्यत्वसिद्धिः। प्रत्यभिज्ञाविरोधात्। न चासत्यप्येकत्वे सामान्यनिबन्धनं तदिति सांप्रतम्। सामान्यनिबन्धनत्वमस्य बलवद्बाधकोपनिपातादास्थीयते क्वचिद् व्यभिचारदर्शनाद्वा। तत्र क्वचिद् व्यभिचारदर्शने तदुत्प्रेक्षायामुक्तं स्वतः प्रामाण्यवादिभिः—

७. उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादज्ञातमपि बाधनम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति॥ इति।

अनुमान के बल से आप शब्द को अनित्य सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसा करने से प्रत्यभिज्ञा का विरोध होगा। (ऊपर देखें, अनु० ७ क)। यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि ['यह वही गकार है'—इस प्रत्यभिज्ञा में] यद्यपि वर्णों की एकता नहीं है पर वे वर्णों के तादात्म्य के कारण एक समान जैसा लगते हैं, [उनमें गत्व-जाति है।] 'वर्णों का एक समान लगना' आप क्यों स्वीकार कर रहे हैं ? क्या दृढतर प्रमाण से वर्णव्यक्तियों (Individual letters) में भेद पड़ने के कारण बाधा से डरते हैं या कहीं पर व्यभिचार (नियम का उल्लंघन) होने से डरते हैं ? [यह वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा तभी हो सकती है जब पहले से देखी हुई और अब देखी गई वस्तु में एकता हो—यह नियम है। कहीं-कहीं एकता न रहने पर प्रत्यभिज्ञा किसी तरह ह जाती है जैसे कटे हुए केशों के पुनः उगने पर कहते हैं कि ये वही केश हैं। यहाँ तो उस नियम का उल्लंघन अर्थात् व्यभिचार हुआ। अब इन विकल्पों की खबर लेते हुए पहले दूसरे विकल्पों की ही आलोचना करते हैं।]

यदि कहीं-कहीं व्यभिचार-दर्शन के कारण [उपर्युक्त सामान्य-निबन्धनत्व = वर्णों के तादात्म्य के कारण उनकी समता की प्रतीति]* माननी पड़ रही हो

* कटे हुए केशों के फिर से उग जाने के दृष्टान्त में केश-व्यक्ति का भेद प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ता है। विवश होकर नियम-व्यभिचार स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे किसी भी दृष्टान्त में बाधा देने वाला कोई नहीं है। इसलिए इस स्थान पर व्यभिचार देखकर मानना पड़ता है कि एकत्व न रहने पर भी सादृश्य के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी के उत्तर में मीमांसक सातवें श्लोक का उपन्यास करते हैं।

तो इस पर वेदों को अपने आप में प्रामाणिक मानने वाले (मीमांसक) कहते हैं—'जो (मूर्ख) अपनी मूर्खता के कारण अज्ञात बाधाओं की भी संभावना (उत्प्रेक्षा) करता रहता है, वह संशयात्मा संसार के सभी व्यवहारों में मारा ही जाता है ॥ ७ ॥' [कोई रेलगाड़ी पर बैठते हुए सोचने लगे कि कहीं दुर्घटना न हो जाय, या कहीं खाते समय सोचे कि वह मर न जाय—अभिप्राय यह है कि बाधा अज्ञात रहने पर भी उसी की चिन्ता में डूब जाय तो ऐसे व्यक्ति संसार में कोई काम नहीं कर सकते। प्रत्यभिज्ञा वाले भी यदि किसी दृष्टान्त में व्यभिचार होने के भय से अपने सिद्धान्तों का परिमार्जन करने लगते हैं तो इन्हें दार्शनिक कहने का दंभ नहीं करना चाहिए।]

नन्विदं प्रत्यभिज्ञानं गत्वादिजातिविषयं न गादिव्यक्तिविषयम्। तासां प्रतिपुरुषं भेदोपलम्भात्। अन्यथा 'सोमशर्माधीते' इति विभागो न स्यादिति चेत्—तदपि शोभां न बिभर्ति। गादिव्यक्तिभेदे प्रमाणाभावेन गत्वादिजातिविषयकल्पनायां प्रमाणाभावात्। यथा गोत्वमजानत एकमेव भिन्नदेशपरिमाणसंस्थानव्यक्त्युपधानवशाद्भिन्नदेशमिवाल्पमिव महदिव दीर्घमिव वामनमिव प्रथते तथा गव्यक्तिमजानत एकापि व्यञ्जकभेदात् तत्तद्धर्मानुबन्धिनी प्रतिभासते।

[अब बलवान् बाधक वाले पक्ष पर प्रहार करते हैं—ये नैयायिक लोग पूछ सकते हैं कि] यह प्रत्यभिज्ञान (यह वही गकार है जिसे पहले देखा था, इस रूप में होने वाली प्रत्यभिज्ञा) गत्व आदि जाति से संबद्ध है, न कि ग आदि व्यक्ति से। कारण यह है कि प्रत्येक पुरुष के उच्चारणों की भिन्नता के कारण ग आदि वर्णों के व्यक्ति-रूप (Individual forms) भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'सोमशर्मा पढ़ रहे हैं' ऐसे व्यवहार में विभाग नहीं हो सकता। [यदि सभी गकार-व्यक्ति एक ही होते तो जिस ग का उच्चारण सोमशर्मा ने किया है उसी का दूसरे ने भी किया होगा, तो फिर राम पढ़ता है, हरि पढ़ता है—इस तरह के विभागों का प्रयोग क्यों करते हैं? सोमशर्मा पढ़ता है, देवदत्त नहीं—यह व्यवहार तो निराधार ही हो जायगा।]

यह प्रश्न भी करना नैयायिकों को शोभा नहीं देता। गकार के व्यक्ति की भिन्नता मानने के लिए जिस प्रकार कोई प्रमाण नहीं है उसी प्रकार गत्व आदि जाति के विषय में कल्पना करने का भी कोई आधार नहीं है। [अभिप्राय

है कि 'यह वही गकार है' इस तरह ग के व्यक्ति के विषय में जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसे गत्वजाति से संबद्ध मानने का कोई प्रमाण नहीं।] जैसे (नैयायिकों के सिद्धान्त के अनुसार) गोत्व-जाति को नहीं जानने वाले पुरुष को एक ही गोत्व-जाति विभिन्न देश, परिमाण या संस्थान (आकृति) की व्यक्तिगत उपाधियों (Individual conditions) के चलते विभिन्न रूपों में प्रतीति होती है कि यह (गोत्व) दूसरे स्थान का है, यहाँ छोटा है, यहाँ बड़ा है, यहाँ लम्बा है, यहाँ नाटा है आदि। [कहने का अर्थ है कि गोत्व-जाति का वास्तविक रूप न जानने वाले लोग एक ही गोत्व-जाति को व्यक्तियों की विलक्षणता देखकर विभिन्न प्रकार की समझते हैं—इस स्थान का गोत्व उस स्थान के गोत्व से अलग है, यहाँ का गोत्व लम्बा है, बौना है आदि। इससे गोत्व में भेद नहीं पड़ता, यह तो नैयायिक भी मानते ही हैं। यही बात गकारादि व्यक्तियों के विषय में है। इसे देखें।] उसी प्रकार गकार-व्यक्ति को नहीं जानने वाले पुरुष को, व्यक्त करने वाले साधनों (व्यंजकों) के भेद के कारण, गो-व्यक्ति एक होने पर भी, विभिन्न धर्मों से संबद्ध प्रतीत होती है।

विशेष—नाभि-प्रदेश से प्रयत्न के द्वारा प्रेरित वायु मुख में आती है तथा जिह्वा, अग्रभाग आदि का स्पर्श करती हुई कण्ठ आदि स्थानों में आघात करके ध्वनि उत्पन्न करती है। यह ध्वनि ही अपने अन्तर में विराजमान गकारादि वर्णों की अभिव्यक्ति करती है। यही ध्वनि **नाद** कहलाती है। इस व्यंजक ध्वनि में रहने वाले अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्मों के सम्बन्ध के कारण ग-व्यक्ति एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। इसी कारण 'सोमशर्मा पढ़ते हैं' ऐसा विभाग किया जाता है। शब्द को नित्य मीमांसक भी मानते हैं। शब्द सदा से रहता है, किन्तु वायु की तरंगों से अभिव्यक्त किये जाने की अपेक्षा रखता है। देखिये, जैमिनिसूत्र (१।१।१७)।

एतेन विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदसिद्धिरिति प्रत्युक्तम्। तत्र किं स्वाभाविको विरुद्धधर्माध्यासो भेदसाधकत्वेनाभिमतः प्रातीतिको वा? प्रथमेऽसिद्धिः। अपरथा स्वाभाविकभेदाभ्युपगमे 'दश गकारानुदचारयच्चैत्रः' इति प्रतिपत्तिः स्यान्न तु दशकृत्वो गकार इति।

इस प्रकार [ग-व्यक्तियों में] विरोधी धर्मों (जैसे अल्पत्व, महत्त्व) का आरोपण होने से [विभिन्न गकारों में] भेद की सिद्धि होती है, यह प्रत्युत्तर दिया गया। अब प्रश्न है कि भेद की सिद्धि करने के लिए जो विरुद्ध धर्मों के

मिथ्यारोपण (अध्यास) का सहारा लिया गया है वह वास्तविक है या केवल प्रतीत होता है ? यदि यह (विरुद्ध धर्मों का अध्यास) वास्तविक है तब तो इसकी सिद्धि नहीं होगी [क्योंकि गकारों में स्वभावतः विरुद्ध धर्म है ही नहीं— न कोई ग-शब्द छोटा है न बड़ा ।] नहीं तो, यदि [यह अध्यास वास्तविक होता और] हम स्वाभाविक रूप से भेद की सत्ता मानते तो 'चैत्र ने दस गकारों का उच्चारण किया' ऐसे वाक्य का प्रतिपादन होता न कि 'चैत्र ने गकार का दस बार उच्चारण किया' ऐसे वाक्य का । [वास्तव में गकार का दस बार उच्चारण होता है । अतः गकार पर विरुद्ध धर्मों का आरोपण सत्य नहीं होता ।]

द्वितीये तु न स्वाभाविकभेदसिद्धिः । न हि परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं विहन्यते । मा भून्नभसोऽपि कुम्भाद्युपाधिभेदात्स्वाभाविको भेदः । तत्र व्यावृत्तव्यवहारो नादनिदानः । तदुक्तमाचार्यैः—

८. प्रयोजनं तु यज्जातेस्तद्वर्णादेव लप्स्यते ।
व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा ॥ इति ।

तथा च—

९. प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा ।
अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते ॥

यदि दूसरा विकल्प (विरुद्ध धर्मों का प्रातिभासिक अध्यास) लेते हैं तो स्वाभाविक भेद की सिद्धि ही नहीं होगी । दूसरे स्थानों में वर्तमान उपाधियों के भेद से किसी की स्वाभाविक एकता का विनाश नहीं होता । [यदि किसी की स्वाभाविक एकता का कभी विनाश नहीं होगा तब तो आकाश में घटादि उपाधियों के कारण भेद नहीं ही हो सकेगा, आप घटाकाशादि की सिद्धि कैसे करेंगे ?] ठीक है, आकाश में भी घटादि उपाधियों के कारण स्वाभाविक भेद नहीं ही उत्पन्न होता है । [जो लोग 'औपाधिक भेद' कहते हैं उनका तात्पर्य है कि उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, न कि उपाधियों के कारण वस्तु में भेद । तब गकार-व्यक्ति के एक होने पर 'इस गकार को सोमशर्मा ने पढ़ा', 'इसे देवदत्त ने पढ़ा'—इस तरह एक दूसरे के विरोधी वाक्यों की प्रतीति कैसे होगी ?] इन एक दूसरों का व्यावर्तन (विरोध) करने वाले वाक्यों का व्यवहार नाद (व्यंजक ध्वनि) के कारण है ।

इसे आचार्यों ने कहा भी है—'जिस काम के लिए [नैयायिक लोग] जाति को स्वीकार करते हैं वह काम (प्रयोजन) तो केवल वर्ण से पूर्ण किया जा सकता है। जिस लक्ष्य की प्राप्ति उन्हें व्यक्ति को स्वीकार करने पर होती है उसे हम नादों (व्यंजक ध्वनियों) से सिद्ध कर लेते हैं—अतः गत्वादि-जाति का ज्ञान व्यर्थ है ॥ ८ ॥' [मीमांसक गत्व-जाति का खंडन करते हैं क्योंकि गकारादि व्यक्ति एक ही हैं। घटत्वादि जाति को नैयायिक इसलिए स्वीकार करते हैं कि 'यह घट, वह 'घट' आदि प्रतीति हो सके। यह काम हम लोग गकार-व्यक्ति की एकता से ही सिद्ध कर देते हैं। अब बात है कि जोरों से उच्चरित गकार, धीरे से उच्चरित गकार आदि में भेद के लिए तो व्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ सकता है ? नहीं, व्यक्तियों की अनेकता की सिद्धि उस विशिष्ट व्यक्ति की व्यंजना करने वाले नादों से ही हो जायगी। इस प्रकार गत्व आदि जाति मानना व्यर्थ है।]

उसी प्रकार—'शब्द में जब निर्बाध प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, तब शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले सारे अनुमानों का यही खण्डन कर देती है ॥ ९ ॥'

(१०. वेद की प्रामाणिकता—निष्कर्ष)

एतेनेदमपास्तं यदवादि वागीश्वरेण मानमनोहरे—'अनित्यः शब्दः, इन्द्रियग्राह्यविशेषगुणत्वाच्चक्षूरूपवदिति'। शब्दद्रव्यत्ववादिनं प्रत्यसिद्धेः। ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वाच्च। अश्रावणत्वोपाधिबाधितत्वाच्च। उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽप्यभावस्य प्रत्यक्षतां महता प्रबन्धेन प्रतिपादयन्निवृत्तः कोलाहलः, उत्पन्नः शब्द इति व्यवहाराचरणे कारणं प्रत्यक्षं शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म।

इस प्रकार के शास्त्रार्थ से, जो वागीश्वर ने मानमनोहर नामक-ग्रन्थ में अनुमान दिया है, उसका भी खण्डन हो गया। [वह अनुमान इस प्रकार है]—'शब्द अनित्य है क्योंकि यह इन्द्रिय (श्रोत्र) के द्वारा ग्रहण करने योग्य विशेष गुण है, जैसे चक्षु (इन्द्रिय) का रूप (गुण)।' शब्द को द्रव्य मानने वाले लोग तो इसे असिद्ध कर देंगे। मीमांसक लोग वर्णात्मक शब्द को द्रव्य मानते हैं। मध्व-मत माननेवाले भी ककारादि को द्रव्य ही कहते हैं। जब शब्द गुण ही नहीं है तो एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य विशेष गुण कहाँ से होगा ? इस

तरह शब्द (पक्ष) में हेतु की वृत्ति नहीं होने से यह स्वरूपासिद्ध हेतु हो जायगा। ध्वन्यात्मक शब्द को मीमांसक अनित्य मानते हैं।]

ध्वन्यात्मक शब्द को [अनित्य सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि ऐसा करना] सिद्ध वस्तु को फिर से सिद्ध करना हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह अनुमान (ध्वन्यंश को अनित्य सिद्ध करने वाला अनुमान) 'अश्रावणत्व' उपाधि से बाधित होगा (= व्याप्यत्वासिद्ध हेतु हो जायगा।) [उपाधि के विषय में चार्वाक-दर्शन में काफी प्रकाश डाला गया है। उपर्युक्त अनुमान में हेतु (इन्द्रिय-ग्राह्यविशेषगुणत्व) इतना व्यापक है कि कभी-कभी यह नित्य (साध्य का अभाव) वस्तुओं में, जैसे मीमांसकों के अनुसार नित्य शब्द में भी पाया जाता है अतः अश्रावणत्व उपाधि लगानी पड़ेगी। देखिये—चार्वाकदर्शन। उपाधियुक्त हेतु रहने से दोष होगा।]

[शब्द को अनित्य माननेवाले **उदयन का मत**—] उदयनाचार्य आश्रय (शब्दाश्रय आकाश) का प्रत्यक्ष न होने पर भी अभाव का प्रत्यक्ष (आश्रय में विद्यमान अभाव का प्रत्यक्ष) बहुत बड़े निबंध के द्वारा प्रतिपादित करके 'कोलाहल समाप्त हो गया', 'हल्ला शुरू हुआ' इस प्रकार के व्यवहारों में शब्द को अनित्य मानने का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, ऐसा सिद्ध करते हैं। [शब्द की उत्पत्ति और ध्वंस होता है अतः वह अनित्य है। यह हम प्रत्यक्षतः जानते हैं। शब्द के उत्पन्न होने का या शब्द के विनष्ट होने का व्यवहार प्रत्यक्ष ही है। प्रश्न किया जा सकता है कि शब्द का विनाश तो प्रध्वंसाभाव हुआ—उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए तो उसके आश्रय का प्रत्यक्ष करना बहुत आवश्यक है और शब्दाभाव के आश्रय आकाश का प्रत्यक्ष होता नहीं क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। इसका क्या उत्तर है ? वायु यद्यपि अचाक्षुष है किन्तु वायु में जो रूपाभाव है उसे तो चाक्षुष (चक्षुर्ग्राह्य) ही देखते हैं। अतः यह कोई नियम नहीं कि अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए अभावाश्रय का प्रत्यक्ष करना जरूरी है। फल यह हुआ कि शब्द की उत्पत्ति और विनाश के आधार पर शब्द को अनित्य सिद्ध करते हैं।]

सोऽपि विरुद्धधर्मसंसर्गस्यौपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तरक्तबलिवेतालसमः। यो हि नित्यत्वे सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्तः, सोऽपि ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमात्प्रतिक्षिप्तः। यत्तु युगपदिन्द्रियसंबन्धित्वेन प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यत्वाभावानुमानं तदात्मन्यैकान्तिकमित्यलमतिकलहेन।

ततश्च वेदस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तशङ्काकलङ्काङ्कुरत्वेन स्वतः-सिद्धं धर्मे प्रामाण्यमिति सुस्थितम् ।

शब्द में परस्पर विरुद्ध धर्मों (उत्पत्ति और विनाश) का संसर्ग होना उपाधि पर निर्भर करता है, ऐसा सिद्ध कर सकते हैं अतः उदयन उस वेताल की तरह संतुष्ट हो जायँगे जो रक्त की बलि देखकर प्रसन्न हो जाता है। [शब्द में जो व्यंजक ध्वनि है वह उपाधि के रूप में है जिस पर तारत्व, मंदत्व आदि विरुद्ध धर्म प्रतिभासित होते हैं—भले ही ये धर्म शब्द में वस्तुतः नहीं हैं। उसी प्रकार उत्पत्ति और विनाश भी उस पर वैसे ही प्रतिभासित होते हैं। 'कोलाहल समाप्त हुआ', 'शब्द उत्पन्न हुआ' इन वाक्यों के व्यवहार इसी आधार पर होते हैं। इन वाक्यों के सिद्ध करने की जो हमारी विधि है, उससे उदयन संतुष्ट हो जायँगे। वे शब्द की नित्यता का खंडन करने को आगे नहीं बढ़ेंगे।]

न्यायभूषण के रचयिता (भासर्वज्ञ, समय—९२५ ई०) ने जो यह कहा है कि शब्द को नित्य मानने पर, या तो सदा सभी शब्दों की उपलब्धि होगी या सदा अनुपलब्धि ही रहेगी ; नाना प्रकार के नित्य शब्द यदि प्रत्येक को व्याप्त करते हैं तो व्यंजक ध्वनि से सभी शब्दों की उपलब्धि होगी और यदि व्याप्त नहीं करते हैं तो व्यंजक ध्वनि रहने पर भी शब्द की उपलब्धि नहीं हो सकेगी)—यह भी खण्डित हो गया है क्योंकि ध्वनि से जिसका जहाँ संस्कार हो जाता है वहाँ उसीकी उपलब्धि होती है [सभी शब्दों की सर्वत्र उपलब्धि या अनुपलब्धि नहीं हो सकती।]

फिर भी कुछ लोग कह सकते हैं कि [शब्दों के व्यापक होने के कारण सभी शब्द] एक ही साथ श्रोत्रेन्द्रिय से संबद्ध हो जायँगे इसलिए संस्कारक (व्यंजक ध्वनि) और संस्कार्य (शब्द) का नियमित संबन्ध नहीं मिल सकता, ऐसा अनुमान होता है। [अनुमान इस रूप में होगा—कोई शब्द किसी निश्चित संस्कारक के द्वारा संस्कृत नहीं होता, क्योंकि दूसरों के साथ भी उसका वही संबन्ध रहता है। किन्तु यहाँ पर हेतु सत् (शुद्ध) नहीं है।] यहाँ आत्मा में अनैकान्तिक (सव्यभिचार) हेतु है—सो, अधिक झगड़ा करना बेकार है। [सभी जीवात्माएँ विभु हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं फिर भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष आदि से ज्ञान प्राप्त करने के समय एक ही आत्मा संस्कृत होती है, सभी जीवात्मायें नहीं।]

अतः सारी शंकाओं के कलंकांकुर का नाश हो जाने पर, अपौरुषेय ज्ञान के रूप में, धर्म के विषय में, वेद की प्रामाणिकता अपने आप में ही सिद्ध है—यह निश्चित हुआ।

(११. प्रामाण्यवाद का निरूपण)

स्यादेतत् ।

१०. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः ॥

११. प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः ।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥

इति वादिविवाददर्शनात्कथंकारं स्वतः धर्मे प्रमाण्यमिति सिद्धवत्कृत्य स्वीक्रियते ?

अस्तु, ऐसा ही हो । परन्तु निम्नलिखित रूप में वादियों को विवाद करते हुए देख कर भी आप वेद को धर्म के विषय में अपने आप में प्रमाण मानते हुए इसे निश्चित-जैसा क्यों समझ रहे हैं ? "प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को सांख्य लोग स्वतः मानते हैं । नैयायिक लोग दोनों को परतः मानते हैं । बौद्ध लोग अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः कहते हैं जब कि वेदवादी (मीमांसक) लोग प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः मानते हैं ।"

विशेष—यथार्थ अनुभव के रूप में जो प्रमा या प्रमाण होता है उसी में रहनेवाले धर्म को **प्रामाण्य** (या प्रमाणत्व या प्रमात्व) कहते हैं । इसी तरह अयथार्थ अनुभव में रहनेवाले धर्म को **अप्रामाण्य** कहते हैं । अब प्रश्न है कि किसी वस्तु के प्रामाण्य या आप्रामाण्य का कारण क्या है ? कारण खोजने के विषय में विभिन्न दार्शनिक विवाद करते हैं—उनके वाद को ही **प्रामाण्यवाद** के नाम से पुकारते हैं । यह दो प्रकार का हो सकता है । एक तो वह जिसमें कारण को प्रामाण्य का उत्पादक समझें और दूसरा वह जिसमें कारण को इस का ज्ञापक (बतलाने वाला) समझें । इस विवाद का मूल यही है कि कुछ लोग प्रामाण्य का कारण स्वयं (= प्रामाण्य, उसपर आश्रित ज्ञान तथा उसके लिए उपयुक्त कारणसामग्री) को ही समझते हैं जब कि दूसरे लोग इसका कारण किसी अन्य साधन (जैसे स्मृति, अनुमान आदि) को समझते हैं । यही बात अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी है । अपने आप में यदि अप्रामाणिकता उत्पन्न या ज्ञात हो तो अप्रामाण्य स्वतः है, अन्यथा परतः है यदि वह किसी दूसरे साधन से उत्पन्न होती है । विभिन्न दार्शनिकों के विवाद इस प्रकार हैं—

(१) सांख्यों के अनुसार,	प्रामाण्य	स्वतः,	अप्रामाण्य	स्वतः ।
(२) नैयायिकों	,,	,, परतः,	,,	परतः ।
(३) बौद्धों	,,	,, परतः,	,,	स्वतः ।
(४) मीमांसकों	,,	,, स्वतः,	,,	परतः ।

प्रामाण्यवाद के प्रश्न पर मीमांसकों का सबसे बड़ा विवाद नैयायिकों के ही साथ है। यद्यपि नैयायिक और मीमांसक अप्रामाण्य के प्रश्न पर एक-मत हैं कि यह परतः है पर प्रामाण्य के विषय में दोनों एकान्त-विरोधी हैं।

नैयायिकों का कथन है कि प्रामाण्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब ज्ञान को उत्पन्न करने वाले सभी साधन विद्यमान हों, इन्द्रियाँ ठीक हों आदि। ये सभी साधन बाह्य हैं। विषयेन्द्रियसंनिकर्ष होने पर 'अयं घटः' यह व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। तब 'अहं घटं जानामि' इस रूप में अनुव्यवसाय का जन्म होता है। इसके बाद प्रामाण्य और अप्रामाण्य की स्मृति होती है, तब इस प्रत्यक्षज्ञान के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है—अन्त में प्रवृत्ति के सफल होने पर ज्ञान को प्रामाणिक कहते हैं। अतः अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होने से ये लोग **परतः प्रामाण्यवाद** स्वीकार करते हैं।

इस पर मीमांसक कहते हैं कि उक्त बाह्य साधन वास्तव में उस ज्ञान के सामान्य साधन हैं क्योंकि उनके बिना विश्वास नहीं होगा और इसलिए कोई ज्ञान नहीं होता। नैयायिकों की यह उक्ति कि प्रामाण्य अनुमान से उत्पन्न होता है, भ्रान्त है क्योंकि इससे अनवस्था होगी और सारे व्यवहार निष्फल हो जायँगे! यदि किसी प्रत्यक्ष के समर्थन के लिए अनुमान की आवश्यकता है तो न्याय के नियम के ही अनुसार अनुमान का भी तो समर्थन किसी दूसरे अनुमान से होगा। इस तरह एक प्रत्यक्ष पर अनन्त काल तक अनुमान चलते रहेंगे। इस तरह करने से संसार का काम कैसे चलेगा? मोटर की ध्वनि सुनते ही हम बगल हो जाते हैं। यदि सुनने के बाद अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अनन्त काल तक चलने वाले अनुमानों में डूबे रहेंगे तो डेग-डेग पर दुर्घटना होती रहेगी। यह सच है कि संदिग्ध स्थलों पर प्रामाण्य के लिए हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है किन्तु यहाँ पर अनुमान का काम इतना ही है कि ज्ञान के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को वह दूर कर दे। इनके दूर हो जाने पर ज्ञान अपने आप में सामान्य साधनों (कारण-सामग्री) से उत्पन्न होता है। ज्ञान उत्पन्न होने पर प्रामाण्य की तथा प्रामाण्य में विश्वास की उत्पत्ति भी होती है।

आप्त वाक्यों में भी—चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय, वैदिक या अवैदिक—हमारा विश्वास ऐसे ही उत्पन्न होता है। जब तक सन्देह का कोई कारण न हो, किसी सार्थक वाक्य को सुनकर हम उसमें तुरत विश्वास कर लेते हैं। इसीलिए असंदिग्ध वेद भी स्वतः प्रमाण है। यह अपौरुषेय है। इसकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है, अनुमान से नहीं। हाँ, सन्देह और अविश्वास दूर करने के लिए तर्कों की आवश्यकता तो पड़ती है। सन्देह और अविश्वास दूर हो जाने पर वेद अपने अर्थों की अभिव्यक्ति स्वयं करते हैं तथा अर्थावबोध के साथ-साथ विश्वास (प्रामाण्य) भी चलता रहता है। इसके लिए मीमांसा का एकमात्र कर्तव्य है कि जिन तर्कों के आधार पर वेदों की प्रामाणिकता पर कुठाराघात करने की सम्भावना हो उन सबों का निवारण करे और यही किया भी गया है।

यद्यपि सत्य (प्रामाण्य) स्वयंसिद्ध है अर्थात् जब भी ज्ञान उत्पन्न होता है तो इसके साथ-साथ एक विश्वास भी लगा रहता है कि यह सत्य है, तथापि कभी-कभी संभावना होती है कि कोई दूसरा ज्ञान इसे गलत न सिद्ध कर दे या इसके साधनों को दोषपूर्ण न ठहराये। ऐसी स्थिति में इन दोषपूर्ण साधनों के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए अनुमान करते हैं कि यह ज्ञान असत्य (अप्रामाणिक) है। स्पष्ट है कि ज्ञान की अप्रामाणिकता के लिए हमें अनुमान (बाह्य-साधन) पर अवलंबित रहना पड़ता है। इसे ही 'परतः अप्रामाण्य' कहते हैं। फलतः जबः कोई प्रत्यक्ष, अनुमान या कोई दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसे हम अपने आप स्वीकार कर लेते हैं, तर्क नहीं करते जब तक कि किसी विरोधी प्रमाण से उसपर संदेह या अविश्वास करने की समस्या न आ जाये और हम अनुमान से उसका अप्रामाण्य न स्वीकार करें। इसी रूप में हमारा काम चलता है। इस प्रकार मीमांसा के मत का स्पष्टीकरण किया गया है।

(११. क. स्वतःप्रामाण्य का अर्थ—लम्बी आशंका)

किं च किमिदं स्वतः प्रामाण्यं नाम ? किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म ? आहोस्वित् स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वम् ? किमुत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? उताहो ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्य-ज्ञानविशेषाश्रितत्वम् ? किं वा ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रजन्यज्ञान-विशेषाश्रितत्वम् ?

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] अच्छा बतलाइये—इस स्वतः प्रामाण्य का क्या अर्थ है ? क्या प्रामाण्य अपने आप से उत्पन्न होता है ? अथवा अपने आधार-स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न होता है ? क्या अपने आधारभूत ज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होता है ? या क्या ज्ञान के साधारण कारणों (सामग्री) से जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें रहता है ? या केवल ज्ञान के साधारण कारणों (सामग्री मात्र) से ही उत्पन्न होने वाले विशेष ज्ञान में रहता है ? [इनमें से कौन-सा अर्थ आप लेंगे—कोई भी ठीक नहीं है ?]

तत्राद्यः सावद्यः । कार्यकारणभावस्य भेदसमानाधिकरणत्वेन एकस्मिन्नसंभवात् । नापि द्वितीयः । गुणस्य सतो ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रतिसमवायिकारणतया द्रव्यत्वापातात् ।

(१) उनमें पहला विकल्प तो दोषपूर्ण है क्योंकि कार्य और कारण के बीच में भेद रहना आवश्यक है, दोनों तत्त्व एक ही में नहीं रह सकते । [प्रामाण्य ही कारण और कार्य दोनों बनकर अपनी उत्पत्ति अपने आप से नहीं कर सकता ।] (२) दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि (यदि ज्ञान से प्रामाण्य उत्पन्न होता है तो] ज्ञान को प्रामाण्य का समवायिकारण मानना पड़ेगा और ज्ञान को, जो गुण है, द्रव्य मानना पड़ेगा । [गुण किसी का समवायिकारण नहीं हो सकता अतः प्रामाण्य (कार्य) के कारणभूत ज्ञान को द्रव्य मानने का प्रसंग आ जायगा ! देखिये—भाषापरिच्छेद, २३—समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ।]

नापि तृतीयः प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे वा जन्मायोगात् । स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावः प्रामाण्योपाधिः । न च तस्योत्पत्तिसंभवः । अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् । अत एव न जातेरपि जनिर्युज्यते ।

(३) तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उपाधि के रूप में लें या जाति के रूप में, प्रामाण्य का जन्म होता ही नहीं । [प्रामाण्य का अर्थ है अनेक प्रामाणिक ज्ञानों में रहने वाला एक धर्म । ऐसे धर्म को सामान्य भी कहते हैं । सामान्य के दो भेद हैं—जाति और उपाधि । यदि प्रामाण्य को जाति में लेते हैं तो जाति नित्य होती है, अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति मानना संभव नहीं । अब यदि आप कहें कि प्रत्यक्षत्व आदि के संबन्ध होने से प्रामाण्य जाति नहीं है तब उसे उपाधि मानें । उपाधि के दो भेद हैं—सखण्ड और अखण्ड । यदि प्रामाण्य अखंड उपाधि के रूप में है तो नित्य ही है । यदि वह

सखंड उपाधि के रूप में हो तब तो द्रव्यादि पदार्थों में अन्तर्भूत होकर कहीं नित्य, कहीं अनित्य हो जायगा। जैसे पृथिवीत्व आदि से मिल जाने के कारण शरीरत्व जाति नहीं है, बल्कि उपाधि है। ऐसा होने से 'शरीर में चेष्टा का आश्रय होना ही शरीरत्व है' अर्थात् चेष्टा ही शरीरत्व है। अब चूँकि चेष्टा एक प्रकार की क्रिया है इसलिए शरीरत्व में क्रिया रूपी उपाधि होने के कारण अनित्यता का आरोपण हो जायगा। इसमें प्रामाण्य यथार्थानुभवत्व अर्थात् अनुभव में रहनेवाली यथार्थता है। अनुभव चूँकि स्मृति से भिन्न ज्ञान है इसलिए अनुभव की यथार्थता का अभिप्राय होगा—बाधा (obstruction) का अत्यन्ताभाव। कारण यह है कि बाधित ज्ञान यथार्थ नहीं होता। अतः यहाँ उपाधि है—अनुभवात्मक ज्ञान की बाधा का अत्यन्ताभाव। अब जब उपाधि को ही प्रामाण्य समझते हैं तब तो उपर्युक्त बाधात्यन्ताभाव को ही प्रामाण्य मानते होंगे। अत्यन्ताभाव भी नित्य ही होता है इसलिए उपाधि के रूप में भी प्रामाण्य को लेने पर इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यही आगे कहते हैं।]

स्मृति के स्वभाव से जो पृथक् हो वैसे ज्ञान की बाधा का अत्यन्ताभाव ही प्रामाण्य या उपाधि है (यदि आप प्रामाण्य को उपाधि मानते हैं)। उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अत्यन्ताभाव को सभी लोग नित्य मानते हैं। इसलिए जाति [के रूप में भी प्रामाण्य को स्वीकार करने पर उस] की उत्पत्ति नहीं हो सकती है [क्योंकि जाति भी नित्य ही होती है।]

नापि चतुर्थः। ज्ञानविशेषो ह्यप्रमा। विशेषसामग्र्यां च सामान्यसामग्री अनुप्रविशति शिंशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री। अपरथा तस्याकस्मिकत्वं प्रसज्येत। तस्मात्परतस्त्वेन स्वीकृताप्रामाण्यं विज्ञानसामान्यसामग्रीजन्याश्रितमित्यतिव्याप्तिरापद्येत।

(४) चौथा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है। अप्रमा (अयथार्थ अनुभव) भी एक विशेष प्रकार का ज्ञान ही है। [वस्तुतः सीपी रहने पर भी दूषित इन्द्रिय के कारण जो रजत की प्रतीति हो जाती है यह भी ज्ञान ही है। यह भी ज्ञान की सामान्य सामग्री (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से ही उत्पन्न होता है।] ज्ञान की सामान्य सामग्री को उसकी विशेष सामग्री (साधनों) में अन्तर्भुक्त कर लिया जाता है। जैसे—वृक्ष की सामग्री (सामान्य साधन) को शिंशपा की सामग्री में ही गिन लेते हैं। [वृक्ष के सामान्य कारण हैं—मिट्टी, जल, हवा, धूप, बीज आदि। एक विशेष वृक्ष शिंशपा है उसमें अन्य कारणों के साथ विशेष प्रकार का (शिंशपा का) बीज भी कारणसामग्री में आता है। यह भी एक प्रकार का बीज

ही है। यदि इसे बीज न मानें] तो शिंशपा वृक्ष की उत्पत्ति बिना बीज के आकस्मिक रूप से होती है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। [फल यह होगा कि] अयथार्थ ज्ञान भी ज्ञान की सामान्य सामग्री से उत्पन्न एक विशेष प्रकार का ज्ञान बन जायगा, जब कि आप (मीमांसक लोग) अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अप्रामाण्य को परतः के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः अतिव्याप्ति-दोष हो जायगा। [प्रामाण्य का लक्षण अप्रामाण्य को भी अपने में समेट लेगा।]

विशेष—अप्रमा एक ज्ञान-विशेष है। विशेष कारणों में सामान्य कारणों का अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्य कवि में जो गुण हैं वे विशेष कवि में भी होते ही हैं। अतः ज्ञान-विशेष में ज्ञान-सामान्य आ गया। चौथे विकल्प के अनुसार ज्ञान के सामान्य कारणों से निकले ज्ञानविशेष पर प्रामाण्य आधारित रहता है। तब तो अप्रमा भी प्रामाण्य ही की कोटि में आ गई क्योंकि यह भी ज्ञान के सामान्य कारणों से निकले ज्ञानविशेष पर ही आधारित है, यह सिद्ध किया गया है। पाँचवें विकल्प में 'मात्र' शब्द रख देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है। इसे आगे कहते हैं।

पञ्चमविकल्पं विकल्पयामः। किं दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं किं वा दोषाभावासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम्? नाद्यः। दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव परतः प्रामाण्यवादिभिरुररीकरणात्।

(५) पाँचवें विकल्प के सम्बन्ध में हमें पूछना है कि 'केवल ज्ञान के कारणों से उत्पत्ति होना' इसका अर्थ क्या है—(क) क्या दोषाभाव के साथ ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना या (ख) दोषाभाव से रहित होकर ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना?

(क) पहला विकल्प तो ठीक ही नहीं है क्योंकि दोषाभाव से युक्त ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना ही 'परतः प्रामाण्य' है इसलिए प्रामाण्य को बाह्य साधन से उत्पन्न (परतः) माननेवाले नैयायिकादि इसे तुरत स्वीकार करलेंगे।]

विशेष—चौथे विकल्प में दोष (अतिव्याप्ति) का प्रसंग देखा गया है। अयथार्थ ज्ञान जहाँ होता है उन स्थानों में सामान्य कारणों की अपेक्षा दोषरूपी कारण ही अधिक होता है। इसीलिए 'मात्र' शब्द का प्रयोग करके व्यावृत्ति (दोषों की) की जाती है। उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान के स्थलों में सामान्य सामग्री की अपेक्षा दोषाभाव-रूपी कारण ही अधिक है। अतः 'मात्र' शब्द से उस दोषाभाव की व्यावृत्ति (Exclusion) करें या नहीं? पहले विकल्प

में दोषाभाव की व्यावृत्ति नहीं करते, दूसरे विकल्प में व्यावृत्ति करते हैं। पहला विकल्प इसलिए उठाया गया कि व्यावृत्ति करने से प्रामाण्य के लक्षण का कोई उदाहरण ही नहीं दिया जा सकता, इसलिए दोषाभाव को हटाना ठीक नहीं है। दूसरे विकल्प के उठाने में कारण है कि यथार्थज्ञान में दोषाभाव कारण के रूप में नहीं रह सकता, उसे हटाने पर भी कोई हानि नहीं है।

नापि द्वितीयः। दोषाभावसहकृतत्वेन सामग्र्यां सहकृतत्वे सिद्धेऽनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकसिद्धतया दोषाभावस्य कारणताया वज्रलेपायमानत्वात्। अभावः कारणमेव न भवतीति चेत्तदा वक्तव्यमभावस्य कार्यत्वमस्ति न वा? यदि नास्ति तदा घटप्रध्वंसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यताप्रसङ्गः। अथास्ति, किमपराद्धं कारणत्वेनेति सेयमुभयतस्पाशा रज्जुः।

(ख) दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं। [दोषाभाव को ज्ञान सामग्री से हटा कर नहीं चला जा सकता।] कारण यह है कि दोषाभाव के साथ-साथ ही ज्ञान सामग्री (ज्ञान के कारणों—जैसे इन्द्रिय, प्रकाश आदि) रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, उसके बिना नहीं (दोषाभाव न रहने पर = दोष रहने पर ज्ञान सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती)—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से हम [ज्ञानोत्पत्ति के लिए] कारण के रूप में दोषाभाव को वज्रलेप (सिमेंट के पलस्तर] की तरह दृढ़ता से स्वीकार करेंगे। अब यदि आप कहें कि हम अभाव को कारण ही नहीं मानते, ऐसा होता ही नहीं तो बतलाइये कि अभाव कार्य हो सकता है या नहीं ?

यदि अभाव कार्य नहीं हो सकता तो घट को नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि घट के प्रध्वंस (जो एक अभाव ही है) की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। यदि अभाव कार्य हो सकता है तो कारण ने आपका क्या बिगाड़ा है कि अभाव को कारण नहीं होने देते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से बांधनेवाली रस्सी आपके ऊपर है [जो आपको फँसा ही लेगी]।

तदुदितमुदयनेन—

भावो यथा तथाभावः कारणं कार्यवन्मतः।

(न्या० कु० १।१०)

इति। तथा च प्रयोगः—विमतं प्रामाण्यं ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनं कार्यत्वे सति तद्विशेषाश्रितत्वादप्रामाण्यवत्। प्रामाण्यं

परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वादप्रामाण्यवत् । तस्मादुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च परतस्त्वे प्रमाणसंभवात्स्वतः सिद्धं प्रामाण्यमित्येतत्पूतिकुष्माण्डायत इति चेत्—।

इसे उदयन ने भी कहा है—जिस प्रकार भाव कारण होता है उसी प्रकार अभाव भी कार्य की तरह कारण भी हो सकता है (न्यायकुसुमांजलि, १।१०)। [अभाव को स्वरूपहीन होने के कारण समवायि-कारण मत समझिये किन्तु उसे निमित्त-कारण तो मान ही सकते हैं। इसमें कोई भी बाधा नहीं है। इस प्रकार उक्त पाँच प्रकारों में से किसी के द्वारा स्वतःप्रामाण्य की निरुक्ति नहीं हो पाती अतः विवश होकर हमें परतः प्रामाण्य ही स्वीकार करना पड़ता है। अनुमान भी इसके लिए प्रमाण हो सकता है—]

इसके लिए तर्क (Argument) इस रूपमें हो सकता है—'प्रस्तुत विवादग्रस्त प्रामाण्य ज्ञान के सामान्य कारणों के अतिरिक्त किसी दूसरे कारण (दोषाभाव) के अधीन है, क्योंकि यह कार्य होने के साथ-साथ ज्ञानविशेष पर आश्रित है जैसे अप्रामाण्य।' [इस प्रकार उत्पत्ति के विषय में प्रामाण्य को परतः सिद्ध करके अब ये नैयायिक ज्ञप्ति के विषय में भी इसे परतः सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं—] 'प्रामाण्य को बाह्य साधन (जैसे—अनुमान) से ही जानते भी हैं क्योंकि जिस वस्तु का परिचय (अभ्यास) पहले से नहीं रहता है उसके विषय में संशय उत्पन्न होता है जैसे अप्रामाण्य के विषय में होता है। [अप्रामाण्य को तो मीमांसक भी परतः ही मानते हैं। जैसे किसी अज्ञात मार्ग पर जाते-जाते कोई व्यक्ति जब जल देखता है तब सोचता है कि यह ज्ञान प्रमा है या नहीं—तात्पर्य यह कि संशय में पड़ जाता है। जब पास जाता है तब पहले से उत्पन्न जल-ज्ञान को तब प्रमा कहता है जब उससे सफल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह पूर्वज्ञान अप्रमा है—इस प्रकार अनुमान से प्रामाण्य का ज्ञान होता है। यदि प्रामाण्य ज्ञान को सामान्य रूप से ज्ञात करानेवाले कारणों से ही ज्ञात हो जाता तो ज्ञानोत्पत्ति के बाद ही आन्तर प्रत्यक्ष से ज्ञान मालूम हो जाता तथा उसीमें रहने वाला प्रामाण्य भी ज्ञात ही हो जाता—संशय उत्पन्न होने का अवकाश ही कहाँ था ?]

पूर्वपक्ष का निष्कर्ष—इसलिए उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों विषयों में परतः प्रामाण्य के ही लिए प्रमाण संभव हैं और स्वतःसिद्ध प्रामाण्य तो मानना पके हुए कुम्हड़े की तरह व्यर्थ (असंभव ?) है।

(१२. स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि—शंका-समाधान)

तदेतदाकाशमुष्टिहननायते। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वमिति निरुक्तिसंभवात्। अस्ति चात्रानुमानम्—विमता प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तजन्या न भवति। अप्रमात्वानधिकरणत्वात्। घटादि-प्रमावत्।

[अब हम समाधान करते हैं—] उपर्युक्त सारे के सारे तर्क आकाश में घूँसा चलाने के बराबर [निष्फल] हैं। जो ज्ञान के सामान्य कारणों (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से उत्पन्न होने के साथ-साथ, उनके अतिरिक्त किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न न हो वही स्वतः प्रामाण्य है—इस प्रकार इसकी निरुक्ति (Etymology) दी जा सकती है। यही नहीं, इसमें अनुमान भी दिया जा सकता है—विवादग्रस्त प्रमा ज्ञान के साधारण कारणों से उत्पन्न होने के साथ-साथ उनके अतिरिक्त किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि यह अप्रमा की तरह की चीज नहीं है, जिस तरह घट आदि प्रमायें हैं। [ज्ञान की सामान्य सामग्री (कारण समूह) से ही प्रमा-रूपी ज्ञानविशेष की उत्पत्ति होती है, न कि उसके अतिरिक्त किसी अधिक गुण से या दोषाभाव से। दोष तो प्रमा का प्रतिबन्धक है—ऐसा हम मानते हैं।]

न चौदयनमनुमानं परतस्त्वसाधकमिति शङ्कनीयम्। प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमा-वदिति प्रतिसाधनग्रहग्रस्तत्वात्। ज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्प-त्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्व-कल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च। ननु दोषस्याप्रमाहेतुत्वेन तदाभावस्य प्रमां प्रति हेतुत्वं दुर्निवारमिति चेन्न। दोषाभावस्या-प्रमाप्रतिबन्धकत्वेनान्यथासिद्धत्वात्।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि उदयनाचार्य के द्वारा दिया गया अनुमान प्रामाण्य को परतः सिद्ध कर देगा। उनके अनुमान के विरुद्ध सिद्धि करने वाला (Counter-inference) ग्रह उनके [अनुमान के] पीछे लगा हुआ है—'प्रमा (यथार्थानुभव—यही पक्ष है) दोषों से पृथक् रहने वाले ज्ञान के सामान्य कारणों के अलावे किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वह ज्ञान है जिस

प्रकार अप्रमा।* जब केवल ज्ञान-सामग्री (ज्ञान के सामान्य कारणों) से ही प्रमा की उत्पत्ति हो सकती है तो उनके अतिरिक्त किसी गुण या दोषाभाव को कारण बनाना **कल्पना-गौरव** (अनावश्यक कल्पना करना) नामक दोष का भागी होगा।

अब यदि कोई कहे कि दोष को तो आप (मीमांसक) अप्रमा का कारण मानते हैं तो दोष के अभाव को प्रमा का कारण मानना अनिवार्य है,—तो हम कहेंगे कि ऐसी बात नहीं हो सकती। दोषाभाव केवल अप्रमा के प्रतिबन्धक के रूप में हम मानते हैं, इसकी सिद्धि दूसरे रूप में होती है। [जैसे घट के पूर्व निश्चित रूप से रहने पर भी दण्डत्व या दण्ड के रूप को हम कारण नहीं मान सकते। कारण नहीं रहने पर भी उसकी पूर्ववृत्ति (पहले रहने) का नियम तो रहेगा ही क्योंकि घट का दण्डत्व या दण्डरूप भले ही न हो, दण्ड तो है। दण्ड चूँकि दण्डत्व और दण्ड रूप के बिना रह नहीं सकता अतः इन्हें घट के पूर्व निश्चित रूप से रहना जरूरी है। दण्डत्वादि की सिद्धि दूसरे रूप में होती है (अन्यथासिद्ध) या इन्हें नहीं मानने से घट की सिद्धि नहीं होगी (अन्यथा + असिद्ध)। उसी प्रकार प्रमाज्ञान के पूर्व में नियमतः रहने पर भी दोषाभाव को प्रमाज्ञान का कारण नहीं कह सकते, पर उसे पूर्व में रहना जरूरी है क्योंकि दोष अप्रमा का कारण है, दोष रहने पर प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार जहाँ प्रमा का ज्ञान होता है उन स्थलों में नियमतः पूर्व में रहने-वाला दोषाभाव इतना काम कर देता है कि अप्रमा के ज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाये। प्रमा-ज्ञान के उत्पादन में उसकी कोई उपयोगी क्रिया नहीं होती। इस तरह दोषाभाव प्रमाज्ञान का कारण नहीं, दूसरे रूप में उसकी सिद्धि होती है (अन्यथा-सिद्ध)।]

१२. तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥ इति।

[यदि प्रमाज्ञान के लिए गुणों को कारण के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे तो गुणों को मानना ही व्यर्थ है। इसी के उत्तर में कहते हैं]—इस प्रकार गुणों से दोषों के अभाव का बोध होता है और दोषों के अभाव से [संशय और विपर्यय न हो सकने के कारण] दोनों प्रकार के अप्रामाण्यों (निश्चित अप्रामाण्य तथा संदिग्ध अप्रामाण्य) की सत्ता नहीं रहती। उसके बाद (अप्रामाण्य के अभाव में) सामान्य (उत्सर्ग) प्रामाण्य का बहिष्कार नहीं

* इस प्रकार उदयन का अनुमान सत्प्रतिपक्ष हेतु से युक्त है।

किया जा सकता [क्योंकि अपवाद न रहने पर उत्सर्ग की ही शक्ति रहती है।]

विशेष—दूसरी पुस्तकों में—'तेनोत्सर्गो नयोदित.' पाठ है जिसका अर्थ होगा कि अप्रामाण्य का अभाव रहने से उत्सर्ग अर्थात् सामान्य का उदय स्वभावतः (नयेन) ही हो जायगा। इस प्रकार उत्पत्ति-विषयक प्रामाण्य का स्वतःसिद्ध होना प्रमाणित किया गया। अब ज्ञप्ति (ज्ञान) के विषय में भी जो प्रामाण्य होता है उसकी स्वतःसिद्धि प्रमाणित की जाती है।

(१२ क. ज्ञप्ति-विषयक स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि)

तथा प्रमाज्ञप्तिरपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव जायते। न च संशयानुदयप्रसङ्गो बाधक इति युक्तं वक्तुम्। सत्यपि प्रतिभा-सपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानात्तदुपपत्तेः। किं च तावकमनुमानं स्वतः प्रमाणं न वा? आद्येऽनैकान्तिकता। द्वितीये तस्यापि परतः प्रामाण्यमेवं तस्य, तस्यापीत्यनवस्था दुरवस्था स्यात्।

इसी तरह प्रमा की ज्ञप्ति (प्रामाण्य का ज्ञान) भी ज्ञान के बोधक करण से ही उत्पन्न होती है (किन्हीं बाह्य अनुमानादि करणों से नहीं)। ऐसा भी कहना युक्ति-युक्त नहीं है कि संशय नाम की कोई चीज न रहने के कारण ऐसी विचारसरणि रखने पर बाधा पड़ेगी। संशय की सिद्धि वहीं होती है जहाँ यद्यपि ज्ञान (प्रतिभास) को उत्पन्न करने वाले सभी कारण विद्यमान हों, तथापि कुछ प्रतिबन्धक कारणों—जैसे दोष आदि—की भी साथ-साथ ही सत्ता रहे।

अच्छा, अब यह कहें कि आप का (उदयन का) उक्त अनुमान अपने आप में प्रमाण है या नहीं? यदि स्वतः प्रमाण है तो [आपके द्वारा प्रामाण्य को परतः माने जाने का नियम] व्यभिचरित होगा (एकान्त रूप से प्रतिष्ठित नहीं होगा क्योंकि आप दोनों ओर प्रामाण्य को ले चलेंगे।) अब, यदि स्वतः प्रमाण नहीं मानते हैं तो उसकी सिद्धि के लिए कोई दूसरा प्रमाण देना होगा, फिर उस अनुभव की सिद्धि के लिए भी दूसरा प्रामाण्य होगा—इस प्रकार अनवस्था होगी जिसका निवारण नहीं किया जा सकता। [इस प्रकार हमें स्वतः प्रामाण्य ही सिद्ध मानना पड़ेगा। कोई चीज देखकर हम उसकी प्राप्ति के लिए तुरत दौड़ पड़ते हैं। यह नहीं सोचने लगते कि अनुमानादि से प्रामाण्य

का निश्चय करें। यदि प्रामाण्य को परतः स्वीकार करेंगे तो प्रवृत्ति में शीघ्रता नहीं हो सकेगी।]

(१३. प्रामाण्य का उपयोग प्रवृत्ति में नहीं होता—उदयन)

यदत्र कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरप्रवृत्तेः प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वाभावमापादयता प्रण्यगादि—'प्रवृत्तिर्हीच्छामपेक्षते। तत्प्राचुर्यं चेच्छाप्राचुर्यम्। इच्छा चेष्टसाधनताज्ञानम्। तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवम्। सोऽपीन्द्रियार्थसंनिकर्षम्। प्रामाण्यग्रहणं तु न क्वचिदुपयुज्यते' इति।

इस प्रसंग में न्यायकुसुमांजलि में (उदयनाचार्य ने, मनुष्यों में शीघ्र तथा प्रचुर रूप से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति (क्रिया) को, प्रामाण्य-निश्चय के अधीन न रहने का प्रतिपादन करते समय, कहा है—'प्रवृत्ति इच्छा की अपेक्षा रखती है। यदि प्रचुर रूप में प्रवृत्ति हुई तो समझें कि वहाँ इच्छा ही प्रचुर रूप में हैं। इच्छा उस ज्ञान की अपेक्षा रखती है जिससे इष्ट वस्तुओं का बोध [इच्छापूर्ति के] साधन के रूप में होता है। यह ज्ञान भी उस लिंग के अनुभव की अपेक्षा करता है जिस (लिंग) के द्वारा, इष्ट वस्तु प्रस्तुत वस्तु की जाति की है, ऐसा बोध होता है। यह अनुभव भी इन्द्रियों और वस्तुओं के संनिकर्ष पर भी निर्भर करता है। प्रामाण्य का ग्रहण करने की आवश्यकता तो कहीं पर है ही नहीं। [प्रामाण्य-ग्रहण करने से प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती।]'

(१३ क. इसका खंडन)

तदपि तस्करस्य पुरस्तात्कक्षे सुवर्णमुपेत्य सर्वाङ्गोद्घाटनमिव प्रतिभाति। यतः समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छां जनयतीत्यत्रैव स्फुट एव प्रामाण्यग्रहणस्योपयोगः। किं च क्वचिदपि चेन्निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः संशयादुपपद्येत, तर्हि सर्वत्र तथाभावसंभवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः स्यात्।

जैसे कोई चोर सामने ही अपनी काँख में सोना चुराये और पूछने पर समूचा शरीर झाड़कर दिखला दे उसी तरह आपकी ये बातें भी हैं। क्योंकि इष्ट वस्तु का [इच्छापूर्ति के] साधन के रूप में बोध कराने वाला ज्ञान

प्रमाण-रूप में अवगत होता है, वही इच्छा को उत्पन्न करता है– यहीं पर तो प्रामाण्य-ग्रहण की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त, यदि कहीं भी संशय से उत्पन्न निश्चित प्रवृत्ति की सिद्धि हो गई (= संशय से उत्पन्न प्रवृत्ति का एक भी उदाहरण निश्चित कर लिया गया), तो सभी स्थानों पर वैसा ही होने की संभावना होगी एवं प्रामाण्य का निश्चय करना व्यर्थ सिद्ध होगा। [संशय के कारण कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि अनिश्चित वस्तु में सत्ता ही दुर्लभ है।]

तथोक्तम्—अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति। यदि सत्त्वं सुलभं भवेत्तदा प्रामाण्यं दत्तजलाञ्जलिकं भवेदित्यलमतिप्रपञ्चेन। यस्मादुक्तम्—

१३. तस्मात्सद्बोधकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोह्यते॥ इति।

वैसा ही कहा गया है—'अनिश्चित वस्तु की सत्ता ही दुर्लभ होती है।' यदि उसकी सत्ता आसानी से पायी जा सकती तब तो प्रामाण्य नाम की कोई वस्तु ही संसार में नहीं रहे [प्रामाण्य को ही जलांजलि दे दी जाय—स्वतः और परतः का प्रश्न ही समाप्त हो जाय।] अधिक विस्तार करने से कोई लाभ नहीं है। चूँकि कहा गया है—

'इसलिए सद् वस्तु के बोधक के रूप में जो बुद्धि का प्रमाण्य देखा जाता है वह उस दोष-ज्ञान से ही नष्ट हो जाता है जिस दोष-ज्ञान की उत्पत्ति वस्तु की अन्यथा प्रतीति (जैसे सीपी की चाँदी के रूप में प्रतीति) से होती है।' [प्रामाण्य सद्वस्तु का बोध कराता है। किन्तु जब वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में होती है तब उक्त प्रामाण्य का अपवाद हो जाता है क्योंकि ऐसी दशा में अप्रामाण्य हो जाता है। सामान्य रूप से प्रामाण्य की प्रतीति होती है जब कि अपवाद के रूप में अप्रामाण्य आता है।]

(१४. मीमांसा-दर्शन का उपसंहार)

तस्माद्धर्मे स्वतःसिद्धप्रमाणभावे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मके वेदे 'यजेत' इत्यत्र तप्रत्ययः प्रकृत्यर्थोपरक्तां भावनामभिधत्ते—इति सिद्धे व्युत्पत्तिमभ्युपगच्छतामभिहितान्वयवादिनां भट्टाचार्याणां सिद्धान्तः।

यागविषयं नियोगमिति कार्ये व्युत्पत्तिमनुसरतामन्विताभिधानवादिनां प्रभाकरगुरूणां सिद्धान्त इति सर्वमवदातम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे जैमिनिदर्शनम् ॥



इसलिए धर्म के विषय में [वेद का] प्रामाण्य अपने आप में सिद्ध है। 'ज्योतिष्टोम के द्वारा स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति यज्ञ करे' इत्यादि विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय से लक्षित वैदिक वाक्यों में 'यजेत' शब्द में वर्तमान 'त' (विधिलिङ्) प्रत्यय प्रकृति (√यज् धातु) के अर्थ (याग) से उपरक्त (सम्बद्ध) भावना का बोध कराता है। ['त' प्रत्यय विधि के अर्थ में आता है। कुमारिल के अनुसार विधि शाब्दी भावना है, यद्यपि आर्थी भावना भी 'त' प्रत्यय से ही प्रकट होती है। 'यजेत' में √यज् धातु प्रकृति है जिसका अर्थ है याग। उस याग के विषय में जो प्रवृत्ति होती है, उसे ही आर्थी भावना कहते हैं। उक्त अर्थभावना रूपी फल को देने वाली शाब्दी भावना है अर्थात् श्रुति के द्वारा दी गई प्रेरणा ही शब्दभावना है।]

इस प्रकार सिद्ध (शब्दों) में व्युत्पत्ति (अर्थबोध कराने की शक्ति माननेवाले अभिहितान्वयवादी भट्टाचार्यों (कुमारिल के मतानुयायियों) का यह सिद्धान्त है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर-गुरु जो कार्य [में लगे हुए वाक्यों में अन्वित पदों] में व्युत्पत्ति (अर्थबोधिका शक्ति) मानते हैं, उनका सिद्धान्त है कि [यह त-प्रत्यय पूरे वाक्य से सम्बद्ध] याग-विषयक नियोग (आज्ञा) का बोध कराता है। इस प्रकार सब स्पष्ट हुआ। [प्रभाकर गुरु का कहना है कि शक्ति का ग्रहण करानेवाले साधनों में वृद्ध-व्यवहार सर्वोत्तम है। इस वृद्ध-व्यवहार से गो-आदि शब्दों का शक्तिग्रह होता है किन्तु यह कार्य (वाक्य) में अन्वित गो-आदि अर्थों में ही होता है अकेले 'गौः' आदि शब्दों में नहीं। उनके अनुसार पृथक् पदों का कोई अर्थ नहीं। 'गामानय' वाक्य में आनयन-क्रिया से अन्वित (संबद्ध) गौ को देखकर ही शक्तिग्रह (अर्थबोध) होता है। ये विधि को शाब्दी भावना न मानकर नियोग (आज्ञा) मानते हैं। सभी पदों की शक्ति कार्य में अन्वित होने पर ही होती है। यह दशा तो लौकिक वाक्यों की हुई। जो वाक्य वेद में सिद्ध हैं उनमें कार्यांश कहाँ से लायेंगे ? विवश होकर लक्षणा का सर्वत्र आश्रय लेना पड़ेगा।

कुमारिल भट्ट उसे नहीं मानते। पहले तो कार्य में अन्वित होने पर ही शक्तिग्रह होता है, शक्तिग्रह होने पर भी कार्यांश का त्याग ही कर देना पड़ता है। सिद्ध वाक्यों में सर्वत्र लक्षणा का सहारा लेना कठिन भी है। ऐसी बात

भी नहीं कि हमें विवश होकर लक्षणा स्वीकार करनी पड़ेगी। जो लोग लक्षणा को खूब समझते हैं वे भी सिद्धवाक्यों में लक्षणा को अपने मस्तिष्क में नहीं बैठा पायेंगे क्योंकि लक्षणा के जो मुख्यार्थबाध आदि कारण हैं उनका अनुभव नहीं हो सकेगा। अतः प्रभाकर का मत स्वीकार्य नहीं है। शब्दों का पहले अर्थ लग जाता है तब आकांक्षा, योग्यता आदि के बल से उनका अन्वय होता है जिससे वाक्यार्थ-बोध होता है। यह कुमारिल का **अभिहितान्वयवाद** है। प्रभाकर के अनुसार वाक्य में शब्दों का अन्वय होने के बाद उनका पृथक् अभिधान होता है—इसे **अन्विताभिधानवाद** कहते हैं। तदनुसार 'गौः' का अर्थ गोत्व नहीं है बल्कि 'आनयनान्वित-गोत्व' (अर्थात् आनयन-क्रिया से संबद्ध गोत्व) है—वस्तुतः 'गामानय' वाक्य के साथ यह बात है।]

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में जैमिनि-दर्शन समाप्त हुआ।

विशेष—प्रस्तुत स्थान में वेद के चार भागों के नाम लिये गये हैं—विधि, अर्थवाद, मंत्र, नामधेय। अज्ञात वस्तु का बोध करानेवाले वाक्य को विधि कहते हैं जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः।' यह वाक्य किसी भी दूसरे प्रमाण से अप्राप्त होम का विधान करता है जिस होम का प्रयोजन है स्वर्ग-प्राप्ति। वाक्यार्थ होगा कि अग्निहोत्र-होम से स्वर्ग की भावना करे। स्तुति या निन्दा करने वाले वाक्य को **अर्थवाद** कहते हैं जैसे—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१)। इस अर्थवाद से वायु देवता की स्तुति होती है तथा—'वायव्यं श्वेतमालभेत' (वहीं)—इस विधि की प्रशंसा की जाती है। 'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१)—यह अर्थवाद रोदन से रजत की उत्पत्ति का बोध कराता है और साथ-साथ 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस निषेध का समर्थन कराते हुए रजत की निन्दा करता है। प्रयोग से समवेत वस्तुओं का बोध करानेवाला वेदभाग **मंत्र** है। जैसे—'स्योनं ते सदनं कृणोमि' (तै० ब्रा० ३।६)। पुरोडाश का आसन (रखने का स्थान) सुखद बनाने का अर्थ है जिसकी अभिव्यक्ति करते हुए यज्ञादि कर्मों में इसका उपयोग बतलाया गया है। अर्थ का स्मरण मंत्रों से ही किया जाता है अतः मंत्रों का संकलन निरर्थक नहीं है। यज्ञविशेष के नामों को **नामधेय** कहते हैं जैसे—'उद्भिदा यजेत' में उद्भिद् एक याग का नाम है।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां जैमिनिदर्शनमवसितम् ॥



(१३) पाणिनि-दर्शनम्

स्फोटात्मकं प्रणववैकृतिरूपमेत—
त्तत्त्वं समादिशति यच्च जगद्विवर्तम् ।
शब्दार्थबन्धमखिलं किल यद्विधत्ते
वन्दे तदेव पथि पाणिनिशब्दशास्त्रम् ॥—ऋषिः

(१. प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन)

नन्वयं प्रकृतिभागोऽयं प्रत्ययभाग इति प्रकृतिप्रत्ययविभागः कथमवगम्यत इति चेत्—पीतपातञ्जलजलानामेतच्चोद्यं चमत्कारं न करोति । व्याकरणशास्त्रस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागप्रतिपादनपरतायाः प्रसिद्धत्वात् ।

'इतना खंड प्रकृति है और इतना खंड प्रत्यय'—इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय का विभाग कैसे जाना जाय ? [हम उत्तर देंगे कि] जिन लोगों ने पतंजलि के [महाभाष्यरूपी] जल का पान कर लिया है उन्हें यह प्रश्न आश्चर्य में नहीं डालता । यह प्रसिद्ध है कि व्याकरणशास्त्र प्रकृति और प्रत्यय के विभाग का ही वर्णन करता है ।

विशेष—किसी शब्द का खण्ड दो भागों में किया जाता है—प्रकृति और प्रत्यय । व्याकरण का आरम्भ प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के लिए ही हुआ था जैसा कि आदि वैयाकरण इन्द्र के विषय में कथा है (तै० सं० ६।४।७।३) । पहले वाणी अव्याकृत अर्थात् समुद्रादि की अव्यक्त ध्वनियों की तरह एकात्मक थी । प्रकृति-प्रत्यय, पद-वाक्य आदि के विभाग उसमें नहीं थे । इन्द्र ने देवताओं की प्रार्थना पर इस वाणी को व्याकृति-युक्त किया, टुकड़ों में बाँट दिया । इस तरह 'व्याकरण' शब्द से ही शब्द-व्युत्पादन या प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का अर्थ समझा जाता है । (व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते = प्रकृतिप्रत्ययादिविभागाः कल्प्यन्तेऽनेनेति व्याकरणम् ।)

जिस खंड के बाद प्रत्यय लगाये जाने का विधान किया जाय उसे प्रकृति-खंड कहते हैं जैसे—'रामः' में राम-शब्द प्रकृति है, विसर्ग (या 'सु'—पाणिनि के अनुसार) प्रत्यय है । 'राम' प्रातिपदिक में भी रम् धातु प्रकृति है, 'अ' प्रत्यय । 'गमन' में गम् प्रकृति 'अन' प्रत्यय । यहाँ 'पीतपातञ्जलजल' में रूपक

रखा गया है। पतंजलि के लिखे हुए महाभाष्य को समुद्र मानकर उसके जल का पान करनेवाले = महाभाष्य का सम्यक् अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों (वैयाकरणों) का संकेत किया गया है।

(२. 'अथ शब्दानुशासनम्' का अर्थ)

तथा हि पतञ्जलेर्भगवतो महाभाष्यकारस्येदमादिमं वाक्यम्—'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० म० भा० १।१।१) इति। अस्यार्थः—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। अधिकारः प्रस्तावः। प्रारम्भ इति यावत्। शब्दानुशासनशब्देन च पाणिनिप्रणीतं व्याकरणशास्त्रं विवक्ष्यते। शब्दानुशासनमित्येतावत्यभिधीयमाने संदेहः स्यात्। किं शब्दानुशासनं प्रस्तूयते न वेति। तथा मा प्रसाङ्क्षीदित्यथशब्दं प्रायुङ्क्त।

महाभाष्य के रचयिता भगवान् पतंजलि का यह पहला वाक्य है—अथ-शब्दानुशासनम् अर्थात् अब (यहाँ से) शब्दों का अनुशासन (Exposition) आरंभ होता है (प० म० भा० १।१।१)।*

इसका अर्थ इस प्रकार है—'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अधिकार का अर्थ है प्रस्तुत करना, या आरंभ करना। 'शब्दानुशासन' शब्द से पाणिनि के द्वारा लिखा हुआ व्याकरणशास्त्र समझा जाता है। यदि केवल 'शब्दानुशासनम्' इतना ही कहते तो संदेह रह ही जाता कि शब्दानुशासन प्रस्तुत किया जा रहा है या नहीं? ऐसा (ऐसे संदेह का) प्रसंग न उठे इसलिए 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

विशेष—अपने प्रथम वाक्य की व्याख्या भाष्यकार स्वयं कर रहे हैं। ऐसा न सोचें कि व्याख्या करने के कारण वह वाक्य किसी दूसरे का लिखा हुआ है। कैयट भी लिखते हैं—स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे। 'अथ' शब्द का प्रयोग यदि न करें तो केवल 'शब्दानुशासनम्' कहना पड़ेगा। ऐसी दशा में वाक्य की पूर्ति नहीं होती, पूर्ति करने के लिए अन्वय के योग्य क्रिया-पद का अध्याहार करना पड़ेगा। अब कौन सी क्रिया आवे?

---

* भाष्य का लक्षण—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

'प्रस्तूयते' या 'स्तूयते' या क्या ? अथ शब्द का प्रयोग होते ही यह सहल हो जाता है। अथ का अर्थ है प्रारंभ। बस, 'प्रस्तूयते' क्रिया का अध्याहार कर लेंगे। अन्य क्रियाओं का अध्याहार करने से 'अथ' के साथ संगति नहीं बैठती।

अथ शब्दप्रयोगबलेनार्थान्तरव्युदासेन प्रस्तूयत इत्यस्याभिधीयमानत्वात्। अनेन हि वैदिकाः शब्दाः 'शं नो देवीरभिष्टये' (अथर्व सं० १।१, ऋ० सं० १०।९।४) इत्यादयस्तदुपकारिणो लौकिकाः शब्दाः 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिः' इत्यादयश्चानुशिष्यन्ते, व्युत्पाद्य संस्क्रियन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्तया बोध्यन्त इति शब्दानुशासनम्।

'अथ' शब्द का प्रयोग करने से दूसरे अर्थों (जैसे स्तुति करना, वर्णन करना आदि) का निराकरण करके 'प्रस्तुत किया जाता है' ऐसा अर्थ रखते हैं। [यही कारण है कि 'अथ' शब्द आरम्भ में दिया गया है।]

इस प्रकार 'शं नो देवीरभिष्टये' (दिव्य जल हमारा कल्याण करें और इच्छापूर्ति में सहायक हों, अथर्व १।१) इत्यादि वैदिक शब्दों का और [अर्थ-प्रकाशन के माध्यम से उनकी सहायता करने वाले 'गौ, अश्व, पुरुष, शकुनि' आदि लौकिक शब्दों का अनुशासन होता है, व्युत्पत्ति के द्वारा उसका संस्कार होता है, ये प्रकृति और प्रत्यय के रूप में बाँट कर समझे जाते हैं—यही शब्दानुशासन है। [वैदिक शब्दों का अर्थबोध भी लौकिक शब्दों की तरह ही होता है। वहाँ भी पद की शक्ति मानी जाती है—जिस शब्द की शक्ति (सामर्थ्य (Denotation) का ज्ञान लौकिक भाषा में हो गया, उसका ज्ञान वेद में भी हो जायगा। लोक में शब्दशक्ति-बोध कराने के कई उपाय हैं जैसे—वृद्धव्यवहार, व्याकरण, कोश आदि। इन शक्तिग्राहक प्रमाणों के द्वारा कोई व्यक्ति लोक में शब्दशक्ति का बोध कर लेता है तब वेद में भी ऐसा शब्दबोध हो जाता है। (लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः।) अतः लौकिक शब्दशक्ति की आधारशिला पर वैदिक शब्दशक्ति अवलंबित है। मीमांसक भी वेद में अर्थ मानने के लिए लौकिक वाक्यों की युक्ति देते हैं।]

(२ क. 'शब्दानुशासन' पर विचार-विमर्श)

अत्र केचित्पर्यनुयुञ्जते—अनुशासिक्रियायाः सकर्मकत्वात्कर्मभूतस्य शब्दस्य कर्तृभूतस्याचार्यस्य प्राप्तौ सत्याम् 'उभय-

प्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू० २।३।६६) इत्यनुशासनबलात् कर्मण्येषा षष्ठी विधातव्या । तथा च 'कर्मणि च' (पा० सू० २।२।१४) इति समासप्रतिषेधसंभवाच्छब्दानुशासनशब्दो न प्रमाणपथमवतरतीति ।

यहाँ पर कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि अनुशासन-क्रिया सकर्मक है, प्रस्तुत शब्द (शब्दानुशासन) में उसका कर्म 'शब्द' है और कर्ता 'आचार्य' (जो अप्रयुक्त है) है । दोनों शब्दों में ['कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) के अनुसार] षष्ठी होने की संभावना हो जाने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू० २।३।६६) के अनुसार यहाँ पर कर्म में ही षष्ठी विहित होनी चाहिए । [इसलिए शब्दानामनुशासनम् = शब्दानुशासनम्, यह षष्ठी तत्पुरुष समास होगा ।] किन्तु 'कर्मणि च' (पा० सू० २।२।१४) के अनुसार कर्म में षष्ठी होने पर समास नहीं होता, अतः शब्दानुशासन-शब्द किसी भी दशा में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।

विशेष—'अनुशासन' शब्द अनु-पूर्वक √शास् में ल्युट् प्रत्यय करके बनता है । ल्युट् कृत् प्रत्यय है क्योंकि धातु से विहित, अतिङ् है (देखिये—कृदतिङ् ३।१।९३) । किसी धातु में कृत् प्रत्यय होने पर उस क्रिया के कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है । यदि किसी स्थान पर दोनों पहुँच जायँ तो कर्म का पलड़ा भारी रहता है । अनुशासन का कर्म 'शब्द' है अतः षष्ठी तो होगी पर 'कर्मणि च' सूत्र पहले से ही समास न होने देने के लिए तैयार है । 'शब्दानुशासन' यह समस्त (Compound) पद नहीं होगा; हाँ, 'शब्दों का अनुशासन' ऐसा व्यस्त वाक्य हो सकता है । केवल समास नहीं होगा, षष्ठी होने से कौन रोकता है ? यह शंका 'शब्दानुशासन' शब्द के साधुत्व पर ही उठाई गई है ।

अत्रायं समाधिरभिधीयते—यस्मिन्कृत्प्रत्यये कर्तृकर्मणोरुभयोः प्राप्तिरस्ति, तत्र कर्मण्येव षष्ठीविभक्तिर्भवति न कर्तरीति बहुव्रीहिविज्ञानबलान्नियम्यते । तद् यथा—आश्चर्यो गवां दोहोऽशिक्षितेन गोपालकेनेति । शब्दानुशासनमित्यत्र तु शब्दानामनुशासनं नार्थानामित्येतावतो विवक्षितस्यार्थस्याचार्यस्य कर्तुरुपादानेन विनापि सुप्रतिपादत्वादाचार्योपादानमकिंचित्करम् ।

अब इसका समाधान बतलाते हैं । सूत्र को बहुव्रीहि समास में तोड़ने पर (उभयोः प्राप्तिः यस्मिन्कृत्प्रत्यये स उभयप्राप्तिः) यह अर्थ निकलता है कि जब

कृत् प्रत्यय के होने पर [क्रिया के] कर्ता और कर्म दोनों का प्रयोग हो, वहाँ कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं—यह नियम (Restriction) हुआ। जैसे—**आश्चर्यो गवां दोहः अशिक्षितेन गोपालकेन** (मूर्ख या अनाड़ी ग्वाले के द्वारा गौओं का दुहा जाना आश्चर्यजनक है)। ['उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र में ऊपर के 'कर्तृकर्मणोः कृति' से 'कृति' शब्द का अनुवर्तन होता है तथा 'उभयप्राप्तौ कृति' ऐसा करके दोनों में विशेष्य-विशेषण-भाव माना जाता है। अर्थ यह हुआ कि जिन कृत्-प्रत्ययों के प्रयोग में कर्ता और कर्म दोनों आ रहे हों वैसी अवस्था में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से कर्ता में होनेवाली षष्ठी न होकर केवल कर्म में ही हो—जब केवल कर्ता का प्रयोग हो तब उसमें षष्ठी होगी। 'दोहः' शब्द दुह् + घञ् करके बना है, दुह् का कर्ता है 'गोपालक' और कर्म है 'गो'। दोनों का प्रयोग एक ही साथ हुआ है अतः कर्ता में षष्ठी न होकर कर्म 'गो' को षष्ठी हुई—गवां दोहः। यह उस सूत्र का अर्थ है।]

'शब्दानुशासन' शब्द में तो 'शब्दों का अनुशासन, अर्थों का नहीं' इतनी ही बात कहने की है, जो कर्ता 'आचार्य' को बिना लाये भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है अतः 'आचार्य' शब्द का लाया जाना कोई विशेष प्रयोजन नहीं रखता।

तस्मादुभयप्राप्तेरभावादुभयप्राप्तौ कर्मणीत्येषा षष्ठी न भवति। किन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) इति कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठीविभक्तिर्भवतीति कृद्योगलक्षणा षष्ठी भविष्यति। तथा च इध्मप्रव्रश्चन-पलाशशातनादिवत्समासो भविष्यति।

इसलिए दोनों (कर्ता और कर्म) का प्रयोग न होने से इस स्थान पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) से षष्ठी नहीं होती। ['कर्मणि च' (२।२।१४) के द्वारा जो कर्म में षष्ठी का समास-निषेध किया गया है वह 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से होने वाली षष्ठी का ही है। काशिका—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति षष्ठ्या इदं ग्रहणम् (पृ० १०१)। किसी अन्य सूत्र से यदि कर्म में षष्ठी हो तो उसका समास-निषेध नहीं होता।]

किन्तु यहाँ पर 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) सूत्र से कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म में (एक बार में एक के ही प्रयोग में) षष्ठी-विभक्ति होती है अतः कृत् प्रत्यय के प्रयोग से सम्बद्ध षष्ठी यहाँ होगी। [फल यह निकला कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' से षष्ठी नहीं हुई है कि समास न हो; यहाँ तो 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी हुई है अतः समास होने में कोई बाधा

नहीं ।] अतः 'इध्मप्रव्रश्चन' (लकड़ी का चीरना), 'पलाशशातन' (पलाश का काटना) आदि शब्दों की तरह समास होगा । [इध्मस्य प्रव्रश्चनः = इध्मप्रव्रश्चनः । 'इध्म' में कर्मणि षष्ठी है परन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' से हुई है अतः समास हुआ । उसी प्रकार 'शब्दानामनुशासनम् = शब्दानुशासनम्' भी होगा । 'षष्ठी' (पा० सू० २।२।८) पर वार्तिक भी है—कृद्योगा षष्ठी समस्यत इति वाच्यम् अर्थात् 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से होनेवाली षष्ठी विभक्ति से युक्त शब्द का समास दूसरे समर्थ सुबन्त के साथ हो सकता है ।]

कर्तर्यपि षष्ठी भवतीति केचिद् ब्रुवते । अत एवोक्तं काशिकावृत्तौ (२।३।६६, पृ० १२२)—केचिदविशेषेणैव विभाषामिच्छन्ति, शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वेति ।

अथवा शेषलक्षणेयं षष्ठी । तत्र किमपि चोद्यं नावतरत्येव । यद्येवं तर्हि शेषलक्षणायाः षष्ठ्याः सर्वत्र सुवचत्वात् षष्ठीसमास-प्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्यं प्राप्नुयादिति चेत्—सत्यम् । तेषां स्वरचिन्तायामुपयोगो वाक्यपदीये हरिणा प्रादर्शि ।

कुछ लोग कहते हैं कि कर्त्ता में भी षष्ठी होती है । इसीलिए काशिका-वृत्ति में कहा है—कुछ आचार्य बिना किसी भेद-भाव के यहाँ पर विकल्प चाहते हैं जैसे—शब्दानामनुशासनम् आचार्येण, आचार्यस्य वा । ['उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र पर एक वार्तिक है कि यह नियम (कर्म में ही षष्ठी होने का नियम) दो प्रत्ययों—अक (इका) और अ (आ)—के बाद स्त्रीप्रत्यय लगने पर लागू नहीं हो सकता । जैसे—भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । यहाँ √भिद् + ण्वुल् (अक) + टाप् होने पर 'भेदिका' शब्द बना है; देवदत्त कर्त्ता है, काष्ठ कर्म । दोनों में षष्ठी हो गई है । इसी प्रकार, 'चिकीर्षा देवदत्तस्य काष्ठस्य' इस उदाहरण में √कृ + सन् + अ + टाप् से 'चिकीर्षा' बना और उसके कर्ता, कर्म दोनों में षष्ठी हुई है । स्त्रीलिंग के अन्य प्रत्ययों के साथ षष्ठी होना (कर्तरि षष्ठी होना) वैकल्पिक है—विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः पाणिनिना वा । अब इसके बाद कहा गया है कि कुछ लोग बिना भेद-भाव किये हुए (स्त्रीलिंग आदि का विचार किये ही बिना) वैकल्पिक 'कर्तरि षष्ठी' मानते हैं । उदाहरण ऊपर दिया ही है—शब्दानुशासन० । इसका परिणाम यह हुआ कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' का नियम असफल हो गया और इसीलिए 'कर्मणि च' सूत्र समास का निषेध नहीं कर सकता ।]

या ऐसा करें कि यहाँ 'शेषे (= षष्ठी शेषे २।३।५०)' सूत्र से षष्ठी मानें [और समास-कार्य करें]। ऐसा करने पर कोई प्रश्न खड़ा नहीं हो सकेगा। अब कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि यदि ऐसा करेंगे तो सभी स्थानों में 'शेषे' सूत्र से होनेवाली षष्ठी ही आसानी से कह दी जायगी और षष्ठी-समास का निषेध करने वाले सूत्र (पा० सू० २।२।१० से २।२।१६ तक) निरर्थक हो जायेंगे।

ठीक कहते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में दिखलाया है कि इन सूत्रों का उपयोग स्वर (Accent) का विचार करने के समय होता है।

विशेष—स्व और स्वामी का संबंध या ऐसा ही दूसरा संबंध अन्य कारकों में नहीं आ सका है इसलिए वैसी स्थिति में अवशिष्ट संबंधों का निर्देश 'शेष' के द्वारा होता है और उसमें षष्ठी होती है। जैसे—राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। वास्तव में कर्म आदि कारकों में भी कर्मत्व आदि नहीं हो तभी शेष-षष्ठी होती है जैसे—ग्रामस्य गच्छति। इसे ही शास्त्रीय-शब्द में शेषलक्षणा षष्ठी कहते हैं। यहाँ कर्म की विवक्षा ही नहीं है अतः 'उभयप्राप्तौ' वाला नियम लगेगा ही नहीं कि समास का निषेध हो। लेकिन हर जगह 'शेषे' का प्रयोग करने से बड़ी अराजकता छा जायगी। सभी शब्द समास के लिये 'शेषे' के अधिकार में आने लगेंगे तथा समास-निषेधक सूत्रों की पूछ ही नहीं होगी। 'गवां दोहः' में कर्मत्व की विवक्षा नहीं है। ऐसा कहकर 'शेषे षष्ठी' मानते हुए 'गोदोहः' समास बना देंगे तब समास के निषेध का लाभ ही क्या हुआ ?

नहीं, निषेध-सूत्रों की आवश्यकता है और वह है स्वर-विचार में। 'गोदोहः' शब्द में यदि 'षष्ठी शेषे' मान कर समास कर दें तो 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) सूत्र के अनुसार यह पद अन्तोदात्त हो जायगा और यही होता भी है। उक्त सूत्र का अपवाद सूत्र 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि इसका पूर्वपद 'गो' न तो गति-संज्ञक है और न कारक ही। स्मरणीय है 'गो' यद्यपि कर्मकारक है परन्तु कर्मत्व अविवक्षित (अनीप्सित) होने से उसमें कारकता रही ही नहीं। दूसरे शब्दों में, 'षष्ठी शेषे' से होने वाली षष्ठी में कारक नहीं रहता। सूत्र का अर्थ है गति, कारक या उपपद यदि पूर्वपद में हो तो उत्तर-पद के कृदन्त शब्द में प्रकृतिस्वर होता है। यदि समास का निषेध न करें तो 'गो' शब्द में 'कर्मणि षष्ठी' होने पर भी 'दोह' शब्द के साथ इसका समास हो जायगा। तब पूर्वपद 'गो' कारक हो जायगा (∵ कर्मणि षष्ठी हुई है)। इस दशा में उत्तर-पद 'दोहः' घञ् प्रत्यय से बना है अतः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) के अनुसार यह शब्द

आद्युदात्त होगा। नो समास में—गोदोहः ऐसा हो जायगा जो मध्योदात्त-पद है। लेकिन ऐसा होता नहीं। होता है ऊपर जैसा ही—गोदोहः। यही कारण है कि समास का निषेध करते हैं।

तदाह महोपाध्यायवर्धमानः—

१. लौकिकव्यवहारेषु यथेष्टं चेष्टतां जनः।
वैदिकेषु तु मार्गेषु विशेषोक्तिः प्रवर्तताम्॥

२. इति पाणिनिसूत्राणामर्थवत्त्वमसौ यतः।
जनिकर्तुरिति ब्रूते तत्प्रयोजक इत्यपि॥ इति।

तथा च शब्दानुशासनापरनामधेयं व्याकरणशास्त्रमारब्धं वेदितव्यमिति वाक्यार्थः संपद्यते।

इसे महोपाध्याय वर्धमान कहते हैं—'लौकिक व्यवहार के समय तो लोग अपनी इच्छा से ही काम करें (क्योंकि लौकिक वाक्यों में स्वर का विचार नहीं होता)। किन्तु वैदिक शब्दों के प्रयोग में विशेष विधि के अनुसार चलें॥ १॥ पाणिनि के सूत्रों की सार्थकता यही है नहीं तो वे 'जनिकर्तुः' (१।४।३०) और 'तत्प्रयोजक' (१।४।५५) जैसे [समास न होने वाले समस्त पदों का] प्रयोग करते हैं॥ २॥

तो, इस तरह 'शब्दानुशासन' शब्द से भी अभिहित व्याकरण-शास्त्र का आरम्भ समझें, यह वाक्यार्थ निकला।

विशेष—पाणिनि की बहुत-सी उक्तियाँ केवल स्वर-विचार के उद्देश से की गई हैं, लोक में उनका कोई काम नहीं। जैसे—समास-निषेधक सूत्र, विभिन्न अनुबन्ध आदि। यही पाणिनि की विशेषोक्ति है—इनका लोक में काम नहीं, पर वेद में तो होता है। अतः पाणिनि के सूत्र निष्फल नहीं हैं। पाणिनि स्वयं लिखते हैं—तृजकाभ्यां कर्तरि (२।२।१५) अर्थात् जो षष्ठी कर्ता में होती है उसका समास तृच् प्रत्ययान्त या अकप्रत्ययान्त शब्द के साथ नहीं होता। जैसे—भवतः शायिका, आसिका (आपकी शय्या, आसन)। किन्तु वे स्वयं इस नियम का उल्लंघन करते हैं और जनिकर्तुः (=जनिकर्तृ), तत्प्रयोजकः जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे पता लगता है कि समास के निषेधक सूत्रों का यह प्रयोजन नहीं है कि ऐसे स्थानों में समस्त पदों को अशुद्ध घोषित करें, प्रत्युत वे विशेष स्वर की सिद्धि में ही सहायक होते हैं। पाणिनि का यही लक्ष्य मालूम पड़ता है।

(३. शब्दानुशासन से प्रयोजन की सिद्धि)

तस्यार्थस्य झटिति प्रतिपत्तये 'अथ व्याकरणम्' इत्येवाभिधीयताम्। अथ शब्दानुशासनमित्यधिकाक्षरं मुधाभिधीयत इति। मैवम्। शब्दानुशासनमित्यन्वर्थसमाख्योपादाने तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानसिद्धेः। अन्यथा प्रयोजनानभिधाने व्याकरणाध्ययनेऽध्येतॄणां प्रवृत्तिरेव न प्रसजेत्।

उसी अर्थ का शीघ्रतर बोध कराने के लिए 'अथ व्याकरणम्' ही कहना चाहिए। 'अथ शब्दानुशासनम्' कह कर अक्षरों की संख्या में व्यर्थ की वृद्धि करते हैं। लेकिन ऐसा नहीं सोचना चाहिए। शब्दानुशासन नाम (समाख्या) अर्थ के अनुकूल ही रखा गया है। यह शास्त्र [वैदिक शब्दों का अर्थ बतलाने के कारण] वेदाङ्ग है, इसका प्रतिपादन करने वाले प्रयोजन (लक्ष्य) का भी कथन साथ-ही-साथ हो जाता है। [शब्दानुशासन कहने से न केवल व्याकरण-शास्त्र की प्रतीति होती है प्रत्युत व्याकरण के प्रयोजन—शब्दों के संस्कार—का भी बोध हो जाता है। व्याकरण कहने से इतना बोध नहीं होता। केवल शास्त्र की ही प्रतीति होती।] यदि प्रयोजन का कथन नहीं किया जाय तो व्याकरण के अध्ययन की ओर अध्येताओं की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

ननु 'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः' इत्यध्येतव्यविधानादेव प्रवृत्तिः सेत्स्यति इति चेत्—मैवम्। तथा विधानेऽपि तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनानभिधाने तेषां प्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तथा हि—पुरा किल वेदमधीत्याध्येतारस्त्वरितं वक्तारो भवन्ति।

अब यदि ऐसा कहें कि '[ब्राह्मण को] बिना किसी स्वार्थ के (साक्षात् फल की आशा किये बिना ही, नित्यरूप से) धर्म का तथा षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिए'—इस विधि में जो 'अध्येतव्य' शब्द है उसी के द्वारा अध्ययन की प्रवृत्ति होगी, तो हम उत्तर देंगे कि ऐसी बात नहीं है। ऐसा विधान होने पर भी उस (शास्त्र) का एक प्रयोजन जो वेदाङ्ग होना है, उसे बतलाये बिना उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए [ऐसी बातें उन्हें कहनी चाहिए कि] पहले वेद का अध्ययन करके लोग शीघ्र वक्ता बन जाते थे। [यह वाक्य वेदाध्ययन की विधि का अर्थवाद अर्थात् विज्ञापन है जिससे लोग उस ओर प्रवृत्त हों। वैसे ही व्याकरण में इस तरह का विज्ञापन

रहना चाहिए। 'शब्दानुशासन' शब्द में वह आकर्षण-शक्ति है! अतः यही शब्द उपयुक्त है।]

वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः।

तस्मादनर्थकं व्याकरणमिति। तस्माद्वेदाङ्गत्वं मन्यमानास्तदध्ययने प्रवृत्तिमकार्षुः। ततश्च इदानींतनानामपि तत्र प्रवृत्तिर्न सिध्येत्। सा मा प्रसाङ्क्षीदिति तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकं प्रयोजनमन्वाख्येयमेव।

'वेदों से वैदिक शब्द सिद्ध हुए और लौकिक व्यवहार से लौकिक शब्द'—इसलिए व्याकरण को व्यर्थ समझ कर, उसे केवल वेदाङ्ग मानकर ही उसके अध्ययन में पहले के लोग प्रवृत्ति प्रदर्शित करते थे। [किसी विशेष प्रयोजन का ज्ञान उन्हें नहीं था, विधि के अनुसार चलते हुए वे अध्ययन कर जाते थे।]* तो आजकल के लोगों की भी प्रवृत्ति नहीं ही होगी। ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो जाय इसलिए 'वह वेदाङ्ग है' इसका प्रतिपादन करने वाला प्रयोजन कह ही देना चाहिए। [शब्दानुशासन कहने से स्पष्ट हो जायगा कि व्याकरण एक वेदाङ्ग है, इसके अध्ययन में लगना चाहिए।]

यद्यन्वाख्यातेऽपि प्रयोजने न प्रवर्तेरंस्तर्हि लौकिकशब्दसंस्कारज्ञानरहितास्ते याज्ञे कर्मणि प्रत्यवायभाजो भवेयुः। धर्माद्धीयेरन्। अत एव याज्ञिकाः पठन्ति—आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् (पात० म० भा० पस्पश०) इति।

यदि प्रयोजन बतला देने पर भी उस ओर प्रवृत्त नहीं हो तो लौकिक शब्दों के संस्कार (रचना, व्युत्पत्ति, Formation) के ज्ञान से शून्य होने के कारण यज्ञ के कर्म में वे पाप के भागी होंगे तथा धर्म से च्युत होंगे। इसीलिए याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'आहिताग्नि पुरुष यदि अपशब्द (अशुद्ध शब्द) का प्रयोग करे तो प्रायश्चित्त के रूप में उसे सरस्वती देवता की इष्टि (यज्ञविशेष) करनी चाहिए' (महाभाष्य, पृ० ४ पस्पश में उद्धृत)। [जो याज्ञिक व्याकरण नहीं जानते और यज्ञ कराने लगते हैं उन्हें शब्दार्थ का ज्ञान न होने से पद-

---

* उनकी प्रवृत्ति नैसर्गिक नहीं थी, बनानी पड़ती थी। विधि के अनुसार अपने जीवन के कार्यक्रम उन्हें निश्चित करने थे।

पद पर अशुद्धियाँ गले लगाने को तैयार रहती हैं—वे पापभागी होते हैं। अपशब्द के प्रयोग से होने वाले पाप का प्रायश्चित्त सारस्वत इष्टि से होता है।]

अतस्तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानार्थमथ शब्दानुशासनमित्येव कथ्यते, नाथ व्याकरणमिति। भवति च शब्द-संस्कारो व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनम्। तस्माच्छब्दानुशिष्टिः संस्कारपदवेदनीया शब्दानुशासनस्य प्रयोजनम्।

इसलिए उसके वेदाङ्ग होने का प्रतिपादन करनेवाले प्रयोजन को बतलाने के लिए 'अथ शब्दानुशासनम्' यही कहते हैं, 'अथ व्याकरणम्' नहीं। व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन भी शब्द का संस्कार (बनावट) बतलाना ही है। क्योंकि उसके उद्देश्य से व्याकरण की प्रवृत्ति होती है। जैसे स्वर्ग के उद्देश्य से किये गये याग का प्रयोजन स्वर्ग ही है। इसलिए 'संस्कार' (बनावट) शब्द के द्वारा समझी जानेवाली शब्दानुशिष्टि (शब्दों की रचना) ही शब्दानुशासन का प्रयोजन है।

विशेष—इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पतंजलि ने व्याकरण का नाम शब्दानुशासन कुछ विशेष उद्देश्य से रखा है कि नाम से ही प्रयोजन की सिद्धि हो जाय।

(४. व्याकरणशास्त्र की विधि—प्रतिपदपाठ नहीं)

नन्वेवमप्यभिमतं प्रयोजनं न लभ्यते। तदुपायाभावात्। अथ प्रतिपदपाठ एवाभ्युपाय इति मन्येथास्तर्हि स ह्यनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठो भवेत्। शब्दापशब्दभेदेनानन्त्याच्छब्दानाम्। एवं हि समाम्नायते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदपाठविहितानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता। इन्द्रोऽध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। न च पारावाप्तिरभूत्। किमुताद्य यश्चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। अधीतिबोधाचरणप्रचारणैश्चतुर्भिर्ह्युपायैर्विद्योपयुक्ता भवति। तत्राध्ययनकालेनैव सर्वमायुरुपयुक्तं स्यात्।

[पूर्वपक्षियों की शंका है कि] ऐसा होने पर भी अभीष्ट प्रयोजन की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस (प्रयोजन की प्राप्ति) के लिए कोई उपाय नहीं है (= शब्दसंस्कार के ज्ञान का अर्थात् कौन-कौन शब्द शुद्ध हैं कौन-कौन अशुद्ध—इसको जानने का उपाय है ही नहीं)। यदि आप कहें कि प्रत्येक शब्द को पढ़ डालना ही उपाय है तो यह प्रतिपद-पाठ शब्दों के ज्ञान का उपाय नहीं है, [यह तो अध्येता का मरण है] । शब्द और अपशब्द के भेद से शब्दों के अनंत भेद हैं (=कुछ शब्द शुद्ध हैं, कुछ अशुद्ध)।

ऐसी कथा कही जाती है (परम्परा से चली आती है)—बृहस्पति ने इन्द्र के सामने एक हजार दिव्य वर्ष तक प्रत्येक पद का पाठ करते हुए शब्दों का पारायण किया किन्तु अन्त तक नहीं पहुँच सके (= उतने समय में भी सभी शब्दों का पाठ नहीं कर सके)। [जरा सोचिये !] बृहस्पति-जैसे अध्यापक, इन्द्र जैसे अध्येता और एक हजार दिव्य वर्ष अध्ययन का समय ! फिर भी अन्त की प्राप्ति नहीं हुई !! आज की तो बात ही क्या है ? जो बहुत जीता है तो एक सौ वर्षों तक जीता है। अध्ययन (Study), बोध (Understanding), आचरण (Practice) तथा प्रचारण (पढ़ाना Teaching)—इन चार उपायों से विद्या उपयोगी बनती है। [इधर प्रतिपद-पाठ करने से व्याकरण के] अध्ययनकाल में ही सारी आयु का उपयोग हो जायगा (अन्य कालों का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा)।

विशेष—प्रतिपद-पाठ का अर्थ है प्रत्येक शब्द (रामः, कृष्णः आदि) का पाठ करके उसका साधुत्व बतलाना। यह उपाय (Method) व्याकरण-शास्त्र का नहीं हो सकता, इसे आगे बतलाते हैं। 'शब्दानां शब्दपारायणम्' में द्विरुक्ति नहीं है। 'शब्दपारायण' एक शब्द है जो व्याकरण-शास्त्र के अर्थ में रूढ (योगरूढ) हो गया है। इसी से बोध होने पर भी 'शब्दानाम्' का अलग प्रयोग इसलिए किया गया है कि 'प्रतिपदपाठविहितानाम्' विशेषण को स्थान मिल सके। 'वाचमवोचत्' में व्यर्थता होने पर भी 'शुचिस्मितां वाचमवोचत्' ठीक है क्योंकि 'वाचम्' का विशेषण दिया गया है। शिशुपालवध (१।२५)। उक्त कथा का उद्धरण पतंजलि ने महाभाष्य में दिया है। अन्त में प्रतिपदपाठ-विधि का खण्डन करके उत्सर्गापवाद-विधि का प्रतिपादन किया जायगा।

तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठ इति प्रयोजनं न सिध्येदिति चेत्—मैवम्। शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिपद-पाठसाध्यत्वानङ्गीकारात्। प्रकृत्यादिविभागकल्पनावत्सु लक्ष्येषु

सामान्यविशेषरूपाणां लक्षणानां पर्जन्यवत्सकृदेव प्रवृत्तौ बहूनां शब्दानामनुशासनोपलम्भाच्च ।

इसलिए शब्दों के ज्ञान के लिए प्रत्येक शब्द का पाठ करना उपाय नहीं हो सकता, अतः व्याकरण के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी।

[पूर्वपक्षी की इस शंका पर वैयाकरण कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं। हम भी यह स्वीकार नहीं करते कि शब्द का ज्ञान प्रतिपद पाठ से मिल सकता है (साध्य है)। [प्रतिपदपाठ के द्वारा व्याकरण नहीं चलता—हमारी भी यही मान्यता है। लक्ष्य के रूप में जो शब्द हैं उनमें प्रकृति आदि (= प्रत्यय, पद, वाक्य) के विभागों की कल्पना की जाती है तथा उनके लिए सामान्य और विशेष लक्षणों (सूत्रों) की प्रवृत्ति एक बार ही मेघ की तरह होती है जिससे बहुत-से शब्दों का अनुशासन देखा जाता है।

विशेष—पतंजलि अपने भाष्य में शब्दानुशासन की प्रक्रिया बतलाते हुए कहते हैं—**कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यं येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ ।** (पृ० ६) उन्हीं का शब्दान्तर करके माधवाचार्य दिये जा रहे हैं। पर्जन्यवत् प्रवृत्ति का अर्थ है कि जैसे मेघ एक ही साथ सभी स्थलों पर, समुद्र और मरुभूमि में भी, जल बरसाता है उसी तरह किसी सामान्य या विशेष लक्षण से एक ही साथ अनेकानेक शब्दों का अनुशासन होगा, अलग-अलग उन्हें देखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। महाभाष्य (१।१।२९) में कहा है—**कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत् । तद्यथा पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति ।**

तथा हि । 'कर्मण्यम्' (पा० सू० ३।२।१) इत्येकेन सामान्यरूपेण लक्षणेन कर्मोपपदाद्धातुमात्रादण्प्रत्यये कृते, 'कुम्भकारः' 'काण्डलावः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते। एवम्, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० सू० ३।२।१८) इत्येकेन विशेषलक्षणेनाकारान्ताद्धातोः कप्रत्यये कृते, 'धान्यदः' 'धनदः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते । बृहस्पतिरिन्द्रायेति प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वप्रतिपादनपरोऽर्थवादः ।

उदाहरण के लिए, **कर्मण्यण्** (३।२।१ अर्थात् कर्म के उपपद में रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है)—इस अकेले सामान्य सूत्र (लक्षण) से

उन सभी धातुओं से, जिनके उपपद में कोई कर्म हो, अण् प्रत्यय किया जाता है तथा कुम्भकारः (कुम्भं करोति, कुम्भ + √कृ + अण्), काण्डलावः (काण्डं लुनाति, काण्ड + √लूञ् + अण्) इत्यादि बहुत-से शब्दों का अनुशासन अर्थात् संस्कार पाया जाता है। उसी तरह, **आतोऽनुपसर्गे कः** (३।२।१८ अर्थात् यदि उपसर्ग उपपद में न रहे तो आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है)—इस अकेले ही विशेष सूत्र से आकारान्त धातु के बाद क प्रत्यय किया जाता है तथा धान्यदः (धान्यं ददाति, धान्य + √दा + क), धनदः (धनं ददाति, धन + √दा + क) इत्यादि बहुत-से शब्दों का अनुशासन पाया जाता है। 'बृहस्पति ने इन्द्र को पढ़ाया' इत्यादि कथा प्रतिपद-पाठ की सामर्थ्यहीनता का प्रतिपादन करनेवाला अर्थवाद है। [अर्थवाद का सामान्य अर्थ है स्तुति या निन्दा करने वाले वाक्य जो किसी बात को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करें। यहाँ पर 'प्रतिपद-पाठ असंभव है' यही दिखाना है जिसे कथा के रूप में दिया गया है।]

विशेष—व्याकरण-शास्त्र की यही विधि है कि विभिन्न लक्ष्यों की सिद्धि के लिए कुछ सामान्य लक्षण देते हैं तथा उनके अपवाद दिखाने के लिए विशेष लक्षण देते हैं सामान्य सूत्र को विशेष सूत्र दबा देता है। इसी प्रणाली से पाणिनि ने व्याकरण लिखा है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में इन समस्याओं पर बहुत सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है।

(५. व्याकरण के अन्य प्रयोजन)

नन्वन्येष्वप्यङ्गेषु सत्सु किमित्येतदेवाद्रियते ? उच्यते—प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति। तदुक्तम्—

३. आसन्नं ब्रह्मणतस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः॥

(वा० प० १।११) इति।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रस्य शब्दानुशासनं भवति साक्षात्प्रयोजनम्। पारंपर्येण तु वेदरक्षादीनि। अत एवोक्तं भगवता भाष्यकारेण—रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। (पा० म० भा० पस्पश) इति।

अब प्रश्न हो सकता है कि जब दूसरे वेदाङ्ग भी विद्यमान हैं तो इस (व्याकरण-शास्त्र) का ही इतना अधिक आदर क्यों किये जा रहे हैं ? उत्तर होगा कि छहों वेदाङ्गों में व्याकरण ही प्रधान है और प्रधान विषय में किया गया परिश्रम ही सफल होता है। यही कहा है—'यह उस [परम] ब्रह्म के निकट है तथा तपस्याओं में सबसे उत्तम तपस्या है; विद्वान् लोग व्याकरण को वेदों का प्रथम (प्रधान) अंग कहते हैं।' (वाक्यपदीय १।११)।

इसलिए व्याकरण शास्त्र का साक्षात् (सीधा) प्रयोजन है शब्दों का अनुशासन करना (संस्कार बतलाना)। परंपरा से (परोक्ष रूप से, घुमा फिरा कर) वेद की रक्षा आदि भी [इसके प्रयोजन ही हैं]। इसीलिए भगवान् भाष्यकार ने कहा है—रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असंदेह—ये [व्याकरण शास्त्र के] प्रयोजन हैं। (महाभाष्य, पृ० १)।

विशेष—व्याकरण के इन प्रयोजनों का उद्धरण कितने ही स्थानों पर दिया जाता है। अतः उन्हें अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

(१) **रक्षा** (Preservation)—वेदों की रक्षा करने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। वेदों में बहुत से ऐसे-ऐसे रूप हैं जो लौकिक भाषा में नहीं हैं जैसे—देवासः (देवाः), देवेभिः (देवैः), त्मना (आत्मना)। इन अलौकिक रूपों को देखकर व्याकरण न जाननेवाला व्यक्ति भ्रम से इनका संशोधन कर दे सकता है जिससे वेद की आनुपूर्वी (शब्दक्रम) के भंग होने का भय है। व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति संबद्ध सूत्रों से उनकी सिद्धि देखकर वेद के क्रम की रक्षा कर सकता है।

(२) **ऊह**—(Inference)—ऊह का अर्थ है वैदिक शब्दों का देवता, लिंग, वचनादि के अनुसार परिवर्तन कर देना। एक मन्त्र है—'अग्नये जुष्टम्' (तै० सं० १।१।४)। अब यदि सूर्य देवता को हवि दान करना हो तो 'सूर्याय जुष्टम्' कहेंगे। वेद में पाठ है—'अन्वेनं माता मन्यताम्'। इसका प्रयोग एक पशु के लिए होता है। जब पशुओं की संख्या बढ़ेगी तो एनौ, एनान् रूप करने पड़ेंगे। अतः परिस्थिति के अनुसार वचन का परिवर्तन करना है। पतंजलि कहते हैं कि वेद में मन्त्र सभी लिंगों और सभी विभक्तियों में नहीं पढ़े गये हैं। यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार उनके लिंगों और विभक्तियों में परिवर्तन करना पड़ता है। यह काम बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता।

(३) **आगम**—(Scripture)—एक वाक्य है कि ब्राह्मण को बिना स्वार्थ (कामना) के नित्य रूप से धर्म और छह अंगों के साथ वेद का

अध्ययन करना चाहिए और जानना भी चाहिए। हरदत्तादि इस वाक्य को श्रुति मानते हैं जब कि कुमारिल आदि इसे स्मृति मानते हैं। (स्मृति भी आगम-मूलक होने से आगम ही है)। इस आगम से तो पता लगता है कि व्याकरण का अध्ययन नित्य रूप से इष्ट फल की अभिसंधि रखे ही बिना करना चाहिए। यही नहीं, व्याकरण वेदाङ्गों में प्रधान है और प्रधान विषय में किया गया परिश्रम सफल होता है।

(४) लघु (Facility)—किसी व्यक्ति को शब्दों का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए व्याकरण से छोटा उपाय हो ही नहीं सकता। प्रतिपद-पाठ करते-करते आदमी मर जायगा पर समाप्ति नहीं होगी। व्याकरण सरलतम विधि से शब्द-ज्ञान करा देता है।

(५) असन्देह (Ascertainment)—व्याकरण-शास्त्र ही सन्देह का निवारण करता है। श्रुति में कहा है—स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत। अनड्वाही का अर्थ है गाय। उसका विशेषण है स्थूलपृषती। अब यह सन्देह है कि 'स्थूला चासौ पृषती' अर्थात् ऐसी गाय लायें जो स्थूल (मोटी) और गोले-गोले चिह्नों से युक्त भी हो (कर्मधारय समास) अथवा 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा' (जिसके गोले चिह्न बड़े हों ऐसी गाय—बहुव्रीहि समास) हो। पहले विग्रह में गौ के चिह्न बड़े हों या छोटे हों, कोई बात नहीं। दूसरे विग्रह में गौ मोटी हो या पतली, कोई बात नहीं। एक बड़ा अन्तर है। अब वैयाकरण 'स्थूलपृषती' शब्द में पूर्वपद का अन्तोदात्त देखकर निश्चित कर लेता है कि यहाँ बहुव्रीहि-समास होगा क्योंकि इसके लिए सूत्र है—'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) जिससे पूर्वपद का प्रकृति-स्वर होता है। यदि कर्मधारय होता तो 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त होता। इस प्रकार वैयाकरण सन्देह का निवारण करता है।

(५ क. व्याकरण से अभ्युदय की प्राप्ति)

साधुशब्दप्रयोगवशादभ्युदयोऽपि भवति। तथा च कथितं कात्यायनेन—शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। अन्यैरप्युक्तम्—एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवतीति। तथा—

४. नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्बद्धवाग्रथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिक्कमितभाषिणः॥

इसके अतिरिक्त शुद्ध शब्दों के प्रयोग के कारण अभ्युदय की प्राप्ति भी होती है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—'[व्याकरण] शास्त्र का ज्ञान पाकर जो प्रयोग किया जाय उससे अभ्युदय प्राप्त होता है क्योंकि यह शास्त्र 'वेद' (जानता है) शब्द के समान ही है। [एक ब्राह्मण वाक्य है—'योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' अर्थात् जो व्यक्ति अश्वमेध के द्वारा अग्निष्टोम-याग करता है या उसकी विधि को जानता है उसे फल मिलता है (तै० ब्रा० ३।१।७)। यहाँ 'वेद' शब्द की ध्वनि है कि ज्ञानपूर्वक जो याग करता है उसे ही फल मिलता है। उसी तरह व्याकरण जानकर जो शब्दों का प्रयोग करता है, उसे अभ्युदय मिलता है। 'वेद' (जानता है) का जो महत्त्व अग्निष्टोम के लिए है, वही व्याकरण-ज्ञान का शब्द-प्रयोग के लिए भी है।]

दूसरे लोगों ने भी कहा है—'एक ही शब्द यदि अच्छी तरह (प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके) जान लिया गया और अच्छी तरह से उसका प्रयोग भी किया गया तो वह स्वर्ग में और इस लोक में भी कामनाओं की पूर्ति करता है (यथेष्ट फल देता है)।' उसी प्रकार—'सुसज्जित और बँधी हुई [शुद्ध) वाणी रूपी रथ के द्वारा लोग अभीष्ट सुख देने वाले स्वर्गलोक में जाते हैं; किन्तु जो व्यक्ति 'चिक्ष' शब्द के समान (अपशब्द) बोलनेवाले हैं वे पैरों से राह को पीटते हुए (= पैदल) ही जाते हैं।'

विशेष—यह श्लोक काशिका में ३।१।४८ की व्याख्या में दिया गया है किन्तु वहाँ कुछ पाठान्तर है—

नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः॥

किन्तु काशिका की दोनों ही व्याख्याओं—पदमञ्जरी और न्यास—में इस श्लोक की व्याख्या का अभाव देखकर इसकी मौलिकता पर संदेह होता है। कुछ भी हो, इसके द्वारा सुन्दर शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर बल दिया जाता है।

नन्वचेतनस्य शब्दस्य कथमीदृशं सामर्थ्यमुपपद्यत इति चेत्—मैवं मन्येथाः। महता देवेन साम्यश्रवणात्। तदाह श्रुतिः—

५. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥
(ऋ० सं० ४।५८।३) इति।

अब यदि यह पूछा जाय कि शब्द तो अचेतन है, उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ से आ जायगी ? तो हम कहेंगे कि ऐसा मत समझिये क्योंकि महान् देव (ईश्वर) से इसकी समता सुनी जाती है (= श्रुति में प्रतिपादित है)। तो श्रुति कहती है—'इसकी चार सींगें और तीन पैर हैं, दो सिर हैं तथा इसके सात हाथ हैं; तीन तरह से बँधकर यह वृषभ ध्वनि उत्पन्न करता है, वह महान् देव (शब्द रूप में) मनुष्यों में प्रवेश करता है' (ऋ० सं० ४।५८।३)। [यह ऋचा महानारायणोपनिषद् १०।१ में भी ज्यों-की-त्यों उद्धृत है] *

व्याचकार च भाष्यकारः—चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। त्रयो अस्य पादा लडादिविषयास्त्रयो भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदात्। सप्त हस्तासो अस्य, तिङा सह सप्त सुब्विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु उरसि कण्ठे शिरसि च बद्धः। वृषभ इति प्रसिद्ध-वृषभत्वेन रूपणं क्रियते। वर्षणात्। वर्षणं च ज्ञानपूर्वकानुष्ठानेन फलप्रदत्वम्। रोरवीति शब्दं करोति। रौतिः शब्दकर्मा।

इह शब्दशब्देन प्रपञ्चो विवक्षितः। महो देवो मर्त्याँ आविवेश। महान् देवः शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्ता-नाविवेशेति। महता देवेन परेण ब्रह्मणा साम्यमुक्तं स्यात् (महाभाष्यम्, पृ० ३) इति।

भाष्यकार (पंतजलि) ने इसकी व्याख्या भी की है। चार सींगों का अर्थ है चार पद-भेद अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इसके तीन पैर हैं लट् आदि लकारों के विषय अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल। दो सिर हैं = शब्द के दो स्वरूप हैं, नित्य और कार्य। इन दोनों में यही भेद है कि एक व्यंग्य है दूसरा व्यंजक। [नित्य शब्द आन्तर रूप से विद्यमान है, यही व्यंग्य

---

* 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।७०) से शृङ्गाणि के स्थान में शृङ्गा, 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।११५) से 'त्रयो अस्य' में प्रकृतिभाव, वही बात 'हस्तासो अस्य' में, 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) से हस्तासः, 'दीर्घादटि समान-पादे' (८।३।९) तथा 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) से महान् को अनुनासिक महाँ। देखिये—वैदिकी प्रक्रिया के संबद्ध सूत्र और उनकी टीका।

है क्योंकि इसीकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरी ओर सुनाई पड़नेवाला वैखरी के रूप का शब्द कार्य है, यह बाह्य है और व्यंजक भी क्योंकि नित्य शब्द की अभिव्यक्ति इसी के द्वारा समझी जाती है। इसे आगे स्पष्ट करेंगे।]

इसके सात हाथ हैं अर्थात् तिङन्त (क्रिया) के साथ लगने वाली सुबन्त की सात विभक्तियाँ इसमें हैं। तीन प्रकार से बँधा है = तीन स्थानों में, हृदय, कंठ और सिर में निबद्ध है। [वर्ग के पंचम वर्णों तथा यरलव के साथ ह का स्थान हृदय में है। अ, कवर्ग, ह और विसर्ग का स्थान कंठ है। मुख के अन्तर्गत तालु आदि दूसरे स्थानों का संग्रह भी कंठ से ही हो गया है। अन्त में ऋ, टवर्ग, र ष का स्थान सिर (मूर्धा) है। इस प्रकार शब्दों के तीन स्थान हैं जहाँ वे टकरा कर अभिव्यक्त होते हैं।]

'वृषभ' शब्द के द्वारा प्रसिद्ध (लौकिक) वृषभ (बैल) का रूपक रखा गया है। क्योंकि दोनों ही वर्षण करते हैं (√वृष्)। यहाँ (शब्द-पक्ष में) वर्षन का अभिप्राय है [व्याकरण शास्त्र का] ज्ञान प्राप्त करके अनुष्ठान करना और उसका फलप्रद होना। 'रोरवीति' का अर्थ है 'शब्द करता है'। √रु = शब्द करना।

यहाँ [जो 'रोरवीति = शब्दं करोति' कहा, उसमें प्रयुक्त] 'शब्द' शब्द के द्वारा इस पूरे प्रपंच (संसार) का अर्थ लिया गया है। [नित्य शब्द से ही यह पूरा संसार बना है, वही इसका प्रपंच अर्थात् विस्तार करता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में ही इसे स्पष्ट किया है जो आगे उद्धृत की जायगी।]

महान् देव मनुष्यों में प्रवेश करते हैं। महान् देव अर्थात् शब्द। मर्त्य का अर्थ है मरण धर्म वाले मनुष्य, उनमें ही वह (शब्द) प्रवेश करता है। महान् देव अर्थात् परम ब्रह्म से समता (सायुज्य) का वर्णन किया गया है। (महाभाष्य, पृ० ३)।

विशेष—इस ऋचा की प्रस्तुत व्याख्या का तात्पर्य यही है कि परब्रह्म के स्वरूप से युक्त अन्तर्यामी शब्द मनुष्यों में प्रविष्ट है। व्याकरण-शास्त्र से उत्पन्न शब्दज्ञान रखकर जो प्रयोग किया जायगा तो मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जायँगे और वे अहंकार आदि की ग्रन्थियों को तोड़कर अपने अन्तरतम में विद्यमान शब्द-ब्रह्म के साथ आत्यन्तिक रूप से संसक्त हो जायँगे। इस पहेली की तरह प्रतीत होने वाली ऋचा की व्याकरणपरक व्याख्या तो पतंजलि ने की है, यास्क ने (? १३।७) इसकी यज्ञपरक व्याख्या की है जिसे सायण ने भी लिया है। राजशेखर ने इसका साहित्यिक अर्थ लिया है। भाष्यकार के

नाम से उद्धरण देने पर भी माधवाचार्य ने मनमानी की है—अपनी इच्छा से भाष्य की पंक्तियों का परिवर्तन करने चले गये हैं।

(६. शब्द ही ब्रह्म है)

जगन्निदानं स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे—

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
(वाक्यप० १।१) इति।

संसार का निदान (मूल कारण Ultimate cause), 'स्फोट' के नाम से प्रसिद्ध तथा अवयवों से रहित जो नित्य शब्द है वह ब्रह्म ही है। ऐसा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में कहा है—'आदि और अन्त से रहित, विकारशून्य शब्द का तत्त्व (Reality) ही ब्रह्म है—वही संसार की विभिन्न वस्तुओं (अर्थों) के रूप में प्रतिभासित होता है तथा उसी से इस संसार की सारी प्रक्रियायें होती हैं' (वाक्यपदीय १।१)।

विशेष—जिस प्रकार वेदान्त में संसार को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं उसी प्रकार यहाँ भी संसार शब्द-रूपी ब्रह्म का विवर्त (मिथ्याप्रतीति) है। इस दृष्टि से अनादि शब्द-ब्रह्म (जिसे परा वाणी कह सकते हैं) ही संसार का उपादान कारण है। शब्द-ब्रह्म शब्दभाव से तो विवृत्त होता ही है। उसके बाद में वह सत् (Existent) अर्थों के रूप में भी विवृत्त होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दब्रह्म से शब्द और अर्थ दोनों की उत्पत्ति होती है, यह पूरा संसार ही शब्दब्रह्म का रूप है। भर्तृहरि की यह मान्यता शैवागम के अनुसार है। उन्होंने कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥ (१।१२०)

कहने का अभिप्राय यह है कि यह जगत् शब्द का परिणाम (परिणत रूप) है। संसार में जो कुछ भी देखते हैं वह शब्दब्रह्म का ही विवृत्त रूप या छाया है।

(६ क. पद-भेद की संख्या)

ननु नामाख्यातभेदेन पदद्वैविध्यप्रतीतेः कथं चातुर्विध्यमुक्तमिति चेत्—मैवम्। प्रकारान्तरस्य प्रसिद्धत्वात्। तदुक्तं प्रकीर्णके—

७. द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥ इति ।

अब प्रश्न है कि नाम और आख्यात के भेद से दो प्रकार के पदों की प्रतीति होती है, आप चार प्रकार के पद कहाँ से लाते हैं ? ऐसी बात नहीं है, उनके दूसरे भेद भी प्रसिद्ध ही हैं। उसे प्रकीर्ण-काण्ड में कहा है—'जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना [पद से पृथक् की जाती है यद्यपि पद में ही प्रकृति-प्रत्यय दोनों हैं], उसी प्रकार वाक्यों से पृथक् करके (अपोद्धृत्य) पदों की कल्पना करके उसे लोगों ने दो, चार या पाँच भेदों में बाँटा है।'(वा०प० ३।१।१)

विशेष—पद के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से पद से अलग करके हम प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करते हैं। प्रकृति का अपना अर्थ होता है, प्रत्यय का भी—दोनों का समन्वय करके पदार्थ की प्राप्ति होती है। ठीक उसी तरह वाक्य का अर्थ जानने के लिए वाक्य में विद्यमान पदों की कल्पना वाक्य से अलग करते हैं। तब उनके अर्थों पर विचार करके उन्हें कई भेदों में बाँटते हैं। विभिन्न मत से पद के विभिन्न भेद हैं। पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) कह कर पदों के दो ही भेद किये हैं—सुबन्त (नाम जिसमें उपसर्ग और निपात भी हैं तथा तिङन्त क्रिया)। यास्क तथा दूसरे लोग पद के चार भेद करते हैं—नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात। कुछ लोग इस सूची में कर्मप्रवचनीय को भी जोड़ कर पद के पाँच भेद मानते हैं। कर्मप्रवचनीय एक प्रकार के उपसर्ग ही हैं। उपसर्ग क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं जब कि कर्मप्रवचनीय क्रिया के अनुयोगी संबंध को व्यक्त करता है जैसे, जपमनु प्रावर्षत्। यहाँ जप और वर्षा में लक्ष्य-लक्षण का संबंध है कि जप होते ही पानी बरसा। जप लक्षण है तथा वर्षा लक्ष्य। इस संबंध का प्रतियोगी जप है, वर्षा अनुयोगी या धर्मी है। यह सम्बन्ध इस कर्मप्रवचनीय 'अनु' के द्वारा द्योतित होता है।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तीन काण्ड हैं—(१) पदकाण्ड या ब्रह्मकाण्ड (कारिका १५६), जिसमें पद तथा स्फोट के प्रश्नों पर विचार हुआ है। (२) वाक्यकाण्ड (कारिका ४८६) जिसमें वाक्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे काण्ड को (३) प्रकीर्ण-काण्ड कहते हैं क्योंकि इसमें विभिन्न विषयों की चर्चा हुई है (कारिका १२१८)। तृतीय काण्ड १४ समुदेशों या विषयों (Topics) में विभक्त है जो निम्नलिखित हैं—१. जातिसमुद्देश, २. द्रव्यसमुद्देश, ३. संबन्धसमुद्देश, ४. द्रव्यलक्षणसमुद्देश, ५. गुणसमुद्देश, ६. दिक्समुद्देश, ७. साधनसमुद्देश (अर्थात् कारकों का विश्लेषण), ८. क्रिया-

समुद्देश, ९. कालसमुद्देश, १०. पुरुषसमुद्देश, ११. संख्यासमुद्देश, १२. उप-ग्रहसमुद्देश, १३. लिंगसमुद्देश, १४. वृत्तिसमुद्देश। चौदहवाँ समुद्देश पूरे प्रकीर्ण काण्ड का आधा (कारिका ६२४) है। वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड पर हरिवृषभ की तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की प्रकाश टीका है, जब कि तृतीय काण्ड पर भूतिराज के पुत्र हेलाराज ने अपनी प्रकीर्ण-प्रकाश नाम की टीका लिखी है। वाक्यपदीय व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए अन्तिम प्रमाण-ग्रन्थ माना जाता है।

कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वमिति हेलाराजो व्याख्यातवान्। कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसंबन्धावच्छेदहेतव इति संबन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेषद्योतनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यभिसन्धाय पदचातुर्विध्यं भाष्यकारेणोक्तं युक्तमिति विवेक्तव्यम्।

पाँचवें भेद 'कर्मप्रवचनीय' को अलग गिनने से पद के पाँच भेद हो जाते हैं, ऐसी व्याख्या हेलाराज ने [उपर्युक्त कारिका की] की है। किन्तु कर्मप्रवचनीय किसी विशेष क्रिया (जैसे वर्षण) से उत्पन्न संबन्ध को व्याप्त करनेवाली (जैसे लक्ष्य-लक्षण भाव) सीमा के ज्ञापक होते हैं। [वर्षण क्रिया के साथ जप का लक्ष्य-लक्षण-भाव से सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध एक विशेष सीमा में है—इस सीमा या सम्बन्ध को बतलाने वाला 'अनु' कर्मप्रवचनीय है। यही अभिप्राय है।] इस प्रकार ये कर्मप्रवचनीय एक प्रकार का सम्बन्ध ही बतलाते हैं अतः किसी विशेष क्रिया के द्योतक होने के कारण इनका अन्तर्भाव उपसर्गों में ही होता है। [चूँकि उपसर्ग किसी क्रिया के द्योतक होते हैं और कर्मप्रवचनीय भी क्रिया के सम्बन्ध का द्योतन करते हैं अतः उन दोनों को एक भेद में ही मान लें।]

यही विचार कर भाष्यकार ने पद के चार ही भेद कहे हैं जो युक्तियुक्त हैं—ऐसा समझ लेना चाहिए।

(७. स्फोट—नैयायिकों की शंका और उसका समाधान)

ननु भवता स्फोटात्मा नित्यः शब्द इति निजागद्यते। तन्न मृष्यामहे। तत्र प्रमाणाभावादिति केचित्। अत्रोच्यते। प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणम्। गौरित्येकं पदमिति नानावर्णातिरिक्तैकपदावगतेः सर्वजनीनत्वात्। न ह्यसति बाधके पदानुभवः शक्यो

मिथ्येति वक्तुम्। पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

आप लोग बार-बार 'स्फोट के रूप में नित्य शब्द है' ऐसा कहते हैं। हम इसे ठीक नहीं मानते क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं—यह कुछ लोगों (नैयायिकादि) का कहना है। [नैयायिक लोग कहते हैं कि 'घटमानय' इस तरह के वाक्यों के उच्चारण के समय जो घ् अ, ट् आदि वर्ण कण्ठादि स्थानों में वायु के संयोग से उत्पन्न होते हैं, कानों से सुनाई पड़ते हैं और तुरत नष्ट हो जाते हैं—वे ही शब्द हैं, उनके अलावे किसी दूसरी चीज को शब्द नहीं कहते। घट-वस्तु के बोधक भी ये ही हैं। अतः नैयायिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं। वैयाकरणों का कहना है कि यह शब्द नहीं है, किन्तु शब्द को व्यंजित करनेवाली ध्वनि है। इस ध्वनि के द्वारा जो व्यंग्य होता है वही शब्द है, जो घटादि वस्तुओं का बोधक होता है। यह शब्द नित्य है—न उत्पन्न होता है न नष्ट। वाणी की सर्वोत्तम, अन्तरतम अवस्था—परा वाणी— में यह रहता है। इसे ही **स्फोट** कहते हैं। बाह्य ध्वनि या कार्य शब्द केवल इसका व्यंजक है तथा अनर्थक है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार 'घटमानय' इत्यादि ध्वनि का उच्चारण करने से वाचक नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है जिससे अर्थबोध होता है।]

[विरोधियों की] इस उक्ति पर हमारा यह कहना है कि इसे सिद्ध करने के लिए तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। 'गौ' यह एक ही पद है, इसमें अनेक वर्णों [के होते हुए भी उन] के अतिरिक्त एक पद का ही बोध सभी लोग करते हैं। ['गौ' में एकत्व का बोध सभी लोग करते हैं। पर यह एकत्व है कहाँ ? वर्णों में तो नहीं है, क्योंकि वे अनेक हैं। इस एकत्व का आधार कुछ तो अवश्य मानना है जो वर्णसमूह के द्वारा व्यक्त हो। वही स्फोट है। पद की एकता का अनुभव सबों को होता है।] जब तक कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता तब तक पदों की एकता के इस अनुभव को हम मिथ्या नहीं कह सकते।

पदार्थ की प्रतीति (बोध) किसी भी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती (=एकमात्र उपाय स्फोट-सिद्धान्त ही है), इसलिए भी स्फोट को मान लेना चाहिए।

न च वर्णेभ्य एव तत्प्रत्ययः प्रादुर्भवतीति परीक्षाक्षमम्। विकल्पासहत्वात्। किं वर्णाः समस्ता व्यस्ता वार्थप्रत्ययं

जनयन्ति? नाद्यः। वर्णानां क्षणिकानां समूहासंभवात्। नान्त्यः। व्यस्तवर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययासंभवात्। न च व्याससमासाभ्यामन्यः प्रकारः समस्तीति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद्बलादर्थ-प्रतिपत्तिः स स्फोटः। वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्य शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति।

'वर्णों से ही पद के अर्थ की प्रतीति उत्पन्न होती है'—ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है (कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता) क्योंकि निम्न-लिखित दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। ये वर्ण क्या मिलकर के अर्थ की प्रतीति कराते हैं या अलग-अलग होकर? पहला विकल्प ठीक नहीं हो सकता क्योंकि क्षण भर ही ठहरने वाले (नश्वर) वर्णों का समूह होना असम्भव है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं क्योंकि अलग-अलग वर्णों से [पूरे पद के] अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। [व्यस्त वर्णों की वाचकता मानने पर कई समस्यायें उत्पन्न हो जायँगी। एक-एक वर्ण का उच्चारण करने से एक तो अर्थबोध होता ही नहीं। यदि हो भी तो प्रत्येक वर्ण को सार्थक मानना पड़ेगा और एक ही वर्ण से अर्थ की प्रतीति हो जाने से अन्य वर्ण व्यर्थ हो जायँगे। एक पद में जितने वर्ण हों उतने अर्थ भी होंगे अतः एक पद एक ही साथ अनेक अर्थों का बोध कराने लगेगा। अन्त में सभी वर्णों को पर्यायवाचक भी मानना पड़ेगा।]

अलग-अलग बोध कराना या मिलकर बोध कराना, इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त और कोई विकल्प हो नहीं सकता। इसलिए वर्णों की वाचकता असिद्ध हो गयी (=वर्ण अर्थबोध नहीं करा सकते), अतः जिसके बल से (कारण) अर्थ का बोध होता है, वही स्फोट है। स्फोट के जानने वाले कहते हैं कि स्फोट नित्य शब्द है, वर्णों से पृथक् है वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होता है और अर्थ की प्रतीति कराता है। (स्मरणीय है कि ध्वनि अर्थ-प्रतीति नहीं करा सकती। ध्वनि नित्य शब्द को अभिव्यक्त करती है जो अर्थबोध कराने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है।]

अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः। तथा चोक्तं भगवता पतञ्जलि-ना महाभाष्ये—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? येनोच्चारितेन

सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति, स शब्दः' (महाभा० पृ० १) इति ।

इसीलिए, 'वर्णों के द्वारा जो स्फुटित या व्यंजित हो वह स्फोट (√स्फुट) है अर्थात् वर्णों से अभिव्यंग्य [शक्ति को स्फोट कहते हैं ।] 'जिससे अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है वह स्फोट अर्थात् अर्थबोधक (शक्ति) है' । इस तरह दोनों रूपों में (वर्णों के द्वारा अभिव्यंग्य तथा अर्थ का बोधक—इन दोनों रूपों में) 'स्फोट' शब्द के अर्थ का निर्वचन लोग करते हैं । भगवान् पतंजलि ने महाभाष्य में ऐसा ही कहा भी है—"अच्छा, यह बतलाइये कि 'गौ' में शब्द कौन-सा है ? जिसका उच्चारण करने से सास्ना (गले का लटकता हुआ मांस), पूँछ, ककुद (पीठ और गले के बीच उठा हुआ मांस), खुर तथा सींग से युक्त [पशुविशेष] का बोध होता है, वही शब्द है ।" (पतञ्जलि, महाभाष्य, पृ० १) । [यहाँ स्पष्ट है कि पतञ्जलि अर्थ का बोध कराने वाले साधन-विशेष को शब्द कहते हैं जो और कुछ नहीं, नित्य शब्द या स्फोट ही है । कैयट ने ऐसी व्याख्या भी की है ।]

विवृतं च कैयटेन—'वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाचकत्वमिच्छन्ति । वर्णानां वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गादित्यादिना तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः' इत्यन्तेन प्रबन्धेन ।

कैयट ने इसका विवरण भी दिया है—'वैयाकरण लोग वर्णों के अतिरिक्त (वर्णों से पृथक् रखकर) पद की वाचकता मानते हैं । वर्णों को वाचक मानने पर [पहला वर्ण तो अर्थबोध करा ही देगा इसलिए] द्वितीय और अन्य वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ ही हो जायगा ।······उनके अतिरिक्त (पृथक्) नाद या ध्वनि से अभिव्यंग्य 'स्फोट' है जो [पदार्थ का] वाचक है, वाक्यपदीय में उसकी व्यवस्था विस्तारपूर्वक की गई है ।' (देखिए, महाभाष्य, चौखम्बा सं० पृ० ११) ।

(७ क. स्फोट पर अन्य शंका—मीमांसक)

ननु स्फोटस्याप्यर्थप्रत्यायकत्वं न घटते । विकल्पासहत्वात् । किमभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययत्यनभिव्यक्तो वा ? न चरमः । सर्वदार्थप्रत्ययलक्षणकार्योत्पादप्रसङ्गात् । स्फोटस्य

नित्यत्वाभ्युपगमेन निरपेक्षस्य हेतोः सदा सत्त्वेन कार्यस्य विलम्बायोगात् ।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] स्फोट में भी अर्थ की प्रतीति कराने की शक्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि दोनों ही विकल्प इस विषय में असिद्ध हो जाते हैं । क्या स्फोट अभिव्यक्त होकर अर्थ कराता है या बिना अभिव्यक्त ही हुए ? दूसरा पक्ष ठीक नहीं हो सकता । [दूसरे पक्ष का खंडन सरल है अतः पहले उसे ही लेते हैं, जैसे सुई और कड़ाही बनाने के लिए लुहार पहले सुई ही बना लेता है तब कड़ाही बनाता है ।] कारण यह है कि ऐसा मानने पर अर्थबोध रूपी कार्य का उत्पादन सदा ही होता रहेगा क्योंकि स्फोट को नित्य मानते हैं, [अर्थबोध का] वही कारण है जो अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखना— उसकी सत्ता सदा ही रहेगी, इसलिए [अर्थबोध रूपी] कार्य के उत्पादन में विलम्ब की संभावना ही नहीं । [अभिप्राय यह है कि अर्थप्रतीति को कार्य और स्फोट को कारण मानते हैं । कार्य-कारण का संबन्ध सदा रहता है । चूंकि अनभिव्यक्त रूप में ही स्फोट अर्थबोध करायेगा, अतः अभिव्यक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः नित्य स्फोट नित्य रूप से बराबर अर्थबोध ही कराता रहेगा, विराम उसे कहाँ ?]

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षयाऽभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययतीति कक्षीक्रियते, तथाप्यभिव्यञ्जयन्तो वर्णाः किं प्रत्येकमभिव्यञ्जयति संभूय वा ? पक्षद्वयेऽपि वर्णानां वाचकत्वपक्षे भवता ये दोषा भावितास्त एव स्फोटाभिव्यञ्जकत्वपक्षे व्यावर्तनीयाः । तदुक्तं भट्टाचार्यैर्मीमांसाश्लोकवार्तिके—

८. यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते ॥ इति ।

[पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि] अब यदि उक्त दोष से बचने के लिए आप (वैयाकरण) लोग यह पक्ष ले लें कि अभिव्यक्त ही होने पर स्फोट अर्थ की प्रतीति कराता है फिर भी [हम विकल्प रखेंगे कि] अभिव्यक्त करने वाले वर्ण क्या एक-एक करके स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं या सब एक साथ मिलकर ? दोनों ही पक्षों में; वर्णों को वाचक मानने पर आप (वैयाकरणों) ने जो-जो दोष आरोपित किये हैं वे दोष ही स्फोट को अभिव्यंजक मानने पर, आप पर ही उलट दिए जायें तो कोई आपत्ति नहीं । [यदि वर्ण एक-एक करके स्फोट की

अभिव्यक्ति करते हैं तो ऐसा देखा नहीं जाता। पुनः यदि एक ही वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाती है तो किसी पद के दूसरे-तीसरे आदि वर्णों का उच्चारण ही क्यों किया जायगा ? इसके अलावे, पद में जितने वर्ण हैं उतने स्फोटों की अभिव्यक्ति एक ही पद से हो जायगी। दूसरा पक्ष (वर्ण मिलकर स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं) भी ठीक नहीं। क्षणिक वर्णों का समूह संभव ही नहीं है—वे इतनी शीघ्रता से नष्ट जो हो जाते हैं। अतः स्फोटवादियों के सिर पर उन्हीं का शस्त्र चला दिया जायगा।]

इसे कुमारिल भट्ट ने भी मीमांसा-श्लोक-वार्तिक में कहा है—'जिसका यह सिद्धान्त है कि स्फोट अवयवों से रहित है तथा वर्णों के ज्ञान से अभिव्यक्त होता है, वह (स्फोटवादी वैयाकरण) भी [अपने ही द्वारा उठाये गये प्रश्नों में] एक प्रश्न से भी निकल नहीं सकता है।' [स्फोटवादी ने अपने विरोधी से जो-जो प्रश्न ऊपर किये हैं उनमें सबके सब अब हम स्फोटवादियों पर ही फेंक देते हैं—एक भी प्रश्न का उत्तर ये दें तो जानें। एक प्रश्न का भी उत्तर इनसे नहीं दिया जा सकता। यदि स्फोट को अवयवयुक्त मानते तो ये कह सकते थे कि एक-एक वर्ण से खण्डशः स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु ये तो स्फोट को अवयवों से रहित भी मानते हैं।]

विभक्त्यन्तेष्वेव वर्णेषु 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा० सू० १।४।१४) इति पाणिनिना, 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (न्या० सू० २।२।६०) इति गौतमेन च पदसंज्ञाया विहितत्वात्संकेत-ग्रहेणानुग्रहवशाद्वर्णेष्वेव पदबुद्धिर्भविष्यति। तर्हि सर इत्येतस्मिन्पदे यावन्तो वर्णास्तावन्त एव रस इत्यत्रापि। एवं 'वनं नवं' 'नदी दीना' 'रामो मारो' राजा जारेत्यादिष्वर्थभेदप्रतीतिर्न स्यादिति चेत्—न। क्रमभेदेन भेदसंभवात्।

[पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि] पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त (वर्ण) को पद माना है (१।४।१४) तथा गौतम ने विभक्ति से अन्त होने वाले वर्णों को पद माना है (२।२।६०)—इस प्रकार दो बड़े-बड़े आचार्य विभक्त्यन्त वर्णों को ही पद संज्ञा देते हैं अतः [वृद्धव्यवहारादि उपायों से] संकेत-ग्रहण करके [इन वर्णों में उत्तरोत्तर] सहायक-संबंध मानकर वर्णों को ही तो पद कहना पड़ेगा। [उक्त दो आचार्यों के सूत्रों से ध्वनित होता है कि वर्ण-समुदाय ही पद है—उसके अतिरिक्त स्फोट नाम का कोई पदार्थ नहीं है। यह प्रश्न

हो सकता है कि वर्ण तो शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं उनका समूह कैसे हो सकता है? परन्तु वृद्धव्यवहार आदि के द्वारा हम वर्णसमुदाय में संकेत (conventional relation) का ग्रहण करेंगे कि अमुक वर्णसमुदाय अमुक वस्तु से सम्बद्ध है। पूरे समुदाय से एक ही अर्थ की प्रतीति होगी। अब इन विनाशी वर्णों में उत्तरोत्तर अनुग्रहभाव होगा—एक वर्ण दूसरे वर्ण की सहायता करता चला जायगा और उस विद्यमान वर्णसमुदाय का एकात्मक अर्थ मान लेंगे। अतः समूह की कल्पना से भी पदबोध हो सकता है।]

[वैयाकरण बीच में छेड़ते हैं कि] तब तो 'सर' इस पद में जितने वर्ण हैं उतने ही 'रस' में भी हैं; इसी तरह, वन और नव, नदी और दीन, राम और मार, राज और जार में भी बराबर-बराबर ही वर्ण हैं तो अर्थभेद की प्रतीति नहीं होगी। [विरोधी कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं, वर्णों के क्रम में भेद होगा तो अर्थ में भी भेद पड़ेगा।

तदुक्तं तौतातितैः—

९. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपत्तये।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ इति।

तस्माद्यश्चोभयोः समो दोषो न तेनैकश्चोद्यो भवतीति न्यायाद्वर्णानामेव वाचकत्वोपपत्तौ नातिरिक्तस्फोटकल्पनावकल्पत इति चेत्—।

[पूर्वपक्षी अन्त में कहते हैं]—तौतातित अर्थात् कुमारिल का कहना है कि जिन वर्णों की सामर्थ्य (अर्थबोध कराने की शक्ति) अच्छी तरह मालूम हो कि ये अमुक अर्थ की प्रतीति करा सकते हैं, वे वर्ण चाहे जितनी संख्या में हों, जिस किसी प्रकार के हों, वे उसी प्रकार से अर्थ का बोध कराते हैं। [जिस अर्थ का बोध कराने की शक्ति वर्णों में होती है, वे उसी अर्थ का बोध कराते हैं।]

इसलिए 'जब दोनों का दोष एक ही तरह का है तो उस दोष से एक पर बिगड़ना ठीक नहीं है' इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि वर्ण ही वाचक हैं अतः उनसे भिन्न स्फोट की कल्पना करना ठीक नहीं है। [यहाँ मीमांसकों का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।]

विशेष—जब दो व्यक्तियों में दोनों का समान दोष हो, दोनों का परिहार भी एक ही हो, तो वैसे विषय का विचार करते समय एक व्यक्ति को दूसरे पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। इसका यह श्लोक है—

यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

(८. मीमांसकों की शंका का उत्तर—स्फोटसिद्धि)

तदेतत्काशकुशावलम्बनकल्पम् । विकल्पानुपपत्तेः । किं वर्णमात्रं पदप्रत्ययावलम्बनं वर्णसमूहो वा ? नाद्यः । परस्पर-विलक्षणवर्णमालायामभिन्नं निमित्तं पुष्पेषु विना सूत्रं माला-प्रत्ययवदित्येकं पदमिति प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । उच्चरितप्रध्वस्तानां वर्णानां समूहभावासंभवात् ।

[वैयाकरण लोग उत्तर देते हैं कि नदी में डूबते हुए व्यक्ति] जैसे बहते हुए घास-फूस का सहारा लेते हैं वैसे ही आपका यह तर्क है। इन दोनों की विकल्पों की असिद्धि हो जाती है। क्या अकेला वर्ण पद की प्रतीति कराता है या वर्णों का समूह ? पहला विकल्प ठीक नहीं क्योंकि जैसे फूलों में बिना सूते के माला की प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार एक दूसरे से विलक्षण (Peculiar) वर्णों की माला होने पर भी अनेक वर्णों में अनुस्यूत होनेवाले किसी एक अभिन्न निमित्त के बिना 'यह एक पद है' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उच्चारण किये जाने के बाद नष्ट हो जानेवाले वर्णों का समूह कभी हो ही नहीं सकता।

तत्र हि समूहव्यपदेशो ये पदार्था एकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततया बहवोऽनुभूयन्ते । यथैकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततयानुभूयमानेषु धवखदिरपलाशादिषु समूहव्यपदेशो यथा वा गजनरतुरगादिषु । न च ते वर्णास्तथानुभूयन्ते । उत्पन्नप्रध्वस्तत्वात् । अभिव्यक्तिपक्षेऽपि क्रमेणैवाभिव्यक्तिः । समूहासंभवात् ।

हम 'समूह' उसे ही कहते हैं जहां कुछ पदार्थ एक ही स्थान में साथ-साथ रहने के कारण अनेक संख्या में अनुभूत हों। जैसे एक ही स्थान में साथ-साथ रहने के कारण अनुभूत होनेवाले धव, खदिर (खैर), पलाश आदि वृक्षों में 'समूह' का प्रयोग होता है अथवा जैसे गज, मनुष्य और अश्व आदि [जीवों के समूह का प्रयोग करते हैं।] वर्णों का अनुभव तो उस रूप में होता नहीं। कारण यह है कि ये उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं [अतः एक स्थान में साथ-साथ रहने का अवसर इन्हें कहाँ से मिलेगा कि वर्णों का समूह होगा ?]

यदि हमारे समान [स्फोट की] अभिव्यक्ति का पक्ष भी लिया जाय तो वहाँ भी अभिव्यक्ति [एक ही साथ नहीं हो जाती] क्रम से ही होती है। कारण यह है कि किसी भी दशा में क्षणिक वर्णों का समूह होना संभव नहीं है।

नापि वर्णेषु काल्पनिकः समूहः कल्पनीयः। परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। एकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धौ तदुपाधिना वर्णेषु पदत्वप्रतीतिस्तत्सिद्धावेकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धिरिति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वासंभवात्स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

आप (पूर्वपक्षी) यह भी नहीं कह सकते कि वर्णों में जो समूह है वह काल्पनिक या कृत्रिम है। क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। एक तरफ जब आप यह सिद्ध करेंगे कि [वर्णों के कृत्रिम समूह से] एकात्मक अर्थ की प्रतीति होती है तभी उस उपाधि (शर्त) के आधार पर वर्णों में पदत्व का बोध होता है। और दूसरी ओर वर्णों में पदत्व की सिद्धि करने पर ही यह सिद्ध होगा कि उससे अर्थ का बोध होता है [पदत्वप्रतीति और अर्थबोध—दोनों में कौन पहले होगा ? एकार्थबोध तथा पदत्व वर्णसमूह में नहीं है, किन्तु स्फोट में ही है। यदि स्फोट नहीं मानते तो इन दोनों को वर्णों में ही बैठाना होगा—इससे अन्योन्याश्रय तो होगा ही।] अतः वर्ण वाचक नहीं हो सकते, तो स्फोट को मानना ही चाहिए।

(८ क. स्फोट पर अन्य आपत्तियाँ और समाधान)

ननु स्फोटव्यञ्जकतापक्षेऽपि प्रागुक्तविकल्पप्रसरेण घट्टकुटीप्रभातायितमिति चेत्—तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। वैषम्यसंभवात्। तथा हि—अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति। उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमम्। यथा स्वाध्यायः सकृत्पठ्यमानो नावधार्यते। अभ्यासेन तु स्फुटावसायः। यथा वा रजतत्वं प्रथमप्रतीतौ स्फुटं न चकास्ति। चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते।

अब ये (पूर्वपक्षी) लोग फिर आपत्ति कर सकते हैं कि यदि स्फोट का [वर्णों के द्वारा] अभिव्यंग्य होना मान भी लें फिर भी तो पहले कहे गये (पूर्वपक्षी के द्वारा आरोपित, देखिये—७ क. का आरंभ) विकल्पों के प्रसार के कारण [बचना चाहते हुए भी आप उनके ही चक्र में पड़ जायँगे जैसे कोई

गाड़ीवान रात में चुंगी देने के डर से दूसरे रास्ते से रातभर चलता रहे और भूलता-भटकता] प्रातःकाल चुंगीघर के ही सामने पहुंच जाय [और उसे चुंगी (toll-tax) चुकानी पड़े ।]

हमारा कहना है कि यह सब करके आप अपने मन में पुए पकाते रहें (मन को संतोष देते रहें) । [इससे कुछ होने का नहीं] क्योंकि दोनों में बहुत बड़ी विषमता है । देखिये—अभिव्यंजक होने पर भी प्रथम वर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रूप में ही करता है । [जैसे-जैसे वर्ण आते हैं वैसे-वैसे वे] अपने उत्तरोत्तर अभिव्यंजक क्रम से स्पष्ट, स्पष्टतर और सबसे अधिक स्पष्ट रूप से अंत में अभिव्यक्त कर देते हैं । इसलिए वर्ण चाहे स्पष्ट रूप से स्फोट की अभिव्यक्ति करे या अस्पष्ट रूप से, वह अभिव्यंजक है ।]

जिस प्रकार स्वाध्याय (वेद) एक बार पढ़ने से समझ में नहीं आता किन्तु अभ्यास करने से स्फुट होने लगता है । अथवा जिस प्रकार चाँदी प्रथम प्रतीति में (पहले-पहल देखने से) स्पष्ट नहीं होती, किन्तु अंत में वही (चाँदी) चित्त में अपने वास्तविक रूप में अभिव्यक्त हो जाती है ।

१०. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥
(वाक्यप० १।८४)

इति प्रामाणिकोक्तेः । तस्मादस्माच्छब्दादर्थं प्रतिपद्यामह इति व्यवहारवशाद्वर्णानामर्थवाचकत्वानुपपत्तेः । प्रथमे काण्डे तत्रभवद्भिर्भर्तृहरिभिरभिहितत्वान्निरवयवमर्थप्रत्यायकं शब्दतत्त्वं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यमिति । एतत्सर्वं परमार्थसंविल्लक्षणसत्ता जातिरेव सर्वेषां शब्दानामर्थ इति प्रतिपादनपरे जातिसमुद्देशे प्रतिपादितम् ।

इसके लिए प्रामाणिक कथन भी है—'अन्तिम ध्वनि (वर्ण) के साथ नादों (पहले से उच्चारित वर्णों की ध्वनियों) के द्वारा उस बुद्धि में जिसमें बीज अर्थात् अभिव्यक्ति के अनुकूल संस्कार की स्थापना हो चुकी है तथा जो बुद्धि [पहले के सभी संस्कारों की] आवृत्ति के कारण परिपक्व अर्थात् योग्यता-संपन्न भी हो चुकी है, किसी शब्द का निर्धारण (निश्चय) होता है' (वाक्यपदीय १।८४) । [बुद्धि में प्रत्येक शब्द का एक संस्कार रहता है जो शक्तिग्रह और आवृत्ति के कारण स्थिर हो जाता है, तभी बुद्धि में योग्यता

होती है। जब किसी पद या वाक्य का श्रवण करते हैं तब उस पद या वाक्य के प्रथम वर्ण से ही उक्त संस्कार जागने लगता है, या स्फोट स्पष्ट होने लगता है। अन्तिम वर्ण उच्चरित होते-होते सारे-के-सारे संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं तथा 'अमुक शब्द है' यह ज्ञान होता है। यही आशय है।]*

इसलिए, 'इस शब्द से हम अर्थ की प्रतीति करते हैं' ऐसा व्यवहार होने के कारण यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण अर्थ के वाचक हैं, [प्रत्युत शब्द अर्थ के वाचक हो सकते हैं।] वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में आदरणीय भर्तृहरि ने इसका वर्णन किया है अतः अवयवों से रहित, अर्थबोधक शब्दतत्त्व, जिसका नाम स्फोट है, हमें स्वीकार करना चाहिए। परमार्थ (परम तत्त्व, ब्रह्म) के पूर्णज्ञान (संवित्) रूपी लक्षण से युक्त जो [सभी पदार्थों में विद्यमान] सत्ता है, वह [घट, पट आदि संबन्धियों के भेद से घटत्व, पटत्व आदि की] जाति के रूप में है तथा सभी शब्दों (घट, पटादि) का अर्थ भी वही (सत्ताजाति) है। इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाले जाति-समुद्देश (वाक्यपदीय के तृतीय कांड का एक खण्ड) नामक खण्ड में भर्तृहरि ने इसे स्पष्ट किया है। [अब सत्ता को अर्थ मानने वाले पक्ष का खंडन पूर्वपक्षी करेंगे।]

(९. सत्ता ही शब्दों का अर्थ है—पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष)

यदि सत्तैव सर्वेषां शब्दानामर्थस्तर्हि सर्वेषां शब्दानां पर्यायता स्यात्। तथा च क्वचिदपि युगपत्त्रिचतुरपदप्रयोगायोग इति महच्चातुर्यमायुष्मतः। तदुक्तम्—

११. पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते।
पर्यायेणैव ते यस्माद्वदन्त्यर्थं न संहताः॥ इति।

तस्मादयं पक्षो न क्षोदक्षम इति चेत्—।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] यदि सभी शब्दों का अर्थ सत्ता (परम सत्ता, परमार्थ का ज्ञान) ही है तब तो सभी शब्द एक दूसरे के पर्याय हो जायँगे। यही नहीं, आपकी चतुरता धन्य है! आपके मत में रहने से तो कहीं भी एक साथ तीन-चार पदों का प्रयोग होगा ही नहीं। [जब सभी शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं तब तो एक साथ कई पर्यायों का प्रयोग नहीं होगा, अतः कई शब्दों को

* विशेष ज्ञान के लिए पं० सूर्यनारायण शुक्ल की व्याख्या से युक्त वाक्यपदीय देखें। पृ० ९७–९९।

एक बार में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य की भाषा ही निरर्थक हो जायगी। धन्य है आपका सिद्धान्त !] इसे कहा भी है—

'पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग एक साथ नहीं करना चाहिए क्योंकि ये शब्द एक-एक करके अर्थ का बोध कराते हैं, एक साथ मिलकर नहीं।' [चंद्र, इंदु, शशि आदि शब्द पृथक् वाक्यों में अपने क्रम से अर्थ-बोध करा सकते हैं किन्तु यदि एक ही साथ इनका प्रयोग कर दें तो वाक्य नहीं बन सकता—साहित्य-शास्त्र में तो ऐसा करना पुनरुक्ति-दोष माना जायगा।] इसलिए यह पक्ष इतना भी बलयुक्त नहीं कि हमारे खंडन को सँभाल सके।

तदेतद्गगनरोमन्थकल्पम्। नीललोहितपीताद्युपरञ्जकद्रव्यभेदेन स्फटिकमणेरिव संबन्धिभेदात्सत्तायास्तदात्मना भेदेन प्रतिपत्तिसिद्धौ, गोसत्तादिरूपगोत्वादिभेदनिबन्धनव्यवहारवैलक्षण्योपपत्तेः। तथा चाप्तवाक्यम्—

१२. स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक्पृथक्।
नीललोहितपीताद्यैस्तद्वर्णमुपलभ्यते ॥ इति।

[उक्त प्रश्न का उत्तर है कि] यह तो आकाश (शून्य) का रोमन्थ (जुगाली, पागुर) करने के समान है। [पशु चबाये हुए पदार्थ को फिर से मुँह में लाकर चबाते हैं वही रोमन्थ है। रोमन्थ करने के लिए कुछ ठोस पदार्थ होना चाहिए। यों ही आकाश का रोमन्थ नहीं हो सकता। उसी तरह आपलोगों का यह आक्षेप भी बिल्कुल असंभव है।] जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि में उपरंजक (रँगनेवाले) द्रव्यों के भेद के कारण नीले, लाल, पीले तथा अन्य रंगों की प्रतीति होती है उसी तरह संबन्धी के भेद के कारण, सत्ता की प्रतीति, उससे संबद्ध वस्तु के स्वरूप-भेद के रूप में होती है। इस तरह 'गो' की सत्ता (वैयक्तिक सत्ता) के रूप में गोत्व आदि [जाति की जो सत्ता है उसी से विभिन्न वस्तुओं के] भेद पर आधारित व्यवहार की विलक्षणता मालूम पड़ती है। [अभिप्राय यह है कि परमसत्ता ब्रह्म ही शब्दों का अर्थ है पर शब्दों में अर्थ को लेकर भेद क्यों है ? चूँकि सत्ता के संबन्धी घट, पट आदि द्रव्यों की घटसत्ता, पटसत्ता आदि है और इन वैयक्तिक सत्ताओं के रूप में घटत्वजाति, पटत्वजाति आदि जातियों की सत्ता है इसलिए परमसत्ता ब्रह्म के विवर्तरूप इन सत्ताओं के चलते शब्दार्थ में भेद पड़ता है। स्फटिक पर नाना प्रकार के रंग पड़ते हैं। उसी तरह संबन्धियों के भेद से सत्ता पर अनेक अर्थों का आरोपण होता है।]

ऐसा ही आप्त (प्रामाणिक) वाक्य है—'जैसे स्फटिक स्वच्छ द्रव्य ही है, पृथक्-पृथक् नीले, लाल, पीले रंगों के पड़ने से उसके वर्णों को प्राप्त कर लेता है, [वैसे ही सत्ता भी विभिन्न संबन्धियों के भेद से विभिन्न अर्थों को धारण कर लेती है ।]'

तथा हरिणाप्युक्तम्—

१३. संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥
(वाक्य० ३।१।३३) ।

१४. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥
(वाक्यप० ३।१।३४) इति ।

वही भर्तृहरि ने भी कहा है—'सम्बन्धी (घट, पट आदि) के भेद से सत्ता (परम सत्ता) ही गो-आदि के रूप में भिन्न होकर जाति कहलाती है उसी में सभी शब्दों की व्यवस्था होती है ॥ १३ ॥

उसी जाति को प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ भी कहते हैं, वह जाति (सभी पदार्थों में स्थित संविद्रूपी सत्ता) नित्य है, वही महान् आत्मा (ब्रह्म) है, त्व, तल् आदि भाव-प्रत्यय उसी का पोषण करते हैं ॥ १४ ॥'

विशेष—महासत्ता नाम की एक ही जाति है, वही ब्रह्म है, गोत्व, अश्वत्वादि उसी के विवर्त हैं । आश्रयरूपी सम्बन्धी का भेद पड़ने से यह महासत्ता ही गोत्व आदि जाति के रूप में आती है । अभाव को भी महासत्ता से संबद्ध मानकर पदार्थ कहते हैं अतः महासत्ता को प्रादिपदिकार्थ के रूप में भी गृहीत करते हैं । धातु भी क्रियारूपी व्यक्तियों में समवेत होने वाली महासत्ता की अभिव्यक्ति करता है । ऐसी अवस्था में महासत्ता में क्रियारूपी उपाधियों के कारण अनेकता आती है । (देखिये, वाक्यपदीय का संबद्ध स्थल) । माधवाचार्य इसकी व्याख्या आगे करते हैं ।

आश्रयभूतैः संबन्धिभिर्भिद्यमाना कल्पितभेदा गवाश्वादिषु सत्तैव महासामान्यमेव जातिः । गोत्वादिकमपरं सामान्यं परमार्थतस्ततो भिन्नं न भवति । गोसत्तैव गोत्वं, नापरमन्वयि प्रतिभासते । एवमश्वसत्ताऽश्वत्वमित्यादि वाच्यम् । एवं च

तस्यामेव गवादिभेदभिन्नायां सत्तायां जातौ सर्वे गोशब्दादयो वाचकत्वेन व्यवस्थिताः।

आधार के रूप में जो संबन्धी हैं उनके द्वारा भेद किये जाने पर, जो भेद वस्तुतः कल्पित है वास्तविक नहीं, गो-अश्व आदि में रहनेवाली सत्ता ही महा-सामान्य (Summum genus) या जाति है। गोत्व आदि जो अपर (नीचे के) सामान्य हैं, वास्तव में उस (महासामान्य) से भिन्न नहीं हैं। गो की सत्ता (सभी गो-व्यक्तियों में अनुस्यूत सत्ता) ही गोत्व है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा संबन्धी प्रतिभासित नहीं होता। इसी तरह अश्व की सत्ता ही अश्वत्व है, दूसरा कुछ नहीं—ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार गो आदि (आधार) के भेद के कारण भिन्न प्रतीत होने वाली उसी सत्ता अर्थात् जाति में गो आदि सभी शब्द वाचक से रूप में व्यवस्थित हैं। [रामानुज-दर्शन में भी सभी शब्दों को परमात्मा का ही वाचक माना गया है देखिये—रा० द० अनुच्छेद १२, पृ० २०६।]

प्रातिपदिकार्थश्च सत्तेति प्रसिद्धम्। भाववचनो धातुरिति पक्षे भावः सत्तैवेति धात्वर्थः सत्ता भवत्येव। क्रियावचनो धातुरिति पक्षेऽपि 'जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्' इति क्रियासमुद्देशे (वा० प० ३।८) क्रियाया जातिरूपत्व-प्रतिपादनाद्धात्वर्थः सत्ता भवत्येव।

इस प्रकार प्रातिपदिकार्थ को सत्ता भी कहते हैं यह तो प्रसिद्ध ही है। [अब धात्वर्थ को सत्ता कैसे कहते हैं, यह देखें] 'धातु वह है जो भाव का वाचक हो' यदि यह लक्षण मानते हैं तब तो भाव के सत्ता होने के कारण धात्वर्थ को सत्ता कहेंगे ही। यदि धातु का दूसरा लक्षण देते हैं कि क्रिया का वाचक धातु है तब तो 'कुछ लोग अनेक व्यक्तियों (Individuals) में विद्यमान रहनेवाली क्रिया को जाति कहते हैं' इस प्रकार भर्तृहरि ने जो वाक्यपदीय के क्रिया-समुद्देश (३।८) में क्रिया को जाति का रूप माना है उसी से सिद्ध होता है कि धात्वर्थ भी सत्ता है। [सभी पाचक-व्यक्तियों में अवस्थित जो पाचकत्व-जाति है वही पचन-क्रिया है, इस प्रकार वह भी जाति या सत्ता है ही।]

'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा० सू० ५।१।११९) इति भावार्थे त्वतलादीनां विधानात्सत्तावाचित्वं युक्तम्। सा च

सत्ता उदयव्ययवैधुर्यान्नित्या। सर्वस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्ततया देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छेदराहित्यात्सा सत्ता महानात्मेति व्यपदिश्यत इति कारिकाद्वयार्थः।

'किसी पदार्थ का भाव—इस अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं' (पा० सू० ५।१।११९) इस सूत्र के द्वारा भाव के अर्थ में होने वाले त्व, तल् और अन्य प्रत्ययों का भी विधान करने से, ये प्रत्यय सत्तावाचक हैं, ऐसा कहना युक्तिसंगत है। उत्पत्ति और विनाश से रहित होने के कारण यह सत्ता नित्य है। यह सारा प्रपंच (संसार, उसके पदार्थ) उस सत्ता के ही विवर्त (प्रतिभासित रूप) हैं, वह सत्ता देश के परिच्छेद से रहित है (स्थान की सीमा में नहीं बाँधी जा सकती—सर्वत्र होने के कारण वह व्यापक है), काल की सीमा भी उसमें नहीं (क्योंकि नित्य है) तथा वस्तु का बंधन भी उस पर नहीं है [कि यह सत्ता किसी एक ही वस्तु में है—यह तो सभी वस्तुओं का आधार है क्योंकि वस्तुओं और सत्ता में अभेद-सम्बन्ध है], इसलिए इस सत्ता को 'महान् आत्मा' ऐसा कह कर पुकारते हैं। [यह प्रपञ्च महान् या अनादि है, सत्ता में ही अवभासित होता है अतः तीन प्रकार के परिच्छेदों (limitations) से रहित होने के कारण 'ब्रह्म' के रूप में ही है।] यही दोनों कारिकाओं (वा० प० ३।१।३३-३४) का अर्थ है।

विशेष—स्मरणीय है कि माधवाचार्य वाक्यपदीय को पाणिनि-दर्शन का आधारग्रन्थ मानते हैं क्योंकि प्रमाण देने में या दार्शनिक तथ्यों को समझाने में वे बार-बार उसी का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः भर्तृहरि ने (६६० ई०) महाभाष्य में विशृंखलित दार्शनिक विचारधाराओं को संकलित करके पाणिनि-व्याकरण को एक दर्शन का रूप दे दिया। इनका वाक्यपदीय ही भट्टोजिदीक्षित (१५७८ ई०) की कृति—वैयाकरणसिद्धान्तकारिका—का उपजीव्य था। दीक्षित की उक्त कृति पर कोण्डभट्ट (१६४०) ने वैयाकरण-भूषण नाम की टीका लिखी। नागेश भट्ट (१७१४) ने व्याकरण के अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनि-दर्शन पर अपनी मंजूषायें (बृहत्, लघु और परमलघु) प्रस्तुत कीं। इन सबोंने प्रायः निम्नलिखित विषयों पर विचार प्रकट किये थे—स्फोट, शक्ति, वाक्यार्थ, धात्वर्थ, लकारार्थ, कारक, प्रातिपदिकार्थ, समासादि की वृत्तियाँ आदि। कुछ वैयाकरणों तथा नैयायिकों ने भी इनमें एकाध विषय को लेकर अपने स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे थे। यह पाणिनिदर्शन की रूपरेखा थी। माधवाचार्य ने सभी विषयों पर 'दर्शन' में विचार नहीं किया है। दुःख है कि अभी तक ये सभी विचार दूसरी भाषाओं के पाठकों तक नहीं पहुँचे। बंगला

में एक बहुत ही प्रौढ़ ग्रन्थ 'व्याकरणदर्शनेर इतिहास' (प्रथम खण्ड) श्रीगुरुपद हालदार ने लिखा है जिसमें व्याकरण के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों पक्षों पर सुलझे और विस्तृत विचार दिये गये हैं। अंगरेजी में प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती का Philosophy of Grammar (व्याकरण-दर्शन) पीएच्० डी० की थीसिस है जिसमें कुछ प्रश्नों का सामान्य विश्लेषण किया गया है। डा० कपिलदेव द्विवेदी की थीसिस 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' भी इस दिशा का स्तुत्य प्रयास है, पर ये सभी ग्रन्थ सामान्य दृष्टिकोण से—व्याकरण को दर्शन मानकर—नहीं लिखे गये हैं।

(१०. द्रव्य को पदार्थ माननेवालों का विचार)

द्रव्यपदार्थवादिनोऽपि नये संविल्लक्षणं तत्त्वमेव सर्वशब्दार्थ इति सम्बन्धसमुद्देशे समर्थितम्—

१५. सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥
(वा० प० ३।२।२)

[ऊपर जाति को पदार्थ मानने वालों का विचार दिया गया है कि जाति सत्ता से भिन्न नहीं है, इसलिए परमार्थ-ज्ञान के रूप में सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। अब व्यक्ति अर्थात् द्रव्य को पदार्थ मानने वाले लोगों के मत से भी अर्थ वही है, यह कहते हैं —] द्रव्य (= घटादि व्यक्ति) को पदार्थ मानने वालों के सिद्धान्त के अनुसार भी सभी शब्दों का अर्थ वह तत्त्व (सत्ता नामक) ही है जो संवित् अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान से लक्षित होता है। [घटादि पदार्थों के व्यक्ति (Individual) रूप को द्रव्य कहते हैं। वृद्ध के व्यवहार से जब शक्तिग्रह होता है तब 'गाय लाओ, घोड़े को बाँध दो' आदि वाक्यों के द्वारा, विभिन्न क्रियाओं के विषय के रूप में आनेवाले व्यक्ति-रूपों के ही दर्शन होते हैं, जाति के नहीं। अतः इन लोगों के अनुसार जाति से विशिष्ट व्यक्ति (द्रव्य) ही शब्द का अर्थ है।]

उक्त तथ्य का समर्थन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के संबन्धसमुद्देश (३।२।२) में किया है—'जिस प्रकार सत्य वस्तु का निश्चय उसी के आकार से युक्त असत्य वस्तुओं के द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार असत्य (द्रव्यात्मक) उपाधियों के द्वारा शब्द भी सत्य का ही निर्देश करते हैं।' [जैसे किसी व्यक्ति ने वास्तविक सिंह नहीं देखा हो, उसे सिंह का आकार-प्रकार समझाने के लिये सिंह का चित्र या मूर्ति दिखलाते हैं। यद्यपि चित्र या मूर्ति का सिंह सत्य नहीं, असत्य ही है, परन्तु

उसी से सच्चे सिंह का निश्चय कर लेते हैं कि वह ऐसा ही होता है। उसी प्रकार ये द्रव्य केवल उपाधियाँ हैं, पदार्थ-बोध के सहायक हैं तथा असत्य हैं किन्तु इन्हीं द्रव्यों के द्वारा शब्द अन्त में हमें सत्य तक—अर्थात् महासत्ता ही सब शब्दों का अर्थ है वहाँ तक—पहुँचा देता है।]

विशेष—भर्तृहरि ने ठीक ऐसी ही भावना इस श्लोक में भी की है—

उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

अर्थात् व्याकरणशास्त्र वास्तव में उपाय (साधन) है जैसे सीखने वाले बालकों के लिए उपलालन (लाड़-प्यार) का प्रयोग होता है। इस प्रकार असत्य मार्ग से होकर कुछ दिनों के बाद बालक सत्य मार्ग पर पहुँच जाता है। वह समझ लेता है कि उपलालन एक बहाना है, सत्य तो अध्ययन है। (वाक्य० २।२४०)।

१६. अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा।
गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥

भाष्यकारेणापि 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इत्येतद्वार्तिकव्याख्यानावसरे द्रव्यं हि नित्यमित्यनेन ग्रन्थेनासत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यं सर्वशब्दार्थ इति निरूपितम्।

"अध्रुव या अस्थायी निमित्त के द्वारा 'यह देवदत्त का घर है' ऐसा ग्रहण होता है, परन्तु 'गृह' शब्द से शुद्ध-गृह का ही बोध होता है (निमित्तयुक्त गृह का नहीं)।" [अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा देवदत्त का घर पूछने पर दूसरा कहता है कि कौए वाला घर राम का है। यद्यपि कौआ घर पर अस्थिर ही है, परन्तु उस निमित्त (कारण, संकेत) से देवदत्त के घर का पता लग जाता है। किन्तु गृह शब्द से काकरहित गृह का ही बोध होता है—जो लक्ष्य है। उसी तरह गो, घट आदि शब्दों से व्यक्ति (गोव्यक्ति, घटव्यक्ति) को आगे रखकर उसी के माध्यम से इन व्यक्तियों (निमित्तों) से रहित 'सत्ता' पर पहुँचते हैं जो सत्य तत्त्व है। किसी भी दशा में शब्द सत्ता के ही बोधक हैं।]

'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' (शब्द, अर्थ तथा उनका सम्बन्ध सिद्ध है)—इस वार्त्तिक (सं० १) के व्याख्यान के समय भाष्यकार ने 'द्रव्य चूँकि नित्य है' यह कहते हुए निरूपित किया है कि असत्य उपाधियों से व्याप्त ब्रह्मतत्त्व, जो द्रव्य शब्द के द्वारा अभिहित होता है, सभी शब्दों का अर्थ है। [जब आशंका की जाती है कि क्या पाणिनि ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की सृष्टि की है या केवल स्मरण किया है तब उत्तर में उक्त वार्तिक रखा जाता है। सिद्ध =

नित्य। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है उनके ज्ञापन के लिए ही पाणिनि प्रवृत्त हुए हैं। अर्थ के विषय में पक्ष हो सकते हैं—जाति अर्थ है या व्यक्ति? दोनों पक्षों में अर्थ नित्य ही रहता है। जाति को पदार्थ मानने पर तो जाति सत्ता है, इसलिए वह नित्य है ही। सत्ता के अतिरिक्त जाति को अलग मानने-वाले (नैयायिकादि) भी जाति को नित्य ही मानते हैं। यदि द्रव्य को पदार्थ मानें तो पतंजलि ने भाष्य (पृ० ७) में कहा है—'द्रव्यं हि नित्यम्'। अब यदि द्रव्य से गो, घट आदि पार्थिव द्रव्य का अर्थ लेंगे तब तो ये अनित्य हैं अतः पतंजलि की बात झूठी हो जायगी। इसलिए कैयट ने कहा है कि असत्य उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही यहाँ 'द्रव्य' शब्द से समझना चाहिए। जाति, व्यक्ति दोनों ही पक्षों में परमार्थ-संवित् से लक्षित ब्रह्म की सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। उक्त वार्तिक से मालूम होता है कि अर्थ से युक्त शब्द भी नित्य ही हैं। अतः स्फोट के रूप में जो नित्य शब्द है वही वाचक है, वर्णों के रूप में रहने वाली अनित्य ध्वनि नहीं। जैसा कि पहले कह चुके हैं ध्वनि केवल व्यंजक है जो स्फोट को अभिव्यक्त करती है—वाचकता तो स्फोट शब्द में ही है। अतः स्फोट सिद्ध हो गया।]

(११. जाति और व्यक्ति को पदार्थ माननेवालों के विचार)

जातिशब्दार्थवाचिनो वाजप्यायनस्य मते गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतजातिमभिदधति। तस्यामवगाह्यमानायां तत्सं-बन्धाद् द्रव्यमवगम्यते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तत्संबन्धात्प्रत्ययः। द्रव्ये सम्बन्धि-सम्बन्धात्।

'जाति को ही शब्दार्थ माननेवाले वाजप्यायन के अनुसार, 'गो' आदि शब्द भिन्न-भिन्न द्रव्यों में (संज्ञाओं या व्यक्तियों में) समवेत जाति का ही अभिधान करते हैं। जाति में अवगाहन करने के बाद (= जाति की प्रतीति होने पर) उसके सम्बन्ध से द्रव्य का ज्ञान होता है। शुक्ल आदि शब्द गुण से समवेत जाति का ही अभिधान करते हैं। उसके साथ सम्बन्ध होने से गुण की प्रतीति होती है। द्रव्य की प्रतीति तो [उस प्रकार की जाति के] सम्बन्धी गुण के सम्बन्ध से होती है।

विशेष—वाजप्यायन जाति को पदार्थ मानते हैं, व्याडि व्यक्ति को। पाणिनि के मत से दोनों ही पदार्थ हैं। इन पक्षों का वर्णन भी यथास्थान प्राप्त होगा।

शब्दों के चार भेद होते हैं—जाति, गुण, संज्ञा और क्रिया। ये भेद प्रवृत्ति-निमित्त (शब्दों के व्यवहार के कारण) में भेद पड़ने के कारण होते हैं। जो शब्द जाति के व्यवहार का कारण हो वह जाति-शब्द है, आदि-आदि। इनके उदाहरण 'गौः, शुक्लः, डित्थः तथा चलः' हैं। एक ही व्यक्ति 'गो' पर ये चारों शब्द प्रयुक्त होते हैं। उस व्यक्ति (Individual) गो में गोत्व **जाति** जानकर 'गौः' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसी गो-व्यक्ति में शुक्ल **गुण** को जानकर 'शुक्लः' शब्द का प्रयोग (प्रवृत्ति) करते हैं। उसी में चलन-**क्रिया** देखकर 'चलः' शब्द की प्रवृत्ति होती है और उसी व्यक्ति की 'डित्थ' **संज्ञा** (Name) देख कर 'डित्थः' शब्द की प्रवृत्ति भी होती है।

अब इस पर अनेक मत होंगे। प्रवृत्ति का निमित्त जात्यादि हैं और वे ही उन-उन शब्दों के वाच्य अर्थ हैं। व्यक्ति उसी पर आश्रित है अतः उसकी प्रतीति आक्षेप (Projection) आदि साधनों से ही होती है। एक यह मत है जिसके अनुयायी वाजप्यायन हैं किन्तु वे यह मानते हैं कि चारों प्रवृत्ति के निमित्त नहीं हैं किन्तु सभी शब्द जाति के रूप में ही हैं। दूसरा वह मत है जिसमें कहा जाता है कि प्रवृत्तिनिमित्त अनेक व्यक्तियों (individuals) में अनुगमन करता है अतः केवल उनका उपलक्षण (संकेतमात्र) है, व्यक्ति ही वाच्यार्थ है। तीसरे मत में प्रवृत्ति-निमित्त से विशिष्ट व्यक्ति को वाच्यार्थ मानते हैं।

वाजप्यायन के मत का विश्लेषण करें—अर्थ केवल जाति ही है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत (inherent नित्य रूप से संबद्ध) गोत्वजाति ही 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। वह (जाति) ही उसका वाच्यार्थ है। घटादि में वर्तमान जो शुक्ल गुण है उसमें भी शुक्लत्वजाति है जो 'शुक्ल' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। वह शुक्लत्व (जाति) ही 'शुक्ल' शब्द का वाच्यार्थ है। 'शुक्ल' शब्द से शुक्ल-गुण की प्रतीति उसी जाति के संबन्ध से होती है। शुक्ल गुण से विशिष्ट घटादि द्रव्य की प्रतीति (= उजले घड़े का ज्ञान) 'शुक्ल' शब्द से होती है अर्थात् 'शुक्लत्व जाति' के सम्बन्धी 'शुक्ल' गुण के सम्बन्ध से होती है (द्रव्ये सम्बन्धिसंबन्धात्)।

उसी प्रकार अनेक 'चलन' क्रियाओं में विद्यमान चलनत्व जाति 'चल' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है और वह जाति ही उसका वाच्यार्थ है। 'चल' शब्द से चलन क्रिया की प्रतीति उपर्युक्त (चलनत्व) जाति के संबंध से ही होती है। क्रिया के आधार के रूप में देवदत्त आदि (देवदत्तः चलति—वाक्य में) का बोध उस जाति की सम्बन्धी क्रिया के संबन्ध से ही होता है। 'डित्थ' नाम का

पशु यद्यपि एक ही है परन्तु शैशव, यौवन आदि अवस्थाओं के भेद से उस प्रकार के अनेक व्यक्तियों में विद्यमान डित्थत्व जाति ही 'डित्थ' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, वही उसका वाच्यार्थ है। व्यक्ति का बोध डित्थत्व के आश्रय या आधार के रूप में होता है। इस प्रकार वाजप्यायन के मत से जाति ही वाच्यार्थ है।

संज्ञाशब्दानामुत्पत्तिप्रभृत्या विनाशाच्छैशवकौमारयौवनाद्यवस्थादिभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययबलात्सिद्धा देवदत्तत्वादिजातिरभ्युपगन्तव्या। क्रियास्वपि जातिरालक्ष्यते। सैव धातुवाच्या। पचतीत्यादावनुवृत्तप्रत्ययस्य प्रादुर्भावात्।

संज्ञा-शब्दों (Proper names) में उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्यन्त शैशव, कौमार, यौवन आदि अवस्थाओं का भेद पड़ने पर भी, 'यह वही है'--इस तरह के अभेद की प्रतीति होती है जिससे देवदत्तत्वादि जाति सिद्ध होती है। क्रियाओं में भी जाति की ही प्रतीति होती है और उसे ही 'धातु' नाम से पुकारते हैं। 'पचति' इत्यादि क्रियाओं में सभी में क्रिया के अनुवृत्त होने की प्रतीति होती है (जितने लोग पाक कर रहे हैं उन सबों में 'पचति' का ही अनुवर्तन होता है)।

द्रव्यपदार्थवादिव्याडिनये शब्दस्य व्यक्तिरेवाभिधेयतया प्रतिभासते। जातिस्तूपलक्षणतयेति नानन्त्यादिदोषावकाशः।

द्रव्य (व्यक्ति) को पदार्थ मानने वाले व्याडि-आचार्य के मत से अभिधेय के रूप में शब्द का व्यक्ति ही प्रतिभासित होता है [जाति नहीं]। जाति तो केवल उपलक्षण या संकेत के रूप में प्रतिभासित होती है अतः व्यक्ति के आनन्त्य आदि का दोष इस पर नहीं लग सकता। [ऐसी शंका हो सकती है कि अनंत गो-व्यक्ति होने के कारण 'गो' शब्द का अर्थ जानना कठिन है। किन्तु उत्तर यह होगा कि गोत्व-जाति से सभी गो-व्यक्तियों का ज्ञान हो जायगा। ऐसी दशा में गोत्व-जाति गोव्यक्ति का उपलक्षण है, वाच्यार्थ नहीं।]

(१२. पाणिनि के मत से पदार्थ—जाति-व्यक्ति दोनों है)

पाणिन्याचार्यस्योभयं संमतम्। यतो जातिपदार्थमभ्युपगम्य 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इत्यादिव्यवहारः। द्रव्यपदार्थमङ्गीकृत्य 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) इत्यादिः।

व्याकरणस्य सर्वपार्षदत्वान्मतद्वयाभ्युपगमे न कश्चिद्विरोधः । तस्मादद्वयं सत्यं परं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दार्थ इति स्थितम् ।

आचार्य पाणिनि को [शब्दार्थ रूप में जाति और द्रव्य या व्यक्ति] दोनों ही मान्य है। इसका कारण यह है कि जाति को पदार्थ मानकर उन्होंने 'जात्याख्यायाम्—' (अर्थात् जाति का वर्णन करने पर एकवचन शब्द विकल्प से बहुवचन होता है—पा० सू० १।२।५८) इत्यादि सूत्रों का प्रयोग किया है। [ऊपर के सूत्र के उदाहरण में 'ब्राह्मणः पूज्यः' और 'ब्राह्मणा पूज्याः' देते हैं जिनका अर्थ है कि ब्राह्मण जाति पूज्य है। यहाँ ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्राह्मणत्व जाति। अतः पाणिनि को जाति पदार्थ मान्य है।] द्रव्य को पदार्थ मानकर पाणिनि ने 'सरूपाणाम्—' (अर्थात् एक समान विभक्ति में रहने वाले जितने सरूप शब्द हैं उनमें एक ही शब्द बच रहता है—पा० सू० १।२।६४) इत्यादि लिखा है। [उदाहरण है—रामश्च रामश्च रामौ। यदि यह सूत्र नहीं होता तो 'घटश्च पटश्च घटपटौ' की तरह द्वन्द्वसमास में यहाँ भी 'रामरामौ' होता। व्यक्ति अनेक होते हैं इसलिए उनके अनुसार कई 'राम' शब्दों का प्रयोग एक ही साथ होता—उसे रोकने के लिए यह एकशेष-विधायक सूत्र है। किसी भी दशा में व्यक्ति को पदार्थ मानने का श्रेय इस सूत्र को प्राप्त है।]

व्याकरण-शास्त्र सभी सभासदों के लिए समान है अतः दोनों मतों को मान लेने में कोई विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। [व्याकरण सभी लोगों के मतों पर ध्यान रखता है, जनतांत्रिक है अतः सभी मतों को माना जा सकता है। हाँ, उनमें परस्पर विरोध न हो।] इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अद्वैत, सत्य तथा परम (सर्वोच्च) ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का अर्थ है [चाहे वह जाति पक्ष हो या व्यक्ति-पक्ष। जाति-पक्ष में गोत्वादि जातियों को ब्रह्म की सत्ता से पृथक् मानते ही नहीं। व्यक्ति (द्रव्य)—पक्ष में असत्य व्यक्ति की उपाधि के द्वारा सत्य ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन होता है।]

तदुक्तम् (वा० प० ३।३।८७)—

१७. तस्माच्छक्तिविभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते ॥ इति ।

सत्यस्वरूपमपि हरिणोक्तं सम्बन्धसमुद्देशे (७२)—

१८. यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितम् ।

तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥ इति ।

द्रव्यसमुद्देशेऽपि (वा० प० ३।२।१५)—

१९. विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा ।
विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम् ॥ इति ।

ऐसा ही कहा गया है—'इसलिए शक्ति (शब्दार्थ बोध करानेवाली शक्ति) का विभाग करने से जब शब्द के वाच्यत्व की अवस्था आती है तब वही एकात्मक अर्थ जो सत्य, सर्वव्यापक तथा सद्रूप है, बहुत रूपों में प्रकाशित हो जाता है।' [विभिन्न शब्दों की सामर्थ्य का विभाजन करने पर वे शब्द वाच्यार्थ का बोध कराते हैं किन्तु ये सारे अर्थ उस एकात्मक सत्य ब्रह्मसत्ता के ही आभास हैं।]

भर्तृहरि ने सम्बन्ध-समुद्देश में अर्थ के सत्यस्वरूप का वर्णन भी किया है—'त्रयी (वेद) के अन्त (वेदान्त) को जाननेवालों का कहना है कि जहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (वस्तु) तथा दर्शन (क्रिया)—इन तीनों की कल्पना नहीं रहती है, उसी [आत्मारूपी एकात्मक] अर्थ को सत्य कहते हैं ॥१८॥' द्रव्यसमुद्देश में भी वे कहते हैं—'जो विकार की अवस्था आने पर भी सच्चा ही बना रहे जैसे कुण्डल बन जाने पर भी स्वर्ण की सत्ता रहती है, तथा जिसमें विकार का आना जाना होता रहे उसे ही परम प्रकृति कहते हैं ॥ १९ ॥'

(१३. अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि)

अभ्युपगताद्वितीयत्वनिर्वाहाय वाच्यवाचकयोरविभागः प्रदर्शितः (वा० प० ३।२।१६)—

२०. वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक्कृतः ।
अपृथक्त्वेऽपि संबन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ॥ इति ।

तत्तदुपाधिपरिकल्पितभेदबहुलतया व्यवहारस्याविद्यामात्रकल्पितत्वेन प्रतिनियताकारोपधीयमानरूपभेदं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दविषयः। अभेदे च पारमार्थिके संवृतिवशाद् व्यवहारदशायां स्वप्नावस्थावदुच्चावचः प्रपञ्चो विवर्तत इति कारिकार्थः ।

ऊपर सिद्ध किये गये अद्वैत-तत्त्व के निर्वाह के लिए वाच्य (ब्रह्मसत्ता) और वाचक (स्फोट) में अभेद भी दिखलाया गया है—'वह (ब्रह्मसत्ता) सभी शब्दों का वाच्य है, वह उस (नित्य स्फोट-रूपी) शब्द से पृथक् नहीं है। पृथक् न होने पर भी उन दोनों का संबन्ध जीव और परमात्मा की तरह है।'

[यद्यपि ब्रह्मसत्ता और स्फोट एक ही हैं पर कल्पना के कारण उन दोनों का पारस्परिक संबन्ध प्रतिभासित होता है। जीव और परमात्मा एक ही है परन्तु कल्पना से ही व्यवहारदशा में उन दोनों में नियाम्य-नियामक-भाव का संबन्ध प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार स्फोट और ब्रह्मसत्ता का संबन्ध है जो काल्पनिक है।]

ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का विषय (वाच्य) है; उस (ब्रह्मतत्त्व) में प्रत्येक वस्तु के निश्चित आकार के अनुसार रूप के भेदों का आरोपण होता है किन्तु यह उन वस्तुओं की उपाधियों (Conditions) के द्वारा कल्पित भेदों के बाहुल्य के कारण तथा व्यवहारदशा को केवल अविद्या मान लेने के कारण होता है। चूँकि अभेद पारमार्थिक (वास्तविक) है अतः संवृति (आवरण, कल्पना) के कारण, व्यवहार–दशा में, स्वप्नावस्था की तरह, नाना प्रकार के प्रपंच (विस्तारपूर्ण वस्तुएँ) भ्रम से दिखलाई पड़ते हैं। यही उक्त कारिका (वाक्य० ३।२।१६) का अर्थ है।

तदाहुर्वेदान्तवादनिपुणाः—

२१. यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ।
एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः ॥ इति ।

तदित्थं कूटस्थे परस्मिन्ब्रह्मणि सच्चिदानन्दरूपे प्रत्यगभिन्नेऽवगतेऽनाद्यविद्यानिवृत्तौ तादृग्ब्रह्मात्मनावस्थानलक्षणं निःश्रेयसं सेत्स्यति ।

उसे वेदान्त-मत के विशेषज्ञों ने व्यक्त किया है—'जैसे यह स्वप्न का प्रपंच मेरे अन्दर की माया की वृद्धि के कारण है वैसे ही यह जागृतावस्था का प्रपंच भी मेरे अन्दर की माया की वृद्धि के कारण ही है। [जागृतावस्था के स्तर से हम स्वप्न की बातों को मिथ्या मानते हैं वैसे ही पारमार्थिक दशा के स्तर से जागृतावस्था की चीजों को भी मिथ्या ही कहना चाहिए।]'

तो इस प्रकार कूटस्थ, परमब्रह्म जो सच्चिदानन्द के रूप में तथा जीव (प्रत्यक्) से अभिन्न हैं, उन्हें जान लेने पर अनादिकाल से चली आनेवाली अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तथा उस निःश्रेयस की प्राप्ति होती है जिसमें साधक ब्रह्म के रूप में अवस्थित हो जाता है।

(१४. व्याकरण से मोक्षप्राप्ति)

'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' (महाभारत,

शा० प० अ० २७०) इत्यभियुक्तोक्तेः । तथा च शब्दानुशासनशास्त्रस्य निःश्रेयससाधनत्वं सिद्धम् । तदुक्तम्—

२२. तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते ॥
(वाक्यपदीयम् १।१४) इति ।

तथा—

२३. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥
(वाक्य० १।१६) इति ।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रं परमपुरुषार्थसाधनतयाऽध्येतव्यमिति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पाणिनिदर्शनम् ॥



बड़े लोगों का भी कहना है कि शब्दब्रह्म में प्रवीण होकर पुरुष परब्रह्म (मोक्ष, ब्रह्मसायुज्य) की प्राप्ति करता है। (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २७०)। इस तरह शब्दानुशासन (व्याकरण) शास्त्र मोक्ष का साधन है यह सिद्ध होता है। वही कहा भी है—'वह (व्याकरण-शास्त्र) अपवर्ग का साधन है, [पाप को उत्पन्न करने वाले अपशब्द रूपी] वाणी के मलों की चिकित्सा करने वाला है, सभी विद्याओं में पवित्र है तथा सभी विद्याओं में इसकी पूछ है' (वाक्य० १।१४)। [चूँकि सभी शास्त्रों में अर्थ शब्दों से ही लिया जाता है और शब्द का संस्कार व्याकरण के अधीन है अतः सबों को प्रकाशित करने वाला व्याकरण ही है।] उसी तरह—'यह (व्याकरण) सिद्धि के सोपान-खण्डों में पहला सोपान है—मोक्ष प्राप्त करने वालों के लिए तो यह सीधी सड़क ही है।' (वही, १।१६)।

अतः परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के उपाय के रूप में व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए—यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पाणिनिदर्शनमवसितम् ॥



(१४) सांख्य-दर्शनम्

तत्त्वद्वयं स पुरुषः प्रकृतिर्द्वितीया
धत्ते गुणानपि च सत्त्वरजस्तमांसि ।
सर्वं जगच्चलति तत्परिणामरूपं
तत्सांख्यकारमिह तं कपिलं नमामि ।।—ऋषिः ।

(१. सांख्य-दर्शन के तत्त्व)

अथ सांख्यैराख्याते परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथंकारं विवर्तवादः आदरणीयो भवेत् । एष हि तेषामाघोषः । संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रे चतस्रो विधाः संभाव्यन्ते । कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिद्विकृतिप्रकृतिश्च, कश्चिद्विकृतिरेव, कश्चिदनुभय इति ।

सांख्य-दार्शनिकों का कहा हुआ परिणामवाद है, इस विरोधी सिद्धान्त के जगे रहने पर भी [पाणिनि-दर्शन का] विवर्तवाद कैसे सम्मानित हो सकता है ?—उन सांख्यों का यही नारा है । संक्षेप में सांख्य-शास्त्र में [कहे गये पदार्थों के] चार प्रकार हो सकते हैं—कुछ पदार्थ केवल प्रकृति (मूल रूप है), कुछ प्रकृति और विकृति दोनों हैं, कुछ केवल विकृति ही हैं और कुछ पदार्थ दोनों में से कुछ भी नहीं (= पुरुष) ।

विशेष—जब सत्तायुक्त (existent) द्रव्य एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब इस क्रिया को **परिणाम** या विकास (evolution) कहते हैं, सांख्यों का मत है कि प्रकृति-आदि तत्त्व अपने-अपने कार्य के रूप में परिणत होते हैं । कार्य की सत्ता कारण के रूप में है जो निमित्त कारण के व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है । इसे सत्कार्यवाद कहते हैं । इसी के आधार पर ये लोग परिणामवाद भी मानते हैं । इसमें कारण की अवस्था तथा कार्यावस्था, दोनों दशाओं में द्रव्य सत्तायुक्त ही रहता है । विकार, परिणाम, विकास, अभिव्यक्ति, सत्कार्य—ये एकार्थक शब्द हैं, इनमें किसी वाद से सांख्य का ही बोध होता है । **विवर्तवाद** परिणामवाद का उलटा है । जब द्रव्य अपना पहला रूप न छोड़े किन्तु किसी भिन्न असत् रूप में दिखलाई पड़े तो इसे विवर्त कहते हैं जैसे रस्सी (मूल रूप) का साँप के रूप में दिखलाई पड़ना।

इसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता किन्तु भ्रान्ति से वैसा रूपान्तर केवल प्रतीत होता है। वैयाकरण तथा अद्वैत वेदान्ती लोग विवर्तवाद मानते हैं। उनका कहना ब्रह्म अधिष्ठान (आधार, मूल तत्त्व) है, यह सम्पूर्ण संसार उसी ब्रह्म का विवर्त है—भ्रान्ति से प्रतीत होता है कि यह जगत् ब्रह्म से पृथक् है, यहाँ नाना प्रकार की सत्तायें हैं आदि। वैयाकरण शब्दतत्त्व को ही ब्रह्म कहते हैं, यह दूसरी बात है। वेदान्तसार में सदानन्द ने दोनों वादों का अन्तर बहुत संक्षिप्त और सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तत्त्व के साथ (वास्तव में) दूसरे रूप में समझना **विकार** है, तत्त्व के विना (भ्रम से) दूसरे रूप में समझना **विवर्त** कहलाता है।

(२. प्रकृति का अर्थ)

तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः। नासावन्यस्य कस्यचिद् विकृतिः। प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्। तदुक्तं—'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सां० का० ३) इति। मूलं चासौ प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः।

महदादेः कार्यकलापस्यासौ मूलं न त्वस्य प्रधानस्य मूलान्तरमस्ति। अनवस्थापातात्। न च बीजाङ्कुरवदनवस्था-दोषो न भवतीति वाच्यम्। प्रमाणाभावादिति भावः।

इनमें केवल प्रकृति का अर्थ है 'प्रधान' के नाम से पुकारी जानेवाली मूल-प्रकृति। यह किसी भी दूसरे पदार्थ की विकृति (विकार) नहीं है। जो प्रकृष्ट रूप से (तत्त्वों का उत्पादन करते हुए) कार्य करे (प्र + √कृ) वही प्रकृति है—इस प्रकार की व्युत्पत्ति (निर्वचन) से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का बोध होता है' कहा भी है—'मूल-प्रकृति बिना विकृति के ही है' (सां० का० ३)। वह इसलिए मूल प्रकृति कहलाती है कि वह मूल भी है और प्रकृति (उत्पादक) भी।

महत् आदि कार्य-समूह का मूल (Root) वही प्रकृति ही है किन्तु इस प्रधान का कोई दूसरा मूल (कारण) नहीं। [यदि इस प्रधान के भी कारण

की खोज करेंगे तो] अनवस्था-दोष होगा। [प्रकृति का कारण खोजने पर उस कारण का भी कोई दूसरा कारण होगा—इस कारण-शृङ्खला का कहीं अन्त नहीं होगा, इसलिए कहीं पर ठहरना आवश्यक है। मूल-प्रकृति को ही अंतिम कारण मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगेगा।]

'बीज और अंकुर में जिस प्रकार अनवस्था-दोष नहीं लगता उसी प्रकार यहाँ भी नहीं होगा'—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता, यही अभिप्राय है। [बीज का कारण अंकुर है किन्तु अंकुर का कारण दूसरा ही बीज है, वह बीज नहीं। उस बीज का कारण भी दूसरा ही अंकुर है, वह अंकुर नहीं। इस प्रकार अनवस्था होने पर भी दोष नहीं होता क्योंकि प्रत्येक की गति में अन्तर है। उसी प्रकार यहाँ भी अनवस्था दोष के रूप में नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण से दो पदार्थों में परस्पर कार्यकारण-भाव सिद्ध हो जाता है वहाँ 'उन दोनों पदार्थों में कौन प्रथम है' इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर प्रवाह को अनादि मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगता। बीजांकुरन्याय इसे ही कहते हैं। प्रस्तुत स्थल में 'प्रधान या प्रकृति का अमुक कारण है' इस तरह का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इसलिए कार्य-कारण-भाव अप्रामाणिक है और अनवस्था-दोष हो ही जायगा।]

विशेष—प्रकृति में दो शब्द हैं—प्र और कृति। प्र का अर्थ है प्रकर्ष। दूसरे तत्त्व का आरम्भ करना प्रकर्ष है। जिस कारण से दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते हैं। मिट्टी के घड़े में पृथिवी से किसी दूसरे तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, न मिट्टी ही कोई दूसरा तत्त्व (घड़े के रूप में) उत्पन्न करती फिर भी मिट्टी को घड़े की प्रकृति कहते हैं। यहाँ प्रकृति का अर्थ उपादान-कारण समझते हैं और ऐसा व्यवहार लोक में चलता है। परंतु शास्त्रीय दृष्टि से तत्त्वान्तर को आरंभ करने वाली ही प्रकृति होती है। प्रकृति से इन पदार्थों का बोध होता है—प्रधान (मूल प्रकृति), महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र। इनमें प्रथम पाँच केवल या शुद्ध प्रकृति है पिछली सात प्रकृतियाँ समय पर विकृतियाँ भी हो जाती हैं क्योंकि ये मूल-प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। इनका वर्णन पीछे मिलेगा। अभी मूल-प्रकृति का वर्णन करें।

मूल-प्रकृति का दूसरा नाम **प्रधान** भी है। तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) के रूप में यह प्रधान रहता है। प्रधान की स्थिति में ये तीनों गुण बिल्कुल बराबर-बराबर रहते हैं। इसीलिए उन तीनों को पहचानना कठिन हो जाता है कि अमुक सत्त्व है और अमुक रजस्। इसलिए वहां (मूल-प्रकृति में) तीन तत्त्वों का प्रयोग न होकर एक तत्त्व का ही व्यवहार चलता है। ये तीनों

गुण द्रव्य हैं क्योंकि न केवल महत् आदि तत्त्वों के उपादान कारण हैं, अपितु संयोग और विभाग के आश्रय भी हैं। पुरुष के भोग के लिए ये साधन हैं तथा गौण रूप में हैं, इसीलिए इन्हें **गुण** कहा जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये प्रकृति के धर्म (Qualities) हैं। प्रकृति इन गुणों से पृथक् नहीं है—प्रकृति का अर्थ है तीनों गुणों की साम्यावस्था और तीनों गुणों की साम्यावस्था का अर्थ है प्रकृति। दोनों में स्वरूप का संबन्ध है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र (६।३९) में लिखा है—**सत्त्वदीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्**। 'प्रकृति के गुण हैं' ऐसा व्यवहार 'वन के वृक्ष' की तरह ही औपचारिक (Formal) है।*

पुरुष के संयोग से गुणों में वैषम्य आता है। इस दशा में प्रत्येक गुण पहचानने योग्य हो जाता है। यह एक प्रकार का परिणाम है जिसमें लघुत्व, प्रकाश आदि फल लगते हैं। प्रकृति की अपेक्षा वैषम्यावस्था के तीनों गुण पृथक् हो जाते हैं। कुछ सांख्यों ने तो इनकी भी गणना करके अपने तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस पहुँचा दी है। सत्त्व आदि गुणों के कुछ अपने स्वभाव भी हैं जो इस प्रकार हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥
(सां० का० १३)।

सत्त्वगुण हल्का और इसीलिए प्रकाशक माना जाता है, रजोगुण चंचल तथा इसीलिए उत्तेजक (उपष्टम्भक) है, तमोगुण भारी अतएव अवरोधक (नियामक) है—एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये तीनों मिलकर काम करते हैं जैसे दीपक में अग्नि बत्ती और तेल का विरोधी है फिर भी तीनों मिलकर वस्तुओं के प्रकाशन का कार्य करते हैं।

सत्त्व हल्का होने के कारण अपने कार्य—इन्द्रियों—में विषय-ग्रहण की पटुता उत्पन्न करता है। इसके प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाशन कर लेती हैं। रजस् स्वभावतः चंचल है। सत्त्व और

---

* गीता (१४।५) में जो कहा है कि—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-संभवाः।' यहाँ गुण का अर्थ प्रकृति के स्वरूप के रूप में गृहीत गुण नहीं है, किन्तु इन गुणों के कार्य के रूप में जो वैषम्यावस्था से युक्त सत्त्व आदि हैं उन्हीं का बोध इससे होता है। ये गुण ही महत् आदि के कारण हैं। यदि प्रकृति के स्वरूप वाले गुणों का अर्थ होता तो प्रकृति से उत्पन्न होना संभव ही नहीं था—ये गुण नित्य हैं। इस प्रकार गुण शब्द के विभिन्न अर्थ प्रयुक्त होते रहे हैं।

तमस् स्वभावत: निष्क्रिय हैं अत: अपने आप प्रवृत्त नहीं होते। प्रवृत्ति प्रदान करने का धर्म ही 'उपष्टम्भक' है। तमस् गुरु है जिससे इसके प्रकर्ष के कारण सत्त्व और रजस् बँध जाते हैं, आगे चल नहीं पाते। यही उसका आवरक या अवरोधक धर्म है।

सत्त्व के धर्मों में सुख, प्रसाद, प्रकाश आदि हैं। रजस् के धर्म दुःख, कालुष्य, प्रवृत्ति आदि हैं। तमस् के धर्म मोह, आवरण, स्तम्भन आदि हैं। धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सत्त्व को सुखात्मक, रजस् को दुःखात्मक तथा तमस् को मोहात्मक भी कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिए तत्त्वकौमुदी (वाचस्पति मिश्र) या प्रवचनसूत्र भाष्य (विज्ञानभिक्षु) के संगत स्थल देखें।

(३. प्रकृति और विकृति से युक्त तत्त्व)

विकृतयश्च प्रकृतयश्च महदहंकारतन्मात्राणि। तदप्युक्तं 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सां० का० ३) इति। अस्यार्थः—प्रकृतयश्च ता विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त महदादीनि तत्त्वानि। तत्रान्तःकरणादिपदवेदनीयं महत्तत्त्वमहंकारस्य प्रकृतिः। मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः।

एवमहंकारतत्त्वमभिमानापरनामधेयं महतो विकृतिः। प्रकृतिश्च तदेवाहंकारतत्त्वं तामसं सत्पञ्चतन्मात्राणां सूक्ष्माभिधानाम्। तदेव सात्त्विकं सत्प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानां धर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामुभयात्मकस्य मनसश्च। रजसस्तूभयत्र क्रियोत्पादनद्वारेण कारणत्वमस्तीति न वैयर्थ्यम्।

महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्र)—ये ऐसे तत्त्व हैं जो विकृति (मूल प्रकृति के विकार) और प्रकृति (दूसरे तत्त्वों के उत्पादक) भी हैं। यह भी सांख्यकारिका के उसी प्रसंग में कहा है—'महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति-विकृति दोनों हैं' (सां० का० ३)। इसका यह अर्थ है—जो प्रकृतियाँ भी हैं तथा विकृतियाँ भी, उन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं जो महत् आदि सात तत्त्व हैं। उनमें 'अन्तःकरण' आदि शब्दों के द्वारा बोधित होनेवाला महत्-तत्त्व है जो अहंकार नामक अगले तत्त्व की प्रकृति है किन्तु स्वयं वह मूल-प्रकृति की विकृति (Evolute) है।

इसी तरह अहंकार-तत्त्व, जिसका दूसरा नाम 'अभिमान' भी है, महत्तत्त्व की विकृति (कार्य) है, जब कि वही अहंकार-तत्त्व, तमोगुण से युक्त होने पर, 'सूक्ष्म' नामक पाँच तन्मात्रों की प्रकृति (कारण Evolvent) बन जाता है। वही, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से, ग्यारह इन्द्रियों की अर्थात् आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की; वचन, पाणि, पाद, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—इन कर्मेन्द्रियों की तथा उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) मन की भी, प्रकृति है। रजोगुण तो दोनों अवस्थाओं में कार्य उत्पन्न करने के चलते अपने-आप कारण है, उसे व्यर्थ न समझें।

विशेष—प्रकृति के नाम से सांख्य-दर्शन में आठ तत्त्व विहित हैं। उनमें मूल-प्रकृति या प्रधान का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रस्तुत संदर्भ में बाकी तत्त्वों का वर्णन किया जा रहा है। दूसरा तत्त्व बुद्धि है जिसे महत् भी कहते हैं। इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य नाम के प्रकृष्ट गुण रहते हैं। महत् (बुद्धि-सामान्य) मूल-प्रकृति से ही उत्पन्न होता है। प्रधान की तरह यह भी त्रिगुणात्मक है। किन्तु सत्त्वांश की प्रधानता रहती है। फिर भी कभी-कभी रजस् और तमस् भी प्रकट होते हैं। प्रत्येक जीव में अपनी-अपनी उपाधियों से युक्त होकर यह बुद्धितत्त्व पृथक् पृथक् रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की बुद्धि में क्रमशः रजस्, सत्त्व और तमस् का आविर्भाव होता है। कुछ बुद्धितत्त्वों में रजस् और तमस् का आविर्भाव होने से सत्त्व तिरोहित हो जाता है, महत् होने पर भी अमहत् के समान अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से युक्त होते हैं—इस प्रकार की उपाधियों से युक्त होने पर क्षुद्र तथा पुण्यहीन जीव धर्माचरण में प्रवृत्त न होकर अधर्म करते दिखलाई पड़ते हैं।

महत्तत्त्व को माधवाचार्य 'अन्तःकरण' भी कहते हैं। यह शब्द बड़ा भ्रामक है क्योंकि इससे बुद्धि, अहंकार और मन तीनों का बोध होता है। अन्तःकरण-रूपी वृक्ष का अंकुर महत्तत्त्व ही है। निश्चय करने वाला अन्तःकरण **बुद्धि** है, अभिमान करने वाला अन्तःकरण **अहंकार** है तथा संकल्प करने वाला अन्तःकरण **मन** है। यही इन तीनों में अन्तर है।

सामान्य से विशेष की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व सामान्य बुद्धि का बोधक है, इससे विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है। विशेष बुद्धि में 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) का बोध सम्मिलित है 'इदम्' का बोध 'अहम्' के बोध पर निर्भर है इसलिए महत् से तृतीय तत्त्व अर्थात् अहंकार-तत्त्व की उत्पत्ति पहले होती है। तीनों गुण इसे भी बाँधते हैं, अतः सात्त्विक, राजस, और तामस के भेद से अहंकार के तीन भेद हैं। सात्त्विक को वैकारिक, राजस को तैजस तथा

तामस को भूतादि भी कहते हैं। जहां रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण उत्कट होता है वहाँ सात्त्विक अहंकार कहलाता है। वह तैजस-अंश से युक्त होकर प्रवृति दिखलानेवाली ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। यही कारण है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति को सात्त्विक या तैजस दोनों नाम से पुकारते हैं। जहां सत्त्व और रजस् को दबाकर तमोगुण उत्कट होता है उसे तामस अहंकार कहते हैं। यह भी तैजस-अंश के साथ मिलकर प्रवृत्ति-धर्म वाले पाँच तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। इसीलिए पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति को तामस या तैजस कहते हैं।

पाँच तन्मात्रों से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र का बोध होता है। शब्द आदि जो विशेष-रहित गुण हैं इन्हीं में रहने वाले पाँच सूक्ष्म भूतों (तत्त्वों Elements) को तन्मात्र (Subtle elements) कहते हैं। शब्द से केवल शब्द (विशेष से रहित शब्द) का बोध होने के कारण इसे शब्द-तन्मात्र (शब्द और केवल उतना ही) कहते हैं। इसी प्रकार अन्य तन्मात्र भी हैं। शब्द के विशेष भी होते हैं जैसे उदात्त, अनुदात्त, निषाद, ऋषभ आदि। स्पर्श के विशेषों (Kinds) में शीतत्व, उष्णत्व, मृदुत्व आदि हैं। रूप में नीलत्व, शुक्लत्व आदि विशेष हैं। रस में मधुरत्व, अम्लत्व आदि और गन्ध में सुरभित्व और असुरभित्व—ये विशेष हैं। सांख्यतत्त्वविवेचन में कहा भी है—

शब्दतन्मात्रमित्येतच्छब्द एवोपलभ्यते।
न तूदात्तनिषादादिभेदस्तस्योपलभ्यते॥

ये तन्मात्र क्रमशः आकाश (शब्दतन्मात्र), वायु (स्पर्शत०), अग्नि (रूपत०), जल (रसत०) और पृथिवी (गन्धत०) की उत्पत्ति करते हैं जो पञ्च महाभूत कहलाते हैं।

ये आठ प्रकृतियाँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत—सब मिलकर चौबीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। वह जीवात्मा ही है, कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं। यह पुरुष भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है नहीं तो सुख, दुःख, मोह, जन्म, मरण, मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए सांख्य-प्रवचन-सूत्र में (६।४५) कहा गया है—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। वह जीवात्मा अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता और क्षेत्रविद् (प्रकृति को जानने वाला) है। इतना होने पर भी सांख्य में ईश्वर नहीं माना जाता जिससे कभी-कभी इसे **निरीश्वर सांख्य** भी कहते हैं। इसकी तुलना में योग-दर्शन को **सेश्वर सांख्य** कहते हैं।

यह स्मरणीय है कि वैशेषिकों के द्वारा कहे गये सात पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं पचीस तत्त्वों में होता है। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन का तो इन्हीं शब्दों के द्वारा उल्लेख हुआ है। आत्मा पुरुष है। दिशा और काल आकाश के अन्तर्गत हैं। गुण, कर्म और सामान्य तो द्रव्य के ही अन्तर्गत हैं क्योंकि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। विशेष और समवाय का तो कोई उपयोग ही नहीं इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता। अभाव एक प्रकार का भाव ही है। घट का प्रागभाव मिट्टी ही है, घटध्वंस का अर्थ है फूटे टुकड़े, घट का अत्यंताभाव केवल आधार को ही कहते हैं, पटादि घट का अन्योन्याभाव है।

तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

१. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकरणगणस्तन्मात्रापञ्चकं चैव॥

२. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥

३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥

४. उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्॥
(सां० का० २४–२७) इति।

विवृतं च तत्त्वकौमुद्यामाचार्यवाचस्पतिभिः।

जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने [सांख्यकारिका में] कहा है—'अभिमान की भावना* को अहंकार-तत्त्व कहते हैं। इससे दो प्रकार के ही कार्य (सृष्टि) उत्पन्न होते हैं, एक दो ग्यारह इन्द्रियों (करणों) का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्रों (तन्मात्राओं) का ॥ २४ ॥ [सांख्यकारिका में पाठ है—एकादशकश्च गणः तन्मात्रपञ्चकश्चैव। वाचस्पति ने भी यही पाठ रखा है।] 'तदस्य परिमाणम्' के अर्थ में पाणिनिसूत्र (५।१।२२) अर्थात् 'संख्याया अतिशदन्तायाः

* वाचस्पति कहते हैं—'जो आलोचित और विचारित विषय है, उसका मैं अधिकारी हूँ', 'मैं यह काम करने में समर्थ हूँ', 'ये विषय मेरे ही लिए हैं', मेरे सिवा इनका कोई अधिकारी नहीं है', 'इसलिए मैं हूँ'—ये असाधारण व्यापार होने के कारण अभिमान या अहंकार हैं।

कन्' से कन् प्रत्यय होने से एकादशक: और पञ्चक: शब्द बने हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन—ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं जिन्हें प्रकाशक कहते हैं। शब्दतन्मात्र आदि पाँच तन्मात्रों का समुदाय जड़ है। अब पूछा जा सकता है कि अहंकार तो एक रूप का ही है ऐसे कारण से परस्पर विलक्षण कार्य अर्थात् जड़ और प्रकाशक, दोनों की उत्पत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर आगे की कारिका में दिया जाता है—]

'वैकृत (सात्त्विक, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से युक्त) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है और भूतादि (= तामस) अहंकार से तन्मात्राएँ होती हैं जो तामस हैं। तैजस या राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं॥ २५॥ [प्रकाशक तथा लघु होने के कारण इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं—सत्त्व में प्रकाश और लाघव रहते हैं। तन्मात्राएँ तमोगुण-प्रधान हैं क्योंकि उनमें गुरुत्व (स्थिरता) और आवरक-गुण है। अहंकार यद्यपि एक ही है किन्तु गुणों के उद्भव तथा अभिभव के कारण विभिन्न कार्य करता है। सत्त्वगुण और तमोगुण से सारे कार्य उत्पन्न होने पर भी रजोगुण की आवश्यकता इसलिए होती है कि ये दोनों गुण स्वयं निष्क्रिय हैं, समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य तब तक नहीं कर सकते जब तक रजोगुण (जो चंचल है) इन्हें कार्य में प्रवृत्त न कर दे। अत: राजस अहंकार उक्त दोनों अहंकारों में क्रिया उत्पन्न करके सहायता करता है, वह व्यर्थ नहीं है। अब सात्त्विक गण का वर्णन करते हुए बाह्येन्द्रियों—ज्ञानेन्द्रियों—का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—]

'ज्ञान (बुद्धि) की इन्द्रियाँ पाँच हैं—आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) हैं॥ २६॥ [इन्द्र = आत्मा। उसका लिंग या ज्ञापक=इन्द्रिय। इन्द्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा का अनुमान होता है। सात्त्विक अहंकार के कार्य में इन्द्रिय शब्द योगरूढ हो गया है, अत: अहंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती। वाचस्पति ने सांख्यकारिका के आधार पर सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है। उधर विज्ञानभिक्षु केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन को ही सात्त्विक मानते हैं। उनके मत से दसों इन्द्रियाँ राजस हैं। अब मन का वर्णन करते हैं—]

'यहाँ मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है तथा अन्य इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण इसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। [मन से जब इन्द्रियों का संबन्ध होता है तब इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का सामान्य ज्ञान ग्रहण करती हैं। उसके बाद मन उन्हें ठीक-ठीक रूप में पहचानता है कि यह

ऐसा है, वह ऐसा। संकल्प इसे ही कहते हैं। इसमें विशेष्य और विशेषण का संबन्ध देखकर विचार होता है। मन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों, दोनों की सहायता करता है।]'

इन सबों का विवरण आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य-तत्त्व-कौमुदी (२४-२७) में दिया है।

विशेष—यह ध्येय है कि माधवाचार्य अन्य दर्शनों में मूल-सूत्रों तथा उनकी व्याख्याओं की सहायता लेते हैं। उद्धरण देने में वे सबसे प्राचीन उपलब्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ का आश्रय लेते हैं। किन्तु सांख्य-दर्शन के विवेचन में वे ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका की ही सहायता लेते हैं। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार सांख्यकारिका ही प्राचीनतम प्रामाणिक पुस्तक थी। सांख्य-दर्शन के इतिहास में कपिल आदि ऋषि हैं अवश्य, किन्तु इनके नाम से जो सांख्य-सूत्र प्रचलित है वह प्रामाणिक नहीं। बाद के किसी विद्वान् ने उनके नाम से सांख्य-सूत्र और सांख्यसमाससूत्र (तत्त्वसमास) की रचना की थी। १५०० ई० से पूर्व इन दोनों में से किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं मिलता।

ईश्वरकृष्ण से पहले के आचार्यों में कपिल, आसुरि और पंचशिख क्रमशः गुरु-शिष्य थे। परन्तु इनके ग्रन्थों का पता नहीं। कितने लोग तो इनकी ऐतिहासिकता में भी संदेह करते हैं। एक दूसरे आचार्य वार्षगण्य ने षष्टितन्त्र लिखा था जिसका उल्लेख सांख्यकारिका में मिलता है। सांख्य-दर्शन में सबसे अधिक प्रामाणिक ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने सांख्यकारिका लिखी। इसमें आर्या छन्द में ७२ कारिकाएँ हैं जो सांख्य के विषय में स्पष्ट और निश्चित सिद्धान्त देती हैं। वस्तुतः सांख्य-दर्शन कहने से **सांख्य-कारिका** का ही बोध होता है। इसके समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है फिर भी १००-२०० ई० के बीच में यह कभी-न-कभी लिखी गई थी। बहुत से आचार्यों ने इस पर वृत्ति, भाष्य और टीकाएँ लिखी थीं। इनमें वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) की **तत्त्वकौमुदी** बहुत प्रसिद्ध है। इनके पाण्डित्य के अनुकूल ही यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक भी है।

सोलहवीं शताब्दी से **सांख्यसूत्र** और **तत्त्वसमास** पर टीकायें मिलने लगती हैं। विज्ञान-भिक्षु (१५५० ई०) ने सूत्र पर भाष्य लिखकर स्वतन्त्र रूप से **सांख्यसारविवेक** नामक ग्रंथ लिखा। नागेशभट्ट ने भी सूत्रों पर वृत्ति लिखकर अपना हाथ अजमाया था (१७२५)। तत्त्वसमास के टीकाकारों में भावागणेश (१५७५ ई०) और विभानन्द मुख्य हैं। भावागणेश ने स्वतन्त्र रूप से भी **सांख्यसार, सांख्यपरिभाषा** और सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—ये तीन ग्रन्थ लिखे थे।

(४. केवल विकृति के रूप में वर्तमान तत्त्व)

केवला विकृतिस्तु वियदादीनि पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि च। तदुक्तं—'षोडशकस्तु विकारः' (सां० का० ३) इति। षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणः षोडशको विकार एव, न प्रकृतिरित्यर्थः। यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं चेह प्रकृतित्वमभिमतम्। गोघटादीनां स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः समानत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावः।

केवल विकृति के रूप में विद्यमान तत्त्वों में आकाश (वियत्) आदि पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। जैसा कि कहा भी है—'सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य (विकार) ही है' (सां० का० ३) 'षोडशक' का अर्थ है सोलह संख्या से परिमित गण (समुदाय), जो केवल कार्य ही है, प्रकृति अर्थात् कारण नहीं। यद्यपि पृथिवी आदि तत्त्व गौ, घट, वृक्ष आदि के कारण ही हैं किन्तु ये पदार्थ पृथिवी आदि से तत्त्व में पृथक् नहीं हैं—यही कारण है कि पृथिवी आदि को कारण (प्रकृति) नहीं मानते। अपने से भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बननेवाली वस्तु ही यहाँ पर 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है। गौ, घट आदि पदार्थ पृथिवी आदि से पृथक् नहीं हैं, [यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि गौ, घट आदि] उसी प्रकार स्थूल और इन्द्रियग्राह्य हैं, जिस प्रकार पृथिवी।

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि जायन्ते। इन्द्रियसृष्टिस्तु प्रागेवोक्ता। तदुक्तम्—

५. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सां० का० २२) इति।

उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का प्रत्येक तन्मात्र अपने पूर्व के तन्मात्र (सूक्ष्म भूत) से युक्त होकर आकाशादि पाँच महाभूतों को उत्पन्न करता है—जिनमें क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच गुण रहते हैं। [शब्द-

तन्मात्र से शब्द (एक) गुण वाला **आकाश** उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द-स्पर्श (दो) गुणों वाली **वायु** उत्पन्न होती है। शब्द और स्पर्शतन्मात्रों से युक्त रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप (तीन) गुणों वाला **तेजस्** उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूपतन्मात्रों से युक्त रसतन्मात्र से **जल** उत्पन्न होता है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण रहते हैं। अन्त में शब्द, स्पर्श, रूप और रसतन्मात्रों से युक्त गन्धतन्मात्र से **पृथिवी** उत्पन्न होती है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण रहते हैं। (वाचस्पतिमिश्र)]

इन्द्रियों की सृष्टि तो पहले ही कह दी गई है। [इसके सार-रूप में सांख्यकारिका में] कहा गया है—'प्रकृति से महत्-तत्त्व, उससे अहंकार, उससे सोलह तत्त्वों का समुदाय (पाँच तन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियाँ), इस सोलह [के अन्दर] के पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत [उत्पन्न होते हैं]' (सां० का० २२)।

(५. प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष-तत्त्व)

अनुभयात्मकः पुरुषः। तदुक्तं—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सां० का० ३) इति। पुरुषस्तु कूटस्थनित्योऽपरिणामी न कस्यचित्प्रकृतिर्नापि विकृतिः कस्यचिदित्यर्थः।

पुरुष दोनों में कुछ भी नहीं है। कहा है—'पुरुष न तो प्रकृति (कारण) ही है और न विकृति (कार्य) ही' (सां० का० ३)। पुरुष कूटस्थ (अचल, निर्विकार), नित्य तथा परिणाम (विकास) से रहित है—इसीलिए न तो वह किसी का कारण है, न किसी का कार्य।

विशेष—सभी मनुष्यों में जो चेतन-तत्त्व है वही पुरुष है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, कुछ कार्य नहीं कर सकता है। प्रकृति के साथ संपृक्त होने के कारण यह बन्धन में पड़ा रहता है, जिस समय प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाता है, उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांख्य में पुरुषों की बहुलता सिद्ध की जाती है। यदि बहुलता नहीं होती तो एक पुरुष के सुखी, दुःखी, मूढ, बद्ध या मुक्त हो जाने से सभी पुरुष वैसे ही हो जाते। एक पुरुष के मरने पर सभी मरते, जन्म लेने पर सबों का जन्म होता आदि। पुरुषों को मुक्त करने के ही लिए प्रकृति संसार के रंगमंच पर नृत्य करती है। प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन आगे करेंगे। अभी प्रमाणों का वर्णन करते हैं।

(६. सांख्य-प्रमाण-मीमांसा)

एतत्पञ्चविंशतितत्त्वसाधकत्वेन प्रमाणत्रयमभिमतम् । तदप्युक्तम्—

६. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥
(सां० का० ४) इति ।

इन पचीस तत्त्वों को सिद्ध करने वाले तीन प्रमाण सांख्य-दर्शन में माने जाते हैं। वे भी इस रूप में कहे गये हैं—'प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान और शब्द प्रमाण में ही सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत हो जाने से तीन प्रमाण ही मान्य हैं। चूँकि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है [अतः पहले प्रमाणों का ही वर्णन करके बाद में प्रमेयों का प्रतिपादन किया जायगा।]' (सां० का० ४)।

विशेष—सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाणों को मान्यता मिलती है। अन्य प्रमाणों को (उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि) को इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत कर लिया जाता है। ईश्वरकृष्ण ने पाँचवीं* कारिका में इन तीनों प्रमाणों के लक्षण दिये हैं जिनकी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने विस्तृत रूप से की है।

(१) **प्रत्यक्ष (दृष्ट)**—दृष्ट का लक्षण देने में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' शब्द का प्रयोग किया गया है। पृथिवी आदि और सुखादि विषय हैं क्योंकि ये विषयी (बुद्धि) को बाँध लेते हैं (वि + √सि), अपने आकार में रँगकर उस बुद्धि को भी तद्रूप बना देते हैं। हमारे ज्ञान का विषय न बननेवाले सूक्ष्म तन्मात्र आदि भी योगियों और ज्ञानियों के विषय बन जाते हैं। जो प्रत्येक विषय में प्रवृत्त होता हो उसे 'प्रतिविषय' कहते हैं अर्थात् विषय से संबद्ध इन्द्रिय ही प्रतिविषय है। इस (इन्द्रिय) पर आश्रित जो अध्यवसाय (बुद्धिव्यापार या ज्ञान) है उसे ही दृष्ट कहते हैं। दूसरे शब्दों में, विषयों के साथ संबद्ध इन्द्रिय के द्वारा किये गये निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

(२) **अनुमान**—प्रत्यक्ष के बाद अनुमान आता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष पर आश्रित है। लिंग (व्याप्य) और लिंगी (व्यापक) के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला प्रमाण अनुमान है। शंकित तथा निश्चित दोनों प्रकार की उपाधियों‡ का

---

* प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ (सां० का० ५)।

‡ देखिए—सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ० १९ (उपाधि), तथा पृ० १२ (उपाधि-भेद)।

निराकरण हो जाने पर वस्तु के स्वभाव से ही जिसका साहचर्य सम्बन्ध हो वह व्याप्य होता है। जिसके साथ वह सम्बन्ध हो उसे व्यापक कहते हैं। धूम व्याप्य है, अग्नि व्यापक। इस ज्ञान के बाद जो ज्ञान होगा अनुमान कहलायगा। धूम (लिंग) पर्वत (पक्ष) में उसके धर्म के रूप में विद्यमान है—यह पक्षधर्मता का ज्ञान है। तो, व्याप्य और व्यापक का व्याप्तिज्ञान तथा लिंग (व्याप्य) के पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान-प्रमाण है। न्याय-दर्शन के अनुमान-भेदों को यहाँ भी स्वीकृत किया गया है जो तीन हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। किन्तु वाचस्पति ने पहले अनुमान के दो भेद किये हैं—वीत (अन्वयविधि से व्याप्ति के द्वारा प्रवृत्त) और अवीत (व्यतिरेकव्याप्ति से प्रवृत्त) अवीत को शेषवत् कहते हैं। किसी वस्तु की जहाँ-जहाँ संभावना हो, उन सभी स्थानों में वस्तु का निषेध करके अंत में और कोई उपाय न देखकर बचे हुए स्थान में ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना **शेषवत्** है। वीत के दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। जब किसी वस्तु का विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष कर लिया गया हो और उसके आधार पर उसके सामान्य रूप से युक्त विशेष का ज्ञान किया जाय तो उसे **पूर्ववत्** कहते हैं। रसोई-घर में विशिष्ट रूप में वह्नि देखकर धूम के द्वारा वह्नित्व से अवच्छिन्न (व्याप्त, युक्त) विशेष रूप अर्थात् पर्वतीय वह्नि का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रकार 'वह्नित्वसामान्य विशेष' का अनुमान हुआ। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु है जिसका विशेष रूप पहले देखा नहीं गया हो। जैसे—इन्द्रिय-विषयक अनुमान। रूपादि का ज्ञान क्रिया है, इस (लिंग) से इन्द्रियों का अनुमान होता है क्योंकि क्रिया किसी साधन (करण = साधन, इन्द्रिय) से ही उत्पन्न होती है। (विशेष विवरण के लिए त० कौ० देखें)।

(३) **आप्तवचन** (शब्द)—अनुमान के बाद आप्तवचन या शब्द प्रमाण इसलिए रखते हैं कि अनुमान के द्वारा ही बालक को 'शक्ति' अर्थात् शब्दार्थ-संबन्ध का ज्ञान होता है और शब्दार्थ के संबन्ध का ज्ञान होने पर ही शाब्दबोध (शब्द के अर्थ का साक्षात्कार) होता है। अतः अनुमान शब्द-प्रमाण का परम्परया (परोक्ष रूप से) कारण है। आप्तवचन का अर्थ है आप्त (प्रकृष्ट या उचित) श्रुति अर्थात् वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान। यह वाक्यार्थज्ञान जो स्वतंत्र रूप से प्रमाण होता है, अपौरुषेय वेदवाक्यों से* उत्पन्न होने से,

* सांख्य और मीमांसा दर्शनों में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। अतः किसी विशेष पुरुष (ईश्वर) के बनाये न रहने से वेद को अपौरुषेय मानते हैं। सांख्यसूत्र (५।४६) में कहा है—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। (बालरामोदासीन की विद्वत्तोषिणी टीका—त० कौ० पर।)

भ्रम, प्रमादादि पुरुषदोषों से रहित होने के कारण युक्त है। वेद के वाक्य तो प्रमाण हैं ही, वेदमूलक स्मृति, इतिहास, पुराण के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी युक्त होता है। 'आप्त' शब्द से युक्त या उचित श्रुतियों (आगमों) का ही बोध होता है। नहीं तो जैन, बौद्ध आदि के विचार जो आगम जैसे लगते हैं वे भी प्रमाण ही हो जायेंगे।

वाचस्पति ने इसके बाद उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव तथा ऐतिह्य प्रमाणों को (जो विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत हैं) इन्हीं के अन्दर सिद्ध किया है। कोई प्रत्यक्ष में, कोई अनुमान में और कोई आगम में अन्तर्भूत हो जाते हैं। स्मरणीय है कि छहों दर्शनों पर टीका करने वाले आचार्य बिल्कुल तटस्थ होकर इसकी विवेचना करते हैं। इसके बाद की कारिका में (छठी कारिका में) बतलाया गया है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि होती है। किन्तु जो पदार्थ परोक्ष हैं कि इससे भी सिद्ध न हो सकें तब उनकी सिद्धि आगम-प्रमाण से होती है। बात यह है कि बहुत दूर होने या समीप होने से, इन्द्रियों के घात या मन की अस्थिरता होने से, सूक्ष्मता के कारण या बीच में रुकावट पड़ जाने से, किसी वस्तु से अभिभूत (दब) हो जाने से या समान वस्तु में मिल जाने से कोई पदार्थ दिखलाई नहीं पड़ता (कारिका ७)। इस आधार पर यह नहीं सोचें कि पदार्थ है ही नहीं—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।

(७. कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विभिन्न मत)

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सञ्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।

यहाँ पर कार्य और कारण के परस्पर सम्बन्ध को लेकर चार प्रकार के विभिन्न मतवाद हैं। बौद्ध (शून्यवादी) कहते हैं कि असत् (Non-existent) से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। नैयायिक (वैशेषिक भी) आदि कहते हैं कि सत् पदार्थ (कारण) से असत् कार्य उत्पन्न होता है। वेदान्तियों (अद्वैत) की मान्यता है कि सत् कारण से विवर्त (कल्पित) कार्य उत्पन्न होता है और सारे कार्यों की वास्तविक सत्ता नहीं रहती। लेकिन सांख्यवाले कहते हैं कि सत् कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है।

विशेष—प्रमाणों के द्वारा उक्त पचीस तत्त्वों की सिद्धि करनी पड़ती है। उन तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जो प्रधान या प्रकृति है उसकी सिद्धि के लिए अनुमान ही एक साधन है। उस विषय में किये गये अनुमान का उपजीव्य सत्कार्यवाद का सांख्योक्त सिद्धान्त ही हो सकता है। प्रकृति तत्त्व के भीतर वे सारे विकार निहित हैं जिनकी उत्पत्ति प्रकृति से होती है, चाहे वह उत्पत्ति सीधे हो या परम्परा से हो। इस विषय में मतभेद प्रदर्शित करते हैं जिनके खण्डन के बाद अपने सत्कार्यवाद का पोषण करेंगे।

(१) बौद्धों का पक्ष है कि कारणवस्तु से कार्यवस्तु तभी उत्पन्न होती है जब कारणवस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाय। जब तक पूर्व वस्तु सत् या विद्यमान है तबतक कोई चीज उससे उत्पन्न ही नहीं हो सकती। बीज का नाश होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है, मिट्टी का पिंड मिट जाने पर ही घट उत्पन्न होता है। बौद्ध लोग सभी भावात्मक (Positive) वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं। कार्य के क्षण में कारण तथा कारण-क्षण में कार्य नहीं रहता। पूर्वक्षणिक वस्तु के विनाश के बाद ही उत्तरक्षणिक वस्तु आती है—अतः विनष्ट (असत्) कारण ही सत् (विद्यमान) कार्य को उत्पन्न करता है। सत् का यहाँ अर्थ है क्षणभर खड़ा रहना, तीनों कालों में अबाधित होना नहीं।

(२) नैयायिक और वैशेषिक असत्कार्यवाद का सिद्धान्त मानते हैं। इनके अनुसार परमाणु आदि (कारण) द्वयणुकादि कार्य पहले से विद्यमान नहीं (असत्) रहते हैं, उनसे ये सत् (विद्यमान) द्वयणुकादि-कार्य बिल्कुल नवीन रूप में उत्पन्न होते हैं। मिट्टी में घट असत् है नहीं तो दोनों का एक ही नाम होता या फिर दोनों पर्याय माने जाते। दोनों को हम अलग-अलग देखते हैं। बौद्धों के अनुसार जहाँ कारण-वस्तु ही अविद्यमान (विनष्ट) होती है तब कार्योत्पत्ति होती है, न्याय के अनुसार कारण-वस्तु विद्यमान ही रहती है। हाँ, उसमें कार्य नवीन रहता है।

(३) अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् (विद्यमान) है, जगत् के अन्य सभी रूप अज्ञानवश उसमें उसी प्रकार कल्पित या आरोपित हैं जैसे सीपी में चाँदी या रस्सी में साँप। जिस प्रकार सीपी का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें आरोपित चाँदी की पूर्वप्रतीति मिथ्या या भ्रमपूर्ण लगती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा माया का बन्धन (आवरण) हट जाने पर पारमार्थिक तत्त्व—ब्रह्म—में ज्ञानावस्था के पूर्व प्रतीत होनेवाला समस्त जगत् भ्रान्त लगता है, असत् (वस्तुतः मिथ्या, पारमार्थिक दृष्टि से असत्) लगता है। फलतः कारण (ब्रह्म) सत् है किन्तु कार्य (जगत्) मूलकारण ब्रह्म का विवर्त

(मिथ्यात्मक रूपान्तर Illusory emanation) है, परिणाम (वास्तविक रूपान्तर) नहीं। विवर्त होने के कारण इसकी (कार्य की) पारमार्थिक सत्ता नहीं, आभासिक या व्यावहारिक सत्ता ही है। न्याय में वस्तु का पारमार्थिक रूपान्तर मानते हैं, सांख्य के साथ भी यही बात है परन्तु वेदान्त में वस्तु का आभासिक रूपान्तर या विवर्त माना जाता है।

(४) सांख्य के अनुसार सत् कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है और वह कार्य भी सत् ही रहता है—कारण-व्यापार के पूर्व अव्यक्त रूप में विद्यमान कार्य ही कारण-व्यापार के पश्चात् व्यक्त रूप में उत्पन्न होता है। दूध से उत्पन्न होनेवाला दधि कारणव्यापार के पूर्व भी दूध में अव्यक्त रूप में विद्यमान है। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले महत्, अहंकार आदि तत्त्व उस (प्रकृति) में अव्यक्त रूप में रहते हैं। इस मत को सत्कार्यवाद कहते हैं। इसमें कारण से कार्य की उत्पत्ति का यही अर्थ है कि कोई अव्यक्त पदार्थ व्यक्त हो जाता है। स्मरणीय है कि सांख्य और न्याय के अनुसार कार्य एक तथ्य (Real) है जब कि वेदान्त में कार्य मिथ्या है, विवर्त है।

अब सांख्य के अतिरिक्त अन्य मतों के खण्डन का उपक्रम करते हुए सत्कार्यवाद की सिद्धि की जायगी और उसके लिए विभिन्न तर्क दिये जायँगे।

(७ क. कार्य-कारण-भाव के मतों का खंडन)

तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। असतो निरुपाख्यस्य शशविषाणवत्कारणत्वानुपपत्तेः। तुच्छातुच्छयोस्तादात्म्यानुपपत्तिश्च।

उन मतों में 'असत् से सत् उत्पन्न होता है' यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। असत् का वर्णन नहीं हो सकता, यह खरहे की सींग की तरह [सत्ताहीन] है उसे कारण ही नहीं बताया जा सकता। दूसरे, तुच्छ (स्वरूपहीन) और अतुच्छ (स्वरूपयुक्त) पदार्थों में तादात्म्य-संबन्ध भी तो नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि एक तो असत् पदार्थ कारण नहीं हो सकता क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं, वह कार्योत्पादन क्या करेगा? दूसरे, सत् और असत् का संबन्ध होना असंभव है क्योंकि असत् पदार्थ है स्वरूपहीन और सत् पदार्थ का कुछ स्वरूप होता है। पूर्वक्षण में होने वाला घटाभाव ही उत्तर क्षण में होने वाले घट का उपादान कारण है—ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। अभाव या असत् स्वरूपहीन होने के कारण अपने परवर्ती भाव या सत् के साथ तादात्म्य संबन्ध नहीं रख सकता।

जब तादात्म्य ही नहीं रहेगा तो उपादान और उपादेय का संबन्ध नहीं हो सकता । इसलिए बौद्धों का सिद्धान्त अमान्य है ।]

नापि सतोऽसज्जायते । कारकव्यापारात्प्रागसतः शशविषाणवत्सत्तासंबन्धलक्षणोत्पत्त्यनुपपत्तेः । न हि नीलं निपुणतमेनापि पीतं कर्तुं पार्यते । ननु सत्त्वासत्त्वे घटस्य धर्माविति चेत्—तदचारु । असति धर्मिणि तद्धर्म इति व्यपदेशानुपपत्त्या धर्मिणः सत्त्वापत्तेः ।

सत् से असत् की उत्पत्ति का [न्याय-सिद्धान्त] भी प्रामाणिक नहीं ही है । कार्य को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ की क्रिया (कारक-व्यापार) के पहले जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसकी उत्पत्ति खरहे की सींग की तरह ही असंभव है क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है सत्ता से सम्बन्ध रहना । [दो सत्तायुक्त पदार्थों का ही संबंध हो सकता है और सत्ता के साथ सम्बन्ध होने पर ही उत्पत्ति होती है । यह आज तक सुना नहीं गया कि खरहे की सींग या वन्ध्यापुत्र का सम्बन्ध किसी सत्तायुक्त पदार्थ के साथ हुआ है—असत् और सत् का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । पहले से असत् घटादि-कार्य का सम्बन्ध सत्ता से नहीं हो सकता इसलिए घटादि-कार्य की उत्पत्ति (= सत्ता से सबन्ध) नहीं मानी जा सकती ।] सबसे निपुण व्यक्ति भी नीले को पीला नहीं कर सकते । [नील में पीत की सत्ता नहीं है—पीत वहाँ असत् है जब कि कार्यरूप में सत् है । तो जब नीले में पीला नहीं है तो नीला रंग कभी पीला नहीं होगा—असत् पीत कभी भी सत् पीत नहीं बन सकता । पहले से असत् घट कुम्भकार के व्यापार से भी सत् नहीं किया जा सकता । असत् और सत् में परस्पर विरोध है—वे कार्य-कारण भाव नहीं रख सकते ।]

अब यदि ये (नैयायिक) कहें कि सत्ता और असत्ता, घट के ये दो धर्म हैं [अर्थात् जैसे वलयत्व धर्म से विभूषित स्वर्ण स्वर्णकार के व्यापार (क्रिया) से कुण्डलत्व-धर्म से युक्त हो जाता है वैसे ही यहाँ असत्त्व-धर्म से विशिष्ट घट कुम्भकारादि के व्यापार से सत्त्व-धर्म से युक्त हो जायगा], तो हम यह कहेंगे कि यह कहना उन्हें शोभा नहीं देता । धर्मी (घट) के नहीं रहने पर हम यह नहीं कह सकते कि यह (असत्) उस (घट) का धर्म है । नहीं तो धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी (= घट की नित्यता स्वीकार करनी पड़ेगी) । [आशय यह है कि यदि असत्त्व घट का धर्म माना जाय तो धर्म (असत्त्व) धर्मी (घट) के बिना नहीं रह सकता—यह भी मानना पड़ेगा । तो असत्त्व-धर्म के समय

धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी, अतः घट की सत्ता रहेगी ही। यही नहीं, इसके फल स्वरूप घट नित्य हो जायगा क्योंकि जब असत् काल में भी घट है तब तो वह नित्य ही न है ?]

विशेष—यहाँ पर दो ही मतों का खंडन किया गया है, विवर्तवाद का खंडन बाद में करेंगे। अब अपने सत्कार्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

(८. सत्कार्यवाद की सिद्धि)

तस्मात्कारकव्यापारात्प्रागपि कार्यं सदेव। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपद्यते। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः कारणे किमपि निदर्शनं न दृश्यते। किं च कार्येण कारणं सम्बद्धं तज्जनकमसम्बद्धं वा। प्रथमे कार्यस्य सत्त्वमायातम्। सतोरेव सम्बन्ध इति नियमात्। चरमे सर्वं कार्यजातं सर्वस्माज्जायेत। असम्बद्धत्वाविशेषात्।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कारक (कर्ता, हेतु, कारण) के व्यापार के पूर्व भी कार्य की सत्ता रहती ही है। [तब कुम्भकार आदि की आवश्यकता क्यों ?] हाँ, इतना अवश्य है कि पहले से विद्यमान (सत्) कार्य की केवल अभिव्यक्ति होती है [जिसमें निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है।] उदाहरण के लिए जैसे—पीसने (पेरने) पर तिलों से तेल की या दूहने पर गायों से दूध की [अभिव्यक्ति होती है। तिलों में तेल या गायों में दूध पहले से है पर अभिव्यक्ति के लिए पेरने के व्यापार की या दोहनव्यापार की अपेक्षा है। केवल अभिव्यंजक होने के कारण भी ये व्यापार कारण हुए।] असत् वस्तु (जैसे न्याय-दृष्टि से कारणावस्था में घट) की उत्पत्ति (दण्डादि) सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। [दृष्टान्त वैसा ही हो सकता है जो दोनों वादियों को स्वीकार हो। नैयायिक यदि घट का उदाहरण दें कि असत् घट का कारण दण्डादि है तो यह सम्भव नहीं। उधर सांख्य वाले घट को पहले से कारण-रूप में भी वर्तमान ही स्वीकार करते हैं आजतक कभी किसी ने असत् को उत्पन्न होते या अभिव्यक्त होते भी नहीं देखा कि दृष्टान्त दे सकें।]

इसके अतिरिक्त कारण-वस्तु कार्य-वस्तु को उससे या तो संबद्ध होकर उत्पन्न करती है या फिर असंबद्ध ही होकर (तीसरा विकल्प सम्भव नहीं)। संबद्ध होकर उत्पन्न करने से तो कार्य की सत्ता (कारण में कार्य का रहना)

ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि दो सत् वस्तुओं का ही सम्बन्ध होने का नियम है। यदि असम्बद्ध होकर उत्पन्न करती है तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होने लगे क्योंकि असंबद्धता तो सबों में बराबर ही रहेगी। [घट से मिट्टी को यदि असम्बन्ध है तो पट से भी तो उसे असम्बन्ध ही है। तो, मिट्टी घट और पट दोनों को उत्पन्न कर सकेगी। अतः असंबद्ध होकर कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। असंबद्ध असंबद्ध से नहीं उत्पन्न होता, संबद्ध पदार्थ ही संबद्ध को उत्पन्न कर सकता है—तिल से ही तेल होगा, पाषाण से नहीं।]

तदाख्यायि सांख्याचार्यैः—

७. असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

इसे सांख्य के आचार्यों ने कहा है–[उत्पत्ति के पूर्व कार्य को] असत् मानने पर* सत्त्व के संग में रहने वाले [सत्त्व धर्म से युक्त] कारणों (मिट्टी आदि) से इसका संबन्ध नहीं हो सकता। [मिट्टी से घड़ा बनता है; मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य। यहाँ कारण वस्तु विद्यमान (सत्) है, किन्तु कार्यवस्तु अविद्यमान (असत्) है क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कार्य रहता ही नहीं, यह न्यायमत है। अतः सत् (कारण) और असत् कार्य का संबन्ध होना कभी संभव नहीं।] अब यदि [कारण से] असंबद्ध (कार्य) की उत्पत्ति मानी जाय तो ['अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न होता है'—इस तरह की] व्यवस्था नहीं रहेगी। [मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा, ईख से नमक आदि पैदा होने लगेंगे। किसी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न होने लगेगा।]

अथैवमुच्येत—'असंबद्धमपि तत्तदेव जनयति यत्र यच्छक्तम्। शक्तिश्च कार्यदर्शनोन्नेयेति।' तन्न संगच्छते। तिलेषु तैलजननशक्तिरित्यत्र तैलस्यासत्त्वे संबद्धत्वासंबद्धत्वविकल्पेन तच्छक्तिरिति निरूपणायोगात्। कार्यकारणयोरभेदाच्च कारणात्पृथक्कार्यस्य सत्त्वं न भवति।

यदि ऐसा उत्तर दिया जाय कि असंबद्ध होने पर भी कोई (कारण) उसी कार्य को उत्पन्न करता है जो कारण जिसे उत्पन्न करने में समर्थ (शक्त Capa-

---

* तत्त्वकौमुदी में पाठ 'असत्त्वे नास्ति' है। अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता। 'असत्त्वे' से साध्यता प्रकट होती है, 'असत्त्वात्' से सिद्धता।

ble) है [जैसे तन्तु पट को उत्पन्न करने में समर्थ है—मिट्टी घट को ।] किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान उसके कार्य को देखकर करना चाहिए । [मिट्टी की शक्ति का अनुमान घट देखकर होता है कि वह घटोत्पादन के लिए समर्थ है ।]

लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं हो सकती । 'तिलों में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है' इस प्रकार [असत्कार्यवाद के अनुसार तिलों में] तेल की सत्ता न मानने पर यह निश्चित नहीं कर सकते कि [तेल और उसे उत्पन्न करने की शक्ति के परस्पर] संबद्ध होने या असंबद्ध होने से भी उसमें वह शक्ति है ही । [अभिप्राय यह है—सांख्य दार्शनिक नैयायिकों से कहते हैं कि आपकी बात मान ली, कार्य देखकर हम किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान कर लेंगे, तिल में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है । परन्तु यह बतलाइये कि पहले से विद्यमान शक्ति जो तिल में है वह कार्योत्पत्ति के पूर्व तेल से सम्बद्ध है या नहीं ? यदि है तो तेल की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व भी है, सत्कार्यवाद की ही सिद्धि होगी । यदि सम्बद्ध नहीं है तो कैसे निरूपण करेंगे कि यह तेल को उत्पन्न करनेवाली शक्ति है ? दोनों दशाओं में गये ।] दूसरे, कार्य और कारण में भेद नहीं होता, इसलिए कारण से अलग कार्य की सत्ता नहीं होती । [कार्य-कारण में अभेद होने के कारण सत्ता एक ही रहती है, दो सत्ताएँ नहीं रहतीं । अतः कार्योत्पत्ति के पूर्व यदि कारण की सत्ता है तो कार्य की सत्ता भी अवश्य ही रहेगी ।]

पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते । तद्धर्मत्वात् । न यदेवं, न तदेवं यथा गोरश्वः । तद्धर्मश्च पटः । तस्मान्नार्थान्तरम् । तर्हि प्रत्येकं त एव प्रावरणकार्यं कुर्युरिति चेन्न । संस्थानभेदेनाविर्भूतपटभावानां प्रावरणार्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः । यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति; एवं कारणस्य तन्त्वादेः पटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते । निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते ।

[कार्य का कारण से अभेद सिद्ध करने के लिए ये प्रमाण हैं—] पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं की अवस्था-विशेष (धर्म) है । जो ऐसा (किसी वस्तु से अभिन्न) नहीं है, वह उसका धर्म भी नहीं है जैसे गौ से अश्व । [गौ से अश्व अभिन्न नहीं है अर्थात् भिन्न है, इसलिए गौ की अवस्था-विशेष अश्व नहीं है । वह उससे पृथक् है ।] यहाँ पर पट तन्तुओं का धर्म (अवस्था-विशेष) है अतः भिन्न नहीं है ।

[अब इसमें शंका उठती है कि] तब तो अर्थात् तन्तु और पट में अभेद मान लेने पर प्रत्येक तन्तु ही आवरण का कार्य करता (जो काम कपड़े का है वही काम सूतों से भी चलता)। यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उन सूतों के संस्थान (विशेष रूप से सजाये गये रूप) में अन्तर रहने के कारण [जब उन सूतों से] पट-रूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति Manifestation) हो जाता है तभी ये आच्छादन-रूपी कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। [पट और तन्तु में संस्थान या सजावट का अन्तर है। जब ये तन्तु विशेष रूप से सजा दिये जाते हैं तभी पट का आविर्भाव होता है जो आच्छादन के काम में आता है।] जैसे कछुए के अंग उसके शरीर में प्रवेश करने पर तिरोहित कहलाते हैं और निकलने पर आविर्भूत कहलाते हैं वैसे ही सूत आदि कारणों से वस्त्रादि विशेष रूप (कार्य) निकलने या आविर्भूत होने पर 'उत्पन्न हो रहे हैं' ऐसा कहलाते हैं; प्रवेश करने पर या तिरोहित हो जाने पर 'नष्ट हो रहे हैं' ऐसा कहते हैं।*

न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(गी० २।१६) इति।

ततश्च कार्यानुमानात्तत्प्रधानसिद्धिः। तदुक्तम्—

८. असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
(सां० का० ९) इति।

इसके अतिरिक्त, असत् वस्तु की उत्पत्ति या सत् वस्तु का विनाश भी नहीं होता। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—'असत् का अस्तित्व नहीं होता तथा सत् का अभाव नहीं होता' (गीता २।१६)। इस प्रकार कार्य के द्वारा अनुमान करके इन वस्तुओं के मूलकारण प्रधान या प्रकृति की सिद्धि की जा सकती है। उसे कहा है—

---

* तुलनीय—यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (गी० २।५८)

'[कारण में] कार्य विद्यमान है क्योंकि (१) असत् को कार्य के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता, (२) [कार्य की उत्पत्ति के लिए] उसके उपादान कारण (जैसे घट का मिट्टी, पट का सूत) का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियमपूर्वक संबद्ध रहता है । [यदि कार्य पहले से ही असत् हो तो उसका संबन्ध नहीं हो सकता], (३) सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं [किसी विशेष कारण से विशेष कार्य उत्पन्न होता है, यदि कार्य कारण से असबद्ध रहता तो ऐसा संभव नहीं था], (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य को उत्पत्ति होती है [मिट्टी में कल्पित शक्तिविशेष यदि घट से संबद्ध है तो घट को ही उत्पन्न करेगा] और (५) कार्य कारणात्मक अर्थात् उसी के स्वरूप का होता है (=कार्य और कारण अभिन्न होते हैं) ।' (सां० का० ९) ।

(८ क. विवर्तवाद का खंडन)

नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्तः प्रपञ्चः । बाधानुपलम्भात् । अधिष्ठानारोप्ययोश्चिज्जडयोः कलधौतशुक्त्यादिवत्सारूप्याभावे- नारोपासंभवाच्च ।

आप यह भी नहीं कह सकते कि यह प्रपंच (संसार) उस सत् ब्रह्मतत्त्व का विवर्त अर्थात् कल्पित रूप है । कारण यह है कि [जैसे 'यह चाँदी नहीं, सीपी है' भ्रान्ति नष्ट होने पर ऐसे वाक्य से चाँदी का विरोध या बाध किया जाता है उस प्रकार 'यह संसार नहीं है' ऐसा] विरोध व्यवहार में नहीं मिलता । चेतन और जड जो क्रमशः आधार (अधिष्ठान, ब्रह्म) तथा आधेय (प्रपंच) हैं, उनमें चाँदी और सीपी की तरह की समानता न होने से परस्पर आरोप नहीं हो सकता । [सीपी और चाँदी में तो एकरूपता है कि दोनों ही उजले हैं, परन्तु भला ब्रह्म (चेतन) और संसार (जड) में किस पदार्थ को लेकर एकरूपता हो सकती है । आरोप का हेतु कोई सारूप्य न होने से ब्रह्म पर प्रपंच का आरोप संभव नहीं है । 'कलधौतशुक्त्यादि के समान' यह वैधर्म्य का दृष्टान्त है क्योंकि ब्रह्मप्रपंच के परस्पर सम्बन्ध के विरुद्ध है—जैसे कलधौत (चाँदी) और शुक्ति (सीपी) में समता है वैसे ब्रह्म और प्रपंच में नहीं । यदि कलधौत का अर्थ स्वर्ण लिया जाय तो साधर्म्य का ही दृष्टान्त हो जायगा—जैसे स्वर्ण (पीला) और सीपी (उजली) में समरूपता न होने से परस्परारोप नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और प्रपंच में भी समरूपता न होने से आरोप नहीं होगा ।]

(९. प्रधान या प्रकृति की सिद्धि)

ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्। तथा च प्रयोगः—विमतं भावजातं सुखदुःखमोहात्मककारणकं तदन्वितत्वात्। यद्येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम्। तथा चेदं, तस्मात्तथेति।

इसके बाद सुख, दुःख और मोह से बने हुए इस संसार का वैसा ही कारण विचारना चाहिए। इसके लिए [परार्थानुमान का] यह प्रयोग होगा—

(१) **प्रतिज्ञा**—ये सभी प्रस्तुत* पदार्थ सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं।

(२) **हेतु**—क्योंकि ये उनसे (सुख-दुःख-मोह से) संयुक्त हैं।

(३) **उदाहरण** और **व्याप्ति**—जो जिससे संयुक्त रहता है वह उसी कारण से निकलता है। जैसे स्वर्णपात्र स्वर्णसंयुक्त है और स्वर्ण उसका कारण है।

(४) **उपनय**—यह (प्रस्तुत पदार्थ) भी वैसा (सुख दुःख मोह से संयुक्त) है।

(५) **निगमन**—इसलिए यह (संसार) भी वैसा (सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न) है।

[संसार का सुख दुःख मोह से बना कारण ही प्रकृति या प्रधान है। इसी अनुमान से उसका पता लगता है।]

तत्र जगत्कारणे येयं सुखात्मकता तत्सत्त्वं, या दुःखात्मकता तद्रजः, या च मोहात्मकता तत्तम इति त्रिगुणात्मककारणसिद्धिः। तथा हि—प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते। यथा

---

* विमत, विवादाध्यासित आदि शब्दों का प्रयोग पक्ष (Minor Term) के विशेषण के रूप में किया है। इसका अर्थ है—सन्दिग्ध या जिस पर वाद-विवाद चल रहा है वह विषय। अंगरेजी में इसे in question कहेंगे जैसे—विमतं वस्तु = Thing in question. मैंने 'प्रस्तुत' शब्द रखा है जो उपयुक्त है।

मैत्रदारेषु सत्यवत्यां मैत्रस्य सुखमाविरस्ति । तं प्रति सत्त्वगुणप्रादुर्भावात् । तत्सपत्नीनां दुःखम् । ताः प्रति रजोगुणप्रादुर्भावात् । तामलभमानस्य चैत्रस्य मोहो भवति । तं प्रति तमोगुणसमुद्भवात् ।

यहाँ पर संसार के कारण (प्रकृति) में जो सुख का तत्त्व है वह सत्त्वगुण है, दुःख का तत्त्व रजोगुण और मोह का तत्त्व तमोगुण । इस प्रकार त्रिगुणात्मक कारण (= जगत्कारण) की सिद्धि होती है । वह इस रूप में होती है—संसार के सभी भावों (पदार्थों) में तीनों गुणों की सत्ता का अनुभव होता है । जैसे मैत्र की अनेक पत्नियों में सत्यवती नामक पत्नी से मैत्र को सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि मैत्र के प्रति सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव होता है । [उसी सत्यवती से] उसकी सपत्नियों (Fellow-wives) को दुःख है क्योंकि उनके प्रति रजोगुण का प्रादुर्भाव होता है । उसे न प्राप्त करने वाले (प्राप्ति की इच्छा न रखनेवाले) चैत्र को उससे मोह (उदासीनता का भाव) है क्योंकि उस चैत्र के प्रति तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है । [एक ही पदार्थ—सत्यवती—में तीनों गुणों की सिद्धि होती है । इसी प्रकार सभी पदार्थों से सुख, दुःख और मोह की प्राप्ति होती है ।]

एवमन्यदपि घटादिकं लभ्यमानं सुखं करोति । परैरपह्रियमाणं दुःखाकरोति । उदासीनस्योपेक्षाविषयत्वेनोपतिष्ठते । उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः । मुह वैचित्ये इत्यस्माद्धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः । उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात् । तस्मात्सर्वं भावजातं सुखदुःखमोहात्मकं त्रिगुणप्रधानकारणकमवगम्यते ।

इसी तरह घट आदि दूसरे पदार्थ भी मिल जाने पर सुख देते हैं, दूसरों के द्वारा चुरा लिये जाने पर दुःख देते हैं किन्तु तटस्थ व्यक्ति के लिए उपेक्षा का विषय बन जाते हैं । उपेक्षा का विषय बन जाना ही मोह है । मुह-धातु का अर्थ होता है चित्त से रहित होना (= चित्त की वृत्तियों का शून्यवत् हो जाना) । इस धातु से ही 'मोह' शब्द बनता है । उपेक्षणीय वस्तुओं के प्रति चित्त की वृत्ति उगती ही नहीं । इसलिए सभी पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह के बने हुए हैं । वे तीन गुणों से बने हुए प्रधान (प्रकृति) रूपी कारण से उत्पन्न हैं—यह मालूम होता है ।

तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—

९. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
(श्वे० ४।५) इति ।

अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दाः रञ्जकत्वप्रकाशकत्वावरकत्वसाधर्म्यात् रजःसत्त्वतमोगुणत्रयप्रतिपादनपराः ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति भी यही कहती है—'(सरूपाः) समान रूप वाली (बह्वीः) बहुत सी (प्रजाः) संतानों को (सृजमानाम्) उत्पन्न करने वाली (एकाम्) एक (लोहितशुक्लकृष्णाम्) लाल, उजली और काली (अजां) मूलप्रकृति की (जुषमाणः) सेवा करते हुए (एकः) एक दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (अनुशेते) पीछे-पीछे चलता है। (अन्यः) वह दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (एनाम्) इसका (भुक्तभोगां) भोग कर लेने पर (जहाति) छोड़ देता है।' (श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५)।

यहाँ लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द क्रमशः रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण—इन तीन गुणों का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि इन शब्दों से क्रमशः रँगने वाले, प्रकाशित करने वाले तथा ढँक देने वाले धर्मों की समानता है।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् की उक्त श्रुति को सांख्य में बड़ा महत्त्व देते हैं क्योंकि यहीं सांख्य-दर्शन के बीज प्राप्त होते हैं। बकरा-बकरी का रूपक देकर अध्यात्म-विद्या का उपदेश देने वाले श्लोक में सांख्य-दर्शन अपने तत्त्वों से विद्यमान है। मूल प्रकृति और पुरुष क्रमशः अजा और अज हैं क्योंकि दोनों अजन्मा हैं। तीन गुणों को ही प्रकृति कहते हैं। इन गुणों को आलंकारिक भाषा में लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा है। लाल रंग साड़ी आदि को रँग देता है, पदार्थों में रहनेवाला रजोगुण भी प्रेक्षकों को रँग देता है। इस प्रकार लाल रंग और रजोगुण में रञ्जकत्व धर्म साधारण (Common) है इसलिए लोहित से रजोगुण का बोध होता है। उजले पदार्थ जैसे सूर्य आदि प्रकाशक होते हैं, उधर सत्त्वगुण भी प्रकाशक है। बस, प्रकाशकत्व का धर्म समान होने से शुक्ल शब्द सत्त्वगुण का बोधक हुआ। काले पदार्थ जैसे मेघ आदि सूर्यादि के आवरक (ढँकने वाले) हैं। तमोगुण भी आवरक ही है, अतः कृष्ण शब्द का अर्थ

तमोगुण ही है। प्रकृति को जहाँ 'लोहितशुक्लकृष्णा' कहा है, वहाँ उसका अर्थ 'त्रिगुणात्मिका' है।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने ही अनुरूप (=त्रिगुणात्मक) बहुत से पदार्थों की सृष्टि करती है। पदार्थों को प्रजा कहा गया है। बद्ध पुरुष इसी प्रकृति की सेवा में लगा रहता है। प्रकृति के कार्यों को (बुद्धि, मन आदि को) अपना ही समझ कर प्रकृति के साथ-साथ संसार में घूमता रहता है। दूसरा मुक्त पुरुष इस प्रकृति को छोड़ देता है क्योंकि वह प्रकृति का पुरुष से पार्थक्य जान लेता है। वह मुक्त पुरुष एक बार प्रकृति का भोग कर चुका है इसलिए प्रकृति उसके लिए 'भुक्तभोगा' है।

इस मंत्र में पूर्वार्ध प्रकृति के लिए है, उत्तरार्ध में पुरुष का वर्णन है जिसमें बद्ध और मुक्त दोनों तरह के पुरुषों का वर्णन हुआ है। दो प्रकार के पुरुष भी मानना सांख्यों के बहुपुरुषवाद का परिचायक है। वाचस्पति ने अपनी तत्त्व-कौमुदी का आरंभ इसी मंत्र की संगति बैठाकर किया है।*

(१०. प्रधान की निरपेक्षता)

नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं महदादिकार्ये न व्याप्रियते। अतः केनचिच्चेतनेनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्वार्थदर्शी परमेश्वरः स्वीकर्तव्यः स्यादिति चेत्—तदसंगतम्। अचेतनस्यापि प्रधानस्य प्रयोजनवशेन प्रवृत्त्युपपत्तेः।

यह शंका होती है कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) किसी चेतन की सहायता लिए बिना महत् आदि कार्यों को उत्पन्न करने का काम नहीं कर सकती। [बिना चालक के मोटर गाड़ी नहीं दौड़ जाती। दृष्ट आधार पर ही तो अदृष्ट की सिद्धि होती है। बिना चेतन कर्ता की सहायता लिए अचेतन वस्तु कुछ भी काम नहीं करेगी।] इसलिए [प्रकृति के इस व्यापार के पीछे] किसी चेतन अधिष्ठाता (कर्ता) का रहना जरूरी है। ऐसी दशा में सभी पदार्थों को देखने वाले परमेश्वर को मानना पड़ेगा।

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि प्रधान अचेतन है फिर भी किसी विशेष प्रयोजन से वह प्रवृत्त होता है [और अपने व्यापार में लगता है]।

---

* अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां मुक्तभोगां नुमस्तान्॥
(त० कौ० मंगल, १)

दृष्टं चाचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्तमानं यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति। तदुक्तम्—

१०. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥
(सां० का० ५७) इति।

यही देखते भी हैं कि अचेतन पदार्थ चेतन की सहायता लिये ही बिना मनुष्यों की अर्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवृत्त है (माँ के स्तन में चला आता है) और जैसे अचेतन जल संसार के उपकार के लिए प्रवृत्त होता है उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होगी, [इसमें आश्चर्य क्यों करते हैं ?] यह कहा भी है—'जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए (के प्रयोजन से) अज्ञ अर्थात् अचेतन दूध की भी प्रवृत्ति (क्रिया) देखी जाती है उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रधान या प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।' (सां० का० ५७)।

विशेष—यहाँ लोग पूछ सकते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष कैसे होता है ? मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति। दुःख की निवृत्ति तभी हो सकती है जब पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान हो जाय। प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्गम है, इसलिए पुरुष को उससे अपने भेद का ज्ञान प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। जब प्रकृति कार्योत्पादन में लगती है तब उसके बड़े-बड़े भौतिक कार्य स्थूल रूप से दिखलाई पड़ते हैं। पुरुष आसानी से उन पदार्थों से अपना भेद कर लेता है। फिर वह उन स्थूल कार्यों के कारण सूक्ष्म तत्त्वों से भी भेद कर लेता है। अन्त में सूक्ष्मतम प्रकृति से भी पार्थक्य का ज्ञान उसे हो जाता है। जैसे अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारे को दिखलाने के लिए स्थूल तारों को दिखलाते-दिखलाते ध्यान केन्द्रित हो जाने पर अरुन्धती को दिखला देते हैं वैसे ही पुरुष को भी प्रकृति का ज्ञान होता है।

(१० क. परमेश्वर प्रवर्तक नहीं है)

यस्तु 'परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः' इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्रावेण गतः। विकल्पानुपपत्तेः। स किं

सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा ? आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुत्पत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः । द्वितीये परस्पराश्रयप्रसङ्गः । करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति ।

परमेश्वर की सत्ता माननेवाले लोग (नैयायिक आदि) जो यह ढिंढोरा पीटते हैं कि परमेश्वर दया के कारण संसार की [रचना करने में] प्रवृत्त होता है, वह तो गर्भपात के समान नष्ट हो गया। कारण यह है कि इस दशा में इस पर उठाये गये विकल्पों का खंडन हो जाता है। क्या वह सृष्टि के पहले प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद ? पहला विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि शरीर आदि के अभाव में दुःख की उत्पत्ति नहीं होगी, [दुःख शरीर में ही होता है, जीवों का उस समय शरीर ही नहीं है] अतः जीवों में दुःख को हटाने की इच्छा (करुणा) नहीं मानी जा सकती [और कैवल्य या मोक्ष नहीं होगा।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं कि सृष्टि के बाद करुणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष ही हो जायगा। करुणा से सृष्टि होती है (आपका अपना सिद्धान्त) और सृष्टि होने पर करुणा होती है (प्रसंग का आ जाना)।

(११. प्रकृति-पुरुष का संबन्ध)

तस्मादचेतनास्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तः प्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः । यथा निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तस्य संनिधानेन व्यापारस्तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य संनिधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते । प्रकृतिपुरुषसंबन्धश्च पङ्ग्वन्धवत् परस्परापेक्षानिबन्धनः । प्रकृतिर्हि भोग्यतया भोक्तारं पुरुषमपेक्षते । पुरुषोऽपि भेदाग्रहाद् बुद्धिच्छायापत्त्या तद्गतं दुःखत्रयं वारयमाणः कैवल्यमपेक्षते । तत्प्रकृतिपुरुषनिबन्धनं न च तदन्तरेण युक्तमिति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते ।

इसलिए अचेतन होने पर भी तथा किसी चेतन सत्ता का आश्रय न लेने पर भी प्रधान का परिणाम (विकार) महत् आदि कार्यों के रूप में होता है जो पुरुष के लाभ के लिए उपयोगी एवं प्रधान और पुरुष के संयोग के लिए ही होता है। जैसे निष्क्रिय चुम्बक के भी संपर्क में आने से लोहे में क्रिया

उत्पन्न होती है उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष के संपर्क से प्रधान में क्रिया उत्पन्न होना युक्तियुक्त है।

प्रकृति-पुरुष का संबन्ध अंधे और लँगड़े की तरह परस्पर अपेक्षा पर निर्भर करता है। चूँकि प्रकृति स्वयं भोग्य है इसलिए भोक्ता पुरुष की अपेक्षा रखती है। पुरुष भी, भेद का ज्ञान नहीं रहने से तथा [अपने ऊपर] बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ जाने से, बुद्धिगत तीनों दुःखों को हटाते हुए मोक्ष चाहता है। [बुद्धि प्रकृति का एक परिणाम है किन्तु जब इसकी छाया पुरुष पर पड़ जाती है तब उससे अपना अंतर न जान कर वह पुरुष बुद्धि में उत्पन्न सुख, दुःख आदि को अपना सुख, दुःख ही समझने लगता है। अतः उनके निवारण के लिए उसे मोक्ष की अपेक्षा रहती है।] यह मोक्ष (कैवल्य) प्रकृति और पुरुष [के भेद-ज्ञान] पर निर्भर करता है, उसके बिना यह नहीं हो सकता इसलिए कैवल्य की प्राप्ति के लिए पुरुष [भेदज्ञान के लिए भेद के प्रतियोगी] प्रधान की अपेक्षा रखता है।

यथा खलु कौचित्पङ्ग्वन्धौ पथि सार्थेन गच्छन्तौ दैवकृतादुपप्लवात्परित्यक्तसार्थौ मन्दमन्दमितस्ततः परिभ्रमन्तौ भयाकुलौ दैववशात्संयोगमुपगच्छेताम्। तत्र चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः। ततः पङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धः समीहितं स्थानं प्राप्नोति, पङ्गुरपि स्कन्धाधिरूढः। तथा परस्परापेक्षप्रधानपुरुषनिबन्धनः सर्गः। यथोक्तम्—

११. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संबन्धस्तत्कृतः सर्गः॥
(सां० का० २१) इति।

जैसे कोई अंधा और लँगड़ा राह में किसी दल के साथ जा रहे थे। किसी दैवी उपद्रव से दल से उनका साथ छूट गया। वे बेचारे डर के मारे इधर-उधर घूम रहे थे कि दैवयोग से उनका मिलन आपस में ही हो गया। अब अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर चढ़ा लिया। तब लँगड़े के दिखलाये रास्ते पर चलते-चलते अन्धा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया। लँगड़ा भी कन्धे पर चढ़े-ही-चढ़े [आसानी से वहाँ पहुँच गया]।

उसी प्रकार परस्पर अपेक्षा रखने वाले प्रधान और पुरुष के कारण सृष्टि (सर्ग) चलती है। जैसा कि कहा है—'[प्रधान अपने कर्मों को] दिखलाने के

लिए पुरुष की अपेक्षा रखता है और उसी तरह [पुरुष अपने] कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान की अपेक्षा करता है—इस तरह दोनों का संबन्ध पंगु और अंध के समान है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।' [पंगु को गतिशक्ति नहीं है वह अपने स्थान पर जाने के लिए गतिमान् व्यक्ति की अपेक्षा रखता है तो अंधा मिलता है। उधर अंधा दृष्टिशक्ति से रहित है तो उसे दृष्टिमान् लँगड़े की सहायता मिलती है। दोनों का परस्पर संयोग हो जाता है। यहाँ पुरुष निष्क्रिय होने के कारण पंगु के समान है, प्रधान अचेतन होने के कारण अंधे की तरह है। लँगड़े के संबन्ध से अंधा मार्ग में चल पड़ता है, वैसे ही पुरुष के संबन्ध से प्रधान प्रवृत्त होता है। अंधे के संबन्ध से पंगु अभीष्ट स्थान पर पहुँचता है वैसे ही प्रधान के संबन्ध से पुरुष विवेकज्ञान के द्वारा मोक्ष पाता है।] (सां० का० २१)।

विशेष—सांख्य के प्रकृति-पुरुष-संबन्ध में जो अंधा-लँगड़ा की उपमा दी गई है उसकी घोर आलोचना हुई है। प्रायः लोगों ने संकेत किया है कि अंधा और लँगड़ा दोनों ही चेतन हैं आपस में साथ चलने के लिए समझौता कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि वे एक-एक इन्द्रिय से रहित हैं। प्रकृति और पुरुष में कोई धर्म समान नहीं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। दोनों में समझौता कैसे हो सकता है ?

(१२. प्रकृति की निवृत्ति—प्रलय)

ननु पुरुषार्थनिबन्धना भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिः। निवृत्तिस्तु कथमुपपद्यत इति चेत्—उच्यते। यथा भर्त्रा दृष्टदोषा स्वैरिणी पुनर्भर्तारं नोपैति, यथा वा कृतप्रयोजना नर्तकी निवर्तते तथा प्रकृतिरपि। यथोक्तम्—

> १२. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
> पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
> (सां० का० ५९) इति।

एतच्च निरीश्वरसांख्यशास्त्रप्रवर्तककपिलादिमतानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्॥



अब शंका होती है कि प्रधान की प्रवृत्ति भले ही पुरुष के काम के लिए हो, पर उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर है कि जैसे पति के द्वारा दोष देख लिये जाने पर स्वेच्छाचारिणी स्त्री फिर अपने पति के पास लौट कर नहीं आती अथवा जैसे अपना काम समाप्त कर लेने पर नर्तकी चली जाती है वैसे ही प्रकृति भी [पुरुष को अपना कार्यसमूह या परिणाम दिखाकर निवृत्त हो जाती है।] जैसा कहा गया है—'दर्शक-मंडली को [नृत्य] दिखाकर जैसे कोई नर्तकी अपने नृत्य से अलग हो जाती है वैसे ही पुरुष को अपना स्वरूप (स्थूल परिणाम) दिखला कर प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है।' (सां० का० ५९)।

निरीश्वर सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि आचार्यों का मत माननेवाले लोगों का यह सिद्धान्त यहाँ उपस्थित किया गया है।

इस प्रकार श्रीसायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में सांख्यदर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां सांख्यदर्शनमवसितम् ॥



(१५) पातञ्जल-दर्शनम्

चित्तस्य वृत्तिमनुरुध्य सुसाधनाभि-
जीवः समाधिमधिगच्छति यन्मतेन।
योगास्तथा वसुमिता अधियोगशास्त्रं
येनाश्रिता मम पतञ्जलये नमोऽस्मै ॥ —ऋषिः

(१. योगसूत्र की विषय-वस्तु)

सांप्रतं सेश्वरसांख्यप्रवर्तकपतञ्जलिप्रभृतिमुनिमतमनुवर्तमानानां मतमुपन्यस्यते। तत्र सांख्यप्रवचनापरनामधेयं योगशास्त्रं पतञ्जलिप्रणीतं पादचतुष्टयात्मकम्। तत्र प्रथमे पादे 'अथ योगानुशासनम्' (यो० सू० १।१) इति योगशास्त्रप्रतिज्ञां विधाय 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) इत्यादिना योगलक्षणमभिधाय समाधिं सप्रपञ्चं निरदिक्षद्भगवान्पतञ्जलिः।

अब सेश्वर सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि आदि (=हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि) मुनियों के मत का अनुसरण करने वाले लोगों के सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है। [कपिल के द्वारा प्रतिपादित सांख्य-दर्शन को निरीश्वर-सांख्य कहा गया है क्योंकि वे अपने दर्शन में ईश्वर नामक कोई पदार्थ स्वीकार नहीं करते। योगशास्त्र में सभी विषयों पर सांख्य से सहमत होते हुए भी ईश्वर के विषय में विमति है। ये लोग पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर को भी स्वीकार करते हैं। इसीलिए सेश्वर सांख्य के नाम से यह दर्शन प्रसिद्ध है। सांख्य और योग अन्य पक्षों पर सहमत होने से समानतंत्र भी कहलाते हैं—वे एक दूसरे के पूरक हैं। सिद्धान्तों की विवेचना सांख्य में हुई है जब कि व्यावहारिक पक्ष का विचार योग में हुआ है। [पतंजलि ही इसके उपलब्ध प्रवर्तक माने जाते हैं क्योंकि इनका योगसूत्र बहुत प्रसिद्ध है। इनके पूर्व भी कुछ योगी हो गये थे किन्तु उनके ग्रंथों का प्रचार न होने से माधवाचार्य उन्हें 'प्रभृति' शब्द के अंतर्गत रखते हैं।]

तो, योगशास्त्र में, जिसका दूसरा नाम 'सांख्यप्रवचन' भी है तथा जिसकी रचना पतंजलि ने की है, चार पाद (समाधि, साधन, विभूति, कैवल्य) हैं।

उनमें प्रथम पाद में 'अथ योगानुशासनम्' (अब योग का विश्लेषण होगा, यो० सू० १।१)—इस सूत्र में योगशास्त्र की प्रतिज्ञा देकर भगवान् पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (चित्त की वृत्तियों को रोक देना ही योग है—यो० सू० १।२)—इस सूत्र के द्वारा योग का लक्षण बतला कर, विस्तारपूर्वक समाधि (Concentration) का निर्देश किया है। ['अथ' शब्द स्वरूप से तो मंगल-बोधक है, किन्तु अर्थ है उसका अधिकार अर्थात् आरंभ। अनुशासन = विवेचना करके बोध कराना। समाधि = सम्यक् रूप से आधान (चित्त की अवस्थिति)।* योगशास्त्र में समाधि के दो भेद दिये गये हैं— संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संशय, विपर्ययादि से पृथक् होकर (सम्) अच्छी तरह (प्र) ध्येय का स्वरूप जिसमें ज्ञात हो वही संप्रज्ञात है। असंप्रज्ञात समाधि में ध्यान करने वाले तथा ध्येय ईश्वर दोनों का भेद मिट जाता है।]

द्वितीये 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात० यो० सू० २।१) इत्यादिना व्युत्थितचित्तस्य क्रियायोगं यमादीनि च पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि। तृतीये 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पात० यो० सू० ३।१) इत्यादिना धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संयमपदवाच्यं तदवान्तरफलं विभूतिजातम्।

द्वितीय पाद में—'तप, स्वध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में सारे कामों को अर्पण कर देना) ही क्रियायोग है' (यो० सू० २।१)—इस प्रकार के सूत्रों से, जिस व्यक्ति का चित्त अभी समाधियुक्त नहीं हुआ है, उसके लिए व्यावहारिक योग अर्थात् यम आदि पाँच बहिरंग साधनों का निर्देश किया है। तृतीय पाद में 'चित्त को एक स्थान में बाँध देना ही धारणा है' (यो० सू० ३।१) इत्यादि सूत्रों से धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीन अंतरंग साधनों का [निर्देश किया है] जिन्हें समष्टि-रूप में 'संयम' भी कहते हैं तथा इनके जो गौण फल विभिन्न विभूतियों (अतिमानव शक्तियों) के रूप में प्राप्त होते हैं, उनका निर्देश भी किया गया है।

विशेष—क्रियात्मक (व्यावहारिक) योग में ये तीन चीजें आती हैं— तप, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान। इन्हें हम योग का साधन कह सकते हैं। **तप** के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, सत्यभाषण, मौनग्रहण, अपने

---

* तुलनीय—इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तःशीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते ॥ (यो० वा०)

आश्रमधर्म का पालन, द्वन्द्वों का सहन, मिताहार आदि व्रत आते हैं। इनके पालन में शरीर को सुखाना नहीं है, अन्यथा शरीर के क्षीण हो जाने से योग में व्याघात पड़ेगा। **स्वाध्याय** का अर्थ है—प्रणव, श्रीसूक्त, रुद्रसूक्त, ब्रह्मविद्या आदि का पारायण करना। फल की कामना न करते हुए, कृत कर्मों को परम गुरु ईश्वर को सौंप देना **ईश्वर-प्रणिधान** है। इस क्रियायोग से समाधि की भावना तथा क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) का दुर्बलीकरण होता है। इन क्रियायोगों का वर्णन द्वितीयपाद के प्रथम सूत्र से आरंभ करके २८वें सूत्र तक हुआ है। शेष सूत्रों में अष्टांग योग के पाँच अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—का वर्णन है। ये पाँच अंग योग (चित्तवृत्ति-निरोध) के बाह्य साधन हैं। इनका वर्णन पृथक्-पृथक् करें।

(१) **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहते हैं। ये सार्वभौम व्रत हैं तथा इन्हें जाति, देश, काल और आचार (परंपरा) की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। प्राणी मात्र को, कहीं भी, कभी भी, किसी के लिए भी मैं नहीं मारूँगा—यही सार्वभौम व्रत हुआ। प्राण-वियोग के लिए जो व्यापार करें, वह हिंसा है और इसके विरुद्ध **अहिंसा** होती है। वाणी और मन से वस्तु का यथार्थ निरूपण करना **सत्य** है। दूसरों के द्रव्यों का हरण नहीं करना **अस्तेय** है। जननेन्द्रिय का नियंत्रण करना **ब्रह्मचर्य** है। भोग के साधन के रूप में जो वस्तुएँ हों उन्हें स्वीकार न करना **अपरिग्रह** है।

(२) **नियम**—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान करना (कर्मार्पण करना)—ये पाँच नियम हैं। पवित्र रहना शौच है। शरीर या मन से पवित्र रहा जा सकता है। मिट्टी जल आदि से शरीर की बाह्य शुद्धि होगी तथा पंचगव्य आदि खाने से आन्तरिक शुद्धि। अच्छी-अच्छी भावना करके राग, द्वेषादि मानसिक मलों को धो देना मानस शुचिता है। तृष्णा न होना संतोष है। दूसरे नियमों का वर्णन पहले ही कर चुके हैं।

(३) **आसन**—जिस रूप में साधक स्थिरता से (देर तक) तथा सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन है। पद्मासन, सिद्धासन आदि प्रसिद्ध हैं जिनमें हाथ-पैर आदि शारीरिक अवयवों को एक विशेष प्रकार से रखा जाता है। आसन स्थिर हो जाने पर शीत, उष्ण आदि से पीड़ा नहीं होती है।

(४) **प्राणायाम**—आसन स्थिर हो जाने पर श्वास (नासिका के छेदों से वायु का अन्दर जाना) और प्रश्वास (वायु का बाहर आना), दोनों की गति का निरोध कर देना प्राणायाम है। वायु जहाँ है वहीं रह जाय जिससे

चित्त भी स्थिर हो जाय। ऐसा चित्त शब्दादि विषयों के साथ संबद्ध नहीं हो सकता। परिणाम यह होगा कि श्रोत्रादि इन्द्रियाँ भी विषयों से विमुख हो जायँगी।

(५) **प्रत्याहार**—इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियों को रोकने वाला चित्त ही है। चित्त के रुक जाने से ये इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं।

ये पाँचों उपाय योग के बहिरंग साधन हैं क्योंकि चित्त को स्थिर करने के बाद क्रमशः समाधि तक पहुंचा जा सकता है। धारणा, ध्यान और समाधि चूँकि समाधि के स्वरूप की निष्पत्ति करते हैं अतः अंतरंग साधन कहलाते हैं जिनका वर्णन तृतीय पाद (विभूतिपाद) में हुआ है। समाधि को ही योग कहते हैं। यह योग-रूपी वृक्ष चित्तरूपी खेत में यम-नियम के द्वारा बीज प्राप्त करता है, आसन-प्राणायाम से अंकुरित होता है, प्रत्याहार के द्वारा इसमें फूल लगते हैं और अंत में धारणा आदि अंतरंग साधनों के द्वारा फलवान् होता है। इन तीन साधनों का वर्णन भी करें।

(६) **धारणा**—नाभिचक्र, हृदय, नासिका आदि स्थानों में चित्त को एकाग्र (Concentrate) कर लेना धारणा है। देश कोई भी हो—मूर्ति हो या अपना ही शरीर, किन्तु चित्त की एकाग्रता होनी चाहिए।

(७) **ध्यान**—धारणा में किसी देश में चित्त की वृत्ति (प्रत्यय) एक स्थान पर स्थिर की जाती है—अब वह वृत्ति इस प्रकार से समान प्रवाह के द्वारा लगातार उगती रहे कि दूसरी कोई वृत्ति बीच में न आये, तब उसे ध्यान कहते हैं (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ३।२)।

(८) **समाधि**—यह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तु के आकार में हो जाय, न ध्यान रहे न ध्याता, तब उसे समाधि कहते हैं। ध्यानावस्था में ध्यान-क्रिया, ध्यान करने वाले तथा ध्येय वस्तु की भी प्रतीति होती है किन्तु अभ्यास बढ़ाने पर तीनों जब एकाकार होकर ध्येय के स्वरूप में ही प्रतीत होने लगें तब उस अवस्था का नाम समाधि हो जाता है।

इन तीनों अन्तरङ्ग साधनों का सम्मिलित नाम **संयम** है जिसके दो फल हैं—मुख्य फल योग ही है, किन्तु गौण फल हैं नाना प्रकार की विभूतियाँ जैसे—भूत-भविष्यत् की बातों का ज्ञान, पशु-पक्षी आदि की बोली समझने की शक्ति, दूसरे जन्म की बातों का ज्ञान, दूसरे के मन की बातों को जानने की शक्ति, अन्तर्धान हो जाने की शक्ति आदि। इन सबों का वर्णन विभूतिपाद में किया गाया है।

चतुर्थे 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (पात० यो० सू० ४।१) इत्यादिना सिद्धिपञ्चकप्रपञ्चनपुरस्सरं परमं प्रयोजनं कैवल्यम् । प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्येव संमतानि । षड्विंशस्तु परमेश्वरः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसंप्रदायप्रवर्तकः संसाराङ्गारे तप्यमानानां प्राणभृतामनुग्राहकश्च ।

चतुर्थ पाद में —'जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ हैं' (यो० सू० ४।१) इत्यादि सूत्रों के द्वारा पाँच प्रकार की सिद्धियों का विस्तार करते हुए परम लक्ष्य कैवल्य का निर्देश पतंजलि ने किया है । [साधन के भेद से सिद्धियों के पाँच भेद किये गये हैं । जो सिद्धियाँ जन्म से ही प्राप्त रहती हैं उन्हें जन्मज कहते हैं जैसे पक्षियों के उड़ने की सिद्धि या देवताओं की सिद्धि । कुछ सिद्धियाँ औषधियों के सेवन से प्राप्त होती हैं जैसे पारा आदि का सेवन करके शरीर में विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना । मंत्र से होने वाली सिद्धियों में इष्टदेव की प्राप्ति प्रधान है । तप के प्रभाव से भी अशुद्धि दूर होकर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है । समाधि से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियों का वर्णन विभूतियों के रूप में निर्दिष्ट है । अणिमादि, अजरत्व, अमरत्व, आकाशगमन आदि मुख्य सिद्धियाँ हैं । उक्त अष्टांग योग से योग की प्राप्ति होती है, तब प्रकृति-पुरुष का भेद साक्षात्कार के रूप में मिलता है । पुरुष का ज्ञान हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है—मोक्ष का अर्थ है दुःख का आत्यन्तिक विनाश । इन सबों का निरूपण चतुर्थ पाद में हुआ है ।]

प्रधान आदि पचीस तत्त्व तो पहले-जैसे (सांख्य-दर्शन के अनुसार) ही यहाँ भी स्वीकृत हैं । हाँ, छब्बीसवाँ तत्त्व परमेश्वर है जो क्लेश (अविद्यादि) कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पृष्ट (अछूता) रहने वाला पुरुष ही है (दे० यो० सू० १।२४) । अपनी इच्छा से ही वह शरीरों का निर्माण करके लौकिक और वैदिक संप्रदायों का प्रवर्तन करते हुए, संसार की दावाग्नि में जलने वाले जीवों पर अनुग्रह भी करता है । [सांख्य-दर्शन के सारे सिद्धान्तों को मानने पर भी पातंजल-दर्शन की एक विशेषता है कि इसमें ईश्वर की सत्ता मानी जाती है । ईश्वर का लक्षण पतंजलि इस रूप में देते हैं—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर' (१।२४) । अविद्या आदि क्लेशों का वर्णन आगे करेंगे । ये चित्त में रहकर त्रिगुणात्मक संसार को दृढ़ करते हुए परिताप उत्पन्न करते हैं जिसके कारण क्लेश कहलाते हैं । निषिद्ध और विहित दो प्रकार के

कर्म होते हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में धर्म और अधर्म कहते हैं। कर्म के फल विपाक कहे जाते हैं जो जन्म, आयु और भोग के रूप में तीन हैं। जो मन में अवस्थित रहते हैं (आशेरते) वे आशय अर्थात् संस्कार हैं। इन सब मानवीय विशेषताओं से ईश्वर तीनों कालों में अछूता रहता है। सांख्य-दर्शन के जीवों (पुरुषों) को ये दोष व्याप्त कर लेते हैं किन्तु ईश्वर इन से परे है। ईश्वर अपनी इच्छा से एक या एक साथ ही अनेक शरीर बना सकता है—इसे **निर्माणकाय** कहते हैं। ईश्वर संप्रदाय का प्रवर्तन तथा जीवों पर अनुग्रह करता है—ये दोनों लिंग ईश्वर का अनुमान कराने में सहायक होते हैं अर्थात् ईश्वर अनुमेय भी है।

(२. मोक्ष के विषय में शंका और उसका समाधान)

ननु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य तस्य तप्यभावः कथमुपपद्यते येन परमेश्वरोऽनुग्राहकतया कक्षीक्रियत इति चेत्—उच्यते। तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं बुद्ध्यात्मना परिणतमिति सत्त्वे परितप्यमाने तदारोपवशेन तदभेदावगाहिपुरुषोऽपि तप्यत इत्युच्यते तदुक्तमाचार्यैः—

१. सत्त्वं तप्यं बुद्धिभावेन वृत्तं
भावा ये वा राजसास्तापकास्ते।
तप्याभेदग्राहिणी तामसी या
वृत्तिस्तस्यां तप्य इत्युक्त आत्मा॥ इति।

अब प्रश्न हो सकता है कि कमल के पत्ते की तरह निर्लेप (किसी से भी असंबद्ध) जीव ताप का विषय (तप्य) कैसे बन सकता है जिसके चलते उसपर अनुग्रह करने के लिए (उसे मुक्त करने के लिए) आपको परमेश्वर की सत्ता माननी पड़ती है ? उसका उत्तर दिया जाता है—जो सत्त्वगुण बुद्धि के रूप में परिणत (विकसित) होता है वही तप्त किया जाता है और उसे तप्त करने वाला है रजोगुण। इस प्रकार सत्त्व के परितप्त होने पर, उसी (बुद्धितत्त्व) पर अपना आरोपण करके, उसके साथ अभेद संबन्ध समझने वाला पुरुष भी संतप्त हो रहा है, ऐसा लोग कहते हैं। [आशय यह है—जीव स्वयं न तो तप्त होता है न दूसरे को तप्त ही करता है। किंतु बुद्धिगत सत्त्वांश तप्त होता है और रजोगुण का अंश तप्त करता है। एक तप्य है दूसरा तापक। चूँकि बुद्धि प्रधान का परिणाम है तथा प्रधान में तीन गुण हैं अतः वे तीनों गुण बुद्धि के रूप में भी परिणत होते हैं। जीव स्वयं तो तप्य नहीं हो सकता क्योंकि वह

क्रिया से रहित है तथा परिणाम भी उसमें नहीं होता। अतः क्रिया से उत्पन्न फलों के आश्रय—कर्म की संभावना उसमें है ही नहीं। बुद्धि के संतप्त होने पर मूढ लोग समझते हैं कि प्रतिबिम्ब के रूप में उसी की तरह का पुरुष भी अनुतप्त हो रहा है। यद्यपि बुद्धि और जीव में भेद है किन्तु वे बुद्धि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर देते हैं। विद्वानों की दृष्टि से भी पुरुष पर भोक्ता होने का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही है। अतः बुद्धिगत दुःख को ही हटाने के लिए प्रयत्न किया जाता है।]

ऐसा ही आचार्यों ने कहा है—'बुद्धि के रूप में परिणत होने वाला (प्रधान के विकार के रूप में स्थित बुद्धि) सत्त्व ही तप्य होता है। जो पदार्थ रजोगुण से संबद्ध हैं वे ही तापक हैं। तप्य (अर्थात् बुद्धिगत सत्त्वांश) के साथ अभेद ग्रहण करने वाली जो तामसी (अज्ञानमूलक) मनोवृत्ति है उसी पर [अभेद का आरोपण करने से] आत्मा अर्थात् जीव ही तप्य है, ऐसा प्रयोग किया जाता है।' [सारांश यह है कि बुद्धि के गुणों के तप्य, तापक होने से उन गुणों का जीव पर आरोप करके कहा जाता है कि जीव ही संतप्त हो रहा है।]

पञ्चशिखेनाप्युक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपततीति। भोक्तृशक्तिरिति चिच्छक्तिरुच्यते। सा चात्मैव। परिणामिन्यर्थे बुद्धितत्त्वे प्रतिसंक्रान्तेव प्रतिबिम्बितेव तद्वृत्तिमनुपततीति बुद्धौ प्रतिबिम्बिता सा चिच्छक्तिर्बुद्धिच्छायापत्त्या बुद्धिवृत्त्यनुकारवतीति भावः।

पंचशिखाचार्य ने भी कहा है—'भोक्ता की शक्ति (बुद्धि-शक्ति धारण करने वाला पुरुष) स्वयं परिणत या विकृत नहीं हो सकती, इसका प्रतिसंक्रमण (विकार उत्पन्न करने के लिए दूसरी वस्तु से संयोग) भी नहीं हो सकता—फिर भी परिणत हो सकने वाली वस्तुओं पर मानों प्रतिबिम्बित होती है तथा उसकी वृत्तियों (धर्मों) का अनुसरण भी करती है।' (यो० सू० २।२० पर व्यास भाष्य में उद्धृत)। भोक्ता की शक्ति को ही चित् शक्ति कहते हैं। वह और कोई नहीं, आत्मा ही है। आत्मा ही परिणत होने वाली वस्तु—बुद्धितत्त्व—पर प्रतिसंक्रान्त अर्थात् प्रतिबिम्बित-सी होती है तथा उसकी वृत्तियों का अनुसरण भी करती है। इस प्रकार बुद्धि में वह चिच्छक्ति (आत्मा) प्रतिबिम्बित होती है, उस पर बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा बुद्धि की वृत्तियों का अनुकरण भी वह करने लगती है [जो धर्म बुद्धि के होते हैं उन्हें आत्मा अपने धर्म समझने लगती

है। यही कारण है कि बुद्धि का सत्त्वांश तप्त होता है और आत्मा अपने को तप्त समझती है। रजोगुणांश तप्त करता है और आत्मा अपने को ही तापक समझती है। तमोगुण तो यह नाटक ही दिखाता है। बुद्धि और आत्मा का अभेद हो जाने से आत्मा को ज्ञानी कहने लगते हैं और बुद्धि को चेतन कहने लगते हैं। पर वस्तुतः दोनों पृथक् हैं।

तथा शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्न-तदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासत इति। इत्थं तप्यमानस्य पुरुषस्यादर-नैरन्तर्य-दीर्घकालानुबन्धि-यम-नियमाद्यष्टाङ्गयोगानु-ष्ठानेन परमेश्वरप्रणिधानेन च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवायां जातायामविद्यादयः पञ्च क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हताः भवन्ति। ततश्च पुरुषस्य निर्लेपस्य कैवल्येनावस्थानं कैवल्यमिति सिद्धम्।

इस तरह, यद्यपि पुरुष (आत्मा) शुद्ध या निर्लेप है, किन्तु बुद्धिगत (विषयों का आकार ग्रहण करने के रूप में) प्रत्ययों (विचारों, Ideas) का अनुकरण करता है। उन विचारों का अनुकरण करते हुए, यद्यपि उसके स्वरूप का नहीं है (=बुद्धि के सरूप नहीं है) तथापि बुद्धि के रूप में ही प्रतिभासित होता है। जो पुरुष इस रूप में संतप्त हो रहा है उसे, आदर (तप, श्रद्धा आदि) के साथ, निरन्तर दीर्घकाल तक चलने वाले यम-नियमादि अष्टांग योग का अनुष्ठान करने से तथा परमेश्वर के प्रति अपने सभी कर्मों का अर्पण कर देने से, सत्त्व (बुद्धिगुण) और पुरुष की अन्यता-ख्याति (भेदज्ञान), सभी विघ्न-बाधाओं से रहित होकर उत्पन्न होती है तथा उसी समय अविद्या आदि पाँचों क्लेश मूल से ही उखड़ जाते हैं। [समूलकाषम्—समूल शब्द के उपपद में होने से √कष्+णमुल् (पा० सू० ३।४।३४)। उसके बाद कष् धातु का ही अनुप्रयोग]।

इसके साथ-साथ पुण्य और पाप (कुशल-अकुशल) के रूप में जो कर्मों के भाण्डार हैं वे भी जड़ से नष्ट कर दिये जाते हैं। [क्लेश का मूल है संस्कार, तो संस्कारों के साथ क्लेश, और कर्माशय भी नष्ट हो जाते हैं। समूल शब्द उपपद में है, √हन्+णमुल्—(पा० सू० ३।४।३६)।] इसके बाद निर्लेप (शुद्ध) पुरुष अकेला (केवल रूप में) अवस्थित होता है, इसे ही कैवल्य कहते हैं—यह सिद्ध हुआ। [जिस संबंध के चलते एक संबंधी के धर्म दूसरे

संबन्धी में कहे जाते हैं वह लेप है। जब पुरुष उस प्रकार के संबंध से मुक्त हो जाता है—प्रकृति से पृथक् रूप में अवस्थित होता है, वही तो मोक्ष है।]

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या—'अथ' शब्द का अर्थ)

तत्र 'अथ योगानुशासनम्' (पा० यो० सू० १।१) इति प्रथमसूत्रेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिरूपमनुबन्धचतुष्टयं प्रतिपाद्यते।

अत्राथशब्दोऽधिकारार्थः स्वीक्रियते। अथशब्दास्यानेकार्थत्वे संभवति कथमारम्भार्थत्वपक्षे पक्षपातः संभवेत्? अथशब्दस्य मङ्गलाद्यनेकार्थत्वं नामलिङ्गानुशासनेनानुशिष्टं— 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ।' (अमरको० ३।३।२४६) इति। अत्र प्रश्नकार्त्स्न्ययोरसंभवेऽपि आनन्तर्यमङ्गलपूर्वप्रकृतापेक्षारम्भलक्षणानां चतुर्णामर्थानां सम्भवादारम्भार्थत्वानुपपत्तिरिति चेत्—।

'अब योग का विश्लेषण होगा' (यो० सू० १।१) इस प्रथम सूत्र के द्वारा विचारशील व्यक्तियों की प्रवृत्ति के अंग के रूप में विषय (Subject-matter), प्रयोजन (Aim), संबंध (Relation) और अधिकारी (Qualified person) रूपी चार अनुबन्धों का प्रतिपादन किया जाता है। [प्रस्तुत स्थल में अनुबंध एक पारिभाषिक शब्द है। सभी शास्त्रों के आरंभ में इन चार अनुबंधों पर विचार किया जाता है—वह शास्त्र चाहे व्याकरण हो या वेदान्त, आयुर्वेद हो या ज्योतिष। शास्त्र में जिस पदार्थ का प्रतिपादन करना हो उसे **विषय** कहते हैं। किसी शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है? उसके प्रतिपादन का क्या फल (प्रयोजन) है? उस शास्त्र के विषय, फल और अधिकारियों में क्या संबन्ध है? उस शास्त्र के अध्ययन का अधिकार किन-किन व्यक्तियों को है? इन सब बातों की जानकारी जब तक नहीं होती तब तक लोगों की प्रवृत्ति उस शास्त्र की ओर नहीं होगी। अनुबन्ध-चतुष्टय के ज्ञान के अनन्तर ही लोग किसी शास्त्र में प्रवृत्ति दिखा सकते हैं। लौकिक व्यवहार में भी किसी वस्तु की ओर हम तभी अभिमुख होते हैं जब जान लेते हैं कि वह क्या है, उससे क्या लाभ है, उसके अधिकारी कौन हैं? इत्यादि।]

उक्त सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार (आरंभ) के अर्थ में स्वीकृत होता है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि जब 'अथ' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं तब क्या कारण है कि आप लोग यहाँ आरंभ के अर्थ पर ही पक्षपात कर रहे हैं ? नामलिंगानुशासन (अर्थात् अमरकोश) में 'अथ' शब्द के मंगल आदि अनेक अर्थ दिये हैं—'अथो और अथ, ये दोनों शब्द मंगल (Auspiciousness), अनन्तर (After), आरंभ (अधिकार Beginning), प्रश्न (Query) तथा पूर्णता (All)—इन अर्थों में होते हैं' (अमरकोश ३।३।२४६)। [अथ शब्द मंगल का वाचक तो नहीं होता, उसका साधन भले ही हो सकता है। अमरकोश में ऐसे शब्दों का भी संग्रह है जो किसी अर्थ के वाचक नहीं हैं—जैसे, तु, हि, च, स्म, ह आदि शब्दों का पदपूरण अर्थ देना। इन शब्दों का पदपूरण वाच्यार्थ नहीं है, अपितु वे पदपूरण के साधन मात्र हैं। ठीक वैसे ही अथ शब्द का वाच्यार्थ मंगल नहीं है,—अथ का प्रयोग देखकर हम कह सकते हैं कि यहाँ अथ से मंगल की सिद्धि होती है। अथ के दूसरे अर्थों के ये उदाहरण हैं। अनन्तर (बाद के अर्थ में)—स्नानं कृत्वाथ भुञ्जीत। आरम्भ—अथ योगानुशासनम्। प्रश्न—अथ वक्तुं समर्थोऽसि (क्या तुम बोल सकते हो) ? पूर्णता—अथ धातून् ब्रूमः।]

माना कि प्रश्न और पूर्णता का अर्थ यहाँ नहीं हो सकता [क्योंकि न पतंजलि किसी से कुछ पूछना ही चाहते हैं और न पूरे योगशास्त्र का प्रतिपादन हो रहा है, ऐसा कहने में ही कोई अभिप्राय छिपा है]। फिर भी चार अर्थों की संभावना तो हो सकती है अर्थात् अनन्तर, मंगलबोधक, पूर्व में हुई बातों की अपेक्षा करने वाला या आरंभ का अर्थ ? तो, केवल आरंभ के अर्थ की संभावना मानकर [आपने अन्य तीन अर्थों का अधिकार क्यों छीन लिया ?] केवल एक अर्थ तो असिद्ध है।

मैवं मंस्थाः। विकल्पासहत्वात्। आनन्तर्यमथशब्दार्थ इति पक्षे यतः कुतश्चिदानन्तर्यं पूर्ववृत्तशमाद्यसाधारणात्कारणादानन्तर्यं वा ? न प्रथमः। 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी० ३।५) इति न्यायेन सर्वो जन्तुरवश्यं किंचित्कृत्वा किंचित्करोत्येवेति तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्ततया तदर्थाथ-शब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः।

न चरमः। शमाद्यनन्तरं योगस्य प्रवृत्तावपि तस्यानुशासनप्रवृत्त्यनुबन्धत्वेनोपात्ततया शब्दतः प्राधान्याभावात्।

[उक्त शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि] ऐसा मत सोचिये क्योंकि निम्न विकल्पों की कसौटी पर यह कसा नहीं जा सकता। यदि 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ 'अनन्तर होना' मानते हैं तो इसका क्या अर्थ है—क्या जिस किसी भी चीज के बाद होना या [योगाभ्यास के] पूर्व में किये गये शम आदि असाधारण कारणों के बाद होना ? [शमादि = शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। शम का अर्थ है मन का निग्रह करना, दम = बाह्येन्द्रियों का निग्रह, उपरति = संन्यास, तितिक्षा = सहिष्णुता, श्रद्धा = गुरु आदि के वाक्यादि पर विश्वास। समाधान = चित्त की एकाग्रता। ये योग के असाधारण कारण हैं। क्या इनके पश्चात् योगानुशासन करते हैं ?]

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है। गीता में एक पंक्ति है—'कोई भी पदार्थ बिना कर्म किये हुए एक क्षण भी ठहर नहीं सकता' (गीता ३।५)—इस नियम से यह तो सहज-सिद्ध बात है कि कोई भी व्यक्ति कुछ करने के बाद कुछ करता ही है तो उसका नाम न लेने पर भी उसकी प्राप्ति तो हो ही जाती। अतः उसी सिद्ध बात के लिए 'अथ' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है।

दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं है। यद्यपि शमादि कारणों के बाद ही योग की प्रवृत्ति होती है फिर भी ['अथ योगानुशासनम्' सूत्र में] यह योग अनुशासन की प्रवृत्ति पर ही निर्भर करता है, ऐसा ही दिखाया गया है; अतः शब्द की दृष्टि से योग की प्रधानता नहीं ही रहती। [योगानुशासन एक सामासिक पद है तथा तत्पुरुष समास है जिसमें उत्तरपद अर्थात् 'अनुशासन' प्रधान है। योग तो अनुशासन के अधीन है, उसका उपादान विशेषण के रूप में हुआ है। तो, 'अथ' शब्द का संबन्ध प्रधान शब्द अर्थात् अनुशासन (शास्त्र) के साथ होगा न कि अप्रधान शब्द योग के साथ। 'अथ' के द्वारा 'शमादि के बाद' अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि 'शमादि के बाद' का संबन्ध योग के साथ है और 'अथ' का संबन्ध अनुशासन के साथ। दूसरे शब्दों में, शमादि के बाद योग भले ही होता है पर उनसे योगानुशासन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।]

न च शब्दतः प्रधानभूतस्यानुशासनस्य शमाद्यानन्तर्यमथशब्दार्थः किं न स्यादिति वदितव्यम्। अनुशासनमिति हि शास्त्रमाह। अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलसहितो योगो येन तदनुशासनमिति व्युत्पत्तेः।

आप ऐसा नहीं कह सकते कि शब्द की दृष्टि से (= समास में) जो प्रधान शब्द अनुशासन है, उसे ही शमादि के बाद मानकर 'अथ' शब्द का अर्थ क्यों

न कर लें। ऐसा इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि अनुशासन का अर्थ शास्त्र है। उसकी व्युत्पत्ति (निर्वचन) यह है—जिससे योग अनुशिष्ट (अनु + √शास्) हो अर्थात् लक्षण, भेद, उपाय और फल के साथ जिसके द्वारा योग की व्याख्या की जाय वही अनुशासन है। [उदाहरण के लिए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) में योग का **लक्षण** दिया गया है, 'वितर्कविचार०' आदि (१।१७) सूत्रों में संप्रज्ञातादि योग-**भेदों** का वर्णन हुआ है। साधनपाद में योग के लिए **उपाय** भी दिखलाये गये हैं। कैवल्यपाद में योग के **फल** (मोक्ष) का निरूपण हुआ है।]

अनुशासनस्य च तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तरभावित्वेन शमदमाद्यानन्तर्यनियमाभावात्। जिज्ञासाज्ञानयोस्तु शमाद्यानन्तर्यमाम्नायते—'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ० उ० ४।४।२३) इत्यादिना। नापि तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तर्यमथशब्दार्थः। तस्य संभवेऽपि श्रोतृप्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरनुपयोगेनानभिधेयत्वात्।

[अब यह प्रश्न हो सकता है कि अनुशासन का अर्थ शास्त्र होता है तो ठीक है परन्तु इससे 'अथ' शब्द के अर्थ—शमादि के बाद—पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसीके उत्तर में कहते हैं—] यह अनुशासन चूँकि 'तत्त्वज्ञान का वर्णन करने की इच्छा' के अनन्तर उत्पन्न होता है, शम-दम आदि के अनन्तर होने का तो इसका नियम है ही नहीं। [जो चीज अनुशासन के पहले नियम से आती होगी, उसीका अर्थ अथ शब्द के द्वारा प्रकट हो सकता है। चूँकि अनुशासन सूत्रकार के द्वारा किया जाता है अतः सूत्रकार की इच्छा के बाद ही उन्हें शास्त्र की रचना करने की प्रवृत्ति हुई होगी। शमादि साधनों के बाद प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः योगानुशासन शमादि के बाद नहीं होता।] शमादि के पश्चात् तो जिज्ञासा और ज्ञान उत्पन्न होते हैं, यह श्रुतियों में भी कहा है— 'इसलिए शमयुक्त, दमयुक्त, उपरत होकर, तितिक्षा लिए हुए और समाधान (विश्वास) से युक्त होकर पुरुष आत्मा में ही आत्मा को देख सकता है' (बृ० उ० ४।४।२३)। [शान्त = अन्तःकरण की तृष्णा से रहित। दान्त = बाह्येन्द्रियों पर संयम रखकर। उपरत = सभी इच्छाओं से मुक्त होकर। तितिक्षु = जीवन की रक्षा करते हुए ठंढ, गर्मी आदि विषमों को सहने वाला। समाहित = केवल आत्मा में ही चित्त की स्थापना करके।]

[अब एक और प्रश्न होगा कि 'शमादि के बाद' अर्थ हम भले ही नहीं लें किन्तु अनुशासन के पूर्व नियमतः जो शास्त्रकार की तत्त्वप्रकाशनेच्छा आती है—उसे ही (उसके बाद होना) 'अथ' का अर्थ क्यों नहीं मान लें ? इस पर उत्तर देते हैं—] 'अथ' शब्द का अर्थ 'तत्त्वज्ञान का प्रकाशन करने की इच्छा के पश्चात्' भी नहीं है। कारण यह है कि यदि ऐसा संभव हो तो भी शास्त्रकार ने जिस इच्छा के बाद शास्त्र का निर्माण किया उसका ज्ञान] न तो श्रोताओं के योगविषयक ज्ञान के लिए ही उपयोगी होगा और न उनकी योगविषयक प्रवृत्ति के ही लिए। (ज्ञान या प्रवृत्ति दोनों में से किसी का कारण वह नहीं हो सकता) अतः उसके आनन्तर्य (बाद होना) का कथन निष्फल होने के कारण वर्णन करने योग्य भी नहीं है। [ये बातें सूत्रकार की तत्त्वज्ञानप्रकाशनेच्छा को अनुशासन के पूर्व नियमतः होना मानकर ही कही गई हैं, किन्तु वास्तव में यह प्रकाशनेच्छा पूर्ववर्ती हो नहीं सकती—इसे ही आगे स्पष्ट करते हैं।]

तत्रापि निःश्रेयसहेतुतया योगानुशासनं प्रमितं न वा ? आद्ये तदभावेऽपि उपादेयत्वं भवेत्। द्वितीये तद्भावेऽपि हेयत्वं स्यात्। प्रमितं चास्य निःश्रेयसनिदानत्वम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
(का० २।१२) इति श्रुतेः।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि। (गी०२।५३) इति स्मृतेश्च।

आप लोगों के पक्ष में भी यह प्रश्न हो सकता है कि योगानुशासन को निःश्रेयस (मोक्ष) के कारण के रूप में आप स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि पहला विकल्प लेते हैं [कि योगशास्त्र मोक्ष का कारण है] तब तो उसके (= तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा के) अभाव में भी योगशास्त्र की उपादेयता रहेगी ही। [योगशास्त्र से यदि मोक्ष मिले तो ज्ञान-प्रकाशन की इच्छा न होने पर भी इसे लिखना ही पड़ेगा।] अब यदि योगानुशासन को मोक्ष का हेतु सिद्ध नहीं कर सकते हैं तो [तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा] होने पर भी यह योगानुशासन त्याज्य ही हो जायगा। [फल यह हुआ कि तथाकथित तत्त्व-प्रकाशनेच्छा और योगानुशासन में पूर्वापर संबन्ध नहीं है क्योंकि इसमें व्यभिचार (Inconsistency) देखते हैं।]

[दूसरे विकल्प के साथ दूसरा दोष ढूँढ़ते हैं—] यह योगानुशासन (योग के द्वारा) निश्रेयस का कारण है, यह बिल्कुल निश्चित है। इसके लिए श्रुति का प्रमाण है—'अध्यात्मयोग (आत्मा में चित्त को लगाना, निदिध्यासन, Contemplation) की प्राप्ति होने पर आत्मा (देव) का साक्षात्कार करके ज्ञानी (धीर) पुरुष हर्ष और शोक दोनों का त्याग कर देते हैं' (=मुक्त हो जाते हैं)। [काठक० २।१२)। इसके लिए स्मृति-प्रमाण भी है—'जब तुम्हारी बुद्धि समाधि की अवस्था में आत्मा में स्थिर हो जायगी तब तुम योग (योगफल अर्थात् आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त करोगे।' (गी० २।५३)। [इन दोनों प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि योग मोक्ष का कारण है। शास्त्रकारों को तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा हो या नहीं योगानुशासन किया ही जायगा। अतः उक्त प्रकाशनेच्छा नियमतः योगानुशासन की पूर्ववर्तिनी नहीं हो सकती।]

विशेष—जहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य (बाद में होना) लेते हैं वहाँ निश्चित रूप से कोई काम पहले हो चुका रहता है—भले ही उस काम का प्रतिपादन नहीं हुआ हो और न उसके प्रतिपादन की आवश्यकता ही समझी गई हो। 'स्नानं कृत्वाथ गतः' वाक्य में गमन क्रिया का प्रतिपादन स्नान के बाद हुआ है, स्नान गमन के पूर्व हुआ है। भले ही उस प्रतिपादन का उपयोग कुछ न हो और न ही नियमतः स्नान और गमन की पूर्वापरता देखी जाय—फिर भी 'अथ' शब्द 'स्नान के अनन्तर' का ही बोध कराता है। यदि 'अथ' शब्द का प्रयोग हो और किसी भी पूर्व क्रिया का उल्लेख नहीं हुआ हो तो भी योग्यता के बल से निर्णय करना ही होता है कि उसके पूर्व क्या हुआ था। ऐसी अवस्था में जो क्रिया निरन्तर साथ दे उसी की पूर्ववृत्तता (Priority) माननी चाहिए।

अत एव शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनोपयोगाद्यानन्तर्यं पराकृतम्। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्र तु ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वेनाधिकारार्थत्वं परित्यज्य साधनचतुष्टयसंपत्तिविशिष्टाधिकारिसमर्पणाय शमदमादिवाक्यविहिताच्छमादेरानन्तर्यमथशब्दार्थ इति शंकराचार्यैर्निरटङ्कि।

इसलिए, शिष्य का प्रश्न, तपश्चर्या या रसायन का उपयोग (शरीर में शक्ति लाने के लिए) आदि के **अनन्तर** (योगानुशासन होगा]—यह पक्ष ('अथ' शब्द को अनन्तर के अर्थ में लेना) खंडित हो गया। [जो लोग 'अथ' का अर्थ अनन्तर करते हैं वे लोग अपनी पुष्टि के लिए बहुत से कार्य लेते हैं। प्रश्न है कि तब योगानुशासन किस कार्य के बाद किया गया ? कुछ शास्त्र

शिष्यों के द्वारा प्रश्न किये जाने के बाद शास्त्रकारों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, जैसे—पाशुपतशास्त्र। कुछ शास्त्र तपस्या के बाद ज्ञानोत्पत्ति होने पर लिखे जाते हैं, जैसे—पाणिनि का व्याकरण। कुछ शास्त्र पारदादि के संयोग से बने हुए रसायनों का सेवन करने के बाद तत्त्वसाक्षात्कार होने पर लिखे जाते हैं। गुरु की आज्ञा से या लोगों पर दया करने के लिए भी शास्त्र लिखे जाते हैं। इन उपायों से शास्त्रकार शास्त्र की रचना करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी कार्य योगानुशासन के पूर्व में नियमपूर्वक नहीं माना जा सकता। जो गति तत्त्वप्रकाशनेच्छा की है, वही तो इन सबों की भी है। अतः 'अथ' का अर्थ 'अनन्तर होना' नहीं लिया जा सकता।]

वेदान्तसूत्र के प्रथम सूत्र—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (इसलिए अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए), इसमें [अथ शब्द का अर्थ अधिकार (आरम्भ) नहीं हो सकता क्योंकि] ब्रह्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) का आरंभ नहीं किया जा सकता अतः 'अधिकार' अर्थ को छोड़ कर, चार साधनों की संपत्ति से युक्त अधिकारी को समर्पित करने के लिए, शमदमादि वाक्य (='शान्तो दान्तः०') में विहित होने के कारण, शंकराचार्य ने 'अथ' शब्द का अर्थ 'शमादि छहों पदार्थों के बाद' ऐसा किया है। [इच्छा का आरंभ नहीं होता अतः शंकराचार्य ने अथ का अर्थ 'बाद' ही किया है। अब प्रश्न हुआ कि किसके बाद ? शंकराचार्य अधिकारी चुनने में बड़ी रुचि दिखलाते हैं। वह अधिकारी, जिसे ब्रह्मसूत्र सौंप सकें। अतः 'अथ' से 'अधिकारी बनने के बाद' अर्थ लेते हैं। पर अधिकारी है कौन ? 'शान्तो दान्तः' वाक्य इसके लिए तो प्रस्तुत ही है। बस, 'अथ' का अर्थ हुआ—शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान से युक्त होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा होती है।]

विशेष—उक्त चार साधनों के नाम शंकर ने इस प्रकार गिनाये हैं—(१) नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेक करना, (२) ऐहिक और आमुष्मिक भोग सामग्रियों से वैराग्य, (३) शम, दमादि साधन-संपत्ति तथा (४) मुमुक्षु होना (१।१।१ का भाष्य)। वे आगे कहते हैं—तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। (वहीं)।

(३ क. 'अथ' शब्द मंगल का द्योतक भी नहीं)

अथ मा नाम भूदानन्तर्यार्थोऽथशब्दः। मङ्गलार्थः किं न स्यात् ? मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अगर्हिताभीष्टावाप्तिमङ्गलम्। अभीष्टं च सुखावाप्तिदुःखपरिहाररूपतयेष्टम्।

योगानुशासनस्य च सुखदुःखनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावान्न मङ्गलता। तथा च योगानुशासनं मङ्गलमिति न संपनीपद्यते।

अच्छा, 'अनन्तर होना' के अर्थ में 'अथ' शब्द भले ही न रहे लेकिन इसे मंगलार्थक क्यों नहीं मानते ? इसलिए नहीं मानते हैं कि मंगल के साथ वाक्य के अर्थ का संबन्ध नहीं हो सकता। अगर्हित (अनिन्द्य) तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करना मंगल है। अभीष्ट वस्तु वही है जिसकी कामना लोग सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति के रूप में करें। योगानुशासन न तो सुख है (सुख-जनक भले ही है), और न दुःख की निवृत्ति को योगानुशासन कहते हैं। अतः यह मंगल नहीं है। इस प्रकार 'योगानुशासन मंगल है', यह अर्थ सिद्ध हो ही नहीं सकता। (संपनीपद्यते = सम् + √पद् + यङ् = पुनः पुनः संपद्यते, भृशं संपद्यते)।

विशेष—जैसा कि ऊपर कह चुके हैं मंगल 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ नहीं है—केवल उसे 'अथ' शब्द प्रकट कर सकता है। योगानुशासन स्वतः मंगल नहीं है यह सिद्ध कर ही चुके हैं। अब इस प्रश्न का विश्लेषण आगे करेंगे।

मृदङ्गध्वनेरिवाथशब्दश्रवणस्य कार्यतया मङ्गलस्य वाच्यत्व-लक्ष्यत्वयोरसंभवाच्च। यथार्थिकार्थो वाक्यार्थे न निविशते तथा कार्यमपि न निविशेत। अपदार्थत्वाविशेषात्। पदार्थ एव वाक्यार्थे समन्वीयते। अन्यथा शब्दप्रमाणकानां शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यत इति मुद्राभङ्गः कृतो भवेत्।

जिस प्रकार मंगल मृदंग (ढोलक) की ध्वनि [का कार्य] है उसी प्रकार वह 'अथ' शब्द के श्रवण (या उच्चारण) का भी कार्य ही है। अतः मंगल न तो [अथ का] वाच्यार्थ हो सकता और न ही लक्ष्यार्थ। [अथ शब्द का उच्चारण करने से मंगल की उत्पत्ति होती है, अथ शब्द का वह वाच्यार्थ नहीं। यदि वाच्यार्थ नहीं है तो लक्ष्यार्थ भी नहीं क्योंकि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही संबद्ध रहता है।] जिस प्रकार अर्थापत्ति से उत्पन्न अर्थ वाक्यार्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता उसी प्रकार [मंगल का यह] कार्य-अर्थ भी वाक्यार्थ में नहीं आ सकता। कारण यह है कि दोनों में एक तरह से ही पद के अर्थ का तिरस्कार होता है। वाक्यार्थ से संबन्ध उसी का हो सकता है जो पद का अपना अर्थ हो। यदि ऐसा नहीं होता तो वैयाकरणों (शब्द को प्रमाण मानने वाले) के उस नियम का भंग होता जिसमें यह कहा जाता है कि शाब्दी (शब्द से संबद्ध)

आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण हो सकती है। [कोई शब्द जब किसी वाक्य के अर्थ को प्रकाशित करने में असमर्थ हो तथा किसी दूसरे शब्द की अपेक्षा रखे तो उसे शाब्दी आकांक्षा कहते हैं—इसकी पूर्ति शब्द से ही हो सकती है, किसी दूसरे साधन से नहीं। यदि अर्थापत्ति के अर्थ को या कार्यरूप अर्थ (जैसे अथ का अर्थ मंगल) को वाक्यार्थ से मानने लगेंगे तो शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति शब्द से न होकर आर्थिकार्थ या कार्यार्थ से भी होने लगेगी किन्तु वास्तव में तो शब्दार्थ से होती है। अतः उक्त नियम खंडित हो जायगा।]

विशेष—'देवदत्त दिन में नहीं खाता, पर मोटा है' इस वाक्य में 'रात्रि-भोजन' अर्थापत्ति से प्राप्त अर्थ है, वाक्य से ऐसा अर्थ हमें मिल नहीं सकता। इसे आर्थिकार्थ कहते हैं। 'अथ' का जो 'मंगल' अर्थ करते हैं वह कार्य अर्थ है—जैसे राम का वाच्यार्थ व्यक्ति विशेष होता है वैसे 'अथ = मंगल' नहीं होता, मंगल 'अथ' के उच्चारण से उत्पन्न होता है, कार्य है। स्वभावतः ये दोनों अर्थ पदार्थ नहीं हैं, इसलिए वाक्यार्थ करने में इनका कोई महत्त्व नहीं। फलतः 'अथ योगानुशासनम्' में अथ का अर्थ मंगल लेने से योगानुशासन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। केवल 'योगानुशासनम्' कहने से वाक्य अपूर्ण रह जाता जिसकी पूर्ति 'अथ' से होती है। अब यदि अथ को भी मंगलोत्पादक मान लेंगे तब तो वाक्य अपूर्ण का अपूर्ण ही रह जायगा।

ननु प्रारिप्सितप्रबन्धपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहव्यूहप्रशमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च शास्त्रारम्भे मङ्गलाचरणमनुष्ठेयम्। 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, आयुष्मत्पुरुषकाणि वीरपुरुषकाणि च भवन्ति' (पात० भाष्य० आह्नि० ३) इत्यभियुक्तोक्तेः। भवति च मङ्गलार्थोऽथशब्दः—

२. ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इतिस्मृतिसम्भवात्। तथा च 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१) इत्यादौ वृद्ध्यादिशब्दवदथशब्दो मङ्गलार्थः स्यादिति चेत्—।

[पूर्वपक्षी लोग फिर भी 'अथ' को मंगलार्थक मानते हुए कह सकते हैं—] जिस प्रबन्ध का आरम्भ करने की इच्छा है (प्रारिप्सित) उसकी समीचीन समाप्ति के समय तक रुकावट डालने वाले (परिपन्थिन्) विघ्नों के समूह के विनाश के

लिए तथा शिष्टाचार का परिपालन करने के लिए भी शास्त्र के आरम्भ में मंगलाचरण का अनुष्ठान करना चाहिए। अभियुक्त (आप्त) पुरुषों का भी यही कहना है—'जिन शास्त्रों के आदि में, मध्य में तथा अंत में मंगल होता है वे शास्त्र प्रसिद्ध हो जाते हैं। उनके अध्येता आयुष्मान् तथा वीर (शास्त्रार्थ में अपराजित) होते हैं।' (महाभाष्य, आह्निक ३, पा० सू० १।१।१ पर)।

मंगल के अर्थ में 'अथ' शब्द होता भी है—'ओम् और अथ शब्द ये दोनों प्राचीन काल में ब्रह्मा के कंठ को छेद कर बाहर निकले (=ब्रह्मा की इच्छा के बिना निकले), इसलिए ये दोनों मांगलिक कहलाये।' ऐसा स्मृति से चला आ रहा है। इसलिए 'वृद्धिरादैच्' (पाणिनि का प्रथम सूत्र) में वृद्धि-आदि शब्द की तरह 'अथ' शब्द भी मंगल के अर्थ में हो सकता है।

मैवं भाषिष्ठाः। अर्थान्तराभिधानाय प्रयुक्तस्याथशब्दस्य वीणावेण्वादिध्वनिवत् श्रवणमात्रेण मङ्गलफलत्वोपपत्तेः। अथार्थान्तरारम्भवाक्यार्थधीफलकस्याथशब्दस्य कथमन्यफलकतेति चेन्न। अन्यार्थं नीयमानोदकुम्भोपलम्भवत्तत्संभवात्। न च स्मृतिव्याकोपः। माङ्गलिकाविति मङ्गलप्रयोजनत्वविवक्षया प्रवृत्तेः।

[उक्त शंका का **उत्तर** इस प्रकार है—] ऐसा मत कहिये। 'अथ' शब्द किसी दूसरे अर्थ के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त हुआ है; वीणा, वेणु (बाँसुरी) आदि की ध्वनि की तरह केवल इसके श्रवण करने से ही मंगलात्मक फल की सिद्धि होती है। [वृद्धिरादैच्' में वृद्धि का अर्थ मंगल नहीं है, वृद्धि तो पाणिनि-व्याकरण की एक संज्ञा है। संज्ञा का बोधक होने पर भी इस शब्द के उच्चारण या श्रवण से मंगल की सिद्धि होती है। उसी प्रकार 'अथ' शब्द का अर्थ दूसरा कुछ है किन्तु इसके श्रवण से मंगलाचरण होता ही है। अतः ऐसे शब्दों से दो-दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं।]

[इस उत्तर पर भी कोई पूछ सकता है कि] मंगलार्थ के अतिरिक्त, आरंभ [आदि अर्थों] का बोध (धी) वाक्यार्थ में कराने वाले 'अथ' शब्द से दूसरे फल (अर्थ) कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? (यह कैसे सम्भव है कि 'अथ' से आरंभ का वाच्यार्थ भी निकले और मंगल भी व्यक्त हो ?) ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जिस प्रकार दूसरे काम से ले जाये जाने वाले पानी से भरे घड़े को देखने से [यात्रा पर निकले हुए व्यक्ति का शुभ शकुन होता है], उसी प्रकार यह भी

संभव है। ऐसा मानने पर भी उक्त स्मृति (तस्मान्माङ्गलिकावुभौ) का खंडन नहीं होता। 'माङ्गलिकौ' कहने का अर्थ [यह नहीं है कि ओम् और अथ का वाच्यार्थ ही मंगल है प्रत्युत] 'इसका लक्ष्य मंगल है' इसी विवक्षा से उक्त शब्द प्रयुक्त किया गया है।

विशेष--अब अथ शब्द के 'पूर्वप्रकृत की अपेक्षा रखना' अर्थ का खंडन करके अंत में 'आरंभ' अर्थ में इसकी सिद्धि करेंगे।

(४. 'अथ' का अर्थ आरम्भ या अधिकार)

नापि पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दः। फलत आनन्तर्याव्यतिरेकेण प्रागुक्तदूषणानुषङ्गात्। किमयमथशब्दोऽधिकारार्थोऽथानन्तर्यार्थ इत्यादिविमर्शवाक्ये पक्षान्तरोपन्यासे तत्सम्भवेऽपि प्रकृते तदसम्भवाच्च।

ऐसी बात भी नहीं है कि 'अथ' शब्द से पहले से प्रस्तुत वस्तु की अपेक्षा रखी जाय। [योग्यता के बल से शम-दमादि या शिष्य का प्रश्न या प्रकाशनेच्छा आदि के रूप में कुछ न कुछ पूर्वप्रकृत वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी] फलतः यह अर्थ आनन्तर्य अर्थ से भिन्न नहीं है जो-जो दोष उस अर्थ को स्वीकार करने पर लगाये जाते हैं वे यहाँ भी प्राप्त हो जायँगे। 'यह अथ-शब्द क्या अधिकार के अर्थ में होता है या आनन्तर्य के अर्थ में ?' इस प्रकार के विमर्श (विभिन्न मत) के बोधक वाक्य में दूसरे पक्ष की स्थापना करने पर ये अर्थ (आनन्तर्य और अधिकार) सम्भव भी हैं किन्तु प्रस्तुत अर्थ लेने पर तो वह (पक्षान्तर की स्थापना) सम्भव ही नहीं [क्योंकि कोई भी पूर्वप्रकृत वस्तु नहीं मिलती है। नित्य रूप से साकांक्ष न रहने के कारण कोई अर्थ पहले से नहीं मान सकते !]

तस्मात्पारिशेष्यादधिकारपदवेदनीयप्रारम्भार्थोऽथशब्द इति विशेषो भाष्यते। यथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिः' इत्यत्राथशब्दः क्रतुविशेषप्रारम्भार्थः परिगृहीतः, यथा च 'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० भा० १।१) इत्यत्राथशब्दो व्याकरणशास्त्राधिकारार्थस्तद्वत्।

इसलिए अब परिशेष-नियम से (कोई दूसरा विकल्प न मिलने से) 'अथ' शब्द का अर्थ प्रारम्भ है जिसे 'अधिकार' शब्द के द्वारा भी समझते हैं—भाष्यकार (व्यास) ने इसे स्पष्ट किया है। जैसे—'अब (अथ) यह ज्योति-यज्ञ है,

अब यह विश्व ज्योति-यज्ञ है' (ताण्ड्य ब्राह्मण १६।८।१, १६।१०।१)—यहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द विशेष क्रतु (यज्ञ) को प्रारम्भ करने के अर्थ में लिया गया है। उसी प्रकार जैसे 'अब (अथ) शब्दानुशासन होता है' (महाभाष्य का प्रथम वाक्य)—यहाँ भी 'अथ' शब्द व्याकरण-शास्त्र के आरम्भ के अर्थ में आया है वैसे ही [प्रस्तुत प्रसंग में भी समझें।]

तद्भाषि व्यासभाष्ये योगसूत्रविवरणपरे अथेत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते इति। तद् व्याचख्यौ वाचस्पतिः। तदित्थम्—अमुष्याथशब्दस्याधिकारार्थत्वपक्षे शास्त्रेण प्रस्तूयमानस्य योगस्योपवर्तनात्समस्तशास्त्रतात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्यस्य सुखावबोधप्रवृत्तिर्भवतीत्यथशब्दस्याधिकारार्थत्वमुपपन्नम्।

योगसूत्र का विवरण (व्याख्या) करनेवाले व्यासभाष्य में भी कहा गया है कि 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। [व्यास की इस पंक्ति की] व्याख्या वाचस्पति ने [अपनी तत्त्ववैशारदी टीका में] की है। वह इस प्रकार है—इस अथ शब्द को अधिकार के अर्थ में ले लेने पर शास्त्र के द्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले योग का प्रतिपादन (उपवर्तन) करना सम्भव है। पूरे शास्त्र के तात्पर्यार्थ की व्याख्या करने से शिष्य में सरलता से समझने की प्रवृत्ति होगी, इसलिए 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में हुआ है, यह सिद्ध हुआ। [हम ऊपर देख चुके हैं कि 'अथ' का अर्थ 'आनन्तर्य' लेने पर इसका उपयोग न तो श्रोता के बोध के लिए है और न उसकी प्रवृत्ति के लिए। ऐसी बात 'अधिकार' अर्थ लेने पर नहीं होती। योगशास्त्र का आरम्भ हो रहा है जिसमें सभी शास्त्रों के तात्पर्यार्थ की विवृति हुई है—इस शास्त्र की सहायता से इसका बोध आसानी से श्रोताओं को हो जायगा। यही नहीं, सामान्य ज्ञान हो जाने पर विशेषतः शास्त्रावलोकन की प्रवृत्ति भी होगी। इसलिए अथ का यही अर्थ सर्वथा समीचीन है।]

ननु 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतञ्जलिः कथं योगस्य शासितेति—अद्धा। अतएव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिन्धुना फणिपतिना सारं संजिघृक्षुणानुशासनमारब्धं न तु साक्षाच्छासनम्। यदायमथ-

शब्दोऽधिकारार्थस्तदैवं वाक्यार्थः सम्पद्यते—योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यमिति । तस्मादयमथशब्दोऽधिकार-द्योतको मङ्गलार्थश्चेति सिद्धम् ।

अब प्रश्न हो सकता है कि 'योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, कोई दूसरे पुरातन ऋषि नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है तो पतंजलि को योग का शास्त्रकार क्यों मानते हैं ? ठीक है इसीलिए तो, जहाँ-तहाँ पुराण आदि में योग की विवेचना विशिष्टरूप से [एक स्थान पर नहीं होकर] बिखरी हुई होने के कारण, समझने में कठिन जानकर, कृपा के सागर भगवान् शेषनाग [के अवतार पतंजलि] ने, उस योग का सारांश ग्रहण करने की इच्छा से अनुशासन (प्रथम प्रकाशन के पश्चात् उसका संकलन) किया है, साक्षात् शासन (नये शास्त्र की रचना) नहीं । [पुराणों में प्रसंग के अनुसार जहाँ-तहाँ योग के खंडों का ही वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ विष्णुपुराण (६।७), गरुड-पुराण (अध्याय १४ तथा ४९), मार्कण्डेय पुराण (अध्याय ३९) तथा लिङ्गपुराण (अध्याय ९) में योग का प्रतिपादन हुआ है, पर कहीं पूर्ण वर्णन नहीं । इसीलिए उन सभी स्थानों का सार ग्रहण करके पतंजलि ने योगशास्त्र लिखा—प्रथम शासन नहीं है, यह अनु-शासन है ।]

यह 'अथ' शब्द जब अधिकार के अर्थ में लिया जाता है तब वाक्यार्थ इस तरह सम्पन्न होता है—योगानुशासन नाम के शास्त्र का आरम्भ हो गया, ऐसा समझें । इसलिए 'अथ' शब्द अधिकार का द्योतक है और मङ्गल का प्रयोजन रखता है—यह सिद्ध हुआ ।

(५. योग के चार अनुबन्ध)

तत्र शास्त्रे व्युत्पाद्यमानतया योगः ससाधनः सफलो विषयः । तद्व्युत्पादनमवान्तरफलम् । व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं परमप्रयोजनम् । शास्त्रयोगयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव-लक्षणः संबन्धः । योगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धः । स च श्रुत्यादिप्रसिद्ध इति प्रागेवावादिषम् । मोक्षम-पेक्षमाणा एवाधिकारिण इत्यर्थसिद्धम् ।

इस शास्त्र में व्युत्पादित (प्रतिपादित) होने के कारण, साधनों और फलों के सहित योग (चित्तवृत्ति का निरोध) ही इसका **विषय** है । योग का प्रति-पादन करना गौण फल (प्रयोजन) है जब कि प्रतिपादित किये गये योग का

परम **प्रयोजन** कैवल्य (मोक्ष) है। शास्त्र और योग के बीच में एक प्रतिपादक है दूसरा प्रतिपाद्य—यही **संबन्ध** है। योग और कैवल्य के बीच में एक साधन है दूसरा साध्य, ऐसा संबन्ध है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह (संबन्ध) श्रुति, स्मृति आदि में प्रसिद्ध है। यह तो अर्थ से ही सिद्ध है कि इसके **अधिकारी** वे ही लोग हैं जो मोक्ष की अपेक्षा करते हैं। [यदि 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य होता तो शमादि साधनों से युक्त पुरुषों को अधिकारी मानना पड़ता। किन्तु यहाँ योग का फल मोक्ष को स्वीकार करके—'अध्यात्मयोगाधिगमेन' के आधार पर—मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी मानते हैं। अब यह दिखलाते हैं कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में अधिकारी की सिद्धि अर्थ से ही क्यों नहीं होती, अलग से अधिकारी का निरूपण करनेकी क्या आवश्यकता है ?

न च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यादावधिकारिणोऽर्थतः सिद्धिराशङ्कनीया। तत्राथशब्देनानन्तर्याभिधानप्रणाडिकयाऽधिकारिसमर्पणसिद्धौ आर्थिकत्वशङ्कानुदयात्। अत एवोक्तं—श्रुतिप्राप्ते प्रकरणादीनामनवकाश इति। अस्यार्थः—यत्र हि श्रुत्यार्थो न लभ्यते तत्रैव प्रकरणादयोऽर्थं समर्पयन्ति नेतरत्र। यत्र तु शब्दादेवार्थस्योपलम्भस्तत्र नेतरस्य संभवः।

ऐसा संदेह नहीं करना चाहिए कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) में भी अधिकारी की सिद्धि अर्थ से ही हो जायगी। [शंका करने वालों का तात्पर्य है कि इस सूत्र में भी 'अथ' का अर्थ अधिकार ही क्यों न मान लें ? तब श्रुति प्रमाण के रूप में मिल जायगी—तमेवं विद्वानमृत इह भवति (श्वेता० ३।८) जिससे ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष मान लेंगे। फलतः मोक्ष का इच्छुक पुरुष अधिकारी है, यह अर्थ से ही सिद्ध हो जायगा। इसका उत्तर देते हैं।] वहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द से आनन्तर्य-अर्थ का बोध होता है तथा यह सिद्ध होता है कि [सिद्धान्तों या अर्थों का] समर्पण (Transmission) एक निश्चित परम्परा से ही अधिकारियों को होता है, अतः उस अर्थ को अर्थतः सिद्ध करने की शंका ही नहीं उठती। [जब किसी बात की सिद्धि सीधे ही या परम्परा से हो सकती हो तो अर्थ से सिद्ध करने की बात नहीं उठती।]

इसीलिए कहा गया है—[निश्चयात्मक प्रमाण के रूप में] जब श्रुति प्राप्त हो रही हो तो प्रकरण आदि का अवकाश वहाँ नहीं रहता' (तुलनीय–

ब्र० सू० ३।३।४९)। इसका अर्थ यह है—जहाँ श्रुति (शब्द) से अर्थ प्राप्त न हो वहीं पर प्रकरण आदि प्रमाण अर्थ के प्रकाशन या निर्णय में सहायता करते हैं, अन्यत्र नहीं। जहाँ शब्द से ही अर्थ की प्राप्ति हो जाय वहाँ दूसरे साधन की संभावना भी नहीं होती।

शीघ्रबोधिन्या श्रुत्या विनियोगस्य बोधनेन निराकाङ्क्षतये-तरेशामनवकाशात्। किं च श्रुत्या बोधितेऽर्थे तद्विरुद्धार्थं प्रकरणादि समर्पयति, अविरुद्धं वा? न प्रथमः। विरुद्धार्थ-बोधकस्य तस्य बाधितत्वात्। न चरमः। वैयर्थ्यात्। तदाह—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-मर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१४) इति।

[जब किसी यज्ञ में किसी मंत्र के] विनियोग का बोध उस श्रुति-प्रमाण से होता है जो तुरत बोध कराने में समर्थ है तब और किसी की आकांक्षा न रहने के कारण दूसरे प्रमाणों की प्राप्ति नहीं होती। ['अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में अथ का अर्थ अधिकार ले लेने से 'किसके द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा की जाय?' इस प्रकार अधिकारी की आकांक्षा होती है, मोक्ष के वाक्यों को देखकर उनसे कैसे मोक्ष उत्पन्न होता है, उस प्रकार साधन की आकांक्षा होती है। यह आकांक्षा ही 'प्रकरण' के नाम से पुकारी जाती है। प्रकरण के बल से ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में मोक्ष के वाक्यों के साथ इसकी संगति अनुमान से बैठायी जाती है अर्थात् 'ब्रह्मजिज्ञासा मोक्ष का साधन है' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। उस लिंग से मुमुक्षु व्यक्ति को 'ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए' ऐसा शब्द मालूम होता है। इस प्रकार प्रकरण के बाद वाक्य और तब लिंग और उसके अनन्तर शब्द—इस रूप में अधिकारी की प्राप्ति बहुत विलम्ब से होती है। यदि दूसरी ओर, अथ का अर्थ 'आनन्तर्य' लें तब तो अथ शब्द के अर्थ के बल से (श्रुति से) ही अधिकारी की प्रतीति हो जाती है कि साधन-चतुष्टय से संपन्न व्यक्ति ही अधिकारी हो सकता है। अभिप्राय यह है कि योगसूत्र के 'अथ' और ब्रह्मसूत्र के 'अथ' के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं क्योंकि दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं।]

इसके अतिरिक्त यह पूछा जाय कि श्रुति से अर्थ-बोध होने पर प्रकरण आदि से उसके (श्रुति के अर्थ के) विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है या अविरुद्ध अर्थ की? विरुद्ध अर्थ प्रतीति तो नहीं हो सकती क्योंकि जो विरुद्ध अर्थ का बोध करावेगा वह प्रकरणादि बाधित (खंडित) हो जायगा। यदि अविरुद्ध अर्थ की

प्रतीति होती हो तब तो वह व्यर्थ ही हो जायगा। इसे कहा भी है 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, इनका एक स्थान पर संघर्ष उत्पन्न होने पर क्रम में पीछे आनेवाला प्रमाण दुर्बल पड़ता है क्योंकि उसमें अर्थ बहुत दूर पड़ जाता है' (मी० सू० ३।३।१४)।

३. बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा।
मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया॥ इति च।

तस्माद्विषयादिमत्त्वात् ब्रह्मविचारकशास्त्रवद्योगानुशासनमारम्भणीयमिति स्थितम्।

[उक्त छह प्रमाणों में बाध्यबाधक संबन्ध का निर्णय इस प्रकार है—] श्रुति केवल बाधक बन सकती है, (बाध्य नहीं क्योंकि इसके पहले कोई प्रमाण नहीं होता)। समाख्या केवल बाध्य बन सकती है, (बाधक नहीं, क्योंकि इसके बाद कोई प्रमाण नहीं होता)। बीच के प्रमाण [अपने पूर्व क्रम के प्रमाणों के साथ संघर्ष होने पर] अपेक्षा से बाध्य होते हैं या [अपने बाद के क्रम के प्रमाणों के साथ संघर्ष होने पर] बाधक भी होते हैं।

इस प्रकार इस [पूरे विवेचन] के पश्चात् यह सिद्ध हुआ कि विषय आदि अनुबन्धों से युक्त होने के कारण, ब्रह्म का विचार करनेवाले (वेदान्त) शास्त्र की तरह, योगानुशासन (योगशास्त्र) का भी आरम्भ करना चाहिए।

(६. योग और शास्त्र में सम्बन्ध)

ननु व्युत्पाद्यमानतया योग एवात्र प्रस्तुतो न शास्त्रमिति चेत्—सत्यम्। प्रतिपाद्यतया योगः प्राधान्येन प्रस्तुतः। स च तद्विषयेण शास्त्रेण प्रतिपाद्यत इति तत्प्रतिपादने करणं शास्त्रम्। करणगोचरश्च कर्तृव्यापारो न कर्मगोचरतामाचरति।

[अभी भी कोई शंका कर सकता है कि] उत्पन्न करने की वस्तु तो योग है अतः योग ही यहाँ पर प्रस्तुत है न कि शास्त्र। [उत्तर में कहेंगे कि] बात ठीक है। प्रतिपाद्य होने के कारण प्रधानरूप से योग ही प्रस्तुत हो रहा है लेकिन उसका प्रतिपादन योग-विषयक शास्त्र से होता है, अतः योग के प्रतिपादन में करण (साधन) का काम शास्त्र ही करता है। यह सामान्य नियम है कि कर्ता का व्यापार (क्रिया) करण से ही अधिक सम्बन्ध रखता है कर्म से नहीं।

यथा छेत्तुर्देवदत्तस्य व्यापारभूतमुद्यमननिपातादिकर्म करणभूतपरशुगोचरं न कर्मभूतवृक्षादिगोचरम्। तथा च वक्तुः पतञ्जलेः प्रवचनव्यापारापेक्षया योगविषयस्याधिकृतता करणस्य शास्त्रस्य। अभिधानव्यापारापेक्षया तु योगस्यैवेति विभागः। ततश्च योगशास्त्रस्यारम्भः संभावनां भजते।

जैसे वृक्ष को काटनेवाले देवदत्त का व्यापार अर्थात् [कुल्हाड़ी] ऊपर उठाना, गिराना आदि कार्य (क्रियाएँ) परशु (कुल्हाड़ी) रूपी करण से संबद्ध है, वृक्षादिरूपी कर्म से नहीं। उसी प्रकार यहाँ पर वक्ता पतंजलि का प्रवचनरूपी व्यापार (क्रिया) हो रहा है। जिसका विषय योग है ऐसे करण-स्वरूप शास्त्र का ही आरम्भ उस व्यापार के द्वारा अपेक्षित है। ['पतञ्जलिः योगं शास्त्रेण प्रवक्ति' इस वाक्य से ही मालूम हो जायगा कि कौन किस कारक में हैं। इसीलिए कर्म की अपेक्षा करण की प्रधानता होने के कारण, शास्त्र का ही सम्बन्ध पतंजलि के प्रवचन से है, न कि योग का।] पतंजलि का व्यापार यदि [प्रवचन करना न होकर] अभिधान करना हो तब तो योग का आरम्भ मानें—यही विभाजन-रेखा है। तब योगशास्त्र के आरम्भ की सम्भावना हो सकती है।

(७. योग का लक्षण और समाधि)

अत्र चानुशासनीयो योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्युच्यते। ननु युजिर्योग इति संयोगार्थतया परिपठिताद् युजेर्निष्पन्नो योगशब्दः संयोगवचन एव स्यान्न तु निरोधवचनः। अत एवोक्तं याज्ञवल्क्येन—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। इति।

यहाँ यह कहना है कि जिस योग का अनुशासन करना अभीष्ट है उसका लक्षण है, चित्त की वृत्तियों का निरोध। अब प्रश्न हो सकता है कि '√युज्= योग करना' इस प्रकार संयोग के अर्थ पढ़े गये युज्-धातु से बना हुआ योग शब्द संयोग का वाचक हो सकता है निरोध का वाचक नहीं। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा है—'जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को ही योग कहा गया है।'

तदेतद्वार्तम् । जीवपरयोः संयोगे कारणस्यान्यतरकर्मादेर-संभवात् । अजसंयोगस्य कणभक्षाक्षचरणादिभिः प्रतिक्षेपाच्च । मीमांसकमतानुसारेण तदङ्गीकारेऽपि नित्यसिद्धस्य तस्य साध्यत्वाभावेन शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च । धातूनामनेकार्थत्वेन युजेः समाध्यर्थत्वोपपत्तेश्च । तदुक्तम्—

४. निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः ।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ इति ।

[उक्त शंका] निस्सार है क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के लिए, कारण के रूप में उन दोनों में से किसी में भी क्रिया आदि का होना असंभव है । [न तो जीवात्मा ही चल सकता है न परमात्मा, अतः दोनों का संयोग ही नहीं होगा । संयोग होने के तीन प्रकार हैं—(१) दो संयोगी पदार्थों में किसी एक की क्रिया से उत्पन्न संयोग, जैसे—पक्षी के बैठने से वृक्ष और पक्षी का संयोग । (२) दोनों पदार्थों की क्रिया से उत्पन्न संयोग—दो पहलवानों का संयोग, (३) संयोग से उत्पन्न संयोग जैसे—हाथ और वृक्ष के संयोग से शरीर और वृक्ष का संयोग । यह भेद काल्पनिक है । जीव और परमात्मा में कोई भी भेद सम्भव नहीं क्योंकि वे विभु हैं ।]

[अब यदि आपलोग दोनों के संयोग को नित्य मानकर उक्त कठिनाई से बच जाना चाहते हैं तो हम कहेंगे कि] नित्य संयोग को तो कणाद और गौतम आदि ऋषियों ने ही नहीं माना है । [संयोग की नित्यता संयोगी पदार्थों की नित्यता पर भी निर्भर करती है । इस दृष्टि से घट और पट का या घट और आकाश का संयोग नित्य नहीं है । दोनों संयोगियों के नित्य होने पर भी संयोग की अनित्यता देखते हैं । दो परमाणु नित्य हैं पर उनका संयोग तो अनित्य है । वास्तव में संयोग एक क्रिया है जिसकी उत्पत्ति होती है, विनाश होता है । दो संयोगियों में एक के विभु रहने पर भी स्थान का भेद तो होगा ही और संयोग की उत्पत्ति नये प्रकार से होती रहेगी—अतः संयोग कार्य ही बना रहेगा । दोनों संयोगियों के विभु होने पर संयोग नित्य होगा किन्तु ऐसे संयोग से काम ही क्या होगा ? कार्य भी नित्य ही रहेगा । उस संयोग के लिए चेष्टा ही क्यों होगी ? ऐसे सम्बन्ध को समवाय कहते हैं । संयोग सदा अनित्य रहता है ।]

मीमांसकों के मतानुसार यदि नित्य संयोग स्वीकार करें तो भी इस (नित्य संयोग) का कोई साध्य (प्रयोजन, लक्ष्य) नहीं मिल सकता । (यदि जीवात्मा

परमात्मा में संयोग नित्य हो तो यह हमारा लक्ष्य नहीं बन सकता क्योंकि वह पहले से ही सिद्ध है इसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।] अतः योगशास्त्र की प्रक्रियायें भी व्यर्थ हो जायेंगो। [इससे बचने का उपाय यह है कि] धातु अनेकार्थक होते हैं और इसीलिए युज्-धातु को समाधि के अर्थ में भी सिद्ध किया जा सकता है। यही कहा है—'निपात, उपसर्ग और धातु, ये तीनों अनेकार्थ माने गये हैं, उनके पाठों में जो उदाहरण मिलते हैं [वे ही इसके प्रमाण हैं।]'

अत एव केचन युजिं समाधावपि पठन्ति—'युज समाधौ' (पा० धातुपाठ, दि० ७१, आत्मने०) इति। नापि याज्ञवल्क्य-वचनव्याकोपः। तत्रस्थस्यापि योगशब्दस्य समाध्यर्थत्वात्।

५. समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः॥

इति तेनोक्तत्वाच्च। तदुक्तं भगवता व्यासेन (योग भा० १।१) योगः समाधिरिति।

इसीलिए कुछ लोग (पाणिनि आदि) युज्-धातु का अर्थ समाधि भी मानते हैं और तदनुसार उनके धातुपाठ में मिलता भी है—'युज समाधौ' (दिवादि ७१, आत्मनेपद)। याज्ञवल्क्य की बात का भी इससे खंडन नहीं होता। याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वाक्य में भी योग-शब्द समाधि के अर्थ में ही है। [जीव और परमात्मा का संयोग अर्थात् सम्यक् योग = साम्यावस्था ही योग (= समाधि) कहलाता है। बुद्धि आदि कल्पित उपाधियों से युक्त धर्मों को छोड़कर स्वाभाविक अनासक्ति के रूप में जीव की, परमात्मा की तरह, अवस्थिति हो जाने को साम्यावस्था कहते हैं। इसी का प्रतिपादन 'निरञ्जनः परमं साम्य-मुपैति' (मुं० ३।१।३) इत्यादि श्रुतियों में हुआ है, यही मुक्ति है।]

याज्ञवल्क्य स्वयं कहते हैं—'जीवात्मा और परमात्मा की साम्यावस्था समाधि है। जीवात्मा की जब स्थिति ब्रह्म में हो जाय वही समाधि है।' इसे व्यास ने भी भाष्य (योगभाष्य १।१) में कहा है—योग समाधि को ही कहते हैं।

(७ क. योग का अर्थ समाधि—आपत्ति)

नन्वेवमष्टाङ्गयोगे चरमस्याङ्गस्य समाधित्वमुक्तं पतञ्जलिना (पात० यो० सू० २।२९)—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-

धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य' इति । न चाङ्गी एवाङ्गतां गन्तुमुत्सहते । उपकार्योपकारकभावस्य दर्शपूर्णमास-प्रयाजादौ भिन्नायतनत्वेनात्यन्तभेदात् । अतः समाधिरपि न योगशब्दार्थो युज्यत इति चेत्— ।

इस प्रकार एक शंका हो सकती है । ऐसा होने पर योग के आठ अंगों में अंतिम अंग को जो पतञ्जलि ने समाधि कहा है, इसका क्या उत्तर होगा ?' संबद्ध सूत्र यह है—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योग के आठ अंग हैं' (योगसूत्र २।२९) । अंगी (योग) अंग नहीं बन सकता । [यदि योग का अर्थ समाधि लेते हैं तब तो योग या समाधि ही अंगी है जिसके आठ अंग हैं । पुनः समाधि को एक अंग भी मानते हैं अतः उपकारक और उपकार्य एक ही मानना पड़ता है जो संभव नहीं । फल यह होगा कि चित्तवृत्तिनिरोध वाले सूत्र तथा प्रस्तुत 'यमनियम०' सूत्र में विरोध होगा । योग और समाधि में अन्तर करना ही पड़ेगा —एक अंगी (उपकार्य) है, दूसरा अंग (उपकारक) ।]

दर्श-पूर्णमास (उपकार्य, अंगी) तथा प्रयाज (उपकारक, अंग) के संबन्ध की तरह उपकार्य और उपकारक का संबन्ध, दोनों के आश्रय भिन्न रहने के कारण, आत्यन्तिक भेद की अपेक्षा रखता है । इसलिए योग शब्द का समाधि अर्थ रखना युक्तियुक्त नहीं है ।

तन्न युज्यते । व्युत्पत्तिमात्राभिधित्सया 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (पात० यो० सू० ३।३)इति निरूपितचरमाङ्गवाचकेन समाधिशब्देनाङ्गिनो योगस्याभेदविवक्षया व्यपदेशोपपत्तेः । न च व्युत्पत्तिबलादेव सर्वत्रशब्दः प्रवर्तते । तथात्वे गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेस्तिष्ठन्गौर्न स्यात् । गच्छन्देवदत्तश्च गौः स्यात् ।

[उक्त शंका का समाधान—] यह तर्क ठीक नहीं है । केवल व्युत्पत्ति (प्रकृति और प्रत्यय से उत्पन्न अवयवार्थ) जनित अर्थ कहने की इच्छा से ही— 'उस ध्यान में ही जब केवल दृश्य अर्थ की प्रतीति होती है तथा जो अपने किसी भी रूप से शून्य हो जाता है तब उसे समाधि कहते हैं' (यो० सू० ३।३)— इस सूत्र में निरूपित अन्तिम अङ्ग के वाचक समाधि शब्द से अङ्गी योग-शब्द का अभेद बतलाने के लिए ही व्यास ने वैसा (योगः समाधिः) कहा है । [व्यास

ने अपने भाष्य में योग का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही समाधि को बतलाया है। व्यावहारिक अर्थ जिसे प्रवृत्तिनिमित्त भी कहते हैं, तो कुछ दूसरा ही है—चित्तवृत्ति का निरोध। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी कुछ देना ही था, इसीलिए समाधि का पीछा किया गया। ऐसी बात नहीं कि समाधि ही योग का सदा के लिए अर्थ है। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ का जो अधिकार है वही इसे भी प्राप्त है।]

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) सब जगह व्युत्पत्ति के बल से ही होती है। यदि ऐसा हुआ करता तब तो 'जानेवाली वस्तु को गौ (√गम्) कहते हैं' अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार गौ कभी भी स्थिर नहीं हो सकती। उधर यदि देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति चलायमान होता तो उसे भी गौ ही कहते। [इसीलिए योग शब्द की व्युत्पत्ति से उत्पन्न अर्थ ही इसका परमार्थ या व्यवहारार्थ (प्रवृत्तिनिमित्त) नहीं है। यौगिक शब्दों के साथ ऐसी बात भले ही हो क्योंकि वहाँ अवयवों का अर्थ ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। योगरूढ या रूढ शब्दों में तो व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा प्रवृत्तिनिमित्त ही प्रधान रहता है। उसी के अनुसार शब्द का प्रयोग होता है। 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (व्यवहारार्थ) है 'गोत्व', जबकि व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है गमन क्रिया का आधार। 'गो' शब्द का व्यवहार व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के अनुसार नहीं होता। उसी तरह 'योग' शब्द का व्यवहार भी प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार ही होता है क्योंकि यह रूढ शब्द है। योग का अर्थ 'समाधि' तो व्युत्पत्तिनिमित्त (Derivative meaning) होने के कारण गौण है।]

(७ ख. योग का व्यावहारिक अर्थ—चित्तवृत्तिनिरोध)

प्रवृत्तिनिमित्तं च प्रागुक्तमेव—चित्तवृत्तिनिरोध इति। तदुक्तं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पात. यो. सू. १।२) इति।

ननु वृत्तीनां निरोधश्चेद्योगोऽभिमतस्तासां ज्ञानत्वेनात्माश्रयतया तन्निरोधोऽपि प्रध्वंसपदवेदनीयस्तदाश्रयो भवेत्। प्रागभावप्रध्वंसयोः प्रतियोगिसमानाश्रयत्वनियमात्। ततश्च—'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनात्मनः कौटस्थ्यं विहन्येतेति चेत्—।

योग का प्रवृत्तिनिमित्त (Usage) तो पहले ही बतलाया गया कि चित्तवृत्ति का निरोध है। सूत्रकार ने कहा भी है—'चित्त की वृत्तियों का

निरोध हो जाना योग है' (यो० सू० १।२)। [वृत्तियाँ पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति (यो० सू० १।६)। अज्ञात वस्तु का निश्चय कराने वाली वृत्ति प्रमाण है। विपर्यय = मिथ्याज्ञान। वास्तविकता से दूर तथा काल्पनिक प्रतीति को विकल्प कहते हैं जैसे यह ब्राह्मण सूर्य है, खरहे की सींग आदि। इनका निरोध हो जाना ही योग है।]

अब एक शंका होती है कि यदि आप वृत्तियों के निरोध (विनाश) को योग मानते हैं तो ये वृत्तियाँ, ज्ञान होने के कारण, आत्मा पर आश्रित होंगी और इनका निरोध अर्थात् प्रध्वंस (विनाश) भी उसी आत्मा पर आश्रित हो जायेगा। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अपने प्रतियोगी के आधार पर ही निर्भर करते हैं। [जिस वस्तु का अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी होता है। यदि घट का प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव है तो अभाव धर्मी हुआ और घट प्रतियोगी। ये धर्मी और प्रतियोगी दोनों एक ही आधार पर निर्भर करते हैं। यह नियम है।]

उसके बाद—'धर्म के आगमन या विनाश से धर्मी में विकृति उत्पन्न होती है', इस नियम से आत्मा की कूटस्थता ही समाप्त हो जायगी। [कूट = मूलस्वरूप। उसमें अवस्थित रहना कूटस्थता है। आत्मा कूटस्थ है अर्थात् इसमें कभी विकृति नहीं होती। यदि वृत्तियाँ आत्मनिष्ठ हैं तो उनका विनाश (प्रध्वंसाभाव) भी आत्मनिष्ठ ही होगा। वृत्तियाँ आत्मा के धर्म हैं। यदि इनका विनाश होता है तो आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है क्योंकि धर्म के आगम या विनाश से धर्मी विकृत होता है। इसलिए वृत्तियों के विनाश के समय आत्मा में विकार होगा और उसकी कूटस्थता नहीं रह सकेगी।]

विशेष—'उपयन्नपयन्धर्मो' का न्याय बहुत प्रसिद्ध है तथा दो उल्लेख इसके मिलते हैं। एक तो सिद्धान्तबिन्दु (वेदान्त का ग्रंथ, रचयिता—मधुसूदन सरस्वती, १५६० ई०) की टीका न्यायरत्नावली (रचयिता—ब्रह्मानन्द सरस्वती, समय–१६५० ई०) में; दूसरे, सूतसंहिता के शिवमाहात्म्यखंड के आरंभ में विद्यारण्य की टीका में।

तदपि न घटते। निरोधप्रतियोगिभूतानां प्रमाणविपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतिस्वरूपाणां वृत्तीनामन्तःकरणाद्यपरपर्यायचित्त-धर्मत्वाङ्गीकारात्। कूटस्थनित्या चिच्छक्तिरपरिणामिनी विज्ञा-नधर्माश्रयो भवितुं नार्हत्येव।

न च चितिशक्तेरपरिणामित्वमसिद्धमिति मन्तव्यम्।

'चितिशक्तिरपरिणामिनी सदा ज्ञातृत्वात्, न यदेवं न तदेवं यथा चित्तादि' इत्याद्यनुमानसंभवात् ।

उपर्युक्त शंका करना भी ठीक नहीं है। निरोध या विनाश के प्रतियोगी के रूप में वृत्तियाँ—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—स्वीकृत की गई हैं (अर्थात् इन वृत्तियों का ही निरोध होता है)। ये वृत्तियाँ अन्तःकरण आदि (=बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण) के नाम से पुकारे जाने वाले चित्त के ही धर्म मानी गई हैं। [ज्ञान, चित्त का ही परिणाम है। बुद्धि की वृत्ति में विषयों का आकार आ जाना ज्ञान है और विषयों के आकार से उपरक्त बुद्धि की वृत्ति का प्रतिविम्ब चित्-शक्ति पर पड़ता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, रूप से युक्त स्थूल द्रव्य में है उसी प्रकार पुरुष में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, वृत्ति से युक्त चित्त में ही है। उस समय बुद्धि की वृत्तियों से भेद-ग्रहण न कर सकने के कारण उस प्रकार की बुद्धि की वृत्तियों से अभिन्न रूप में चितिशक्ति वस्तुओं का अनुभव करती है। फलतः ज्ञान वास्तव में बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा की कूटस्थता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

[नैयायिकादि जो ज्ञान को आत्मा के धर्म मानते हैं उनका उत्तर यह है—] चित्-शक्ति (चैतन्य या आत्मा) कूटस्थ (मूल रूप में स्थित), नित्य तथा परिणाम (परिवर्तन, विकृति) से रहित है, वह विज्ञान-धर्म का आश्रय नहीं ही हो सकती है। [ज्ञान का अर्थ है विषय के आकार के सदृश आकार में परिणत होना। आत्मा अपरिणामी है अतः ज्ञान का आश्रय वह नहीं हो सकती है।]

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चितिशक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना असिद्ध है। [चितिशक्ति को अपरिणामी मानने के लिए] इस प्रकार के अनुमान की संभावना है—

(१) चितिशक्ति अपरिणामी है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि यह सदा ज्ञाता के रूप में रहती है। (हेतु)
(३) जो ऐसा (अपरिणामी) नहीं है वह वैसा (ज्ञाता) भी नहीं,
जैसे चित्त आदि। (व्यतिरेक दृष्टान्त)

विशेष—चित्-शक्ति का विषय है वृत्ति से युक्त चित्त। चित्त के विषय घटादि पदार्थ हैं। ये घटादि चित्-शक्ति के सीधे विषय नहीं, परंपरा से हो सकते हैं। चित्शक्ति → चित्त → घटादि। घटादि पदार्थों का ज्ञान तभी हो सकता है जब इन्द्रिय-संयोग, प्रकाश आदि साधन विद्यमान हों। यदि साधन

ही न रहें तो ये विद्यमान रहने पर भी अज्ञात पदार्थ ही रहेंगे। यह तो हुआ चित्त और घटादि का संबन्ध। चित् शक्ति और चित्त में ऐसा संबन्ध नहीं है। ऐसा नहीं होता कि चित्तवृत्ति विद्यमान होने पर भी अज्ञात रहे। वृत्ति में अज्ञात सत्ता हो नहीं सकती। नहीं तो विद्यमान रहने पर भी चित्तवृत्ति की अज्ञात अवस्था में निम्नलिखित संशय होते ही रहते—'मैं सुखी नहीं या मैं दुःखी नहीं' इत्यादि। इसलिए चित्तवृत्ति सदा ज्ञात रहती है और चित्-शक्ति जिस समय चित्त-वृत्ति का साक्षात्कार करती है उस समय अपरिणामी ही रहती है। यदि चित्त की तरह ही चित्-शक्ति में भी परिणाम मानेंगे तब तो चूँकि परिणाम कार्य है, इसलिए कभी होगा कभी नहीं, फलतः चित्तवृत्ति सदा ज्ञात नहीं हो सकेगी।

अब ज्ञान की प्रक्रिया पर भी विचार कर लें। विषयों का ज्ञान जब चित्त-वृत्ति के द्वारा होता है तब विषय अपने आकार का समर्पण चित्तवृत्ति में कर देते हैं। किन्तु जब चित्तवृत्ति का ज्ञान चित्-शक्ति के द्वारा होता है तब वृत्ति चित्-शक्ति में केवल प्रतिबिम्बित ही होती है। जब बुद्धि की वृत्ति विद्यमान रहेगी तब प्रतिबिम्बन क्रिया अनिवार्य है। अतएव आत्मा (चित्-शक्ति) ज्ञाता के रूप में सदा अवस्थित रहती है। निष्कर्ष यह है कि चित्तवृत्ति सदा ज्ञात होती रहती है और चित्-शक्ति सदा ज्ञाता बनी रहती है। अतः चित्-शक्ति अपरिणामी ही रहती है। आगे इसे मूल में ही स्पष्ट करेंगे।

उपर्युक्त अनुमान में दृष्टान्त व्यतिरेक-विधि का दिया गया है क्योंकि अन्वय-विधि में मिलना ही संभव नहीं था।

तथा यद्यसौ पुरुषः परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। चिद्रूपस्य पुरुषस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेनावस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैव स्थितत्वात्। येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तस्य दृश्यस्य सदैव चिच्छायापत्त्या भानोपपत्त्या पुरुषस्य निःसङ्गत्वं संभवति।

ऐसी स्थिति में यदि वह पुरुष (आत्मा) परिणामी होता तो चूँकि परिणाम कभी-कभी हुआ करता है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ भी सदा ज्ञात नहीं हो सकतीं। चित्-शक्ति के रूप में जो पुरुष है वह अधिष्ठाता के रूप में सदा ही अवस्थित रहता है। उसके अंतरंग में निर्मल सत्ता की भी स्थिति सदा रहती है। जिस-जिस अर्थ (वस्तु) के साथ [चित्त] उपरक्त होता है

उस दृश्य वस्तु की छाया चित्-शक्ति (आत्मा) पर पड़ती है तथा प्रतीति होती है—इस प्रकार पुरुष की निःसंगता संभव है।

ततश्च सिद्धं तस्य सदा ज्ञातृत्वमिति न कदाचित्परिणामित्वशङ्कावतरति। चित्तं पुनर्येन विषयेणोपरक्तं भवति स विषयो ज्ञातः, येनोपरक्तं न भवति तदज्ञातमिति वस्तुनोऽयस्कान्तमणिकल्पस्य ज्ञानाज्ञानकारणभूतोपरागानुपरागधर्मित्वादयःसधर्मकं चित्तं परिणामीत्युच्यते।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुरुष (आत्मा) सदा ज्ञाता बना रहता है, इसलिए उसके परिणामी (परिवर्तनशील) होने की शंका कभी नहीं उठ सकती। अब चित्त की यह दशा है कि वह जिस विषय से उपरक्त (संबद्ध) होता है, वही विषय ज्ञात होता है। जिससे उसका उपराग नहीं वह अज्ञात ही रहता है। वस्तु अयस्कान्त मणि (चुम्बक Magnet) की तरह होती है तथा चित्त लोहे की तरह है। ज्ञान का कारण उपराग (संबंध) है तथा अज्ञान का कारण उपराग न होना है। ये (उपराग और अनुपराग) चित्त के धर्म हैं इसीलिए उसे (चित्त को) परिणामी कहते हैं। [चुम्बक क्रियाशील] नहीं है किन्तु वह आकृष्ट कर सकता है। विषय भी क्रियाहीन ही हैं किन्तु लोहे के समान क्रियाशील चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करके (इन्द्रियों के द्वारा) अपने आकार की तरह का आकार समर्पित करते हैं। आकार का समर्पण ही उपराग कहलाता है। उपराग होने पर विषयों का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं। उपराग धर्म है जो चित्त के परिणामी होने पर ही संभव है। अतः चित्त का परिणामी होना सिद्ध होता है।

विशेष—प्रस्तुत स्थल भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए अत्यन्त ही उपादेय है। चित्त की वृत्तियों का विश्लेषण योग में ही हुआ है।

(८. चित्त और विषयों का संबन्ध)

ननु चित्तस्येन्द्रियाणां चाहंकारिकाणां सर्वगतत्वात् सर्वविषयैरस्ति सदा संबन्धः। तथा च सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र ज्ञानं प्रसज्येतेति चेत्—न। सर्वगतत्वेऽपि चित्तं यत्र शरीरे वृत्तिमत्, तेन शरीरेण सह संबन्धो येषां विषयाणां, तेष्वेवास्य ज्ञानं भवति, नेतरेषु—इत्यतिप्रसङ्गाभावात्। अत एवायस्कान्तमणि-

कल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमिन्द्रियप्रणालिकयाऽभिसंबध्यो-परञ्जयन्तीत्युक्तम् ।

अब यहाँ पर शंका हो सकती है कि अहंकार से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियाँ तथा चित्त सर्वव्यापक है अतः सभी विषयों के साथ इनका सदा संबन्ध होता है। इस प्रकार तो सभी समय, सभी जगह, सभी चीजों का ज्ञान होने लगेगा। [तात्पर्य यह है कि चित्त और इन्द्रियों को विभु माना जाता है। यदि चित्त को विभु न मानकर अणु मानेंगे तो एक बार में अनेक विषयों के साथ संबन्ध नहीं हो सकेगा तथा एकाग्रता माननी पड़ेगी। जब एकाग्रता पहले से ही सिद्ध है तब योगशास्त्र में एकाग्रता के उपदेश की विधि व्यर्थ ही हो जायगी। इसीलिए चित्त को विभु मानते हैं। दूसरे, यदि मन विभु नहीं होता तो सुगंधित जल पीने में या बड़े-बड़े पुए खाने में एक साथ ही जो दो इन्द्रियों के द्वारा अनुभूति होती है (सुगंध–नाक, जल–जीभ; बड़े बड़े—आँख, पुए–जीभ) वह नहीं हो सकती। योगी लोग जो एक ही साथ अखिल पदार्थों का साक्षात्कार कर लेते हैं वह भी संभव नहीं हो पाता। योगियों का यह साक्षात्कार लौकिक प्रत्यक्ष ही है, अलौकिक नहीं। योग के द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक कारण भर दूर कर दिये जाते हैं, नहीं तो यह साक्षात्कार सामान्य दृष्टि से ही होता है। इन्द्रियों को भी इसीलिए विभु कहा गया है। यदि ये विभु नहीं होतीं तो योगी लोग देशान्तर में स्थित पदार्थों का साक्षात्कार कैसे करते ? यह दूसरी बात है कि इन्द्रियाँ अपनी वृत्तियों का लाभ निर्दिष्ट स्थान पर ही करती हैं। स्थानों के आधार पर इन्द्रियों को अणु कह देते हैं पर यह कहना केवल औपाधिक (Conditional) है। इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं और अहंकार व्यापक है अतः इन्द्रियों को विभु मानने में कोई अड़चन भी नहीं है। फल यह होगा कि मन (चित्त) और इन्द्रियों के व्यापक होने के कारण सभी विषयों का संनिकर्ष सदा होता रहेगा। चाहे योगी हो या अयोगी, सदा ही ज्ञान होता रहेगा।]

[इस शंका का उत्तर है कि] ऐसी बात नहीं है। सर्वव्यापक होने पर भी चित्त जिस शरीर में वृत्ति से युक्त (= विषय के आकार में परिणत) होता है उस शरीर के साथ जिन विषयों का सम्बन्ध होता है उन्हीं (विषयों) के साथ ही उस शरीर का ज्ञान-सम्बन्ध होता है, दूसरों के साथ नहीं—इस प्रकार अतिप्रसक्ति नहीं हो सकती। इसीलिए (चित्त का परिणाम शरीर में ही होता है अन्यत्र नहीं, इसलिए) चुंबक की तरह विषय लौह-सदृश चित्त

को इन्द्रियरूपी प्रणाली (माध्यम) से संबद्ध करके उपरक्त करते हैं, ऐसा कहा गया है। (देखिये—व्यासभाष्य ४।१७)।

तस्माच्चित्तस्य धर्मा वृत्तयो नात्मनः। तथा च श्रुतिः—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। चिच्छक्तेरपरिणामित्वं पञ्चशिखाचार्यैराख्यायि—अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरिति। पञ्जलिनापि—'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' (पात० यो० सू० ४।१८) इति। चित्तपरिणामित्वेऽनुमानमुच्यते—चित्तं परिणामि ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् श्रोत्रादिवदिति।

इसलिए वृत्तियाँ चित्त के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इसके लिए श्रुति भी प्रमाण है—'काम (इच्छा), संकल्प ('यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान), सन्देह (विचिकित्सा), श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि), अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि (या ज्ञान) और भय, ये सभी मन (Mind) ही हैं।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३)। पंचशिख आचार्य ने चित्-शक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना बतलाया भी है—'भोक्तृशक्ति (अर्थात् आत्मा) अपरिणामी है' (यो० सू० २।२० के भाष्य में व्यास द्वारा उद्धृत)। पतंजलि ने भी कहा है—'[चित्-शक्ति के विषय के रूप में] चितवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, [चित्त के विषयभूत घटादि पदार्थों की तरह ज्ञात और अज्ञात दोनों ही नहीं रहतीं], कारण यह है कि उनका भोक्ता पुरुष परिणामी नहीं है' (यो० सू० ४।१८)। चित्त को परिणामी मानने के लिए तो अनुमान दिया जाता है—

(१) चित्त परिणामी है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि इसके विषय—घटादि—ज्ञात भी हैं, अज्ञात भी। (हेतु)
(३) जिस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ हैं। (दृष्टान्त)

(८ क. परिणाम के तीन भेद)

परिणामश्च त्रिविधः प्रसिद्धो धर्मलक्षणावस्थाभेदात्। धर्मिणश्चित्तस्य नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः। यथा कनकस्य

कटकमुकुटकेयूरादि । धर्मस्य वर्तमानत्वादिर्लक्षणपरिणामः । नीलाद्यालोचनस्य स्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । कटकादेस्तु नवपुराणत्वादिरवस्थापरिणामः । एवमन्यत्रापि यथासंभवं परिणामत्रितयमूहनीयम् । तथा च प्रमाणादिवृत्तीनां चित्तधर्मत्वात्तन्निरोधोऽपि तदाश्रय एवेति न किंचिदनुपपन्नम् ।

परिणाम तीन प्रकार का प्रसिद्ध है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम । जब धर्मी अर्थात् चित्त नीलादि का साक्षात्कार (नील के आकार में चित्तवृत्ति का परिणाम) करता है तब उसे **धर्मपरिणाम** कहते हैं जैसे कनक के [धर्मपरिणाम कटक (कंगन), कुण्डल, केयूर आदि हैं । [अवस्थितधर्मी में एक धर्म का तिरोभाव होने पर दूसरे धर्म का आगमन होना धर्म-परिणाम है । चित्त के धर्म इसकी अनेक वृत्तियाँ हैं जो विषयों के आकार में रहती हैं । नील का साक्षात्कार करने पर जो नीलाकार वृत्ति रहती है उसका तिरोधान होने पर दूसरे विषयों का साक्षात्कार करने पर उस दूसरे आकार की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है । कनक में कंगन के धर्म का तिरोभाव हो जाने पर मुकुट के धर्म का आगमन होता है । मिट्टी में पिंड का धर्म लुप्त होने पर घट-धर्म आता है आदि-आदि । योगशास्त्र भी सांख्य की तरह सत्कार्यवाद को मान्यता देता है इसलिए इन धर्मों का विनाश या उत्पत्ति नहीं मान सकते । सभी धर्म सदा वर्तमान रहते हैं । यही कारण है कि धर्मों का तिरोभाव और आविर्भाव कहते हैं—विनाश और उत्पत्ति नहीं ।]

धर्म का वर्तमान होना आदि **लक्षणपरिणाम** है । [जैसे धर्मी स्वरूप से सदा विद्यमान रहने पर भी विभिन्न धर्मों से युक्त होता है उसी प्रकार प्रत्येक धर्म सदा विद्यमान रहने पर भी भविष्यत्, वर्तमान और भूत के रूप में विभिन्न लक्षणों से युक्त होता है । यही धर्म का लक्षणपरिणाम है । एक लक्षण छोड़कर धर्म दूसरे लक्षण से युक्त हो जाता है । धर्म के समान ही ये लक्षण भी तिरोभूत या आविर्भूत होते हैं अतः सत्कार्यवाद की रक्षा हो जाती है ।]

नीलादि का साक्षात्कार करने में स्फुट होना आदि **अवस्थापरिणाम** है, कंगन आदि में नया, पुराना आदि होना ही अवस्थापरिणाम है । [नील का साक्षात्कार वर्तमान के लक्षणपरिणाम में होने पर भी अवस्था के भेद से तारतम्य रख सकता है । कोई साक्षात्कार स्फुट हो सकता है कोई स्फुटतर,

कोई अस्फुट तो कोई अस्फुटतर। उसी प्रकार कनक के धर्म—कटक में भी तारतम्य हो सकता है—कोई नवीन, तो कोई प्राचीन आदि। यह अवस्था-परिणाम क्षण-क्षण में होता है। अवस्थित लक्षण ही जब एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तभी यह परिणाम होता है।]

इस प्रकार दूसरे स्थानों में भी यथासंभव तीनों परिणामों का अन्वेषण कर लेना चाहिए। इसी तरह प्रमाण आदि वृत्तियाँ (यो० सू० १।६) चूँकि चित्त के धर्म हैं इसलिए इन वृत्तियों का निरोध भी चित्त पर ही आश्रित हैं—अतएव यहाँ पर कोई बात असमंजस में डालने वाली नहीं है।

(९. योग का अर्थ वृत्तिनिरोध लेने पर आपत्ति)

ननु वृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारे सुषुप्त्यादौ क्षिप्तमूढादिचित्तवृत्तीनां निरोधसंभवाद् योगत्वप्रसङ्गः। न चैतद्युज्यते। क्षिप्ताद्यवस्थासु क्लेशप्रहाणादेरसंभवान्निःश्रेयसपरिपन्थित्वाच्च। तथा हि—क्षिप्तं नाम तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमस्थिरं चित्तमुच्यते। तमःसमुद्रे मग्नं निद्रावृत्तिभावितं मूढमिति गीयते। क्षिप्ताद्विशिष्टं चित्तं विक्षिप्तमिति गीयते।

अब यहाँ पर एक शंका है कि जब आप योग का अर्थ वृत्ति का निरोध होना स्वीकार करेंगे तो सुषुप्ति आदि दशाओं में क्षिप्त, मूढ तथा दूसरी चित्त-वृत्तियों का निरोध तो होता ही है, अतः उन दशाओं को भी योग ही मान लेना पड़ेगा [जिससे योग के उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष उत्पन्न हो जायगा। चित्त की पाँच अवस्थायें हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। सुषुप्ति (Sound Sleep) की दशा में क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियाँ नहीं रहतीं। उसी तरह जागृति की दशा में मूढ वृत्ति नहीं रहती है। बद्ध जीव में एकाग्र तथा निरुद्ध वृत्तियों का अभाव या निरोध सदैव बना रहता है। तो क्या वृत्तियों के निरोध के कारण इन दशाओं को भी हम योग ही कह देंगे ? वृत्तिनिरोध का अर्थ आप कुछ वृत्तियों का ही निरोध लेते हैं, सभी वृत्तियों का नहीं। यदि ऐसा नहीं हो तो योग के रूप में मानी गयी संप्रज्ञात समाधि में अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें आत्मविषयक सात्त्विक वृत्ति का निरोध तो नहीं ही होता है।]

पुनः, उक्त दशाओं को योग मानना युक्तियुक्त भी नहीं है। क्षिप्त आदि अवस्थाओं में क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्ति (प्रहाण) असंभव तो है ही,

साथ-साथ वे दशायें मोक्ष का विरोध भी करने वाली हैं। वह इस प्रकार है—क्षिप्त वह चित्त है जो विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होने पर अस्थिर (चंचल) है। [रजोगुण के आधिक्य के कारण यह चित्त बहिर्मुख होकर विषयों में प्रेरित होता है। दैत्यों और दानवों में ऐसा चित्त सदा ही साथ रहता है।] तमोगुण के समुद्र में डूबा हुआ तथा निद्रावृत्ति से युक्त चित्त को **मूढ़** कहते हैं। [ऐसे चित्त में कृत्य और अकृत्य का विचार नहीं रहता तथा यह क्रोधादि दुर्गुणों से भरा रहता है। राक्षसों और पिशाचों में प्रायः सदैव ऐसा चित्त रहता है।]

जो चित्त क्षिप्त से विशिष्ट हो उसे **विक्षिप्त** कहते हैं। [इस चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तथा यह दुःख के साधनों को त्याग कर सुख के साधक विषयों—जैसे शब्द आदि में प्रवृत्त होता है। देवताओं में ऐसा चित्त सदा ही रहा करता है। यह चित्त किसी विशेष विषय के अनुसार कभी-कभी कुछ समय के लिए स्थिर भी हो जाता है। यों यह भी चंचल ही है। इसी विशेष का वर्णन अब गीता के प्रमाण से करेंगे तथा इसकी स्वाभाविक चंचलता का उल्लेख योगसूत्र के आधार पर ही करने जा रहे हैं।]

विशेषो नाम—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् (गी० ६।३४) इति न्यायेनास्थिरस्यापि मनसः कदाचित्कसमुद्भूतविषयस्थैर्यसंभवेन स्थैर्यम्। अस्थिरत्वं च स्वाभाविकं व्याध्याद्यनुशयजनितं वा। तदाह—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।' (पात० यो० सू० १।३०) इति।

[ऊपर कहा गया है कि क्षिप्त से विक्षिप्त में विशेषता होती है।] अब उस विशेषता का अर्थ है स्थिरता। 'हे कृष्ण ! मन बड़ा चंचल है, यह प्रमाथी (शरीर और इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाला) है, बलवान् (जिसका निवारण अभिप्रेत विषय से किसी तरह भी न हो सके) तथा दृढ (विषय-वासना रूपी दुर्ग में रहने के कारण अभेद्य) भी है।' (गी० ६।३४) इस नियम से, विषयों को कभी-कभी स्थिर करना संभव होने के कारण, मन को, अस्थिर होने पर भी, स्थिर किया जा सकता है। (विक्षिप्त में यही विशेषता है)। मन की अस्थिरता या तो स्वाभाविक है या व्याधि-आदि अनुशयों (अनुबन्धों, पूर्वकृत कर्मों के फलों) से उत्पन्न होती है। इसे कहा है—'व्याधि

(Sickness), स्त्यान (Languor), संशय (Doubt), प्रमाद (Carelessness), आलस्य (Laziness), अविरति (Addiction to objects), भ्रान्तिदर्शन (Erroneous perception), अलब्धभूमिकत्व (Failure to attain some stage) और अनवस्थितत्व (Instability), ये चित्त के विक्षेप (अस्थिर बनाने वाले) हैं अतः ये योग के अन्तराय (बाधक) हैं।' (यो० सू० १।३०)। [इन अन्तरायों का वर्णन अलग-अलग भी कर रहे हैं। उसके साथ ही पूर्वपक्ष का उपसंहार किया जायगा।]

तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः। चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम्। विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः। समाधिसाधनानामभावनं प्रमादः। शरीरवाक्चित्तगुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम्। विषयाभिलाषोऽविरतिः। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम्। कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽलब्धभूमिकत्वम्। लब्धायामपि तस्यां चित्तस्याप्रतिष्ठाऽनवस्थितत्वमित्यर्थः।

तस्मान्न वृत्तिनिरोधो योगपक्षनिक्षेपमर्हतीति चेत्—।

उनमें तीन दोषों (वात, पित्त, कफ) की विषमता से उत्पन्न ज्वरादि को व्याधि कहते हैं। चित्त का अकर्मण्य (योगानुष्ठान के असमर्थ) होना **स्त्यान** है। दो विरोधी विकल्पों के साथ सम्बद्ध ज्ञान **संशय** है। समाधि के साधनों की भावना (प्राप्ति के लिए यत्न) न करना **प्रमाद** है। शरीर, वाणी या मन के भारी होने से किसी काम में प्रवृत्ति न होना **आलस्य** है। [कफ आदि की वृद्धि से शरीर भारी हो जाता है। तामस पदार्थों के सेवन से वाणी भी भारी हो जाती है तथा तमोगुण के उद्रेक से चित्त भारी हो जाता है।] विषयों की अभिलाषा रखना **अविरति** है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान कर लेना **भ्रान्तिदर्शन** है। किसी भी कारण से समाधिभूमि (मधुमती आदि किसी भूमि) को न पा सकना **अलब्धभूमिकत्व** कहलाता है। [मधुमती आदि भूमियों का वर्णन इसी दर्शन में आगे करेंगे।] समाधि-भूमि को पा लेने पर भी उसमें चित्त का प्रतिष्ठित न होना **अनवस्थितत्व** है। यही सूत्र का अर्थ है।

इसलिए (क्षिप्तादि अवस्थाओं में वृत्ति का निरोध होने पर भी योग के फल के रूप में प्राप्त क्लेशहानि से निःश्रेयस-प्राप्ति न हो सकने के कारण) वृत्तिनिरोध को हम योग का लक्षण नहीं मान सकते।

(९ क. समाधान)

मैवं वोचः। हेयभूतक्षिप्ताद्यवस्थात्रये वृत्तिनिरोधस्य योगत्वासंभवेऽप्युपादेययोरेकाग्रनिरुद्धावस्थयोर्वृत्तिनिरोधस्य योगत्वसंभवात्। एकतानं चित्तमेकाग्रमुच्यते। निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धमिति भण्यते।

ऐसा मत कहो। क्षिप्त आदि तीन अवस्थायें त्याज्य हैं अतः उनके विचार से [उनमें अतिव्याप्ति होने के भय से] वृत्तियों के विरोध को योग भले ही न मानें किन्तु जहाँ तक एकाग्र और निरुद्ध इन दोनों उपादेय अवस्थाओं का सम्बन्ध है, वृत्ति-निरोध को योग मानना ही पड़ेगा। [वास्तव में क्षिप्तादि अवस्थाओं में भी एकाध वृत्ति का निरोध हो जाने से हमें उन अवस्थाओं में योग के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए। योग के लक्षण में जो चित्त-वृत्ति-निरोध आया है उसका अर्थ है—द्रष्टा को अपने स्वरूप में आत्यन्तिक रूप से अवस्थित करा देनेवाला चित्तवृत्तिनिरोध या क्लेश, कर्मादि का विनाशक चित्तवृत्तिनिरोध। ऐसी बात नहीं कि एक वृत्ति का निरोध हो जाने से योग हो गया और इस लक्षण पर दूसरी अवस्थाओं को भी हम योग कह दें। क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त अवस्था में किसी वृत्ति का निरोध हो जाता है सही, परन्तु न तो उस निरोध से द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित ही हो सकता है और न ही वह निरोध क्लेश आदि का विरोधी है।]

[सत्त्वगुण से भर जाने पर] जब चित्त किसी एक वस्तु में स्थिर हो जाता है तब उसे **एकाग्र** अवस्था कहते हैं। जब चित्त की सारी वृत्तियाँ रुक जायँ, केवल संस्कार भर ही शेष रहे तो उसे **निरुद्ध** चित्त कहते हैं। [ये दोनों अवस्थायें योग के लिए उपादेय हैं अतः इनके विचार से योग चित्तवृत्ति का निरोध तो है ही।]

(१०. समाधि का निरूपण—इसके भेद)

स च समाधिर्द्विविधः—संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदात्। तत्रैकाग्रचेतसि यः प्रमाणादिवृत्तीनां बाह्यविषयाणां निरोधः स संप्रज्ञातसमाधिः। सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन् प्रकृतेर्विविक्ततया ध्येयमिति व्युत्पत्तेः। स चतुर्विधः। सवितर्कादिभेदात्। समाधिर्नाम भावना। सा च भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्।

[योग के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध] यह समाधि दो प्रकार की है—संप्रज्ञात (जिसमें ज्ञान स्पष्ट हो) और असंप्रज्ञात (जिसमें स्पष्ट ज्ञान भी न रहे)। जब एकाग्र अवस्था में आये हुए चित्त में बाह्य विषय अर्थात् प्रमाण आदि वृत्तियों का निरोध हो जाय तब उसे **संप्रज्ञात समाधि** कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति (निर्वचन) है कि जिसमें ध्येय वस्तु प्रकृति से पृथक् रूप में अच्छी तरह प्रज्ञात हो। इसके चार भेद हैं—सवितर्क आदि (= सविचार, सानन्द तथा सास्मित)। समाधि एक तरह की भावना है और इसका अभिप्राय है—भाव्य वस्तु (जिस वस्तु का चिन्तन हो रहा वह वस्तु) को दूसरे विषयों से बचाकर चित्त में बार-बार बैठाना। [स्मरणीय है कि सभी विषयों का निरोध हो जाने पर भी संप्रज्ञात समाधि में आत्मविषयक सात्त्विक प्रमाणवृत्ति रहती ही है।]

भाव्यं च द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात्। जडानि प्रकृतिमहदहंकारादीनि चतुर्विंशतिः। अजडः पुरुषः। तत्र तदा पृथिव्यादीनि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखसंभेदेन च भावना प्रवर्तते स समाधिः सवितर्कः। यदा तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य देशाद्यवच्छेदेन भावना प्रवर्तते तदा सविचारः।

भाव्य वस्तु के भी दो भेद हैं—ईश्वर और तत्त्वसमूह। तत्त्वसमूह दो प्रकार के हैं—जड़ और अजड़। प्रकृति, महत्, अहंकार आदि चौबीस जड़ पदार्थ हैं। पुरुष (जीवात्मा) अजड़ है।

(१) **सवितर्क समाधि** वह है जब इन भाव्य वस्तुओं में से पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों को विषय के रूप में लेकर, पूर्व और अपर के क्रम का अनुसंधान करते हुए तथा शब्द और उनके अर्थ के उल्लेख की एकता दिखाते हुए कोई भावना प्रवृत्त होती है। [वितर्क = स्थूल वस्तुओं का साक्षात्कार। इस साक्षात्कार की उत्पत्ति उस भावना से होती है जिसमें 'पहले सामान्य तब विशेष' या 'पहले धर्मी तब धर्म' इस प्रकार पूर्वापर का क्रम खोजा जाता है। शरीर और इन्द्रियों में जो गुण दोष पहले से सुने गये हैं उन्हीं में यह क्रम खोजते हैं। यदि कोई विशेष पहले से सुने नहीं गये हों, तब भी कोई बात नहीं—योग-बल से भावना के बिना भी साक्षात्कार हो जायगा। योगसूत्र में कहा गया है—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का (१।४२) अर्थात्

शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से मिली हुई (तीनों भिन्न पदार्थों की जिसमें अभेद-प्रतीति हो) सवितर्क समापत्ति होती है। सवितर्क में शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद बना ही रहता है कि यह गौ शब्द है, उसका यह अर्थ है तथा उन दोनों को प्रकाशित करने वाला एक ज्ञान है। इसमें स्थूल पदार्थों का ही ग्रहण होता है।]

(२) **सविचार** वह समाधि है जब तन्मात्र (रूप, रस आदि) तथा अन्तःकरण, इन सूक्ष्म पदार्थों को विषय बनाकर देश, काल आदि (=निमित्त) के विचार से मिलकर भावना उत्पन्न हुई हो। [देश, काल और कार्य-कारण का अनुभव रखते हुए सूक्ष्म तन्मात्रों में शब्दादि भेदों से मिश्रित समापत्ति सविचार है। कार्य-कारण का अनुभव इस रूप में होता है—सूक्ष्म पृथिवी का कारण है गन्धतन्मात्र-प्रधान पाँच तन्मात्र, इत्यादि।]

विशेष—स्थूल पदार्थ विषयक साक्षात्कार के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं जबकि सविचार और निर्विचार सूक्ष्म-पदार्थविषयक साक्षात्कार के भेद हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—योगसूत्र (१।४२-४४)।

यदा रजस्तमोलेशानुविद्धं चित्तं भाव्यते तदा सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्योद्रेकात्सानन्दः। यदा रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तदा तस्यां सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकाच्च सत्तामात्रावशेषत्वेन सास्मितः समाधिः। तदुक्तं पतञ्जलिना—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः (पात० यो० सू० १।१७) इति।

(३) जब रजोगुण और तमोगुण के लेशमात्र अंश से युक्त चित्त की भावना की जाती है तब सुख और प्रकाश से निर्मित सत्त्व का उद्रेक होता है—यही **सानन्द समाधि** है। [इस अवस्था में सत्त्व प्रबल रहता है और चिति-शक्ति दबी हुई रहती है। जिस प्रकार काल्पनिक राज्य में विचरण करते हुए (Day dream या दिवास्वप्न देखते हुए) मनुष्य को आनन्द आता है वही आनन्द इस समाधि में भी है। दुःख और मोह लेशमात्र रहते हैं, सुख (सत्त्व) प्रचुर मात्रा में रहता है।]

(४) जब रजोगुण और तमोगुण का लेश भी न रहे, वैसे शुद्ध सत्त्वगुण पर आधारित होकर भावना उत्पन्न हो तब उस सत्त्व के भी दब जाने से तथा चिति-शक्ति के उद्रेक से केवल सत्ता का ही बचा रह जाना **सास्मित समाधि**

है। [इस समाधि में ईश्वरस्वरूप तथा जीवस्वरूप दोनों को जड़ से पृथक् करके देखते हैं। 'अहमस्मि' केवल यही आकार बचा रहता है। पहले जीवात्मा के विषय की अस्मिता होती है। उसके बाद उससे भी सूक्ष्म अस्मिता परमात्मा के विषय में होती है। यही चित्त की अंतिम भूमि है। इसके बाद कोई ज्ञेय विषय रहता ही नहीं।]

पतंजलि ने इसे कहा है—'वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता नामक स्वरूपों के संबंध से [जो चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है वह] संप्रज्ञात समाधि होती है' (यो० सू० १।१७)।

विशेष—माधवाचार्य ने योगसूत्र १।१७ की भोजवृत्ति से उपर्युक्त पंक्तियाँ ली हैं। चित्त की उपर्युक्त चार भूमियों (Stages) को क्रमशः मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा कहते हैं। अब असंप्रज्ञात समाधि का निरूपण करते हैं।

सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः। ननु सर्ववृत्तिनिरोधो योग इत्युक्ते संप्रज्ञाते व्याप्तिर्न स्यात्। तत्र सत्त्वप्रधानायाः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणाया वृत्तेरनिरोधादिति चेत्—तदेतद्वार्तम्। क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारात्।

किंतु जब सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समाधि असंप्रज्ञात कहलाती है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि जब आप 'सभी वृत्तियों का निरोध होना योग है' ऐसा कहते हैं तब तो संप्रज्ञात समाधि (जिसमें कुछ ही वृत्तियों का निरोध होता है, अहंकार रह ही जाता है) इस लक्षण के अन्दर नहीं आ सकेगी। उस (संप्रज्ञात समाधि) में सत्त्व और पुरुष की पृथक् प्रतीति का निर्देश करने वाली सत्त्वप्रधान [प्रमाण] वृत्ति का तो निरोध नहीं ही हो पाता। किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल निस्सार है क्योंकि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के विरोधी के रूप में चित्त-वृत्ति-निरोध को हम योग मानते हैं। [निरोध का अर्थ सभी वृत्तियों का निरोध ही नहीं है प्रत्युत जिससे क्लेशादि का विनाश हो। संप्रज्ञात समाधि में भी क्लेशादि का निरोध होता है अतः वहाँ भी चित्तवृत्ति-निरोध तो हुआ ही।]

(११. पाँच प्रकार के क्लेश—अविद्या पर आपत्ति)

क्लेशाः पुनः पञ्चधा प्रसिद्धाः—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (पात० यो० सू० २।३) इति।

नन्वविद्येत्यत्र किमाश्रीयते ? पूर्वपदार्थप्राधान्यममक्षिकं वर्तत इतिवत् । उत्तरपदार्थप्राधान्यं वा राजपुरुष इतिवत् । अन्यपदार्थप्राधान्यं वा अमक्षिको देश इतिवत् ।

क्लेश पाँच प्रकार के प्रसिद्ध हैं—'अविद्या (एक वस्तु को दूसरे रूप में समझना), अस्मिता (चित्त और पुरुष को एक समझना), राग (विषयों की अभिलाषा), द्वेष (क्रोध) तथा अभिनिवेश (देह आदि से कभी वियोग न हो, इस प्रकार की मनोभावना)—ये क्लेश हैं' (यो० सू० २।३) ।

अब प्रश्न है कि 'अविद्या' शब्द में किस समास का अवलम्बन लेते हैं ? 'अमक्षिकं वर्तते' (मक्खियों का अभाव हो गया) इस समास की तरह क्या पूर्वपदार्थ की प्रधानता (अव्ययीभाव समास) मानते हैं ? ['अव्ययं विभक्ति०' (पा० सू० २।१।६) से अभाव के अर्थ में 'मक्षिकाणामभावः' करने से 'अमक्षिकम्' बनता है । उसी तरह 'विद्यायाः अभावः = अविद्या' बनता होगा । अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है ।] अथवा 'राजपुरुषः' की तरह उत्तर पदार्थ की प्रधानता (तत्पुरुष समास) मानते हैं ? [नञ् तत्पुरुष समास में इसका अर्थ होगा—किसी वस्तु के अभाव से विशिष्ट विद्या । राजपुरुषः = राजा के संबन्ध से युक्त पुरुष । उत्तरपदार्थ अर्थात् पुरुष प्रधान है ।] अथवा 'अमक्षिको देशः' (वह देश जहाँ मक्खियाँ नहीं हैं) की तरह अन्य पदार्थ की प्रधानता (बहुव्रीहि समास) मानते हैं ? [न मक्षिका यस्मिन् = अमक्षिको देशः । यहाँ अन्य पदार्थ अर्थात् देश की प्रधानता है । उसी तरह 'अविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिः' यह अर्थ हो जायगा ।]

तत्र न पूर्वः । पूर्वपदार्थप्रधानत्वेऽविद्यायां प्रसज्यप्रतिषेधोपपत्तौ क्लेशादिकारकत्वानुपपत्तेः । अविद्याशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाभावापत्तेश्च । न द्वितीयः । कस्यचिदभावेन विशिष्टाया विद्यायाः क्लेशादिपरिपन्थित्वेन तद्बीजत्वानुपपत्तेः ।

पहला विकल्प [कि यह अव्ययीभाव समास है] नहीं माना जा सकता । 'अविद्या' शब्द में पूर्वपदार्थ की प्रधानता मानने पर प्रसज्य-प्रतिषेध की सिद्धि होगी । [प्राप्ति के साथ प्रतिषेध होना प्रसज्यप्रतिषेध है । जैसे—'अब्राह्मणः' कहने से ब्राह्मण के अभाव की प्राप्ति होती है । 'अविद्या' में विद्या की प्रसक्ति होकर उसका अभाव प्रतीत होगा । विद्या के सदृश किसी भावात्मक (Positive) पदार्थ की प्राप्ति होनी चाहिए । किन्तु ऐसी बात यहाँ नहीं । केवल

अभाव ही तो प्रतीत होता है ! विद्या का अभाव] क्लेश आदि को उत्पन्न नहीं कर सकता [किन्तु अविद्या क्लेशादि उत्पन्न करती है ।] दूसरे, अव्ययीभाव समास में 'अविद्या' शब्द स्त्रीलिंग नहीं रह सकता । ['अव्ययीभावश्च' (पा० सू० २।४।१८) सूत्र के अनुसार अव्ययीभाव समास केवल क्लीबलिंग ही होते हैं ।]

[तत्पुरुष समास—नञ् माननेवाला] दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं ही है । यदि किसी के अभाव से विशिष्ट (Characterised) विद्या को अविद्या कहते हैं (= यदि राग, द्वेष, शोक, मोह आदि में से किसी एक के अभाव से युक्त ज्ञान ही अविद्या है) तो ऐसी अविद्या क्लेशादि का विनाश ही करेगी, उनका बीज (उत्पादक) नहीं हो सकती । [इस समास में अविद्या = विद्या । और विद्या क्लेशादि को नष्ट ही करेगी, उत्पन्न नहीं ।]

न तृतीयः । नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्चेति वृत्तिकारवचनानुसारेणाविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिरिति समासार्थसिद्धौ तस्या अविद्यायाः क्लेशादिबीजत्वानुपपत्तेः । विवेकख्यातिपूर्वकसर्ववृत्तिनिरोधसंपन्नायास्तस्याः तथात्वप्रसङ्गाच्च ।

[अविद्या में बहुव्रीहि समास की भावना करने वाला] तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है । वार्तिक के रचयिता (कात्यायन) का कहना है कि नञ् (अ, अन्) के बाद 'होना' (अस्ति, विद्यमान, वर्तमान) के वाचक शब्दों का किसी दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और [पूर्व पद में प्रयुक्त शब्दों में से] उत्तर पद का वैकल्पिक लोप भी होता है । [जैसे—'अधनः' में 'अविद्यमानं धनं यस्य सः' विग्रह करते हैं, अ + विद्यमान (लोपप्राप्त) । विद्यमान और धन का समास हुआ है ।] तदनुसार, अविद्यमान है विद्या जिसकी वह अविद्या बुद्धि है । जब इस रूप में समास के अर्थ की सिद्धि करेंगे तो वह अविद्या [केवल विद्यारहित बुद्धि होने के कारण, कोई भावात्मक पदार्थ न होने के कारण] क्लेश आदि का कारण नहीं बन सकती ।

[यदि कोई पूछे कि विद्याभाव को क्लेश का हेतु मान लें तो क्या दोष है ? तो उसका उत्तर यह है—] वह बुद्धि ही क्लेश आदि का कारण बन जायगी जो विवेक-ज्ञान (प्रकृति और पुरुष के भेद का दर्शन) कर लेने के बाद बुद्धि की सभी वृत्तियों के निरोध से संपन्न हुई है ।

उक्तं चास्मितादीनां क्लेशानामविद्यानिदानत्वम्—'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (पात० यो० सू० २।४) इति। तत्र प्रसुप्तत्वं प्रबोधसहकार्यभावेनानभिव्यक्तिः। तनुत्वं प्रतिपक्षभावनया शिथिलीकरणम्। विच्छिन्नत्वं बलवता क्लेशेनाभिभवः। उदारत्वं सहकारिसंनिधिवशात्कार्यकारित्वम्।

सूत्रकार ने अस्मिता आदि दूसरे क्लेशों को अविद्यामूलक ही माना है—'बाद के प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेशों का क्षेत्र (आधार) अविद्या ही है' (यो० सू० २।४)। [पाँच क्लेशों में अविद्या को छोड़कर शेष अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये चार बचते हैं। इन चारों में भी प्रत्येक के प्रसुप्तादि चार-चार भेद हैं। इन सभी भेदों और अवान्तर भेदों की उत्पत्ति अविद्या से ही होती है। मणिप्रभा के अनुसार विदेह प्रकृति में लीन योगियों के क्लेश प्रसुप्त रहते हैं—विवेकज्ञान न हो सकने के कारण क्लेश दग्ध नहीं हुए हैं और वे शक्ति (Energy) के रूप में अवस्थित हैं जिससे अन्त में फिर उठ सकते हैं। क्रियायोगियों के क्लेश तनु होते हैं। विषय का सेवन करनेवाले पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार भी होते हैं। राम को जिस वस्तु में राग (विषयाभिलाषा) है उसमें द्वेष विच्छिन्न हो जाता है, राग उदार रहता है। जहाँ क्रोध उदार रहता है, वहाँ राग विच्छिन्न हो जाता है।]

उनमें प्रसुप्त क्लेश उसे कहते हैं जो प्रबोध (जागृत) करने वाले सहकारी के अभाव में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। [ये क्लेश चित्तभूमि में हैं पर जगानेवाला न होने से अपना कार्य नहीं करते हैं। इस प्रकार के क्लेश बालकों तथा प्रकृतिलय योगियों में होते हैं।] तनु क्लेश वह है जो विरुद्ध (क्लेशनाशक] वस्तु की भावना (ध्यान) से शिथिल कर दिया गया हो [जैसे उन योगियों का क्लेश, जिनमें थोड़ी वासना बची हुई हो]। क्लेश तब विच्छिन्न होता है जब किसी दूसरे अधिक बलवान् क्लेश के ही द्वारा परास्त कर दिया गया हो [जैसे द्वेष की अवस्था में राग विच्छिन्न हो जाता है और राग की अवस्था में द्वेष। ये दोनों चूँकि एक दूसरे के विरोधी हैं इसलिए एक ही साथ नहीं रह सकते।] उदार क्लेश वह है जिसमें सहकारी के सामीप्य के कारण कार्य उत्पन्न करने की शक्ति हो जाय [जैसे बद्ध जीवों में राग या द्वेष या किसी क्लेश का अधिक होना।]

तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण व्यासभाष्यव्याख्यायाम्—

६. प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् ।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम् ॥
(तत्त्ववै० २।४) इति ।

द्वन्द्ववत्स्वतन्त्रपदार्थद्वयानवगमादुभयपदार्थप्रधानत्वं नाशङ्कितम् । तस्मात्पक्षत्रयेऽपि क्लेशादिनिदानत्वमविद्यायाः प्रसिद्धं हीयेतेति चेत्— ।

इसे वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की [तत्त्ववैशारदी] व्याख्या में कहा है—'तत्त्व में जो लीन हैं उनके क्लेश प्रसुप्त रहते हैं, योगियों के क्लेश तनु-अवस्था में रहते हैं तथा विषयसेवी पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार रूप में रहते हैं।' (त० वै० २।४)।

द्वन्द्व समास की तरह [अविद्या-शब्द में] दो स्वतंत्र पदार्थ न रहने के कारण उभय पदार्थ की प्रधानता (द्वन्द्व समास होने) की भी शंका नहीं करनी चाहिए। इसलिए तीनों प्रकार से विग्रह करने पर अविद्या का वह प्रसिद्ध गुण जो क्लेश आदि का उत्पादन करना है, वही खंडित होता है।

(११ क. आपत्ति का समाधान)

तदपि न शोभनं विभाति । पर्युदासशक्तिमाश्रित्याविद्याशब्देन विद्याविरुद्धस्य विपर्ययज्ञानस्याभिधानमिति वृद्धैरङ्गीकारात् । तदाह—

७. नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः ।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ इति ।

८. वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः ।
तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते ॥ इति ।

वह भी अच्छा नहीं लगता क्योंकि पर्युदास-शक्ति का सहारा लेकर 'अविद्या' शब्द के द्वारा, विद्या के विरुद्ध रहने वाले विपर्ययज्ञान (मिथ्याज्ञान) का अर्थ पुराने लोग स्वीकार करते हैं। [निषेध की दो दशायें हैं—प्रसज्य और पर्युदास। प्रसज्यप्रतिषेध में निषेध की प्रधानता रहती है जैसे—अमक्षिकं वर्तते = यहाँ मक्खी तक नहीं है, न पठति, आदि। पर्युदास-प्रतिषेध में भावात्मक

पदार्थ की प्रधानता होती है। इससे सदृश वस्तु का ग्रहण होता है—'अब्राह्मणो धावति' कहने पर, 'ब्राह्मण के सदृश कोई दूसरा व्यक्ति दौड़ रहा है' यह भावात्मक (Positive) अर्थ होता है। 'अविद्या' का अर्थ भी 'विद्या का अभाव' (प्रसज्य) न होकर 'मिथ्याज्ञान' (पर्युदास) है। ऐसा ही अर्थ प्राचीन आचार्यों ने किया है।]

इसे कहा है—'(७) नाम (संज्ञा) और धातु के अर्थ से संबद्ध होने पर नञ् निषेध नहीं करता। [लिङ् आदि प्रत्ययों के अर्थ से संयुक्त होने पर ही यह निषेधक होता है। इसे 'प्रसज्य' कहते हैं—प्रसज्यप्रतिषेधोयं क्रियया सह यत्र नञ्। जहाँ नञ् निषेध नहीं करता वहाँ वह पर्युदास अर्थात् भेद का निर्देश करता है।] 'अब्राह्मण' शब्द में नञ् केवल अन्य (ब्राह्मणभिन्न पुरुष) का तथा 'अधर्म' शब्द में [धर्म के] विरोधी अर्थ का निर्देश करता है। (८) हम लोगों को सारा शब्दार्थ वृद्ध (प्राचीन) पुरुषों के प्रयोग से जानना चाहिए। वृद्ध ने किसी शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वह शब्द उस अर्थ से पृथक् नहीं किया जाता।'

वाचस्पतिमिश्रैरप्युक्तं—लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः संबन्धः। लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञ उत्तरपदाभिधेयोपमर्दकस्य तद्विरुद्धतया तत्र तत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिरिति।

वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है (त० वै० २।५)—'शब्द और उसके अर्थ का संबन्ध लोक-प्रयोग के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। लौकिक प्रयोग में [तत्पुरुष समास में] यद्यपि उत्तर पदार्थ की प्रधानता रहती है किन्तु नञ् तत्पुरुष तो उत्तर पद के अर्थ (अभिधेय) का उपमर्दन (अर्थात् पर्युदास, भेद) करके उस (उत्तर पद के अर्थ) के विरुद्ध रूप में, सर्वत्र, पाया जाता है। इसलिए यहाँ ('अविद्या' शब्द में) भी [नञ् अपने उत्तरपदार्थ—विद्या के] विरुद्ध ही प्रवृत्त हो सकता है।' [अविद्या = विद्या के विरुद्ध→ मिथ्याज्ञान।]

एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (पा० यो० सू० २।५) इति। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्यय इत्युक्तं भवति। तद्यथा—अनित्ये घटादौ नित्यत्वाभिमानः। अशुचौ कायादौ शुचित्वप्रत्ययः।

९. स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।। इति ।

इसी अभिप्राय से कहा गया है—'अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का ज्ञान करना अविद्या है' (पात० यो० सू० २।५)। जहाँ कोई वस्तु नहीं है, वहाँ उस वस्तु का ज्ञान होना विपर्यय है—यही कहने का अभिप्राय है (देखिये यो० सू० १।८)। [अविद्या के ये चार अवान्तर भेद बतलाये जा रहे हैं—अनित्य में नित्य का ज्ञान, अपवित्र में पवित्र का, दुःख में सुख का तथा अनात्मा में आत्मा का। इसका उलटा भी संभव है—नित्य में अनित्य का आदि। वस्तुतः ये उपलक्षण हैं। इसी से पाप में पुण्य का ज्ञान आदि भी अविद्या ही है। अविद्या को विपर्यय भी कहते हैं क्योंकि दोनों में ही मिथ्याज्ञान होता है।

वह (अविद्या) इस प्रकार है—घटादि अनित्य पदार्थों के नित्य होने का विश्वास रखना, शरीर आदि अपवित्र पदार्थों को पवित्र समझना। [अपवित्र पदार्थों की सूची इस तरह है—'स्थान के कारण (मूत्रादि से युक्त माता के उदर से उत्पन्न होना), बीज (शुक्र और रक्त रूपी उपादान कारण) के कारण, पोषक पदार्थ (भुक्त अन्न और पीत रसादि) के कारण, निःसृत पदार्थ (excretion, पसीना, मल, मूत्रादि) के कारण तथा मृत्यु होने के कारण पंडित लोग शरीर को अपवित्र कहते हैं और इसीलिए [स्नानादि के द्वारा] शरीर में शौच (पवित्रता) का आधान करते हैं।' [ये कारण ऐसे हैं जो वेदपाठियों के शरीर को भी अपवित्र करते हैं अतः शौच का प्रयोग लोग करते हैं।]

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च* दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पात०यो० सू० २।१५) इति न्यायेन दुःखे स्रक्चन्दनवनितादौ सुखत्वारोपः। अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिः। तदुक्तम्—

१०. अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।। इति।

* यो० सू० में 'वृत्तिविरोधाच्च' पाठ है। अभ्यंकर ने मूलस्थ पाठ रखकर संगति बैठायी है।

'चूँकि परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और साथ-साथ [सत्त्वादि तीन] गुणों की वृत्ति बिना विरोध के सर्वत्र होती है इसलिए विवेकशील पुरुषों के लिए सब कुछ दुःख ही दुःख है' (यो० सू० २।१५)। [सामान्य व्यवहार में जो सुखद पदार्थ हैं विवेकी के लिए वे दुःखद हैं क्योंकि वह उन्हें विष मिले हुए स्वादिष्ठ अन्न के समान समझता है। जो सुख ऊपर से मिल रहा है वह तीन प्रकार के दुःखों का कारण बन जा सकता है। सुख का उपभोग करने से इन्द्रियाँ थक जाती हैं जिससे अंत में दुःख उत्पन्न होता है जिसे **परिणाम-दुःख** कहते हैं। सुखोपभोग के समय दूसरों को अधिक मात्रा में सुख का उपभोग करते देख कर ईर्ष्या होती है इसे **तापदुःख** कहते हैं। सुखभोग के संस्कार चित्त पर पड़ जाते हैं, हम उनका स्मरण करके उन्हें पाने का प्रयत्न करते हैं। उसके साधन यदि नहीं मिले तो दुःख होता है जिसे **संस्कारदुःख** कहते हैं। यही नहीं, सत्त्वादि गुणों की वृत्तियाँ (= सुख, दुःख और मोह) किसी तरह का विरोध किये बिना ही आपस में मिलती हैं। इसलिए, सुख के साधन के रूप में स्वीकृत पदार्थ (वस्तु) में रजोगुण की वृत्ति (दुःख) रहेगी ही। दोनों में कोई विरोध तो है नहीं। इसलिए विवेकी पुरुष भोग के सभी साधनों को दुःख ही समझते हैं।]

इस नियम से [अविद्या के कारण] लोग माला, चंदन, वेश्या आदि वस्तुतः दुःखद पदार्थों में सुख का आरोप करते हैं। [यह अविद्या है।] फिर, देहादि जो आत्मा नहीं है, उसे आत्मा समझना [भी अविद्या ही है]। इसे कहा है—'देह आदि आत्मा नहीं हैं किन्तु उन्हें देहधारी लोग जब आत्मा समझते हैं तो यही अविद्या है। इसी के कारण संसार का बंधन होता है और उसका नाश मोक्ष कहलाता है॥ १०॥'

एवमियमविद्या चतुष्पदा भवति। नन्वेतेषु अविद्याविशेषेषु किंचिदनुगतं सामान्यलक्षणं वर्णनीयम्। अन्यथा विशेषस्यासिद्धेः। तथा चोक्तं भट्टाचार्यैः—

११. सामान्यलक्षणं मुक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम्।
न शक्यं केवलं वक्तुमतोऽप्यस्य न वाच्यता॥ इति।

तदपि न वाच्यम्। अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति सामान्यलक्षणाभिधानेन दत्तोत्तरत्वात्।

इस प्रकार यह अविद्या चार प्रकार की है। अब कोई पूछ सकता है कि

अविद्या के इन भेदों में अनुगत (विद्यमान) कोई सामान्य लक्षण दें [जिससे अविद्या का लक्षण हम जान सकें]। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो अविद्या के भेदों की ही सिद्धि नहीं होगी। जैसा कि [कुमारिल] भट्ट ने कहा है—'सामान्य लक्षण को छोड़कर केवल विशेष (भेदों) का ही निरूपण कर देना संभव नहीं है, इसलिए यहाँ पर [अविद्या के] भेदों का वर्णन भी नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥'

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि [अविद्या का] सामान्य लक्षण भी दिया गया है—'जहाँ वस्तु नहीं है, वहाँ पर उसका ज्ञान कर लेना [अविद्या है]'। इस लक्षण के द्वारा उत्तर मिल जाता है।

(१२. अस्मिता, राग और द्वेष)

सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानोऽस्मिता। तदप्युक्तं—'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' (पात० यो० सू० २।६) इति। सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागः। दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपुरस्सरं तत्साधनेषु निवृत्तिर्द्वेषः। तदुक्तं—'सुखानुशयी रागः' (पात० यो० सू० २।७), 'दुःखानुशयी द्वेषः' (पात० यो० सू० २।८) इति।

सत्त्व (चित्त, बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) के बीच 'मैं हूँ' (अहमस्मि) इस रूप में एकता का बोध करना **अस्मिता** है। इसे भी कहा है—'दृक्शक्ति (द्रष्टा, पुरुष, आत्मा) और दर्शनशक्ति (बुद्धि, करण) दोनों में एकाकारता जैसा मान लेना अस्मिता है' (यो० सू० २।६)। [अनात्मा को आत्मा मानने वाली अविद्या अस्मिता (Egoism) उत्पन्न करती है। अविद्या और अस्मिता में कुछ अन्तर है। अविद्या की अवस्था में बुद्धि आदि में सामान्य रूप से 'अहं' की भावना रहती है किन्तु उसमें कहीं भेद भी रहता है, अभेद भी। परन्तु अस्मिता में आत्यन्तिक (Perfect) रूप से अभेद हो जाता है। एकता का भ्रम पूर्ण रूप से रहता है कि मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ इत्यादि। पुरुष अपरिणामी है, बुद्धि परिणामी। दोनों शक्तियाँ (भोक्ता और भोग्य) बिल्कुल पृथक् हैं। परन्तु दोनों का अभेद ग्रहण कर लेने पर आपसी धर्मों का अध्यास होता है जिससे भोग (Enjoyment) होता है।]

जो पुरुष सुख से अभिज्ञ है वह सुख का स्मरण करके सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए तृष्णा करता है—उसकी उक्त प्रतीक्षा ही **राग** है। [गर्धः =

प्रतीक्षा, तृष्णा, आशा, √गृध्। तुल० 'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्' (ईशो० १।१)]। दुःख से परिचित पुरुष दुःख का स्मरण करके जब दुःख के साधनों से निवृत्त होता है वही द्वेष है। ऐसा ही पतंजलि ने कहा है—'सुख में निवास करनेवाला (अनुशयी) राग है' (यो० सू० २।७) तथा 'दुःख में निवास करनेवाला द्वेष है' (यो० सू० २।८)।

(१३. 'अनुशयी' शब्द की सिद्धि में व्याकरण का योग)

किमत्रानुशयिशब्दे ताच्छील्यार्थे णिनिरिनिर्वा मत्वर्थीयोऽभिमतः ? नाद्यः। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पाणिनि-सू० ३।२।७८) इत्यत्र सुपीति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणस्योपसर्गनिवृत्त्यर्थत्वेन सोपसर्गाद्धातोर्णिनेरनुत्पत्तेः। यथाकथंचित् तदङ्गीकारेऽपि 'अचो ञ्णिति' (पाणि० सू० ७।२।११५) इति वृद्धिप्रसक्तावतिशाय्यादिपदवत् अनुशायिपदस्य प्रयोगप्रसङ्गात्।

यहाँ पर प्रश्न है कि 'अनुशयिन्' शब्द की सिद्धि कैसे होती है—क्या ताच्छील्य के अर्थ में (सुखमनुशेते, तच्छीलः सुखानुशयी) णिनि प्रत्यय हुआ है (अनु + √शीङ् + णिनि) अथवा मतुप् (वह उसका है—सः अस्य अस्ति) के अर्थ में (सुख का अनुशय अर्थात् संबन्ध; वह जिसके पास है—सुखानुशयी) इनि प्रत्यय हुआ है (अनुशय + इनि—अत इनिठनौ, पा० सू० ५।२।११५) ?

इनमें पहला विकल्प (णिनि मानने वाला) ठीक नहीं। कारण यह है कि 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) अर्थात् 'वह उसका शील या आदत है' इस अर्थ में जातिवाचक को छोड़कर किसी भी सुबन्त शब्द के उपपद में (पूर्व में) रहने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है [जैसे उष्णं भुङ्क्ते, तच्छीलः उष्णभोजी = जिसे बराबर गर्मागर्म भोजन की आदत है। जो कभी-कभी गर्म भोजन करता है उसे उष्णभोजी नहीं कहेंगे।] पहले से ['सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र से अनुवृत्त] 'सुपि' शब्द के वर्तमान रहने पर भी प्रस्तुत सूत्र में जो 'सुपि' शब्द पुनः लिया गया है उसका अभिप्राय यही है कि उससे 'उपसर्ग उपपद' की निवृत्ति हो, अतः उपसर्गसहित धातु में णिनि प्रत्यय की प्राप्ति नहीं हो सकती। ['सुपि स्थः' (३।२।४) से 'सुपि' शब्द की अनुवृत्ति आगे के सूत्रों में होती है। उन सूत्रों में अलग से 'सुपि' कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी सूत्र (जैसे—'सुप्यजातौ०' में) 'सुपि' कहा गया तो कोई विशेष कारण है। वह

कारण क्या है ? बात यह है कि 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३।२।६१) इस लम्बे सूत्र से एक नया प्रकरण आरम्भ हो गया—इस सूत्र में गिनाये गये धातुओं से सुबन्त के उपपद में होने पर तो प्रत्यय होते ही हैं ('सुपि स्थः' से 'सुपि' की अनुवृत्ति करके) साथ-साथ उपसर्ग के उपपद में रहने पर भी प्रत्यय होते हैं। 'सुप्यजातौ' में इसी उपसर्ग की निवृत्ति करने के लिए 'सुपि' का पुनः प्रयोग हुआ है। (३।२।६१) से 'सुपि उपसर्गे' दोनों की अनुवृत्ति होने लगी थी—दोनों की निवृत्ति साथ-साथ की गई और अभीष्ट 'सुपि' का प्रयोग किया गया है। फलतः 'अनु + शी + णिनि' नहीं हो सकता। सोपसर्गक धातु से णिनि प्रत्यय नहीं होता।]

यदि किसी प्रकार इस णिनि को स्वीकार भी करें* तो भी 'अचो ञ्णिति' अर्थात् ञित् या णित् (जिस प्रत्यय में ञ् या ण् का अनुबन्ध लगा हो) प्रत्यय के होने पर उसके पूर्व के स्वरवर्ण (अच्) को वृद्धि हो (पा० सू० ७।२।११५)—इस सूत्र से वृद्धि की प्राप्ति होगी और 'अतिशायिन्' आदि शब्दों की 'अनुशायिन् (अनुशायी)' शब्द का ही प्रयोग होता। [अनु + √शी + णिनि = वृद्धि होने से, अनुशै + इन् = आयादेश, अनुशायिन्। तात्पर्य यह है कि णिनि प्रत्यय से 'अनुशयी' नहीं हो सकता।]

न द्वितीयः। 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति तत्प्रतिषेधात्। अत्र चानुशयशब्दस्याजन्तत्वेन कृदन्तत्वात्। तस्मादनुशयिशब्दो दुरुपपाद इति चेत्—नैतद् भद्रम्। भावानवबोधात्। प्रायिकाभिप्रायमिदं वचनम्।

द्वितीय विकल्प (इनि प्रत्यय तद्धित का मानें तो) भी ठीक नहीं। कारण यह है कि निम्नलिखित कारिका के द्वारा इसका निषेध किया गया है—'ये दोनों प्रत्यय (इनि = इन् तथा ठन् = इक; उदाहरण—दण्डी, दण्डिकः) एकाक्षर शब्द के बाद, कृदन्त शब्द के बाद, जातिवाचक शब्द के बाद तथा सप्तमी के अर्थ में नहीं होते हैं' [यह कारिका काशिका (५।२१।१५) में

* 'सुपि स्थः' में सुप् का अर्थ उपसर्गहीन सुप् (केवल) है, 'सत्सूद्विष०' में उपसर्ग का पृथक् विधान है। यदि 'सुपि स्थः' से सुपि लाते तो 'अनुशायी' आदि शब्दों में णिनि प्रत्यय नहीं होता। उपसर्ग से भी णिनि प्रत्यय हो अतः पुनः सुपि कहा है। उपसर्ग होने पर णिनि होता भी है—अनुयायिवर्गः (रघु० २।४), विसारि सर्वतः (माघ १।२), अनुजीविभिः (किरा० १।४) आदि। यह व्याख्या भाष्यसंमत है।

उद्धृत है तथा वहाँ उसकी व्याख्या भी की गई है। मतुप् के अर्थ में होने वाले इन् और ठन् प्रत्ययों का वहाँ निषेध किया गया है। एकाक्षर शब्द से—स्ववान्। खवान्। कृदन्त से—कारकवान्। जाति से—व्याघ्रवान्। सिंहवान्। सप्तमी के अर्थ में—(दण्डाः अस्यां सन्ति इति) दण्डवती शाला।] चूँकि अनुशय शब्द कृदन्त (अनु + शी + अच्—'एरच्' ३।३।५६) है क्योंकि अच् प्रत्यय से बना है [अतः उसमें इनि प्रत्यय नहीं हो सकता।] इसलिए 'अनुशयी' शब्द की उत्पत्ति कठिन है। [अनुशायी या अनुशयवान् बनाने में कोई आपत्ति नहीं है।]

किन्तु इस तरह संदेह करना उचित नहीं है क्योंकि आप लोग कारिका का भाव नहीं समझते हैं। यह कारिकास्थ वाक्य 'प्रायः ऐसा होता है' इसी अभिप्राय से दिया गया है।

अत एवोक्तं वृत्तिकारेण—इतिकरणो विवक्षार्थः सर्वत्राभिसंबध्यते इति। तेन क्वचिद् भवति—कार्यी कार्यिकस्तण्डुली तण्डुलिकः इति। तथा च कृदन्ताज्जातेश्च प्रतिषेधस्य प्रायिकत्वम्। अनुशयशब्दस्य कृदन्ततया इनेरुपपत्तिरिति सिद्धम्।

इसलिए ही काशिकावृत्ति के रचयिता (जयादित्य) ने कहा है—'[तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (पा० सू० ५।२।९४) में'] इति शब्द विवक्षा का निर्देशक है और बाद के सभी सूत्रों में लगाया जाता है। [विवक्षा = लौकिक प्रयोग के अनुसार प्रत्ययों का विधान]। इसलिए कहीं-कहीं होते हैं—कार्य (कृ + ण्यत् कृदन्त प्रत्यय) + इनि = कार्यिन्। कार्य + ठन् = कार्यिक। तण्डुल (जाति) + इनि = तण्डुलिन्। तण्डुल + ठन् = तण्डुलिक।' इससे पता लगता है कृदन्त और जातिवाचक से यह निषेध प्रायिक (वैकल्पिक, विवक्षाधीन) है। अनुशय शब्द कृदन्त है अतः इससे इनि प्रत्यय हो सकता है—यह सिद्ध हुआ।

(१४. अभिनिवेश का निरूपण)

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलात्सर्वस्य प्राणभृन्मात्रस्या कृमेरा च विदुषः संजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो मा भूदिति प्रत्यहं निमित्तं विना प्रवर्तमानो भयरूपोऽभिनिवेशः पञ्चमः क्लेशः। मा न भूवं हि भूयासमिति प्रार्थनायाः प्रत्यात्ममनुभवसिद्धत्वात्। तदाह—'स्वरसवाही विदुषो-

ऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः' (पात० यो० सू० २।९) इति। ते चाविद्यादयः पञ्च सांसारिकविविधदुःखोपहारहेतुत्वेन पुरुषं क्लिश्नन्तीति क्लेशाः प्रसिद्धाः।

पूर्व जन्म में अनुभूत मृत्यु के दुःख के अनुभव की वासना (संस्कार, impression) के कारण सभी प्राणधारियों में—चाहे वे कृमि हों या विद्वान्—सबों में उत्पन्न होने वाला, 'शरीर, विषय आदि से मेरा वियोग न हो' इस तरह बिना कारण के भय के रूप में प्रवृत्त होने वाला पाँचवाँ क्लेश अभिनिवेश है। 'मैं कभी अतीत का विषय न बन जाऊँ किन्तु सदा रहूँ' इस तरह की प्रार्थना प्रत्येक पुरुष करता है जो अनुभव से सिद्ध है। इसे पतंजलि ने कहा है—'[मरने का भय जो हर एक प्राणी में] स्वभावतः बह रहा है और विद्वानों के लिए भी वैसा ही प्रसिद्ध (रूढ़) है [जैसा कि मूर्खों के लिए], वह अभिनिवेश नाम का क्लेश है' (पा० यो० सू० २।९)।

अविद्या आदि ये पाँचों क्लेश विविध सांसारिक दुःखों की प्राप्ति (उपहार) कराने के कारण पुरुष को कष्ट देते हैं (√क्लिश्) तथा प्रसिद्ध हैं।

(१५. कर्म, विपाक और आशय)

कर्माणि विहितप्रतिषिद्धरूपाणि ज्योतिष्टोमब्रह्महत्यादीनि। विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः धर्माधर्मसंस्काराः। तत्परिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः। निरोधो नाभावमात्रमभिमतम्। तस्य तुच्छत्वेन भाव-रूपसाक्षात्कारजननक्षमत्वासंभवात्। किंतु तदाश्रयो मधुमती-मधुप्रतीका-विशोका-संस्कारशेषाव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। निरुध्यन्तेऽस्मिन्प्रमाणाद्याश्चित्तवृत्तय इति व्युत्पत्तेरुपपत्तेः।

कर्म विहित और प्रतिषिद्ध के रूप में [दो प्रकार के हैं जैसे—] ज्योति-ष्टोम (विहित कर्म) तथा ब्रह्महत्या (प्रतिषिद्ध कर्म) आदि। कर्म के फलों को विपाक कहते हैं। वे हैं—जाति (जन्म), आयु (जीवन का समय) तथा भोग (सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करनेवाले साधनों का प्रयोग)। फल के पूर्णतः परिणत होने के समय तक जो चित्त की भूमि में अवस्थित रहते हैं (√शी) वे आशय हैं अर्थात् धर्म और अधर्म के संस्कार।

चित्तवृत्ति का वह निरोध जो इन क्लेशों का विरोधी है। वही, योग है निरोध

का यहाँ पर केवल 'अभाव' अर्थ ही नहीं लिया गया है क्योंकि [केवल अभाव अर्थ लेने से तो] निरोध स्वरूपहीन हो जायगा तथा वह भावात्मक (Positive) साक्षात्कार (=ध्येय का साक्षात्कार) उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायगा। इसीलिए निरोध से चित्त की उन अवस्थाओं का अर्थ लेते हैं जो उस (अभाव) पर आश्रित हैं तथा मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के नाम से पुकारी जाती हैं। 'जिसमें प्रमाणादि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध कर दी जाती हैं वह निरोध है'—इस व्युत्पत्ति (निरुक्ति) से भी यही बात सिद्ध होती है।

विशेष—संप्रज्ञात समाधि के चार अवान्तर भेद हम देख चुके हैं। सवितर्क समाधि में चित्त की जो अवस्था होती है उसे **मधुमती** कहते हैं। सविचार समाधि में चित्त की अवस्था **मधुप्रतीका**, सानन्द में **विशोका** तथा सास्मित में **संस्कारशेषा** कहलाती है। ये अवस्थायें चूँकि भावरूप (Positive) हैं अतः ध्येय का साक्षात्कार आसानी से हो सकता है।

(१६. वृत्तिनिरोध के उपाय—अभ्यास और वैराग्य)

'अभ्यासवैराग्याभ्यां वृत्तिनिरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' (पात० यो० सू० १।१२-१३)। वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः प्रशान्तवाहितारूपः परिणामविशेषः स्थितिः। तं निमित्तीकृत्य यत्नः पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यासः। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवत् निमित्तार्थेयं सप्तमीत्युक्तं भवति।

अभ्यास (Exercise) और वैराग्य (Dispassion) के द्वारा वृत्तियों का निरोध होता है। [तुलनीय—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (यो० सू० १।१२)। चित्त एक नदी की तरह है जिसका प्रवाह स्वभावतः विषयों की ओर जाता है। विषयों में दोष देखने से जो वैराग्य होता है उसी से चित्त की धारा रुकती है। रुक जाने पर विवेक-दर्शन का अभ्यास करने से वह धारा विवेक मार्ग की ओर अभिमुख हो जाती है। इसी उपायद्वय से ध्येय वस्तु के आकार की वृत्ति का प्रवाह स्थिर तथा दृढ़ होता है।] 'इनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है।' (यो० सू० १।१३)। जो चित्त [राजस तथा तामस] वृत्तियों से रहित हो गया है वह जब अपने रूप में अवस्थित हो शान्त होकर बहता है (प्रशान्तवाही) तब ऐसे परिणाम (अवस्थान) को स्थिति कहते हैं। उस परिणाम को निमित्त मानकर (उसकी प्राप्ति के

लिए) यत्न किया जाता है अर्थात् उस रूप में ही चित्त में बार-बार बैठाया जाता है यही अभ्यास है। ['स्थितौ' शब्द में] यहाँ सप्तमी विभक्ति 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (चमड़े के लिए बाघ को मारते हैं) इसकी तरह [= निमित्तात्कर्मयोगे' २।३।३ से] निमित्त के अर्थ में हुई है—यही कहना है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (पात० यो० सू० १।१५)। ऐहिकपारत्रिकविषयादौ दोषदर्शनान्निरभिलाषस्य 'ममैते विषया वश्याः' 'नाहमेतेषां वश्यः' इति विमर्शो वैराग्यमित्युक्तं भवति।

'दृष्ट विषयों (स्त्री, अन्न, जल आदि) तथा आनुश्रविक विषयों (वेदों में बतलाये गये स्वर्ग आदि) से तृष्णा हटा लेने वाले व्यक्ति जब [विषयों को अपने] वश में कर लेने का बोध करते हैं तब उसे वैराग्य कहते हैं' (यो० सू० १।१५)। ऐहिक और पारलौकिक दोनों तरह के विषयों में दोष (विनाश, परिताप, सातिशय, असूया आदि) देख लेने के बाद जिस व्यक्ति में [उन्हें प्राप्त करने की] लालसा नष्ट हो गई हो तथा जब वह 'ये विषय मेरे ही वश में हैं' और 'मैं इनके वश में नहीं हूँ', इस प्रकार का विचार करने लगे वह दशा वैराग्य कहलाती है।

विशेष—वैराग्य की चार संज्ञायें हैं—यतमान-संज्ञा (रागादि के पाक के लिए यत्न करना), व्यतिरेकसंज्ञा (पके हुए और पकाये जाते हुए कषायों में भेद करना), एकेन्द्रिय-संज्ञा (पके हुए कषायों का मन में उत्सुकता के रूप में रहना) तथा वशीकारसंज्ञा (लौकिक तथा अलौकिक विषयों की उपेक्षा कर देना)। इस प्रकार दोनों उपायों से चित्त की वृत्तियों का विरोध होता है। अब अभ्यास और वैराग्य की सिद्धि कैसे हो ? इसके लिए क्रियायोग बतलाते हैं।

(१७. समाधिप्राप्ति के लिए क्रियायोग)

समाधिपरिपन्थिक्लेशतनूकरणार्थं च समाधिलाभार्थं प्रथमं क्रियायोगविधानपरेण योगिना भवितव्यम्। क्रियायोगसंपादनेऽभ्यासवैराग्ययोः संभवात्। तदुक्तं भगवता—

१२. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

(गी० ६।३) इति।

समाधि के मार्ग में शत्रु की तरह रुकावट डालने वाले क्लेशों को क्षीण करने (उनकी कार्यकरी शक्ति को समाप्त करने) के लिए तथा समाधि की प्राप्ति के लिए, सबसे पहले योगी को क्रियायोग (Practical concentration) के विधान के अनुसार चलना चाहिए। क्रियायोग संपन्न होने पर ही अभ्यास और वैराग्य संभव हैं। इसे भगवान् कृष्ण ने ही कहा है—'जो मुनि योग (चित्तवृत्तिनिरोध) पर आरोहण करने की इच्छा रखते हैं उनके लिए कर्म (क्रियायोग) ही साधन बतलाया गया है। यदि वही मुनि योगारूढ़ हो गया हो तब [उसके ज्ञान के परिपाक के लिए] शम (सभी कर्मों से संन्यास लेना) ही कारण कहा गया है।' (गी० ६।३)।

विशेष—गीता में कृष्ण ने इसके बाद ही योगारूढ़ मुनि का लक्षण दिया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गी० ६।४)।

अर्थात् जब पुरुष न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, जब वह सभी संकल्पों से संन्यास ले लेता है तभी योगारूढ़ कहलाता है।

क्रियायोगश्चोपदिष्टः पतञ्जलिना—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात० यो० सू० २।१) इति। तपःस्वरूपं निरूपितं याज्ञवल्क्येन—

१३. विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ॥ इति।

प्रणवगायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनं स्वाध्यायः।

क्रियायोग का उपदेश भी पतंजलि ने किया है—'तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (परमेश्वर में सभी कर्मों को अर्पित कर देना)—ये क्रियायोग हैं' (यो० सू० २।१)। तप का स्वरूप याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार निश्चित किया है—'विधिवाक्यों के कथन के अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा जो शरीर का शोषण किया जाता है उसे ही तपस्याओं में सर्वोत्तम तप माना गया है।' प्रणव (ॐकार), गायत्री आदि मन्त्रों का अध्ययन (पारायण) करना **स्वाध्याय** है।

विशेष—कृच्छ्र एक व्रत है जिसके कई भेद हैं। उनमें प्राजापत्य नाम का कृच्छ्र बारह दिनों में संपन्न होता है। प्रथम तीन दिनों तक प्रातःकाल

भोजन करे, फिर तीन दिनों तक सायंकाल भोजन करे, उसके बाद तीन दिनों तक बिना माँगे जो मिले खा ले और अन्त में तीन दिनों तक कुछ न खाये। (मनु० ११।२११)। चान्द्रायण व्रत चन्द्र की गतिविधि से एक महीने में संपन्न होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपद् को मोर के अण्डे के बराबर एक ग्रास (कवल) खायें, द्वितीया को दो—इस क्रम से बढ़ाते जायँ और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास खायें। फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपद् को चौदह ग्रास, द्वितीया को तेरह—इस क्रम से घटाते-घटाते अमावस्या को बिल्कुल उपवास करें। इसे यवमध्य चान्द्रायण कहते हैं क्योंकि यव के दाने के समान इसमें भोजन की मात्रा बीच में अधिक हो जाती है। जब कृष्णपक्ष की प्रतिपद् से आरम्भ करके पूर्णिमा तक करते हैं तो उसमें बीच में उपवास का दिन पड़ता है। स्मरणीय है कि कृष्णपक्ष में भोजन कम करते जाना है, शुक्लपक्ष में बढ़ाते जाना है। इस तरह के दूसरे चान्द्रायण को पिपीलिकामध्य चान्द्रायण कहते हैं क्योंकि चींटी के बीच का भाग जैसे पतला होता है, वैसे ही भोजन की मात्रा बीच में कम करनी है।

मंत्र शब्द का अर्थ है जिसके मनन करने से त्राण (रक्षा) हो। कल्पसूत्रों में मंत्रों की अगम्य और अचिंत्य शक्ति का वर्णन है। तुलसीदास ने भी कहा है।

मंत्र महामनि विषय ब्याल के।
मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ (रा० च० मा० १।३१।५)।

अब योगशास्त्र की एक अलग शाखा—मंत्रशास्त्र—का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

(१८. मंत्र और उनका विवेचन)

ते च मन्त्रा द्विविधाः—वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाश्च द्विविधाः—प्रगीताः अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि। अप्रगीताश्च द्विविधाः—छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः, द्वितीया यजूंषि। तदुक्तं जैमिनिना—'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।' (जै० सू० २।१।३३-३५) इति

ये मंत्र दो प्रकार के हैं—वैदिक और तांत्रिक। वैदिक मंत्रों के भी दो भेद हैं—प्रगीत (गेय) तथा अप्रगीत (अगेय)। प्रगीत मन्त्रों में साम आते हैं तथा अप्रगीत के दो भेद हैं—छन्दों में बँधे हुए तथा छन्दों से भिन्न। छन्दों में बँधे हुए वैदिक मंत्र ऋचायें हैं और छन्दों से भिन्न यजुष्। इसे जैमिनि ने [मीमांसा-

सूत्र २।१।३३-३५ में] कहा है—'इन मंत्रों में ऋक् वह है जहां [वाक्य में] अर्थ के अनुसार चरणों की व्यवस्था होती है। गीतियों (गान के प्रकारों) में साम नाम दिया जाता है। अवशिष्ट मन्त्रों में (जहां न पादव्यवस्था है न गान ही) यजुः शब्द का प्रयोग होता है।'

तन्त्रेषु कामिककारणप्रपञ्चाद्यागमेषु ये ये वर्णितास्ते तान्त्रिकाः। ते पुनर्मन्त्रास्त्रिविधाः–स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। तदाह—

१४. स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिविधा मन्त्रजातयः।
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता नमोऽन्ताः स्युर्नपुंसकाः॥
१५. शेषाः पुमांसस्ते शस्ताः सिद्धा वश्यादिकर्मणि॥ इति।

तंत्रों (शास्त्रों) में अर्थात् कामिक, कारण, प्रपंच आदि आगमों में जिन-जिन मन्त्रों का वर्णन है वे तांत्रिक मन्त्र हैं। ये तांत्रिक मंत्र भी तीन प्रकार के हैं—स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग तथा नपुंसकलिंग। उसे कहा है—"स्त्री, पुरुष और नपुंसक होने के कारण मन्त्रों की तीन जातियाँ हैं। जिनके अंत में 'स्वाहा' (अग्नि की पत्नी) शब्द रहे वे स्त्रीलिंग हैं, जिनके अंत में 'नमः' शब्द है वे नपुंसक हैं तथा अवशिष्ट मंत्र पुरुष हैं, ये ही सबसे अच्छे हैं और वश्य आदि कर्मों में सिद्धि-प्राप्त हैं।"

विशेष—आगम शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार है—

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

आगम का लक्षण तंत्रों में इस प्रकार दिया गया है—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

योगशास्त्र में मन्त्र के छह कर्मों का वर्णन भी है—शान्तिकर्म, वश्यकर्म, स्तम्भनकर्म, विद्वेषकर्म, उच्चाटनकर्म तथा मारणकर्म। शारदातिलक का श्लोक है—

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा।
मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिणः॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्र० अ० ३७) में अग्नि की पत्नी स्वाहा का उल्लेख है—'प्रकृति की कला से सभी शक्तियों के रूप में अग्नि की दाहिका शक्ति अपनी

कामना करनेवाली उत्पन्न हुई। ग्रीष्मकाल में दोपहर के सूर्य की प्रभा को भी अभिभूत कर देनेवाली वह स्वाहा-सुन्दरी अग्नि की पत्नी हुई।'

(१८ क. मंत्रों के दस संस्कार)

जननादिसंस्काराभावेऽपि निरस्तसमस्तदोषत्वेन सिद्धिहेतुत्वात् सिद्धत्वम्। स च संस्कारो दशविधः कथितः शारदातिलके—

१६. मन्त्राणां दश कथ्यन्ते संस्काराः सिद्धिदायिनः।
निर्दोषतां प्रयान्त्याशु ते मन्त्राः साधु संस्कृताः॥

ऊपर मंत्रों को सिद्ध होना कहा है। यह इसलिए कि वे जनन आदि संस्कारों के अभाव में भी सभी दोषों से रहित हैं तथा सिद्धि प्रदान करते हैं। शारदातिलक में संस्कार के इन दस भेदों का वर्णन हुआ है—'मंत्रों के दस सिद्धिदाता संस्कार कहे जाते हैं। अच्छी तरह से संस्कृत (संस्कारयुक्त) कर दिये जाने पर ये मंत्र शीघ्र ही निर्दोष हो जाते हैं॥ १६॥'

१७. जननं जीवनं चैव ताडनं बोधनं तथा।
अभिषेकोऽथ विमलीकरणाप्यायने पुनः॥
१८. तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः।
मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम्॥
१९. प्रणवान्तरितान्कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत्सुधीः।
मन्त्रार्णसंख्यया तद्धि जीवनं संप्रचक्षते॥

'[ये संस्कार हैं—] जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन, गोपन—ये दस संस्कार मंत्रों के हैं। मातृकायंत्र (अक्षरों का बना हुआ यंत्र) से मंत्रों का उद्धार करना **जनन** (Begetting) संस्कार माना गया है॥ १७–१८॥ मंत्र के अक्षरों को प्रणव (ॐ कार) से घेर कर (बीच में प्रणव रखकर) मंत्र के वर्णों की संख्या के जितना जप करना चाहिए—इसे ही **जीवन** (Vivifying) कहते हैं॥ १९॥ [किसी मंत्र में जितने वर्ण (अर्ण) हों जप की संख्या भी उतनी ही होगी। जैसे—'नमः शिवाय' इस मंत्र में पाँच वर्ण हैं तो इसका जप भी पाँच बार ही करना है। प्रत्येक अक्षर के बाद प्रणव देना है—ॐ न ॐ मः ॐ शि ॐ वा ॐ य ॐ इस तरह पाँच बार जप करें तो मंत्र का जीवन संस्कार हो जायगा।]

विशेष—मातृकायंत्र वर्णों का बना हुआ एक यंत्र (Figure) है जिसमें अक्षरों का न्यास या स्थापन होता है। मंत्र की प्राप्ति के लिए प्रत्येक तांत्रिक को यह यंत्र बनाना पड़ता है। यह चतुर्भुज होता है। शक्तिमंत्र के उद्धार के लिए कुंकुम से, विष्णुमंत्रोद्धार में चंदन से तथा शिवमंत्र के उद्धार में भस्म से स्वर्ण आदि के पात्र में बनाते हैं। क से लेकर म तक के पाँच वर्गों को क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम में तथा अन्तःस्थ वर्णों को वायव्य में, ऊष्म वर्णों को उत्तर में और ल, क्ष को ईशान कोण में लिखे। इसी यंत्र से मंत्र के अक्षरों की भावना करें।

२०. मन्त्रवर्णान्समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा।
प्रत्येकं वायुबीजेन ताडनं तदुदाहृतम् ॥
२१. विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः।
मन्त्राक्षरेण संख्यातैर्हन्यात्तद्बोधनं स्मृतम् ॥
२२. स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये ॥
२३. संचिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं हि तत् ॥

'मंत्र के वर्णों को लिखकर चन्दन-जल से उसे मारना चाहिए और हर एक बार वायुबीज (यं) का उच्चारण करते रहें—इसे ही **ताडन** संस्कार (Smiting) कहते हैं ॥२०॥ मंत्र के वर्णों को लिखकर करवीर (कनेर) के फूलों से मंत्र के अक्षरों की जितनी संख्या हो उतने बार मारना चाहिए—इसे **बोधन** (Awakening) मानते हैं ॥ २१ ॥ अपने तंत्र में कहे गये विधान के अनुसार मंत्र-साधक को मंत्र के वर्णों की संख्या के जितने बार पीपल के पत्तों से मंत्र का **अभिषेक** (Sprinkling) शुद्धि के लिए करना चाहिए ॥ २२ ॥ मन में मंत्र का चिंतन करते हुए मंत्र-साधक को, ज्योतिर्मन्त्र के द्वारा, मंत्र में विद्यमान तीनों मलों को जला देना चाहिए—यही **विमलीकरण** (Purification) है ॥ २३ ॥ [ये तीन मल हैं—मायिक, कार्मण और आनव्य (अनवीनता, वृद्धता)। ये मल मंत्रों के लिंग के अनुसार रहते हैं। स्त्रीलिंग मंत्रों में मायिक, पुंल्लिंग में कार्मण और नपुंसक में आनव्य।]

२४. तारव्योमाग्निमनुयुग्ज्योतिर्मन्त्र उदाहृतः।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ॥

२५. वारिबीजेन विधिवदेतदाप्यायनं मतम् ।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥

२६. तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥

'तार (ॐ), व्योम (ह), अग्नि (र), मनु (औ) [तथा अनुस्वार) से युक्त होने पर (= ॐ ह्रौं) ज्योतिर्मन्त्र बनता है। विधिपूर्वक जपे गये (जप्त) वारिबीज (= वं) के द्वारा मन्त्र के (मनोः) प्रत्येक वर्ण पर कुश से जल छिड़कना (कुशोदकेन प्रोक्षणम्) आप्यायन (Fattening) संस्कार है। मंत्रयुक्त जल से मंत्र में तर्पण करना (जल छोड़ना) तर्पण (Satisfying) संस्कार है ॥ २४–२५ ॥ तार (ॐ), मायाबीज (ह्रीं) और लक्ष्मीबीज (श्रीं) से मन्त्र (मनु) को संयुक्त करना दीपन (Illuminating) कहलाता है। जिस मंत्र का जप करना है, उसे प्रकाशित नहीं करना गोपन संस्कार (Concealing) है ॥ २६ ॥

२७. संस्कारा दशमन्त्राणां सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ।
यत्कृत्वा संप्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते ॥

२८. रुद्धकीलितविच्छिन्नसुप्तशप्तादयोऽपि च ।
मन्त्रदोषाः प्रणश्यन्ति संस्कारैरेभिरुत्तमैः ॥ इति ।

तदलमकाण्डताण्डवकल्पेन तन्त्ररहस्योद्घोषणेन ।

'मन्त्रों के ये दस संस्कार सभी तन्त्रों में छिपाये गये हैं। संप्रदाय-ज्ञानपूर्वक (गुरु-शिष्य-परम्परा से जानकर) जो मन्त्र-साधक इन्हें संपादित करता है वह अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति करता है ॥ २७ ॥ रुद्ध (आदि, मध्य या अन्त में लं लं से युक्त), कीलित, विच्छिन्न, सुप्त, शप्तादि सारे मन्त्रदोष इन उत्तम संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं' ॥ २८ ॥*

---

* तुलनीय—आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वन्द्वलाञ्छितः ।
रुद्धमन्त्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः ॥ १ ॥
माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन्स कीलितः ।
मनोर्यस्यादिमध्यान्तेष्वानिलं बीजमुच्यते ॥ २ ॥
संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः ।
चतुर्धा पञ्चधा वाथ स मन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः ॥ ३ ॥
त्रिवर्णो हंसहीनो यः सुषुप्तः समुदाहृतः ॥
भूबीज=लं। शप्त=किसी के द्वारा जिसकी शक्ति नष्ट हो गई हो।

तो अकाण्ड (असमय में) ताण्डव-नृत्य की तरह यहाँ पर तन्त्रशास्त्र के रहस्य का व्याख्यान क्यों करें ? [अपने प्रस्तुत प्रसंग पर चलें ।]

(१९. ईश्वरप्रणिधान और क्रियायोग का उपसंहार)

ईश्वरप्रणिधानं नामाभिहितानामनभिहितानां च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे परमगुरौ फलानपेक्षया समर्पणम् । यत्रेद-मुक्तम्—

२९. कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥इति।

विहित या अविहित (वैदिक या लौकिक)—सभी प्रकार के कर्मों को परम गुरु परमेश्वर में, फल की आशा बिना रखे हुए ही, समर्पित कर देना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है । इसीलिए यह कहा गया है—'किसी कामना से या बिना किसी कामना के जो शुभ या अशुभ कर्म मैं कर रहा हूँ, वह सब तुम्हें (ईश्वर) को समर्पित कर दे रहा हूँ क्योंकि तुम्हारे द्वारा ही प्रेरित होकर मैं वे कर्म करता हूँ ।'

क्रियाफलसंन्यासोऽपि भक्तिविशेषापरपर्यायं प्रणिधानमेव । फलानभिसंधानेन कर्मकरणात् । तथा च गीयते गीतासु भगवता—

३०. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी० २।४७) इति ।

फलाभिसंधेरुपघातकत्वमभिहितं भगवद्भिर्नीलकण्ठभारती-श्रीचरणैः—

३१. अपि प्रयत्नसंपन्नं कामेनोपहतं तपः ।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम् ॥ इति ।

क्रियाफल से संन्यास लेना (फल की आशा न रखते हुए कर्म करना) भी प्रणिधान ही है जिसे एक प्रकार की भक्ति भी कहते हैं । इसमें फल की आकांक्षा नहीं रखते हुए कर्म किया जाता है । भगवान् कृष्ण ने गीता में ऐसा ही कहा

है—'हे अर्जुन, तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने का है फल पाने का अधिकार कभी नहीं है। कर्म-फल की कामना से तुम कर्म मत करो और कर्म न करने में भी तुम अपनी रुचि मत दिखलाओ ॥ ३० ॥' (गी० २।४७)।

[इसके अतिरिक्त] भगवान् श्रीचरण नीलकण्ठ भारती जी ने कहा है कि आकांक्षा रखना हानिकारक भी है—'तपस्या यदि प्रयत्नपूर्वक भी की गई हो किन्तु किसी कामना से उपहत (संयुक्त) हो तो महेश्वर उससे संतुष्ट नहीं होते जैसे कुत्ते के द्वारा चाटा गया दूध [तुष्टिकारक नहीं होता] ॥ ३१ ॥'

(२०. क्रिया ही योग है—शुद्धा सारोपा लक्षणा)

सा च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानात्मिका क्रिया योगसाधनत्वाद्योग इति शुद्धसारोपलक्षणावृत्त्याश्रयणेन निरूप्यते, यथायुर्घृतमिति।

शुद्धसारोपालक्षणा नाम लक्षणाप्रभेदः। मुख्यार्थबाधतद्योगाभ्यामर्थान्तरप्रतिपादनं लक्षणा। सा द्विविधा—रूढिमूला प्रयोजनमूला च। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

३२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥
(का० प्र० २।९) इति।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के रूप में जो क्रिया है वह योग का साधन है, इसलिए उसे योग भी कहते हैं। ऐसा निरूपण तभी हो सकता है जब शुद्धा सारोपा लक्षणावृत्ति की सहायता लें। जैसे इस उदाहरण में—'आयुः घृतम्' में आयुशब्द से 'आयु का साधन' यह लक्षित होता है, वैसे ही—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (यो० सू० २।१) में योग शब्द से 'योग का साधन' लक्षित होता है।]

शुद्धा सारोपा लक्षणा लक्षणा वृत्ति का एक अवान्तर भेद है। [शुद्धा लक्षणा गौणी से भिन्न होती है। जो लक्षणा सादृश्य संबंध के आधार पर है उसे गौणी कहते हैं जैसे—यह राजा सिंह है। यहाँ वीरता, क्रूरता आदि गुणों के कारण सिंह के सदृश लगने वाले राजा में सिंह शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस लक्षणा का आधार सादृश्य के अतिरिक्त कोई दूसरा संबंध हो उसे शुद्धा कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में योग शब्द योग के साधन के अर्थ में प्रयुक्त

है। यहाँ लक्षणा कार्यकारण-भाव रूपी संबन्ध पर आधारित है। इसलिए शुद्धा लक्षणा है। सारोपा का भेद साध्यवसाना लक्षणा से होता है। विषय और विषयी में भेद करते हुए दोनों का उल्लेख करना आरोप है। जहाँ ऐसा आरोप हो वह **सारोपा** लक्षणा होती है जैसे प्रस्तुत प्रसंग में योग विषयी है क्योंकि यही आरोप्य है, आरोप का विषय है तप आदि क्रियायें। क्रिया और योग दोनों का उल्लेख हुआ है। फिर भी भेद बना हुआ है। 'आयु घी है' में भी 'आयु का साधन घी है—इस तरह भेद बना हुआ है। 'राजा सिंह है' यहाँ भी सारोपा ही है क्योंकि दोनों में भेद बना हुआ है। दूसरी ओर यदि राजा का उच्चारण न करके 'यह सिंह' ऐसा कहें तो यह **साध्यवसाना** लक्षणा हुई। साध्यवसाना में केवल विषयी का ही उल्लेख होता है—विषयी का वाचक शब्द विषयवाचक शब्द को निगल जाता है।]

लक्षणा वह वृत्ति है जिसमें मुख्य अर्थ का बाध (वाक्य के शेष पदों के साथ अन्वय न हो सकना) तथा उसके संबन्ध (योग) के द्वारा दूसरे अर्थ का प्रतिपादन हो। इसके दो भेद हैं—रूढिमूलक तथा प्रयोजनमूलक। इसे काव्यप्रकाश में कहा है—'जहाँ मुख्य अर्थ (Primary Meaning) के साथ अन्वय न हो सके किन्तु उससे संबद्ध अर्थ का अन्वय हो, रूढि या प्रयोजन के कारण जहाँ पर दूसरा अर्थ लक्षित हो वह लक्षणा अर्थात् शब्द की आरोपित क्रिया है।' (काव्यप्रकाश, २।९)।

विशेष—'गङ्गायां घोषः' एक वाक्य है जिसमें 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ है—'एक नदी का जल'। किन्तु बाधित हो जाता है—जल में घोष (ग्वालों की बस्ती) नहीं रह सकता। इस प्रकार वाक्य में 'गंगा' के मुख्य अर्थ का अन्वय होना असंभव है, इसे ही **बाध** कहते हैं। अब उस मुख्यार्थ का योग (संबन्ध) तट के साथ है। अतः गंगा का मुख्यार्थ 'जल' बाधित होकर अपने से संबद्ध एक दूसरे अर्थ 'तट' का बोध करा देता है—यही बोध लक्षणा है। यद्यपि लक्षणा मुख्य वृत्ति नहीं है तथापि किसी प्रयोजन से इसकी सहायता लेते है। 'गङ्गायां घोषः' में ही यदि लक्षणा को छोड़कर मुख्यार्थ तट शब्द का ही प्रयोग कर दें—'गङ्गातटे घोषः' करें तो इस वाक्य से गंगा के तीर पर स्थित घोष में शीतलता और पवित्रता की प्रतीति सामान्य रूप से हो तो जायगी, परन्तु इन गुणों के अतिशय (Fxcellence) का बोध नहीं होगा। जब 'गंगा में घोष है' कहते हैं तथा तीर का बोध गंगा से ही कर लेते हैं, तो शीतलता और पवित्रता के अतिशय का भी बोध होता है। जो चीज गंगा में ही रहेगी वह कितनी शीतल और पवित्र होगी। इसी गुणातिशय के बोध के लिए (प्रयोजन

से) 'गङ्गायां घोषः' कहा गया है। इसे प्रयोजनमूलक लक्षणा कहते हैं। कभी-कभी लक्षणा बिना किसी प्रयोजन के ही लौकिक प्रसिद्धि (रूढि) के आधार पर ही दे देते हैं। इसे रूढिमूलक लक्षणा कहते हैं जैसे—'कर्मणि कुशलः'। कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है—कुश लाने वाला। लेकिन इस मुख्यार्थ का अन्वय उक्त वाक्य में नहीं हो सकता। अतः उससे संयुक्त अर्थ की कल्पना होगी। लोक में 'कुशल' शब्द निपुण के अर्थ में रूढ हो गया है। लक्षणा से उसका यही अर्थ लेंगे। कर्मणि कुशलः = कर्मणि निपुणः। दोनों का अर्थ एक ही है, कुछ अधिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए रूढिमूलक है। प्रयोजन-मूलक लक्षणा में अधिक अर्थ की प्रतीति होती है—गंगा में घोष और गंगातट पर घोष दोनों एक नहीं हैं। जो विशेषता पहले वाक्य में है वह प्रयोजन है। रूढिमूलक लक्षणा अभिधा के समान ही होती है।

लक्षणा एक व्यापार है जो शब्द का नहीं होता, मुख्य अर्थ का ही होता है। अर्थ के द्वारा शब्द पर यह व्यापार केवल आरोपित होता है। इसीलिए कहते हैं कि गंगा-शब्द लक्षणा (या अर्थ) के द्वारा तीर का बोध कराता है।

यच्छब्देन लक्ष्यत इत्याख्याते गुणीभूतं प्रतिपादनमात्रं परामृश्यते। सा लक्षणेति प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षया तच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वोपपत्तिः। तदुक्तं कैयटैः—निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरैक्यमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण। तत्तल्लिङ्गमुपाददत इति।

[काव्यप्रकाश की उपर्युक्त कारिका की दूसरी पंक्ति में विद्यमान] 'यत्' शब्द के द्वारा 'लक्ष्यते' (लक्षित होता है) इस आख्यात-पद (क्रिया Verb) में गौणरूप से रहने पर भी प्रतिपादन अर्थ का बोध होता है। [नैयायिकों का मत है कि जैसे 'पाचक' शब्द में प्रत्यय (ण्वुल्) के अर्थ की प्रधानता है वैसे ही 'पचति', 'पच्यते' आदि क्रियापदों में भी प्रत्यय (तिप्, त आदि) के अर्थ की ही प्रधानता होती है। धात्वर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण है। 'लक्ष्यते' यह क्रिया-पद है जिसमें लक्ष्-धातु का अर्थ है 'प्रतिपादन'। यह धात्वर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण होने के कारण गौण हो गया है किन्तु 'यत्' शब्द के द्वारा इसी गौणार्थ 'प्रतिपादन' का बोध होता है, उससे विशिष्ट प्रत्ययार्थ का बोध नहीं कराता। प्रतिपादित अर्थ को लक्षणा नहीं कहते हैं, प्रतिपादन ही लक्षणा है। यह दूसरा प्रश्न है कि वैयाकरण लोग क्रियापद में प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थ) की ही प्रधानता मानते हैं तथा उस मत से 'प्रतिपादन' अर्थ गौण नहीं होगा।]

[अब यह कहा जा सकता है कि 'यत्-तत्' शब्दों में एक ही अर्थ बतलाने का नियम है। यदि 'यत्' के द्वारा प्रतिपादन का अर्थबोध होता है तो 'तत्' के द्वारा भी वही काम होना चाहिए—फलतः 'तत् लक्षणा' कहना चाहिए, 'सा लक्षणा' (स्त्रीलिंग) नहीं। इसका उत्तर देते हैं—] 'सा लक्षणा' (वह लक्षणा है) यहाँ पर विधेय (प्रतिनिर्दिश्यमान, Predicate) के अनुसार तत् शब्द की स्त्रीलिंग के रूप में सिद्धि होती है। ['सा' उद्देश्य है 'लक्षणा' विधेय। दोनों एक ही लिंग में रहेंगे, अतः 'तत्' का स्त्री-रूप 'सा' रखा गया है।]

इसे कैयट ने [महाभाष्य के प्रथम आह्निक के आरंभ में शब्द के स्वरूप-विचार वाले अंश की टीका करते हुए] कहा है—'उद्देश्य और विधेय दोनों में एकता का प्रदर्शन करने वाले सर्वनाम (यत्, तत्, किम् आदि) पर्याय अर्थात् विकल्प (पारी-पारी) से किसी लिंग का ग्रहण करते हैं। [महाभाष्य में वाक्य है—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः।' दूसरी पंक्ति की व्याख्या में ही कैयट का उक्त कथन है। जब यत् और तत् का संबन्ध नित्य है तब यत् को नपुंसकलिंग में और तत् को पुंल्लिंग में (सः) लिखना कहाँ तक ठीक है? विधेय 'शब्दः' है अतः उद्देश्य (तत्) पुंल्लिंग में ही रखा गया है। यद्यपि 'तत्' शब्द उद्देश्य (यत्) का परामर्श करता है किन्तु यह कोई जरूरी नहीं कि वह उद्देश्य के लिंग के अनुसार चले। विधेय (शब्दः) के लिंग के अनुसार चलने पर भी कोई हानि नहीं। इसीलिए नागेश ने भी उदाहरण दिया है—शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य। अन्य उदाहरण—'योऽसौ पुत्रः स रत्नम्' अथवा 'योऽसौ पुत्रः तद्रत्नम्'। उसी प्रकार—'यत् लक्ष्यते सा लक्षणा'।]

तत्र 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम्। कुशाल्लाँतीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात्प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिवृद्धव्यवहारपरम्परानुपातित्वेन अभिधानवत्प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते। तदाह—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। (त०वा०) इति।

उनमें 'कर्म में कुशल है' इत्यादि रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण हैं। ['कुशल' शब्द की] व्युत्पत्ति होती है—कुश + √ला (कुश लाने वाला)। इससे यह यौगिक 'कुशल' शब्द दर्भ (कुश) लानेवाले के अर्थ में (मुख्य अर्थ में) रहकर भी, विवेचक (योग्य, विवेकी) होने के साधर्म्य के कारण 'प्रवीण' के अर्थ में प्रवृत्त होता है। [कुश लाने में बड़े विवेक की आवश्यकता है—उसे देखना पड़ता है कौन कुश है, कौन सामान्य घास। निपुण व्यक्ति भी विवेकी होता है। दोनों में

विवेक का धर्म समान है इसलिए कुशल का अर्थ निपुण हो गया ।] इस अर्थ की प्रवृत्ति, बिना किसी प्रयोजन की अपेक्षा रखे ही, होती है । अनादि काल से वृद्ध-व्यवहार की परंपरा में पड़े रहने के कारण [यह अर्थ] अभिधान (वाच्यार्थ प्रकट करने वाली शक्ति या अभिधा) के समान [रूढ़ हो जाता है ।] इसे ही [कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में] कहा है—'रूढिमूलक लक्षणायें प्रायः (काश्चित्) प्रसिद्धि के कारण अभिधान (वाच्यार्थ) की तरह ही हो जाती हैं ।'

तस्माद्रूढिलक्षणायाः प्रयोजनापेक्षा नास्ति । यद्यपि प्रयुक्तः शब्दः प्रथमं मुख्यार्थं प्रतिपादयति, तेनार्थेनार्थान्तरं लक्ष्यत इत्यर्थधर्मोऽयं लक्षणा, तथापि तत्प्रतिपादके शब्दे समारोपितः सञ्शब्दव्यापारः इति व्यपदिश्यते । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं—लक्षणारोपिता क्रियेति ।

इसलिए रूढ़िलक्षणा को प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती । यद्यपि यह ठीक है कि प्रयुक्त होने वाला शब्द पहले मुख्य अर्थ का प्रतिपादन करता है और उसी मुख्यार्थ से यह दूसरा अर्थ लक्षित होता है इसलिए अर्थ का यह धर्म ही लक्षणा है [शब्द का नहीं]; फिर भी चूँकि मुख्यार्थ के प्रतिपादक शब्द पर ही इसका आरोप होता है अतः यह शब्द का ही व्यापार है—ऐसा [आलंकारिक विधि से] कहते हैं । इसी अभिप्राय से कहा गया है—'लक्षणा' शब्द का वह व्यापार है जो आरोपित किया जाता है । [रूढिमूलक लक्षणा की विवेचना करने के बाद अब प्रयोजनमूलक लक्षणा के भेदों तथा उनमें प्रत्येक के उदाहरण का उल्लेख करते हैं ।]

(२० क. प्रयोजनमूलक लक्षणा)

प्रयोजनलक्षणा तु षड्विधा—उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा गौणसारोपा गौणसाध्यवसाना शुद्धसारोपा शुद्धसाध्यवसाना चेति । कुन्ताः प्रविशन्ति, मञ्चाः क्रोशन्ति, गौर्वाहीकः, गौरयम् , आयुर्घृतम्, आयुरेवेदम्—इति यथाक्रममुदाहरणानि द्रष्टव्यानि ।

प्रयोजनमूलक लक्षणा के छह भेद हैं जिनके उदाहरण भी क्रमशः देख लिये जायँ—

(१) **उपादानलक्षणा** (Inclusive Indication)—'कुन्ताः प्रविशन्ति' अर्थात् भाला धारण किये हुए पुरुष आते हैं। [यहाँ पर मुख्य अर्थ को वाक्य के साथ अन्वित करने के लिए ही दूसरे अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अपने अर्थ का बिना परित्याग किये हुए ही दूसरे अर्थ का ग्रहण करना उपादान कहलाता है। कुन्त का मुख्यार्थ है भाला (Lance), अब भालों में प्रवेश करने की शक्ति नहीं है इसलिए वाक्य में अन्वय करने के लिए तत्संयुक्त परार्थ—कुन्तधारी पुरुष—का ग्रहण किया गया है। इस लक्ष्यार्थ में कुन्त का भी ग्रहण हुआ है, उसे छोड़ा नहीं गया है।]

(२) **लक्षणलक्षणा** (Indicative Indication)—'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मंच पर बैठे हुए पुरुष चिल्लाते हैं। [शब्दार्थ अपने से सम्बद्ध अर्थ की सिद्धि अर्थात् वाक्य में अन्वय करने के लिए अपना ही (मुख्यार्थ) का त्याग कर देता है। लक्षण = स्वार्थ को त्याग कर परार्थ को लक्षित करना। मंच को अपना अर्थ यहाँ छोड़ देना पड़ता है। पुरुष चिल्लाते हैं, मंच नहीं। मंच से विशिष्ट पुरुष नहीं चिल्ला सकते हैं। लक्षणा के ये दोनों भेद शुद्धा लक्षणा हैं, गौणी नहीं। गौणी में सादृश्य-सम्बन्ध का आधार रहता है, शुद्धा में सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों का आधार लिया जाता है।]

(३) **गौणसारोपा** (Qualified superimponent Indication)—'गौर्वाहीकः' अर्थात् यह पंजाबी बैल है। [आरोप = विषय और विषयी दोनों का अभेद रूप में उपन्यास। जहाँ विषय और विषयी दोनों शब्दशः स्पष्ट हों वही सारोपा है। उक्त उदाहरण में गौ शब्द से, बुद्धि की मंदता आदि गुणों का सादृश्य देखकर, जड़-अर्थ लक्षित होता है। विषयी का निर्देश 'गौ' शब्द से हुआ है, आरोप के विषय का 'वाहीक' शब्द के द्वारा निर्देश हुआ है।]

(४) **गौणसाध्यवसाना** (Qualified Introsusceptive Indication)—'गौरयम्' अर्थात् यह बैल है। [सादृश्य संबंध के आधार पर ही आरोप्यमाण विषयी (गौ) आरोपित विषय को निगल गया है। विषय की सत्ता केवल 'अयम्' (सर्वनाम) के द्वारा प्रकट है, 'वाहीक' बिल्कुल विलीन हो गया।]

(५) **शुद्धसारोपा** (Pure superimponent Indication)—'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी ही आयु है। [सादृश्येतर संबंध के आधार पर (शुद्धा) विषयी और विषय का पृथक् उल्लेख रहता है। आयु और घी में सादृश्य संबंध नहीं है, कार्य-कारण-संबंध है। ये दोनों क्रमशः विषयी और विषय हैं—दोनों

का पृथक् उपन्यास भी हुआ है। घी आयु का साधन है। प्रस्तुत योग के प्रसंग में यही लक्षणा है।]

(६) शुद्धसाध्यवसाना (Pure Introsuspective Indication)—'आयुरेवेदम्' यह आयु ही है। [सादृश्येतर संबंध के आधार पर (शुद्धा) विषयी जब विषय को अन्तर्भूत कर ले वही शुद्धा—साध्यवसाना है। आयु (विषयी) घी (विषय) को निगल गया है और सत्ता मात्र उसकी बची है—'इदम्'। इस तरह ये छह भेद हैं।]

तदुक्तम्—

३३. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥
३४. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥
३५. भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥
(का० प्र० २।१०-१२) इति।

तदलं काव्यमीमांसामर्मनिर्मन्थनेन।

इसे कहा गया है—'अपनी (मुख्यार्थ की) सिद्धि (वाक्य में अन्वय) करने के लिए परार्थ का ग्रहण करना तथा परार्थ के लिए अपना (मुख्यार्थ का) त्याग कर देना क्रमशः उपादनलक्षणा और लक्षणलक्षणा हैं—इस तरह शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की है ॥३३॥ दूसरी (गौणी) लक्षणा में वह सारोपा है जहाँ विषयी और विषय दोनों अभिहित (शब्द के द्वारा प्रतिपादित) हों। किन्तु जब विषयी के द्वारा दूसरा (=विषय) अन्तर्भूत कर लिया जाय (अपने में मिला लिया जाय) तो वह साध्यवसाना होती है ॥ ३४ ॥ ये दोनों भेद सादृश्य-संबन्ध के कारण होते हैं या सादृश्येतर संबन्ध के कारण होते हैं तो उन्हें क्रमशः गौण (सादृश्य संबन्ध) और शुद्ध (सादृश्येतर संबन्ध) समझना चाहिए—इसलिए लक्षणा छह प्रकार की हुई ॥ ३५ ॥' (काव्यप्रकाश २।१०–१२)।

काव्यशास्त्र के अभिप्राय की अधिक छान-बीन करने से हमें क्या लाभ है ?

(२१. योग के आठ अंग—यम और नियम)

स च योगो यमादिभेदवशादष्टाङ्ग इति निर्दिष्टः। तत्र यमा

अहिंसादयः। तदाह पतञ्जलिः—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (पात० यो० सू० २।३०) इति । नियमाः शौचादयः । तदप्याह—'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (पात० यो० सू० २।३२) इति ।

यमादि भेदों के कारण उक्त योग आठ अंगों से युक्त है, ऐसा निर्देश किया गया है। उन योगों में अहिंसा आदि को यम कहते हैं जैसा पतंजलि ने कहा है—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं' (यो० सू० २।३०)। शौच आदि नियम हैं। उन्हें भी कहा है—'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये नियम हैं' (यो० सू० २।३२)।

एते च यमनियमा विष्णुपुराणे दर्शिताः—

३६. ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन् ॥

३७. स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः ॥

३८. एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः कामे निष्कामाणां विमुक्तिदाः ॥

(वि० पु० ६।७।३६–३८) इति ।

विष्णुपुराण में इन यमों और नियमों का प्रदर्शन किया गया है—'अपने मन को [आत्मा का चिन्तन करने के] समर्थ बनाते हुए, निष्काम-भाव से (फल की कामना न करते हुए), योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सेवन (पालन) करे ॥ ३६ ॥ अपने मन का निग्रह करके (नियतात्मवान्) योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करे और उसी प्रकार परब्रह्म में मन को आसक्त (प्रवण) कर दे (अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान करे) ॥३७॥ नियमों के साथ-साथ ये यम पाँच-पाँच की संख्या में बतलाये गये हैं। सकाम भाव से करने पर ये विशेष फल देते हैं, यदि निष्काम भाव से करें तो विमुक्ति देते हैं ॥ ३८ ॥' (विष्णुपुराण, ६।७।३६–३८)।

(२१ क. आसन और प्राणायाम)

स्थिरसुखमासनं (पात० यो० सू० २।४६) पद्मासन-

भद्रासन-वीरासन-स्वस्तिकासन-दण्डकासन-सोपाश्रय-पर्यङ्क-क्रौञ्च-निषदनोष्ट्रनिषदन-समसंस्थानभेदाद्दशविधम् ।

३९. पादाङ्गुष्ठौ निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामभिपूजितम् ।

इत्यादिना याज्ञवल्क्यः पद्मासनादिस्वरूपं निरूपितवान् । तत्सर्वं तत एवावगन्तव्यम् ।

'जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है' (यो० सू० २।४६)। इसके दस भेद हैं—

(१) **पद्मासन**—[दाहिने पैर को बायीं जंघा के ऊपर तथा बायें पैर को दाहिनी जंघा के ऊपर जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। यदि बायें और दाहिने हाथों को पीठ की ओर से ले जाकर उनकी उँगलियों से क्रमशः दायें और बायें पैरों के अँगूठों को भी पकड़ लें तो इसे बद्ध पद्मासन कहते हैं। किन्तु इसे याज्ञवल्क्य पद्मासन ही मानते हैं।]

(२) **भद्रासन**—[सीमनी रेखा (लिंग से गुदा की ओर जानेवाली रेखा) के बगल में अंडकोश के नीचे दोनों पैरों की एड़ियाँ जुटा दें तथा दोनों हाथों से पैरों को पकड़े रहें। यह भद्रासन सभी रोगों का नाश करता है।]

(३) **वीरासन**—[एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर को उसी प्रकार मोड़ कर एक की जंघा पर दूसरे को रख दे। सामान्य रूप से बैठने के लिए यह अच्छा आसन है।]

(४) **स्वस्तिकासन**—[घुटना और जंघा के बीच में पैरों के तलवों को रखना ही स्वस्तिकासन है। शरीर को वीरासन की तरह सीधा रखें।]

(५) **दण्डकासन**—[भूमि में जंघा और घुटना सटा कर पैरों को फैला दें। दोनों पैरों के अँगूठे और घुट्टियाँ (गुल्फ) सटी हों। यह दण्डकासन है।]

(६) **सोपाश्रय**—[योगपट्ट (योगाभ्यास के लिए कपड़ा) के साथ बैठना।]

(७) **पर्यङ्क**—[बाहों को घुटने की ओर फैलाकर सो जाना।]

(८) **क्रौंचनिषदन**—[बैठे हुए क्रौंच पक्षी के समान बैठ जाना।]

(९) **उष्ट्रनिषदन**—[बैठे हुए ऊँट की तरह बैठना। दोनों पैरों को पीछे

की ओर मोड़कर घुटने के बल खड़ा हो जाय। पेट के ऊपर से पीछे की ओर झुक कर दोनों हाथों से भूमि में स्थित पैरों को पकड़ ले।]

(१०) **समसंस्थान**—[घुटनों के ऊपर हाथ रखकर सिद्धासन या पालथी लगा लें। शरीर, सिर और गर्दन एक सीध में रहें।]

याज्ञवल्क्य ने पद्मासन आदि का स्वरूप निरूपित किया है—'दोनों हाथों को व्युत्क्रम करके उनसे, जंघाओं के ऊपर रखे गये पैरों के अँगूठों को, पकड़ लें। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, यह सबों के द्वारा पूजित पद्मासन है।' अवशिष्ट आसन वहीं से जान लें।

विशेष—निषदन, संस्थान और आसन तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आसनों का योगशास्त्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे सामान्य जीवन में भी ये इसलिए उपयोगी हैं कि अनेक रोगों का शमन, चित्त की एकाग्रता, शरीर का आरोग्य, दीर्घायु-प्राप्ति आदि बहुत से लाभ इनसे होते हैं। यदि ठीक से संप्रदायपूर्वक आसन किये जायँ तो कुछ ही दिनों में इनसे अद्भुत चमत्कार देखा जा सकता है। उपयुक्त आसन तो केवल उदाहरण हैं—सैकड़ों आसनों का वर्णन शास्त्रों में है।

तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठितो भवति। स च श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदस्वरूपः। तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम्। प्रश्वासः पुनः कोष्ठ्यस्य बहिर्निःसारणम्। तयोरुभयोरपि संचरणाभावः प्राणायामः।

ननु नेदं प्राणायामसामान्यलक्षणम्। तद्विशेषेषु रेचकपूरककुम्भकप्रकारेषु तदनुगतेरयोगादिति चेत्—नैष दोषः। सर्वत्रापि श्वासप्रश्वासगतिविच्छेदसंभवात्।

इस प्रकार जब आसन की स्थिरता संपन्न (बैठने का अभ्यास) हो जाय तब प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है। प्राणायाम का अर्थ है श्वास और प्रश्वास की गति को विच्छिन्न (रुद्ध) कर देना। उनमें **श्वास** बाहरी वायु को भीतर लाने की क्रिया को कहते हैं। कोष्ठ (शरीर, विशेषतः उदर) में स्थित वायु को बाहर निकालना **प्रश्वास** कहलाता है। उन दोनों का संचरण न होना ही प्राणायाम है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि यह तो प्राणायाम का सामान्य लक्षण नहीं हुआ क्योंकि यह लक्षण प्राणायाम के भेदों—रेचक, पूरक, कुम्भक—में अनुगत (Applicable) नहीं हो सकता। [कुम्भक में भले ही गति का अभाव हो

किन्तु रेचक और पूरक में तो क्रमशः वायु को निकालने और उसे भीतर लाने की क्रियाओं में गति रहती ही है।]

[इसका उत्तर है कि] यह दोष नहीं है। सभी भेदों में श्वास और प्रश्वास की गति तो विच्छिन्न होती ही है। [अब तीनों भेदों के लक्षण तथा उनमें प्राणायाम के लक्षण की संगति दिखायी जायगी।]

तथा हि—कोष्ठयस्य वायोर्बहिर्निःसरणं रेचकः प्राणायामो यः प्रश्वासत्वेन प्रागुक्तः। बाह्यस्य वायोरन्तर्धारणं पूरको यः श्वासरूपः। अन्तःस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। यस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणाख्यो वायुरवस्थाप्यते। तत्र सर्वत्र श्वासप्रश्वासद्वयगतिविच्छेदोऽस्त्येवेति नास्ति शङ्कावकाशः। तदुक्तं—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (पात० यो० सू० २।४९) इति।

इसे ऐसे देखें—कोष्ठस्थित वायु का बाहर निकलना **रेचक** प्राणायाम है जिसे प्रश्वास के रूप में पहले कहा गया है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश कराना **पूरक** है जिसे श्वास भी कह सकते हैं। वायु को भीतर ही स्तम्भित करने की क्रिया **कुम्भक** है। इस प्राणायाम में घड़े में रखे हुए जल की तरह निश्चल रूप से प्राणवायु अवस्थित की जाती है। तो इन सबों में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति में रुकावट होती ही है, अतः शंका का कोई अवसर ही नहीं है। [रेचक या पूरक में किसी एक तरफ की ही गति रहती है, अतः श्वास-प्रश्वास दोनों की गति तो नहीं रहती। इसके अलावे गतिविच्छेद का अर्थ स्वाभाविक गति का विच्छेद समझना चाहिए। रेचक या पूरक में वायु अपनी स्वाभाविक गति से नहीं चलती। देश या काल की गति की अपेक्षा अधिक गति रहती ही है। वास्तव में रेचक वह है जिसमें प्रश्वास या रेचन के द्वारा वायु की गति का विच्छेद करें। उसी तरह श्वास या पूरण के द्वारा वायु की गति में व्यवधान डालना पूरक प्राणायाम है। कुम्भक में तो दोनों ओर से गति का अभाव रहता है, उसमें तो कुछ कहना ही नहीं।]

यही कहा गया है—'उस (आसन की स्थिरता) के संपन्न हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद कर देना प्राणायाम है' (यो० सू० २।४९)।

(२२. वायुतत्त्व का निरूपण)

स च वायुः सूर्योदयमारभ्य सार्धघटिकाद्वयं घटीयन्त्रस्थित-

घटभ्रमणन्यायेन एकैकस्यां नाड्यां भवति। एवं सत्यहर्निशं श्वासप्रश्वासयोः षट्शताधिकैकविंशतिसहस्राणि जायन्ते। अत एवोक्तं मन्त्रसमर्पणरहस्यवेदिभिरजपामन्त्रसमर्पणे—

४०. षट्शतानि गणेशाय षट्सहस्रं स्वयंभुवे।
विष्णवे षट्सहस्रं च षट्सहस्रं पिनाकिने॥
४१. सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने।
सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम्॥ इति।

जिस प्रकार घटीयंत्र (रँहट) में घट (लोहे की बालटियाँ) घूमते हैं उसी तरह वह वायु भी सूर्योदय से आरंभ करके ढाई-ढाई घड़ी (ढाई घड़ी=१ घंटा) तक प्रत्येक नाड़ी (इडा, पिंगला) में रहती है। [प्राणियों की दाहिनी नाड़ी (दाहिनी नासिका की साँस) **पिंगला** कहलाती है, बायीं नाड़ी **इड़ा** है। दोनों के बीच में **सुषुम्णा** बहती है। वायु-संचार २½ घड़ी (= १ घंटे) तक पिंगला के द्वारा होता है, फिर २½ घड़ी इड़ा के द्वारा वायु चलती है, फिर पिंगला और इड़ा—यही क्रम है।]

इस प्रकार वायु के चलने से दिन-रात में इक्कीस हजार छह सौ (२१६००) श्वास-प्रश्वास होते हैं। [दिन-रात में ६० घड़ियाँ (घटी या दण्ड) होती हैं। एक घटी में ६० पल होते हैं (= दिनरात में ६० × ६० = ३६०० पल)। एक पल में ६ बार श्वास-प्रश्वास लेते हैं अतः दिन-रात में ३६०० × ६=२१६०० बार श्वास-प्रश्वास होता है।]

इसीलिए मन्त्र-समर्पण का रहस्य जाननेवाले लोग **अजपामंत्र*** के समर्पण के विषय में कहते हैं—'मैं इस किये हुए जप में से ६०० मन्त्र गणेश को, ६००० ब्रह्मा को, ६००० विष्णु को, ६००० शिव को, १००० गुरु को, १००० परमात्मा को तथा १००० आत्मा को अर्पित कर रहा हूँ॥ ४०-४१॥'

तथा नाडीसंचारणदशायां वायोः संचरणे पृथिव्यादीनि

* श्वास-प्रश्वास के रूप में स्वभावतः जपा जाने वाला मन्त्र अजपामन्त्र है। दूसरे मन्त्रों की तरह इसे जपते नहीं इसलिए इसे अजपा कहते हैं। श्वास और प्रश्वास में हंसः की मन्त्र-भावना की जाती है। स्वभावतः इसे २१६०० बार प्रतिदिन जपते हैं। इसे ही उलटने पर 'सोऽहम्' कहते हैं। इस जप का विभाजन करके गणेशादि देवताओं को अर्पण करते हैं।

तत्त्वानि वर्णविशेषवशात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैरवगन्तव्यानि । तदुक्तमभियुक्तैः —

४२. सार्धं घटीद्वयं नाड्योरेकैकार्कोदयाद्वहेत् ।
अरघट्टघटीभ्रान्तिन्यायो नाड्योः पुनः पुनः ॥
४३. शतानि तत्र जायन्ते निश्वासोच्छ्वासयोर्नव ।
खखषट्कद्विकैः संख्याहोरात्रे सकले पुनः ॥

[जिस प्रकार वायु की स्वाभाविक गति के कारण प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में 'हंसः' मन्त्र की भावना से अजपाजप की सिद्धि होती है] उसी प्रकार वायु के संचार से नाड़ियों का संचारण होने के समय, पुरुषार्थ की अभिलाषा करने वाले पुरुषों को, [पीत आदि] विशिष्ट वर्णों से [युक्त बिन्दुओं के द्वारा], पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । [पृथिवी आदि तत्त्व पुरुषार्थ हैं । इनका ज्ञान आन्तर दृष्टि से हो सकता है । शरीर में कुछ बिन्दु हैं जिनके वर्णों की कल्पना की गई है—उन्हीं से ये तत्त्व भली-भाँति ज्ञात होते हैं ।]

इसे प्रामाणिक व्यक्तियों ने कहा है—'[इड़ा और पिंगला] इन दोनों नाड़ियों में प्रत्येक नाड़ी से सूर्योदय से आरंभ करके ढाई-ढाई घटियों तक [प्राणवायु का] वहन होता है । अरघट्ट-घटी (कुएँ के रहँट) के भ्रमण की तरह ये दोनों नाड़ियाँ बार-बार [बहती हैं ।] इस क्रिया से ढाई घटी में ९०० निश्वास और उच्छ्वास होते हैं । पूरे दिन-रात में तो २१६०० (ख=०, ख = ०, षट् = ६, क = १, द्वि = २, 'अङ्कस्य वामा गतिः' से उलटने पर २१६००) संख्या हो जाती है ॥ ४२–४३ ॥'

४४. षट्त्रिंशद्गुरुवर्णानां या वेला भणने भवेत् ।
सा वेला मरुतो नाड्यन्तरे संचरतो भवेत् ॥
४५. प्रत्येकं पञ्च तत्त्वानि नाड्योश्च वहमानयोः ।
वहन्त्यहर्निशं तानि ज्ञातव्यानि यतात्मभिः ॥
४६. ऊर्ध्वं वह्निरधस्तोयं तिरश्चीनः समीरणः ।
भूमिरर्धपुटे व्योम सर्वगं प्रवहेत्पुनः ॥
४७. वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं वहेत्क्रमात् ।
वहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा ॥

छत्तीस दीर्घ वर्णों (आ, ई, ऊ जैसे वर्ण) के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना ही समय वायु को नाड़ी में घूमने में लगता है। [इसे ही प्राण भी कहते हैं। ६ प्राण=१ पल। ६० पल = १ घटी। एक घटी में ३६० श्वासोच्छ्वास या प्राण होते हैं।] ॥ ४४ ॥ इन बहने वाली नाड़ियों में प्रत्येक के पाँच तत्त्व होते हैं जो दिन-रात बहते रहते हैं, इन्हें योगी ही जान सकते हैं ॥ ४५ ॥ [ये नाड़ियाँ अपने अन्तर में स्थित सूक्ष्म पृथिवी आदि तत्त्वों में से किसी एक के अंश से ही चलती हैं। जब जो तत्त्व बहता है तब कहते हैं कि उस अमुक तत्त्व से नाड़ी चल रही है। इसे योग से ही जान सकते हैं। अब नाड़ियों में बहने वाले पाँचों तत्त्वों का स्थान बतलाते हैं—] अग्नि-तत्त्व ऊपर बहता है, जल-तत्त्व नीचे की ओर; वायु-तत्त्व तिरछा बहता है, पृथिवी-तत्त्व अर्ध पुट (कोष्ठ) में तथा आकाशतत्त्व चारों तरफ बहता है ॥ ४६ ॥ [अब इनके बहने का क्रम बतलाते हैं—] दोनों बहनेवाली नाड़ियों का यह क्रम सदा जानना चाहिए कि क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और आकाश के तत्त्व बहते हैं ॥ ४७ ॥

४८. पृथ्व्याः पलानि पंचाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः ।
अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसो दश ॥
४९. प्रवाहकालसंख्येयं हेतुस्तत्र प्रदर्श्यते ।
पृथ्वी पञ्चगुणा तोयं चतुर्गुणमथानलः ॥
५०. त्रिगुणो द्विगुणो वायुर्वियदेकगुणं भवेत् ।
गुणं प्रति दश पलान्युर्व्यां पञ्चाशदित्यतः ॥
५१. एकैकहानिस्तोयादेस्तथा पञ्च गुणाः क्षितेः ।
गन्धो रसश्च रूपं च स्पर्शः शब्दः क्रमादमी ॥

पृथ्वी-तत्त्व पचास पलों तक बहता है, जल-तत्त्व चालीस पलों तक, अग्नि-तत्त्व तीस पलों तक, वायु तत्त्व बीस पलों तक तथा आकाश-तत्त्व दस पलों तक बहता है। [इनके बहने का क्रम पहले के जैसा ही है—पहले वायु-तत्त्व, फिर अग्नितत्त्व आदि।]* ॥ ४८ ॥ प्रवाह के काल (समय) की संख्या (परिमाण) इस तरह बतलाई गई है। अब इसका कारण बतलावें—पृथ्वी पाँच गुणों की है, जल चार गुणों का है; अग्नि के तीन गुण, वायु के दो गुण और

---

* कुल मिलाकर १५० पल होते हैं अर्थात् ये पाँचों तत्त्व १-१ घंटे के क्रम से आते हैं (२॥ घड़ी)।

आकाश में केवल एक गुण ही है। [देखिए—इसी ग्रन्थ का सांख्यदर्शन—'तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पंचगुणानि जायन्ते। (पृ० ६२७)।]

प्रत्येक गुण में दस पल होते हैं--इसलिए पृथ्वी में पचास पल माने गये हैं। ॥ ५० ॥ इसके बाद जलादि से एक-एक गुण की कमी होती जाती है। पृथ्वी के पाँच गुणों में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। इनमें भी क्रमशः [एक एक घटते जाते हैं—जल में गन्ध नहीं (४ गुण), अग्नि में गन्ध और रस नहीं (३ गुण), वायु में गन्ध, रस और रूप नहीं (२ गुण) तथा आकाश में केवल शब्द गुण ही है।] ॥ ५१ ॥

५२. तत्त्वाभ्यां भूजलाभ्यां स्याच्छान्तिः कार्ये फलोन्नतिः।
दीप्तास्थिराव्यूहवृत्तिस्तेजोवाय्वम्बरेषु च ॥
५३. पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते।
आद्ये स्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्ये कामोद्भवो भवेत् ॥
५४. तृतीये कोपसंतापौ चतुर्थे चञ्चलात्मता।
पञ्चमे शून्यतैव स्यादथ वाधर्मवासना ॥
५५. श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये।
सृक्किण्योः प्रान्त्यकोपान्त्याङ्गुली शेषे दृगन्तयोः ॥

पृथ्वीतत्त्व तथा जलतत्त्व से (इनके बहने पर) क्रमशः शान्ति और [आरम्भ किये गये] कार्य में फल की अधिकता मिलती है। अग्नितत्त्व के बहने पर [चित्तवृत्ति] दीप्त होती है, वायुतत्त्व में अस्थिरता और आकाशतत्त्व के बहने पर चित्तवृत्ति अव्यूह (वियोग) के रूप में हो जाती है ॥ ५२ ॥ अब हम पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाशतत्त्व के चिह्न कहते हैं--प्रथम (पृथ्वी) तत्त्व में चित्त की स्थिरता मालूम पड़ती है। दूसरे (जल) तत्त्व की शीतलता के कारण इच्छायें उत्पन्न होती हैं ॥ ५३ ॥ तीसरे तत्त्व में क्रोध संताप उत्पन्न होते हैं, चौथे (वायु) में चंचलता का अनुभव होता है। पाँचवें (आकाश) तत्त्व में या तो शून्यता या अधर्म की भावना उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

[अब एक विशिष्ट मुद्रा के द्वारा शून्य को देखने की विधि का निरूपण करते हैं—] दोनों कानों के छेदों को अँगूठों से बंद कर दें, मध्यमा अँगुलियों को नासिका के छेदों पर रख दें, दोनों ओष्ठों पर कनिष्ठा (प्रान्त्यक) और

अनामिका (उपान्त्य) अँगुलियों को रख दें तथा बाकी बची हुई (तर्जनी) अँगुलियों को आँखों पर रख दें ॥ ५५ ॥

५६. न्यस्यान्तःस्थपृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत्क्रमात् ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधि खम् ॥ इत्यादिना ।

यथावद्वायुतत्त्वमवगम्य तन्नियमने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मक्षयो भवति । तपो न परं प्राणायामादिति ।

५७. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
प्राणायामैस्तु दह्यन्ते तद्वदिन्द्रियजा मलाः ॥ इति च ।

'[उपर्युक्त विधि से अँगुलियों को] रखकर अन्तर में स्थित पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान क्रमशः होता है। इसके बाद पीत, श्वेत, अरुण, तथा श्याम बिन्दुओं से उपाधिहीन आकाश-तत्त्व का दर्शन होता है। [दोनों हाथों की अँगुलियों से बाहरी द्वारों को बंद करके अन्तर्दृष्टि से देखने पर बिन्दु दिखाई पड़ता है। पीतवर्ण का बिन्दु दिखलाई पड़ने पर समझें कि पृथ्वीतत्त्व बह रहा है। श्वेत बिन्दु दिखलाई पड़ने पर जलतत्त्व, अरुण बिन्दु होने पर अग्नि-तत्त्व तथा श्याम बिन्दु होने पर वायुतत्त्व समझें। किसी भी वर्ण से रहित केवल घेरा भर दिखलाई दे तो आकाश तत्त्व समझें। इसीलिए आकाश को उपाधिहीन अर्थात् वर्णरहित कहा गया है] ॥ ५६ ॥'

उक्त रीति से वायुतत्त्व को यथार्थरूप में जानकर, उसे नियंत्रित करने की जो विधियाँ बतलाई गई हैं [उनके द्वारा = प्राणायाम से वायु का निरोध करने से] विवेकज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। [कर्म = कर्म से उत्पन्न पुण्य तथा कर्म के कारणरूप अविद्या आदि क्लेश। ये क्लेश महामोह से भरे हुए शब्दादि विषयों की सहायता से विवेकज्ञान स्वभाव वाले बुद्धि-तत्त्व को आच्छादित कर देते हैं। इसीसे संसार में आने-जाने का सिलसिला चलता है। बुद्धि सांसारिक व्यापार में लगी रहती है। प्राणायाम का अभ्यास करने से ये क्लेश दुर्बल हो जाते हैं तथा अपना कार्य नहीं कर सकते—क्षण-क्षण क्षीण होते जाते हैं। इसलिए प्राणायाम को तप कहा गया है। यही नहीं, चान्द्रायण आदि तपों से तो पापकर्म ही क्षीण होता है। प्राणायाम से उनके मूल क्लेशों का भी नाश हो जाता है। इसलिए] प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है।

'जिस प्रकार आग में जलाये जानेवाले धातुओं (सोना, चाँदी आदि) का

मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले मल नष्ट हो जाते हैं ॥ ५७ ॥'

(२३. प्रत्याहार का निरूपण)

तदेवं यमादिभिः संस्कृतमनस्कस्य योगिनः संयमाय प्रत्याहारः कर्तव्यः। चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रतिनियतरञ्जनीयकोपनीयमोहनीयप्रवणत्वप्रहाणेन अविकृतस्वरूपप्रवणचित्तानुकारः प्रत्याहारः। इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः।

इस प्रकार यमादि के द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र करके योगी को संयम के लिए प्रत्याहार का प्रयोग करना चाहिए। [योग के आठ अङ्गों में अन्तिम तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं। उन्हें संयम भी कहते हैं। संयम की सिद्धि प्रत्याहार के बिना नहीं होती। इसलिए प्रत्याहार की सिद्धि पहले करें।] चक्षु आदि इन्द्रियों की अपने-अपने साथ निश्चित रागोत्पादक, कोपोत्पादक तथा मोहोत्पादक विषयों में जो आसक्ति (प्रवणत्व) होती है उसका नाश करके, निर्विकार आत्मा के स्वरूप में लीन चित्त का अनुकरण [यदि इन्द्रियाँ करने लगें तो वह] प्रत्याहार कहलाता है। [इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ निश्चित रहती हैं। कुछ विषय किसी के लिए रंजनीय या रागोत्पादक होते हैं, कुछ कोपोत्पादक और कुछ मोहप्रद हैं। इन विषयों में इन्द्रियाँ आसक्त रहती हैं। बद्धजीवों में इन्द्रियाँ विषयों के अनुरोध से चलती हैं और चित्त इन्द्रियों के अनुरोध से चलता है। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ ही चित्त के अनुरोध से चलने लगती हैं। चित्त जब निरोध की ओर लगा दिया जाता है तो बिना किसी विशेष प्रयत्न के ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है। यही चित्त का अनुकरण या प्रत्याहार कहलाता है।] इसकी व्युत्पत्ति है कि इसमें इन्द्रियाँ विषयों के विरुद्ध (प्रतीप) खींच ली जाती हैं (आ + हृ)। [प्रति = प्रतीप, आ + √हृ।]

ननु तदा चित्तमभिनिविशते नेन्द्रियाणि। तेषां बाह्यविषयत्वेन सामर्थ्याभावात्। अतः कथं चित्तानुकारः। अद्धा। अत एव वस्तुतस्तस्यासंभवमभिसंधाय सादृश्यार्थमिवशब्दं चकार सूत्रकारः—'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पात० यो० सू० २।५४) इति। सादृश्यं च चित्तानुकारनिमित्तं विषयासंप्रयोगः।

अब एक शंका होती है कि उस दशा में तो [निर्विकार आत्मा के स्वरूप में] चित्त ही प्रवेश करता है, इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि इन्द्रियों का विषय बाह्य-जगत् से संबद्ध है, अतः आत्मा में उनकी सामर्थ्य (शक्ति, अधिकार) नहीं हो सकती। फिर वे चित्त की प्रकृति में अपने को कैसे मिला सकेंगी ? ठीक कहते हैं। इसीलिए तो वास्तव में उसकी असंभावना की संभावना करके सूत्रकार ने सादृश्यार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग किया है [जिससे यह प्रकट होता है कि इन्द्रियाँ चित्त की प्रकृति में अपने को मिला नहीं लेतीं प्रत्युत चित्त में मिलाने पर जैसी दशा हो सकती है वैसी बन जाती हैं]—'इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संबन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण-जैसा करना प्रत्याहार है' (यो० सू० २।५४)। [जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को नहीं जीत सका है, बद्ध है, उसकी इन्द्रियाँ भी विषयोपभोग के समय चित्त का अनुकरण करती हैं— उसमें अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'स्वविषयासंप्रयोगे' का प्रयोग किया गया है।]

[जब दो वस्तुओं में तुलना होती है तब किसी धर्म के आधार पर ही। अतः यहाँ भी कुछ सादृश्य-धर्म होना चाहिए।] अपने विषयों से संबन्ध न होना ही यहाँ पर सादृश्य-धर्म है। उसके कारण चित्त का अनुकरण (उसकी प्रकृति में अपने को मिलाना) होता है।

यदा चित्तं निरुध्यते तदा चक्षुरादीनां निरोधे प्रयत्नान्तरं नापेक्षणीयम्। यथा मधुकरराजं मधुमक्षिका अनुवर्तन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तमिति। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

५८. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥

५९. वश्यता परमा तेन जायतेऽतिचलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥

(वि० पु० ६।७।४३-४४) इति।

जब चित्त (मूल) ही निरुद्ध हो जाता है तब चक्षु आदि इन्द्रियों के निरोध के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे मधुकर-पति के पीछे-पीछे मधुमक्खियाँ चलती हैं उसी तरह चित्त के पीछे-पीछे इन्द्रियाँ चलती हैं। इसे विष्णुपुराण में कहा है—'योगी शब्दादि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों (अक्ष = इन्द्रिय) का निग्रह करके, प्रत्याहार में निरत होकर, उन्हें चित्त की अनुकारी (चित्त के स्वभाव में अपने को मिला देनेवाली) बना दें ॥५८॥

अत्यन्त चंचल स्वरूप वाली इन्द्रियों का भी इसके बाद परम वशीकरण हो जाता है। [तुलनीय—'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो० सू० २।५५)।] यदि ये इन्द्रियाँ वश में नहीं हो सकीं तो उनसे योगी योग का साधक नहीं बन सकता ॥ ५९ ॥' (विष्णुपुराण-६।७।४३-४४)।

(२३ क. धारणा और ध्यान)

नाभिचक्रहृदयपुण्डरीकनासाग्रादावाध्यात्मिके हिरण्यगर्भ-वासवप्रजापतिप्रभृतिके बाह्ये वा देशे चित्तस्य विषयान्तरपरि-हारेण स्थिरीकरणं धारणा। तदाह—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पा० यो० सू० ३।१) इति। पौराणिकाश्च—

६०. प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥
(वि० पु० ६।७।४५) इति।

नाभिचक्र, हृदय-कमल, नासिका का अग्रभाग आदि शरीर के भीतर के (आध्यात्मिक) स्थानों में अथवा हिरण्यगर्भ (विष्णु), इन्द्र, प्रजापति आदि [की मूर्तियों में अर्थात्] बाह्य स्थानों में अपने चित्त को, दूसरे विषयों से उसे बचाते हुए, दृढ (स्थिर) कर देना धारणा है। इसे कहा है—'चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है' (यो० सू० ३।१)। पौराणिक लोग भी कहते हैं—'प्राणायाम के द्वारा वायु को और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के बाद किसी अच्छे आधार (नाभि आदि) में चित्त को स्थिर करना चाहिए।' (विष्णुपुराण, ६।७।४५)।*

तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्य विसदृशप्रत्यय-प्रहाणेन प्रवाहो ध्यानम्। तदुक्तं–'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (पात० यो० सू० ३।२) इति। अन्यैरप्युक्तम्—

६१. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या संततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥
(वि० पु० ६।७।८९) इति।

प्रसङ्गाच्चरममङ्गं प्रागेव प्रत्यपीपदाम।

* तुल०—हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥

उक्त स्थानों में विद्यमान ध्येय (प्रसन्नमुख, चतुर्भुज विष्णु आदि) के आकार में परिणत ज्ञान (प्रत्यय) का, असदृश ज्ञानों का त्याग पूर्वक, प्रवाहित होना **ध्यान** है। [स्मरणीय है कि प्रत्याहार में चित्त का स्थिरीकरण होता है और ध्यान में स्थिर किये गये चित्त को उसी दिशा में प्रवाहित होने दिया जाता है।] इसे कहा गया है—'उसमें (धारणा होने पर) ज्ञान का एक प्रकार का बना रहना ध्यान है' (यो० सू० ३।२)।

दूसरों ने भी कहा है—'उस (ध्येय) के रूप के ज्ञान में एक ही तरह से रहने वाला तथा दूसरे विषयों के व्यवधान से रहित [ज्ञान का] प्रवाह ध्यान है। हे राजन् ! वह प्रथम छह अंगों के द्वारा निष्पन्न होता है।' (वि० पु० ६।७।८९) [यह वाक्य खाण्डिक्य नामक राजा को कहा गया है।]

अन्तिम अंग (समाधि) को तो प्रसंगवश हम लोगों ने पहले ही ('योगानुशासन' के निर्वचन-क्रम में) प्रतिपादित कर दिया है (देखिये, पृष्ठ ६७३)।

विशेष—यहाँ अष्टांग योग का विवरण समाप्त हो रहा है। अब इन अंगों के प्रयोग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन करके कैवल्य (मोक्ष) रूपी परम पुरुषार्थ का निरूपण होगा।

(२४. योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ)

तदनेन योगाङ्गानुष्ठानेनादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितेन समाधिप्रतिपक्षक्लेशप्रक्षयेऽभ्यासवैराग्यवशान्मधुमत्यादिसिद्धिलाभो भवति।

अथ किमेवमकस्मादस्मानतिविकटाभिरत्यन्ताप्रसिद्धाभिः कर्णाटगौडलाटभाषाभिर्भीषयते भवान्? न हि वयं भवन्तं भीषयामहे। किं तु मधुमत्यादिपदार्थव्युत्पादनेन तोषयामः। ततश्चाकुतोभयेन भवता श्रूयतामवधानेन।

तो, योग के अंगों के इस प्रकार अनुष्ठान से—जिसका सेवन या पालन आदरपूर्वक (श्रद्धा सहित), व्यवधान-रहित तथा दीर्घकाल तक किया गया हो—समाधि के विरोधी क्लेशों का नाश हो जाने पर; अभ्यास और वैराग्य के बल से, मधुमती आदि सिद्धियों का लाभ होता है।

[इन मधुमती आदि नये शब्दों को सुन कर कोई पूछता है—] हम लोगों को इन विकट (भयप्रद) और अत्यन्त अप्रसिद्ध कर्णाटक (उत्कल का दक्षिणी भाग), गौड़ (बंगाल का पूर्वी भाग) तथा लाट (गुजरात का एक भाग) की

भाषाओं से आप अकस्मात् डराने क्यों लगे ? [हमारा उत्तर यह है—] हम आपको डरा नहीं रहे हैं। बल्कि मधुमती आदि शब्दों के अर्थ की व्युत्पत्ति (विश्लेषण) करके आपको संतुष्ट ही कर रहे हैं। सो, आप निर्भय होकर ध्यान से सुनें।

(२४ क. मधुमती-सिद्धि)

तत्र मधुमती नामाभ्यासवैराग्यादिवशादपास्तरजस्तमोलेश-सुखप्रकाशमयसत्त्वभावनया अनवद्यवैशारद्यविद्योतनरूपऋतंभर-प्रज्ञाख्या समाधिसिद्धिः। तदुक्तम्—'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (पात० यो० सू० १।४८)। ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते। तत्र स्थितौ दार्ढ्ये सति द्वितीयस्य योगिनः सा प्रज्ञा भवतीत्यर्थः।

उनमें मधुमती वह समाधि-सिद्धि है जिसमें अभ्यास और वैराग्य आदि के कारण रजस् और तमस् का लेश (थोड़ा अंश) भी न बचा हो, तथा सुखमय और प्रकाशमय सत्त्व (बुद्धिसत्त्व) की भावना (ज्ञान) से स्वच्छ स्थितिप्रवाह (अनवद्य वैशारद्य) प्रकाशित होता है जिसे दूसरे शब्दों में ऋतंभरा प्रज्ञा भी कहते हैं। कहा गया है—'उस अवस्था में ऋतंभरा (सत्य का भरण करने वाली) प्रज्ञा (ज्ञान) रहता है' (यो० सू० १।४८)। ऋत अर्थात् सत्य का जो भरण-पोषण करे, कभी भी विपर्यय (विरोधी) ज्ञान से आच्छादित न हो सके। उस अवस्था में (तत्र) = स्थिति में स्थिरता आ जाने पर, द्वितीय प्रकार के योगी (मधुभूमिक) लोगों की यह प्रज्ञा होती है। यही अर्थ है। [ऋतंभरा प्रज्ञा मधुभूमिक योगियों को प्राप्त होती है।]

चत्वारः खलु योगिनः प्रसिद्धाः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र-ज्योतिः प्रथमः। न त्वनेन परचित्तादिगोचरज्ञानरूपं ज्योतिर्वशी-कृतमित्युक्तं भवति। ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। परवैराग्यसंपन्नश्चतुर्थः।

योगियों के चार भेद प्रसिद्ध हैं—(१) प्राथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्तभावनीय। उनमें प्रथम अर्थात् प्राथम-कल्पिक योगी वह है जो अभ्यास में लगा हो तथा जिसका ज्ञान अभी केवल

प्रवृत्त हुआ है (परिपक्व नहीं—ज्ञान वश में नहीं हुआ है अतः वह दूसरों के चित्त का ज्ञान नहीं पा सकता)। कहना यह है कि उस योगी ने दूसरों के चित्त आदि में संचरित ज्ञान रूपी ज्योति को वश में नहीं किया है। द्वितीय अर्थात् **मधुभूमिक** योगी वह है जिसकी प्रज्ञा ऋतंभरा है। [इसने जीवों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है परन्तु जीतने की इच्छा करता है—इसे ही मधुमती नाम की योगसिद्धि कहते हैं।] तृतीय अर्थात् प्रज्ञाज्योति योगी वह है जिसने सभी भूतों (Beings) तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अन्त में **अतिक्रान्तभावनीय** योगी उसे कहते हैं जो परम वैराग्य से युक्त है। [यह योगी सभी प्रकार की भावनायें किये हुए है—अब इसके लिए कोई चीज भावनीय (ज्ञेय) नहीं। यह जीवन्मुक्त है। जो सभी भावनीय पदार्थों की सीमा पार कर चुका है वह अतिक्रान्तभावनीय है।]

(२४ ख. अन्य सिद्धियाँ—मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा)

मनोजवित्वादयो मधुप्रतीकसिद्धयः। तदुक्तं—'मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च' (पात० यो० सू० ३।४८) इति। मनोजवित्वं नाम कायस्य मनोवदनुत्तमो गतिलाभः। विकरणभावः कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविषयापेक्षवृत्तिलाभः। प्रधानजयः प्रकृतिविकारेषु सर्वेषु वशित्वम्।

एताश्च सिद्धयः करणपञ्चकरूपजयात्तृतीयस्य योगिनः प्रादुर्भवन्ति। यथा मधुनः एकदेशोऽपि स्वदते तथा प्रत्येकमेव ताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः।

मधुप्रतीका सिद्धि—मन के समान वेगवान् (मनोजवी) हो जाना आदि सिद्धियाँ मधुप्रतीक के अन्तर्गत हैं। इन्हें कहा गया है—'मन के समान वेगवान् होना, इन्द्रियों से रहित हो जाना तथा प्रकृति पर विजय पाना' (यो० सू० ३।४८)। मन के समान वेगवान् होने का अर्थ है शरीर का मन की तरह अत्युत्तम (न उत्तमः यस्मात्) गति की प्राप्ति करना। विकरण-भाव का अर्थ है शरीर की अपेक्षा रखे ही बिना इन्द्रियों का अभीष्ट देश और काल में स्थित विषयों से सम्बन्ध-ज्ञान पा लेना। प्रधानजय का अर्थ है प्रकृति के जितने विकार संसार में हैं उन सबों को वश में कर लेना।

ये सिद्धियाँ [पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच ग्रहण आदि] रूपों की विजय कर लेने से तृतीय कोटि के योगी (प्रज्ञाज्योति) में प्रादुर्भूत होती हैं। [इन्द्रियों के पाँच

रूप हैं—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व। निश्चय, अभिमान, संकल्प, दर्शन, श्रवण आदि वृत्तियाँ ग्रहण के अन्तर्गत हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ स्वरूप हैं। बुद्धि और अहंकार को अस्मिता कहते हैं। कारण का ज्ञान करना अन्वय है जैसे घट में मिट्टी का। इन्द्रियों की प्रकृति के रूप में जो गुण हैं उनमें पुरुषार्थ-सिद्धि की जो शक्ति है वही अर्थवत्त्व है। इन्द्रियों के इन रूपों की विजय प्राप्त कर लेने से ही प्रकृति आदि पर विजय होती है। केवल इन्द्रियों की विजय से प्रकृति आदि पर अधिकार नहीं हो सकता।] जैसे मधु का कोई भी भाग स्वाद में अच्छा होता है उसी प्रकार इन सिद्धियों में प्रत्येक का स्वाद अच्छा ही होता है—इसीलिए इन्हें मधुप्रतीक (Symbol of honey) कहा गया है।

सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपा विशोका सिद्धिः। तदाह—'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च' (पात० यो० सू० ३।४९) इति। सर्वेषां व्यवसायाव्यवसायात्मकानां गुणपरिणामरूपाणां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। तदुक्तं—'विशोका वा ज्योतिष्मती' (पात० यो० सू० १।३६) इति।

विशोका सिद्धि—सभी भावों (सत् पदार्थों) का स्वामी बन जाना आदि के रूप में प्राप्त योगसिद्धि विशोका है। इसे कहा है—'केवल चित्त और पुरुष का भेद जानने से ही सभी भावों पर आधिपत्य और सर्वज्ञता भी प्राप्त होती है' (यो० सू० ३।४९)। व्यवसायात्मक (प्रकाशात्मक भाव अर्थात् इन्द्रियाँ और अव्यसायात्मक (जड पदार्थ—इन्द्रियों के विषय शब्दादि, उनके आश्रय पृथिवी आदि) भाव जो तीनों गुणों के परिणाम (विकार) हैं उनके ऊपर स्वामी के समान अधिकार रखना (आक्रमण) 'सभी भावों का आधिपत्य' कहलाता है। इन्हीं भावों का, जो शान्त (भूत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (भविष्यत्) धर्मों से युक्त होकर अवस्थित हैं, विवेक ज्ञान होना सर्वज्ञता है। [उपर्युक्त भावों में शान्त आदि धर्म रहते हैं, यदि उन भावों का ज्ञान धर्म से भिन्न रूप में हो गया तो 'सर्वज्ञता' मिल गई। कुछ धर्म शान्त हैं अर्थात् अपना व्यापार करके अतीत के क्षेत्र में चले गये हैं। कुछ धर्मों का व्यापार अभी चल रहा है ये उदित हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका व्यापार अभी आरम्भ नहीं हुआ है, शक्ति के रूप में जो अवस्थित हैं, जिनके विषय में कुछ भी कहना—उनका नाम (व्यपदेश) लेना भी सम्भव नहीं है। इन तीनों

धर्मों से धर्मी का भेद करके ज्ञान पाना विवेकज्ञान है। तात्पर्य यह है कि सभी वस्तुओं और उनके धर्मों का अलग-अलग ज्ञान पाना 'सर्वज्ञता' है।]

उसे कहा है—'अथवा शोक से रहित ज्योतिष्मती (योगज साक्षात्कार के रूप में अन्तःकरण की वृत्ति) [मन में स्थिरता उत्पन्न करती है'—यो० सू० १।३६]। (यह सिद्धि अतिक्रान्तभावनीय नामक चतुर्थ योगी को प्राप्त होती है।)

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये परं वैराग्यमाश्रितस्य जात्यादिबीजानां क्लेशानां निरोधसमर्थो निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातपदवेदनीयः संकारशेषताव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। तदुक्तं—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पात० यो० सू० १।१८) इति। एवं च सर्वतो विरज्यमानस्य तस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेशबीजानि निर्दग्धशालिबीजकल्पानि प्रसवसामर्थ्यविधुराणि मनसा सार्धं प्रत्यस्तं गच्छन्ति।

सभी वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर, जो योगी परम वैराग्य से युक्त हो गया है उसे बीज (वस्तु-ज्ञान) से रहित समाधि मिलती है जो जाति [आयु, भोग के] बीज के रूप में विद्यमान क्लेशों को रोकने में समर्थ है। इस समाधि को 'असंप्रज्ञात' शब्द के द्वारा भी जानते हैं और यह 'संस्कारशेषता' के नाम से पुकारी जाने वाली चित्त की एक अवस्था है। [असंप्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हुए] यह कहा गया है—'विराम-प्रत्यय का अभ्यास करने के बाद [जब ऐसा वृत्ति-निरोध हो कि केवल] संस्कार ही शेष रह जाय तब उसे असंप्रज्ञात (संप्रज्ञात से भिन्न, दूसरा) समाधि कहते हैं।' (यो० सू० १।१८) [तत्त्वज्ञान की जहाँ पर सीमा हो, वह विराम-प्रत्यय है। ज्ञान में एक अलंबुद्धि उत्पन्न होती है कि अब वृत्ति का विराम हो जाय। इस अवस्था में वृत्ति का संस्कार शेष रहता है जिससे वह फिर से उठ सके। वृत्ति स्वयं नहीं रहती। मोक्ष की दशा में तो चित्त का अत्यन्त ही विलयन हो जाता है।]

इस प्रकार जो पुरुष श्रेष्ठ (योगी) सभी तरफ से विरक्त हो जाता है उसके बीज जले हुए धान के बीजों की तरह हो जाते हैं, वे पुनः उत्पादन की शक्ति से रहित होकर मन (चित्त) के साथ ही साथ समाप्त हो जाते हैं। [चित्त की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उनके साथ ही क्लेश के बीज भी।]

(२५. कैवल्य की प्राप्ति—प्रकृति और पुरुष को)

तदेतेषु प्रलीनेषु निरुपप्लवविवेकख्यातिपरिपाकवशात् कार्य-

कारणात्मकानां प्रधाने लयः, चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वाभिसंबन्धविधुरा वा कैवल्यं लभत इति सिद्धम् । द्वयी च मुक्तिरुक्ता पतञ्जलिना—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः' (पात० यो० सू० ४।३४) इति । न चास्मिन्सत्यपि कस्मान्न जायते जन्तुरिति वदितव्यम् । कारणाभावात्कार्याभाव इति प्रमाणसिद्धार्थे नियोगानुयोगयोरयोगात् ।

तो, इन सबों के (क्लेशबीज कर्माशयों के) प्रलीन हो जाने पर (अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाने पर), उपद्रवों से रहित [प्रकृति-पुरुष में] भेदज्ञान के परिपाक के कारण, कार्य और कारण के रूप में विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकृति में लय हो जाने से [प्रकृति को कैवल्य मिलता है ।] इसके अतिरिक्त, चितिशक्ति (आत्मा) जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है तथा फिर से बुद्धितत्त्व के साथ संबन्ध नहीं हो पाता तो उसे (पुरुष को) भी कैवल्य मिलता है, यह सिद्ध हुआ ।

पतंजलि ने दोनों प्रकार की मुक्तियों का वर्णन किया है—'पुरुषार्थ से शून्य हो गये गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना (प्रतिप्रसव = जहाँ से आये वहीं चला जाना) अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है ।' (यो० सू० ४।३४) । [गुणों की प्रवृत्ति पुरुषों के भोग या अपवर्ग के लिए होती है जो पुरुषार्थ हैं । इन्हीं पुरुषार्थों के लिए सत्त्वादि गुण विभिन्न रूपों में परिणत होते हैं । पुरुष को परम पुरुषार्थ मिल गया तो ये गुण कृतार्थ हो जाते हैं तथा अपने मूल रूप—प्रधान या प्रकृति—में विलीन हो जाते हैं । तब अकेली प्रकृति बच जाती है—इसे **प्रकृति का कैवल्य** (अकेला हो जाना) कहते हैं । दूसरी ओर, बुद्धितत्त्व से संबन्ध न रहने के कारण जब पुरुष केवल चितिशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसे **पुरुष का कैवल्य** कहते हैं । सांख्य-दर्शन में स्वीकृत दो तत्त्वों को योग भी मानता है अतः दोनों का अलग-अलग कैवल्य माना गया है । कैवल्य कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि केवल चेतन को ही मिले । कैवल्य का अर्थ है अकेला हो जाना, अपनी सारी दुकान समेट लेना ।]

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि कैवल्य हो जाने पर भी प्राणी का जन्म क्यों नहीं होगा । यह बात तो प्रमाणों से सिद्ध है कि कारण (क्लेशबीज) के

अभाव से कार्य (जन्म, मरणादि) का अभाव होता है। इस सिद्ध बात के लिए न तो नियोग (विधि, अपूर्व वस्तु का बोधक) संभव है न अनुयोग (प्रश्न) ही। [जो बात सभी जानते हैं उसके लिए विधि नहीं दी जाती। कैवल्य पाने के बाद जन्म नहीं होता—यह बात भी वैसी ही है, कहने की आवश्यकता नहीं। प्रश्न भी अज्ञात वस्तु के लिए ही किया जाता है। प्रस्तुत वस्तु को जानने के लिए प्रश्न करना भी व्यर्थ है।]

अपरथा कारणाभावेऽपि कार्यसम्भवे मणिवेधादयोऽन्धादिभ्यो भवेयुः। तथा चानुपपन्नार्थतायामाभाणको लौकिक उपपन्नार्थो भवेत्। तथा च श्रुतिः—'अन्धो मणिमविन्दत्। तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्। तमजिह्वा असश्चत' (तै० आ० १।११।५)। अविन्ददविध्यत। आवयद् गृहीतवान्। प्रत्यमुञ्चत् पिनद्धवान्। असश्चताभ्यपूजयत्, स्तुतवानिति यावत्।

यदि ऐसा न हो और कारण के न रहने पर भी कार्य होने लगे (क्लेशबीज न रहने पर भी जन्म-मरण होने लगे) तो अन्धे भी मणि में छेद करने लग जायँगे [क्योंकि अवलोकन का कारण अर्थात् आँखों के न रहने पर भी उसका कार्य मणिवेध आदि संभव हो सकेगा।] असंभव वस्तु का उदाहरण देने के लिए दिया गया यह लौकिक दृष्टान्त भी संभव हो जायगा। जैसा कि श्रुति में कहा है—'किसी अन्धे ने मणि का वेध (छेद) किया। किसी अंगुलिरहित व्यक्ति ने उसे पकड़ा (उसे ग्रथित किया)। किसी ग्रीवाहीन व्यक्ति ने उसे पहना और किसी जिह्वाहीन ने उसकी प्रशंसा की।' (तैत्तिरीय आरण्यक, १।११।५)। अविन्दत् = वेध किया। आवयत् = पकड़ा (गूँथा)। प्रत्यमुञ्चत् = पहना। असश्चत = प्रशंसा की, स्तुति की। [वास्तव में कोई पुरुष आँखों से मणि देखकर, उसे उँगलियों से पकड़कर, गले में पहन कर जीभ से प्रशंसा करता है। चिदाकार आत्मा उन अंगों से रहित होकर भी उन सारे व्यापारों को करती है क्योंकि इसकी शक्ति अचिन्त्य है। यही उस श्रुति का अर्थ है। यहाँ चिदात्मा की प्रशंसा है कि यह असंभव कार्य भी करती है। यदि कारण न रहने पर भी कार्य होता तो यहाँ प्रशंसा का अवकाश नहीं था। यहाँ पर माधवाचार्य इसे बिल्कुल भौतिकवादी अर्थ में लेते हैं।]

(२५ क. योगशास्त्र के चार पक्ष)

एवं च चिकित्साशास्त्रवद् योगशास्त्रं चतुर्व्यूहम् । यथा चिकित्साशास्त्रं रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेषजमिति, तथेदमपि संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखमयः संसारो हेयः । प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयभोगहेतुः । तस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् । तदुपायः सम्यग्दर्शनम् । एवमन्यदपि शास्त्रं यथासंभवं चतुर्व्यूहमूहनीयमिति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पातञ्जलदर्शनम् ॥



इस प्रकार चिकित्साशास्त्र की तरह योगशास्त्र के चार पक्ष (Aspects) हैं । जैसे रोग, रोग के कारण, आरोग्य और औषधि; इन चारों पक्षों को मिलाकर चिकित्साशास्त्र कहलाता है उसी प्रकार योगशास्त्र भी संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के उपाय को मिलाने से बनता है ।

उनमें दुःखों से निर्मित संसार हेय है। प्रकृति (बुद्धि) और पुरुष का संयोग इस हेय (संसार) के भोग का कारण है। [बुद्धि और पुरुष का संयोग होने से अविद्या संसार का निर्माण करती है ।] उससे सदा के लिए बच जाना मुक्ति है। उसका उपाय है सम्यक् दर्शन (अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान)। इसी तरह दूसरे शास्त्रों को भी यथासंभव चतुर्व्यूह सिद्ध कर सकते हैं—सब कुछ स्पष्ट ही तो है ।

विशेष—योग के चतुर्व्यूह की तुलना बुद्ध के चार आर्यसत्यों से की जा सकती है । जिन प्रतियों में शांकरदर्शन नहीं मिलता उनमें यहाँ पर यह लिखा हुआ मिलता है—'इतः परं सर्वदर्शनशिरोमणिभूतं शांकरदर्शनमन्यत्रलिखितमित्यत्रोपेक्षितमिति' । वास्तव में यह लिपिकार की करनी है। इसका विवेचन भूमिका में किया गया है ।

इस प्रकार सायण-माधव के सर्वदर्शन-संग्रह में पातंजल-दर्शन समाप्त हुआ ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पातञ्जलदर्शनमवसितम् ॥



(१६) शांकर-दर्शनम्

ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपं
मायेशशक्तिरखिलं जगदातनोति ।
जीवोऽपि भाति पृथगत्र तथैव चैको-
ऽद्वैताश्रितं खलु नमाम्यथ शंकरं तम् ॥—ऋषिः ।

(१. परिणामवाद-खण्डन—प्रकृति की सिद्धि अनुमान से असंभव)

सोऽयं परिणामवादः प्रामाणिकगर्हणमर्हति । न ह्यचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं प्रवर्तते । सुवर्णादौ रुचकाद्युपादाने हेमकारादिचेतनाधिष्ठानोपलम्भेन नित्यत्वसाधककृतकत्ववत्सुख-दुःखमोहात्मनान्वितत्वादेः साधनस्य साध्यविपर्ययव्याप्ततया विरुद्धत्वात् ।

[सांख्य-योग दर्शनों में माना गया] यह परिणामवाद का सिद्धान्त प्रमाणों की दृष्टि से निन्दनीय (खण्डनीय) है । अचेतन प्रकृति (प्रधान) बिना किसी चेतन सत्ता का आश्रय लिये हुए प्रवृत्त नहीं हो सकती । स्वर्णादि से जो कंगन आदि बनाने के लिए उपादान (Material) कारण हैं, [इन आभूषणों का निर्माण करने के समय] स्वर्णकार आदि चेतन आधार प्राप्त होते हैं । 'सुख, दुःख और मोह के रूप से युक्त होना' आदि* जो साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है उसकी व्याप्ति तो साध्य के विरुद्ध स्थानों में भी है । [यहाँ सांख्यों के अनुसार साध्य है—चेतन सत्ता का बिना सहारा लिये हुए ही प्रकृति का सुख, दुःख और मोहात्मक पदार्थों का कारण होना । इसका उलटा है—चेतन सत्ता का सहारा लेकर सुख, दुःख और मोहात्मक पदार्थों का कारण बनना । उपर्युक्त साधन (हेतु) अर्थात् 'सुख, दुःख और मोह से युक्त होना' इसी साध्य-विपर्यय से व्याप्त होता है । दूसरे शब्दों में—सुखादि से युक्त वही होगा जो चेतन का सहारा लेकर सुखादि से युक्त पदार्थों का कारण बन सकता है। यदि

---

* देखिए, सांख्यदर्शन—'ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्। तथा च प्रयोगः–विमतं भावजातम्···' इत्यादि । (पृ० ६४०) ।

साधन साध्याभाव से व्याप्त हो तो विरुद्ध हेतु नाम का हेत्वाभास होता है ।] अतः यहाँ पर उसी प्रकार का विरुद्ध हेतु है जिस तरह किसी वस्तु को नित्य सिद्ध करने के लिए हेतु दें कि 'यह उत्पन्न होती है' । [उत्पन्न होने से तो कोई वस्तु अनित्य (साध्याभाव) ही सिद्ध हो जायगी, नित्य नहीं । उसी तरह सांख्यों के द्वारा, यह सिद्ध करने के लिए कि प्रकृति चेतन की सहायता नहीं लेते हुए भी सुखादि से युक्त पदार्थों को उत्पन्न करती है, दिया गया साधन ठीक उलटी चीज की ही सिद्धि कर देगा ।]

स्वरूपासिद्धत्वाच्च । आन्तराः खल्वमी सुखदुःखमोहा बाह्येभ्यश्चन्दनादिभ्यो विभिन्नप्रत्ययवेदनीयेभ्यो व्यतिरिक्ता अध्यक्षमीक्ष्यन्ते । यद्यमी सुखादिस्वभावा भवेयुस्तदा हेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात् । न हि चन्दनः कदाचिदचन्दनः । तथा निदाघेष्वपि कुङ्कुमपङ्कः सुखो भवेत् । न ह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति ।

इसके अतिरिक्त उक्त साधन स्वरूपासिद्ध भी है । ये सुख, दुःख और मोह आन्तरिक भाव (अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा ज्ञेय) हैं जब कि चन्दनादि पदार्थ बाह्य भाव (चक्षुः, श्रोत्र आदि बाहरी इन्द्रियों से ग्राह्य) हैं अतः ये (चन्दनादि) दूसरे प्रत्ययों (साधनों) के रूप में ज्ञेय होते हैं तथा सुखादि उनसे अलग रहकर इन्द्रियों के ऊपर दिखलाई पड़ते हैं । [स्वरूपासिद्ध वह हेतु है जो पक्ष में न रहे जैसे—शब्द एक गुण है क्योंकि यह चाक्षुष है । यहाँ चाक्षुषत्व-हेतु पक्ष (शब्द) में नहीं रहता है । उसी प्रकार चन्दनादि पदार्थों (पक्ष) में सुख, दुःख और मोह का अन्वय (हेतु) रखते हैं जो असिद्ध है । सुखादि आन्तर भाव हैं चन्दनादि बाह्य भाव । दोनों में एकता नहीं है अर्थात् एक ही (अन्तर या बाह्य) प्रत्यय से दोनों का बोध नहीं होता । सुख और विषय विभिन्न प्रत्ययों से ज्ञेय हैं अतः दोनों का एक ही स्वभाव नहीं हो सकता । दोनों को एक मान लेने पर दोष भी होता है ।]

यदि चन्दनादि का स्वभाव ही सुखादि होता तो हेमन्त काल में भी चन्दन सुख ही देता । ऐसा तो नहीं होता कि चन्दन कभी अ-चन्दन हो जाता है । [स्वभाव का अर्थ निरन्तर सम्बन्ध होना ही है । यदि सुख चन्दन का स्वभाव है तो कभी छूटना नहीं चाहिए । तब क्या कारण है कि शीतकाल में वह सुखद नहीं होता ? अवश्य ही चन्दन सुख-स्वभाव नहीं है ।] उसी प्रकार ग्रीष्मकाल

में भी कुंकुम-लेप से सुख मिलता। ऐसी बात तो नहीं होती कि कभी-कभी कुंकुम का लेप अपना स्वभाव (सुख) छोड़कर अकुंकुम-लेप हो जाता है।

एवं कण्टकः क्रमेलकस्येव मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। न ह्यसौ काँश्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्माच्चन्दनकुङ्कुमादयो विशेषाः कालविशेषाद्यपेक्षया सुखादिहेतवो न तु सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्। तस्माद्धेतुरसिद्ध इति सिद्धम्।

इसी प्रकार काँटा जैसे ऊँट को सुख देता है उसी प्रकार मनुष्यादि प्राणियों को भी सुख देने लगता। ऐसी बात नहीं है कि कुछ लोगों के लिए ही वह काँटा (दुःखद) है। इसलिए चंदन, कुंकुम आदि पदार्थ (विशेष) किसी विशेष काल आदि में (उन पर निर्भर करके ही) सुख, दुःख, मोह उत्पन्न करते हैं, ऐसी बात नहीं कि उनका स्वभाव ही सुखादि है—यह जानना चाहिए। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उक्त हेतु (सुखादि-उत्पादक होना) असिद्ध है। [तात्पर्य यह है कि प्रकृति को सुखादि के रूप में सांख्य लोग तभी सिद्ध करते हैं जब संसार के पदार्थों को सुखादि-उत्पादक मानें। लेकिन हम ऊपर सिद्ध कर चुके कि कोई भी पदार्थ स्वभावतः सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक नहीं है। परिस्थितियाँ उसे वैसा बना देती हैं। अतः प्रकृति को सिद्ध करने वाले अनुमान में हेतु ही असिद्ध (Unproved) है। अब प्रधान के लिए दिये गये श्रुतिप्रमाण का भी खंडन करते हैं।]

(१ क. प्रकृति के लिए श्रुति-प्रमाण भी नहीं है)

नापि श्रुतिः प्रधानकारणत्ववादे प्रमाणम्। यतः—'यदग्ने रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छान्दोग्य० ६।४।१) इति च्छान्दोग्यशाखायां तेजोऽबन्नात्मिकायाः प्रकृतेर्लोहितशुक्लकृष्णरूपाणि समाम्नातानि तान्येवात्र प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्र श्रौतप्रत्यभिज्ञायाः प्राबल्याल्लोहितादिशब्दानां मुख्यार्थसंभवाच्च तेजोऽबन्नात्मिका जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जचतुष्टयस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिरवसीयते।

प्रधान (प्रकृति) को [जगत् का] कारण बतलाने वाले सिद्धान्त [की पुष्टि] के लिए श्रुति भी प्रमाण नहीं हो सकती। कारण यह है कि छान्दोग्य-

शाखा में—'अग्नि का जो लाल रूप है वह तेज का रूप है, उजला रूप जल का और काला रूप अन्न का है' (छां० ६।४।१)—इस प्रकार तेज, जल और अन्न रूपी प्रकृति के लाल, उजला और काला, ये तीन रूप दिये गये हैं; वे तीनों रूप ही यहाँ (= 'अजामेकाम्' श्वे० ४।५ में) भी प्रत्यभिज्ञा (Recognition) से जाने जाते हैं (= वही अर्थ यहाँ भी है)। यहाँ पर एक तो वैदिक प्रत्यभिज्ञा (ऊपर के अनुसार) प्रबल है, दूसरे लोहित आदि शब्दों में मुख्यार्थ ग्रहण करना संभव भी है। [सांख्य में लोहित आदि शब्दों का मुख्यार्थ न लेकर लक्षणा से, रञ्जकत्व आदि धर्मों की समानता देखकर इनका अर्थ रजस्, सत्त्व, तमस् (तीन गुण) के रूप में किया गया है। परंतु शंकराचार्य इनका खंडन करके कहते हैं कि जब मुख्य अर्थ लेना संभव हो है, तब लक्षणा क्यों लें ?] इसलिए इस श्रुति (छां० ६।४।१) का अर्थ यही हुआ कि तेज, जल और अन्न-रूपी प्रकृति ही जरायुज (गर्भाशय से उत्पन्न), अण्डज (पक्षी, सर्प, मछली आदि), स्वेदज (पसीने या गर्मी से उत्पन्न—कीड़े, मच्छड़, खटमल आदि) तथा उद्भिज्ज (पृथ्वी को फाड़कर निकलनेवाले—पेड़-पौधे), इन चारों प्रकार के जीवसमूह का कारण है।

यद्यपि तेजोऽबन्नानां प्रकृतेर्जातत्वेन योगवृत्त्या न जायत इत्यजत्वं न सिध्यति, तथापि रूढिवृत्त्यावगतमजात्वमुक्तप्रकृतौ सुखावबोधाय प्रकल्प्यते। यथा 'असौ वादित्यो देवमधु' (छान्दोग्य० ३।१।१) इत्यादिवाक्येनादित्यस्य मधुत्वं परिकल्प्यते, तथा तेजोऽबन्नात्मिका प्रकृतिरेवाजेति। अतोऽजामेकामित्यादिका श्रुतिरपि न प्रधानप्रतिपादिका।

चूँकि तेज, जल और अन्न प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं इसलिए यद्यपि इन्हें 'न जन्म लेनेवाला' कहकर यौगिक संज्ञा (वृत्ति) के रूप में 'अजा' नहीं कह सकते, तथापि रूढि-संज्ञा के रूप में उस प्रकृति को अजा (बकरी) इसलिए कहते हैं कि आसानी से समझ में आ जाये। [उपर्युक्त श्रुति में 'अजा' शब्द आया है। अजा के दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। एक तो रूढिवृत्ति (Convention) से बकरी के अर्थ में, दूसरा योगरूढि से 'न जन्म लेनेवाली प्रकृति' के अर्थ में, जो पुरुष के अलावे दूसरा तत्त्व है (सांख्य में)। शांकर दर्शन में 'अजा' को केवल रूढि-अर्थ में ही लेते हैं जिससे 'बकरी' अर्थ ही निष्पन्न होता है। बकरी के अर्थ में अजा-शब्द रूपक के द्वारा प्रमेय का आसानी से बोध कराता है। 'यह ब्राह्मण सूर्य है' जैसे इस रूपक-वाक्य में

ब्राह्मण में वर्तमान तेजस्विता का प्रतिपादन करना अभीष्ट है तथा सूर्य के रूपक से प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अजा (बकरी) का बहुत से एक तरह के बच्चे उत्पन्न करने का रूपक लेने से यह ज्ञात होता है कि तेज, जल और अन्न से बनी हुई भूतप्रकृति भी बहुत से सरूप विकारों को उत्पन्न करती है ।] जैसे—'वह आदित्य देवताओं का मधु है' (छां० ३।१।१) इसमें तथा अन्य वाक्यों में आदित्य के मधु (मोहक—देवमोहक) होने की कल्पना की गई है वैसे ही तेज, जल और अन्न से निर्मित प्रकृति ही अजा है । [अग्नि में दी गई आहुति आदित्य के पास उपस्थित होती है । इस नियम से अग्नि में दिये गये सोम, घृत, दूध आदि द्रव्यों की आहुति किरणों के द्वारा रस के रूप में आदित्य के पास पहुँचती है । जैसे मधुकर फूलों से रस लेकर मधु का संचय करते हैं वैसे ही मंत्ररूपी मधुकर वेदों में कहे गये कर्मरूपी फूलों से, द्रव्यों से निष्पन्न अमृत, किरणों के द्वारा सूर्यमंडल में ले आते हैं । इस आदित्यामृत को देखकर देवता तृप्त होते हैं । यही कारण है कि आदित्य को मधु कहा गया है ।]

इसलिए 'अजामेकाम्' (श्वे० ४।५) इत्यादि श्रुति भी प्रधान (प्रकृति) का प्रतिपादन करनेवाली नहीं है ।

विशेष—'अजा' का अर्थ अजन्मा न लेकर बकरी (छाग) लेने से शंकर को मौका मिल जाता है कि प्रकृति को एक पृथक् तत्त्व स्वीकार न करके दृश्यमान जगत् में व्यावहारिक वस्तु मान लेंगे । यदि प्रकृति अजा (अजन्मा) होती तो ब्रह्म की तरह ही इसकी स्वतंत्र सत्ता माननी पड़ती । इस प्रकार सांख्य-दर्शन में प्रकृति की सिद्धि के लिए दी गई श्रुति का दूसरा अर्थ लेकर श्रुति-प्रमाण से भी प्रकृति की सिद्धि नहीं होने दी गई । शांकर-दर्शन में प्रकृति संसार को कहते हैं जो पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है ।

(१ ख. सांख्य-दर्शन के दृष्टान्त का खण्डन)

यदवादि निदर्शनं पूर्ववादिना—क्षीरादिकमचेतनं चेतनानधिष्ठितमेव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तत इति । नैतद्रमणीयम् । बुद्धिविशेषशालिनः परमेश्वरस्य तत्राप्यधिष्ठातृत्वाभ्युपगमात् । न च परमेश्वरस्य करुणया प्रवृत्त्यङ्गीकारे प्रागुक्तविकल्पावसरः । सृष्टेः प्राक् प्राणिनां दुःखसंबन्धासंभवेऽपि तन्निदानादृष्टसंबन्धसंभवेन तत्प्रहाणेच्छया प्रवृत्त्युपपत्तेः ।

[उक्त प्रकृति की सिद्धि के लिए] पूर्वपक्षी (सांख्य) ने जो उदाहरण दिया

है कि दूध आदि अचेतन होने पर भी तथा चेतन का बिना सहारा लिये ही बच्चे के पोषण के लिए [माता के स्तन में] उतर आते हैं, वह उदाहरण ठीक नहीं है। कारण यह है कि एक प्रकार की बुद्धि लिये हुए परमेश्वर वहाँ भी अधिष्ठाता (आधार) के रूप में मानना ही पड़ता है।

यदि 'करुणा (दया) के कारण ईश्वर की प्रवृत्ति होती है' ऐसा मानें तो आपके द्वारा आरोपित विकल्पों को अवसर नहीं मिलता। [सांख्य-दर्शन में ईश्वर की 'करुणया प्रवृत्ति' की हँसी उड़ाई गई है।* उसमें कहा गया है कि यदि करुणा से ईश्वर की प्रवृत्ति मानते हैं तो दो विकल्प हैं, उनमें कोई तो ठीक होता। पर दोनों ही परास्त हो जाते हैं। वे विकल्प हैं—(१) परमेश्वर सृष्टि के पूर्व ही करुणा से प्रवृत्त होता है, (२) परमेश्वर सृष्टि के बाद करुणा से प्रवृत्त होता है। शंकराचार्य इस 'करुणया प्रवृत्ति' को मानते हैं। इसलिए कहते हैं कि आपके आरोपित विकल्प नहीं लग सकेंगे।]

सृष्टि के पूर्व यद्यपि प्राणियों का सम्बन्ध दुःख से नहीं है [जिन्हें दूर करने के लिए ईश्वर में करुणा उत्पन्न होगी], तथापि दुःखों के निदान (कारण रूप) अदृष्ट के साथ तो सम्बन्ध होना सम्भव है। बस, उसी [अदृष्ट] को नष्ट करने की इच्छा से [ईश्वर की] प्रवृत्ति सिद्ध की जा सकती है। [सांख्य में उक्त विकल्पों में प्रथम के साथ यह आपत्ति थी कि सृष्टि के पूर्व तो जीवों में शरीर है नहीं और दुःख शरीर पर ही निर्भर करता है। अतः जीवों में जब दुःख ही नहीं है तो ईश्वर में दुःख-हरण की इच्छा ही क्यों उत्पन्न होगी ? इसी का उत्तर शंकर ने दिया है।]

किं च पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रधानप्रवृत्तिरित्युक्तं तद्विवेक्तव्यम्। किं प्रधानं केवलं भोगार्थं प्रवर्तते किं वा केवलमोक्षार्थमाहोस्विदुभयार्थम् ? न तावदाद्यः कल्पोऽवकल्पते। अनाधेयातिशयस्य कूटस्थनित्यस्य पुरुषस्य तात्त्विकभोगासंभवात्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। येन हि प्रयोजनेन प्रधानं प्रवर्तितं तदनेन विधातव्यम्। भोगेन चैतत्प्रवर्तितमिति तमेव विदध्यान्न मोक्षमिति।

---

* देखिये—सां० द०—यस्तु परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्रावेण गतः। विकल्पानुपपत्तेः। स किं सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा ? (पृ० ६४४)।

इसके अतिरिक्त आपने (सांख्य-दार्शनिकों ने) जो कहा है कि पुरुष के काम के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है, उसका विश्लेषण (स्पष्टीकरण) कीजिये। क्या प्रधान केवल भोग के लिए प्रवृत्त होता है या केवल मोक्ष के लिए या दोनों कामों के लिए ?

पहला विकल्प ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि जो पुरुष अतिशय* (सुखप्राप्ति, दुःखनिरोध आदि के अतिशय) से रहित है तथा जो कूटस्थ (निर्विकार) एवं नित्य भी है उसका तात्त्विक भोग (प्रकृति के द्वारा परिणत तत्त्वों का भोग) असंभव है। दूसरे, ऐसा होने से पुरुष को मोक्ष-प्राप्ति का कभी अवसर ही नहीं मिलेगा। प्रधान जिस काम के लिए प्रवृत्त हुआ है वही काम तो वह करेगा न ? यदि प्रधान [पुरुष के] भोग के लिए प्रवृत्त हुआ है तो वही विहित होगा, मोक्ष नहीं [क्योंकि पुरुष के मोक्ष के लिए तो प्रधान प्रवृत्त हुआ ही नहीं है।]

नापि द्वितीयः । चिद्धातोर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावतया कर्मानुभववासनानामसंभवेन प्रधानप्रवृत्तेः प्रागपि मुक्ततया तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । शब्दाद्युपभोगार्थमप्रवृत्तत्वेन प्रधानस्य तदजनकत्वप्रसङ्गाच्च । नापि तृतीयः । प्रागुक्तदूषणलङ्घनालङ्घितत्वात् । प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगाच्च ।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि चेतन (पुरुष) का स्वभाव है नित्य रूप से शुद्ध, बुद्ध (जागृत) और 'मुक्त' रहना। कर्मों के अनुभव की छाप (वासना) उस पर नहीं पड़ सकती। वह प्रधान की प्रवृत्ति के पहले भी मुक्त ही है अतः [पुरुष के मोक्ष के लिए] प्रधान का प्रवृत्त होना असिद्ध है। [पुरुष विशुद्ध है अतः कर्मानुभव की वासनायें उस पर नहीं पड़ सकतीं। अनादि वासनाओं का आधार प्रकृति है। मुक्ति (स्वरूप में अवस्थिति) तो पुरुष को पहले से ही प्राप्त है। अतः फिर मुक्ति के लिए प्रकृति क्यों प्रयत्न करेगी ? इसके अतिरिक्त [जब पुरुष के मोक्ष के लिए ही प्रकृति प्रवृत्त होगी तब तो] शब्दादि के उपभोग के लिए उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी अतः प्रधान को शब्दादि का उत्पादक भी नहीं माना जा सकता।

तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त दोषों की परिधि से पार

---

* अतिशय = Excellences, विशेषतायें, सद्गुण।

हो ही नहीं सकते। [यदि प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और मोक्ष दोनों के लिए है तो भोग और मोक्ष दोनों में अलग-अलग लगाये गये दोष इस विकल्प में भी लग जायँगे। पुरुष कूटस्थ, नित्य तथा अतिशय-रहित है—वह तत्त्वों का भोग नहीं कर सकता। दूसरे, पुरुष स्वतः मुक्त है अतः प्रधान की प्रवृत्ति मोक्ष के लिये भी नहीं हो सकती। जब दोनों कामों के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति का पृथक्-पृथक् खण्डन हो जाता है तब दोनों कामों के लिए एक साथ भी प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।] इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि प्रकृति को उदासीन माना नहीं जा सकता। वास्तव में प्रवृत्त होना उसका स्वभाव ही है। [प्रवृत्ति=कार्य के रूप में परिणाम। परिणाम चंचलता से ही होता है। जब पुरुष को मोक्ष प्राप्त हो जायगा तब प्रकृति को उदासीन मानना पड़ेगा लेकिन प्रकृति किसी भी दशा में उदासीन नहीं हो सकती। फलतः मोक्ष नाम की कोई चीज रहेगी ही नहीं।]

ननु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः पुरुषार्थः। तस्यां जातायां सा निवर्तते कृतकार्यत्वादिति चेत्—तदसमञ्जसम्। अचेतनायाः प्रकृतेर्विचार्य कार्यकारित्वायोगात्। यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे तदर्थं पुनः प्रवर्तते एवमत्रापि पुनः प्रवर्तेत। स्वभावस्यानपायात्।

यहाँ पर सांख्य वाले कह सकते हैं कि सत्त्व और पुरुष को अलग-अलग रूप में समझना पुरुषार्थ (पुरुष का लक्ष्य) है। जब [पुरुषार्थ की प्राप्ति या सत्त्व और पुरुष के बीच] भेदज्ञान हो जाता है तब प्रकृति अपना कार्य समाप्त करके निवृत्त ही हो जायगी। यह सिद्धान्त भी संगत नहीं है। प्रकृति अचेतन है इसलिए विचार करके वह काम नहीं कर सकती [कि निवृत्त हो जाय और प्रवृत्त हो जाय।] जिस तरह यह प्रकृति शब्दादि की प्राप्ति कर लेने पर भी शब्दादि के लिए ही पुनः प्रवृत्त होती है, उसी तरह यहाँ भी उसकी पुनः प्रवृत्ति हो सकेगी। अपना स्वभाव तो छूटता नहीं। [सत्त्व और पुरुष का भेदज्ञान हो जाना प्रकृति के जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता। उसके बाद प्रकृति इस तरह निवृत्त होगी कि पुनः कार्य नहीं कर सकेगी, ऐसी कोई बात नहीं। अचेतन प्रकृति अपने काम में लगी है—परिस्थितियों के वश में वह निवृत्त होती है और प्रवृत्त भी होती है। निवृत्त होने के बाद उसकी प्रवृत्ति फिर हो सकती है। प्रवृत्ति तो उसका स्वभाव है।]

किं च सा प्रकृतिर्विवेकख्यातिवशादुच्छिद्यते न वा? उच्छेदे सर्वस्य संप्रति संसारोऽस्तमियात्। अनुच्छेदे न कस्यचिन्मोक्षः।

ननु प्रधानाभेदेऽपि तत्तत्पुरुषविवेकख्यातिलक्षणाविद्यासदसत्त्वनिबन्धनौ बन्धमोक्षावुपपद्येयातामिति चेत्—हन्त तर्हि कृतं प्रकृत्या। अविद्यासदसद्भावाभ्यामेव तदुपपत्तेः।

इसके अतिरिक्त भी हमारा (अद्वैत वेदांतियों का) एक प्रश्न है कि विवेक-ज्ञान होने के बाद प्रकृति का नाश होता है या नहीं ? यदि नाश होता है तो सबों का होगा, पूरा संसार ही नष्ट हो जायगा। [प्रत्येक जीव में अलग-अलग प्रकृति नहीं है। जीवों के लिए एक ही प्रधान है। यदि यह प्रधान नष्ट हो जाय तो विवेकज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठेगा—सब के साथ जीव मुक्त हो जायँगे।] यदि प्रधान का नाश नहीं होता है तो किसी को मोक्ष मिल ही नहीं सकेगा।

[अब अपने प्रतिपाद्य विषय पर पहुँचने का उपक्रम हो रहा है। वह विषय है प्रकृति-तत्त्व का खण्डन करके संसार की व्याख्या करने के लिए अविद्या का प्रतिपादन करना। ये सांख्य वाले कह सकते हैं कि] यदि हम प्रधान को [प्रत्येक पुरुष में] भिन्न-भिन्न न भी मानें फिर भी प्रत्येक पुरुष में अविवेक-ज्ञान (विवेकज्ञान का अभाव) के रूप में जो अविद्या है उसके होने पर निर्भर करने वाले बन्धन (Bondage) की तथा न होने पर निर्भर करनेवाले मोक्ष (Release) की सिद्धि तो हो ही जाती है। हे महाराज ! तब आप प्रकृति को लेकर अपना सिर क्यों पीट रहे हैं, उसे छोड़ दीजिये। [प्रकृति को बिना माने ही] अविद्या के होने और न होने से ही उन दोनों (बन्धन-मोक्ष) की सिद्धि हो जायगी। [प्रकृति से जो काम होता है उसे अविद्या के द्वारा ही सिद्ध करना शंकराचार्य का लक्ष्य है। हाँ, अविद्या की अपेक्षा जहाँ पर प्रकृति में गुणों का आधिक्य है, उन गुणों का खण्डन कर देते हैं। जैसे प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए कार्यरूप में परिणत होती है, अविद्या नहीं। इसलिए प्रकृति के इस कार्य का खण्डन ही कर दिया गया।]

विशेष—यहाँ प्रकृति और अविद्या की तुलना दो विभिन्न दर्शनों के दृष्टि-कोणों से करनी आवश्यक है। प्रकृति सांख्य-योग में स्वीकृत है, अविद्या वेदान्त (अद्वैत) में। इस रूप-रेखा से कुछ स्पष्टीकरण सम्भव है—

प्रकृति	अविद्या
(१) प्रकृति एक स्वतंत्र तत्त्व है।	(१) अविद्या एक स्वतंत्र तत्त्व नहीं, ब्रह्म की शक्ति है।
(२) प्रकृति त्रिगुणात्मक है।	(२) अविद्या भी त्रिगुणात्मक है।
(३) प्रकृति अचेतन है।	(३) अविद्या भी अचेतन है।
(४) प्रकृति भावात्मक (Positive) है।	(४) अविद्या या आवरण और विक्षेप शक्तियों वाली माया भावात्मक ही है।
(५) प्रकृति संसार के प्रपंचों को उत्पन्न करती है।	(५) अविद्या भी संसार के प्रपंचों को उत्पन्न करती है।
(६) प्रकृति के कार्य सत् (Real) हैं।	(६) अविद्या के कार्य व्यावहारिक दृष्टि से सत् भले ही हों पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या हैं।
(७) पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए प्रकृति इतने कार्य उत्पन्न करती है (परिणत होती है)।	(७) अविद्या बंधन में डालने वाले कार्यों को उत्पन्न करती है।
(८) प्रकृति कार्य पूरा करके स्वयं निवृत्त हो जाती है	(८) जीव को अविद्या के नाश के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।
(९) प्रकृति के कार्यों का पुरुष साक्षी है।	(९) अविद्या के कार्यों का ब्रह्म या जीव साक्षी नहीं होता।
(१०) प्रकृति में कोई शक्ति वस्तु को छिपाने के लिए नहीं है।	(१०) अविद्या में आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं।
(११) प्रकृति स्वतंत्र तत्त्व होने के कारण अनादि है।	(११) अविद्या स्वतंत्र तत्त्व न होने पर भी अनादि है।
(१२) प्रकृति के कार्य परिणामवाद पर आधारित हैं।	(१२) अविद्या के कार्य विवर्तवाद पर आधारित हैं।
(१३) पुरुष को मुक्ति प्रकृति-पुरुष में भेद के ज्ञान से होती है।	(१३) जीव को मुक्ति अविद्या के नाश से ब्रह्म का शुद्ध रूप में ज्ञान से होती है।
(१४) प्रकृति सभी जीवों के लिए एक ही है।	(१४) अविद्या सभी जीवों में अलग-अलग है।

यहाँ केवल कुछ भेदों को ही स्थापित करने की चेष्टा की गई है। विद्वानों को उन दर्शनों में दिये गये विचारों से अधिक तथ्य भी मिल सकेंगे।

नन्वविद्यापक्षेऽप्येष दोषः प्रादुःष्यादिति चेत्—तदेतत्प्रत्यवस्थानमस्थाने। न हि वयं प्रधानवदविद्यां सर्वेषु जीवेष्वेकामाचक्ष्महे येनैवमुपालभ्येमहि। अपि त्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पद्यते तस्यैवाविद्या समुच्छिद्यते नान्यस्य। भिन्नायतनयोर्विरोधाभावात्।

अतो न समस्तसंसारोच्छेदप्रसङ्गदोषः। तस्मात्परिणामः परित्यक्तव्यः। स्वीकर्तव्यश्च विवर्तवादः।

अब यदि कोई पूर्वपक्षी कहे कि अविद्या को स्वीकार करने में भी तो [प्रकृति के ऊपर लगया गया] उक्त दोष आ ही जायगा, तो हमारा उत्तर है कि यहाँ पर उसका विचार करना ठीक नहीं। [अविद्या में दोष लगाना ठीक नहीं।] हम लोग प्रधान की तरह ही अविद्या को सभी जीवों में एक ही नहीं मानते, जिसके कारण आप लोग हम पर इस तरह उपालंभ (उलाहना, दोषारोपण) की वर्षा कर रहे हैं। अपितु अविद्या सभी जीवों में भिन्न-भिन्न है। [जिस जीव की अविद्या नष्ट हुई वह अपने स्वरूप अर्थात् ब्रह्म में लीन हो गया।] इसलिए जिस जीव की विद्या (ज्ञान) उत्पन्न होती है, उसी जीव की अविद्या नष्ट होती है, दूसरे जीव की नहीं। इन दोनों (जीवों की अविद्याओं) का आधार भिन्न-भिन्न है, इसलिए विरोध की संभावना नहीं। [एक जीव की अविद्या दूसरे जीव की अविद्या से अलग है। यदि दोनों एक ही रहती तो एक की अविद्या के नष्ट होने पर दूसरे की अविद्या भी नष्ट हो जाती—दूसरे की ही क्यों, पूरे संसार के जीव की अविद्या नष्ट होती और सभी लोग ही साथ मुक्त हो जाते। यह संसार चलता ही कैसे? प्रकृति एक होने के कारण ये दोष लगते हैं पर अविद्या में ऐसी कोई बात नहीं।]

अतः पूरे संसार के उच्छेद (समाप्ति) का प्रसंग आयगा ही नहीं, यह दोष [अविद्या मानने पर] नहीं हो सकेगा। फलतः परिणामवाद त्याज्य है। हमारा वितर्तवाद ही मानना चाहिए। [वस्तु जिस समय अपनी पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में आ जाती है तब उसे **परिणाम** कहते हैं जैसे–दूध का दही में परिणाम। सभी लोगों के लिए परिणाम एक ही रहता है। सभी लोग दूध का परिणाम दही में देखेंगे। प्रकृति का परिणाम कार्यों के रूप में होता है जिसे सभी जीव एक ही तरह से समझते हैं। यही कारण है कि एक जीव के मुक्त होने पर सभी जीवों के मुक्त होने का प्रसंग आ जाता है। विवर्त में ऐसी बात नहीं हो सकती। वस्तु जब अपनी पहली अवस्था का त्याग किये ही बिना

दूसरी अवस्था के रूप में केवल प्रतीत होती है तब उसे विवर्त कहते हैं जैसे सीपी में रजत की प्रतीति (भान, apprehension)। साधन के भेद से प्रत्येक जीव की प्रतीति अलग-अलग होती है। अतः एक की प्रतीति के निवारण से सबों की प्रतीति दूर हो जायगी—ऐसी बात नहीं।]

ननु जीवजडयोः सारूप्याभावेन चिद्विवर्तत्वं प्रपञ्चस्य न संपरिपद्यत इति प्रागवादिष्मेति चेत्—नैतत्साधु। न हि सारूप्यनिबन्धनाः सर्वे विभ्रमा इति व्याप्तिरस्ति। असरूपादपि कामादेः कान्तालिङ्गनादिष्विव स्वप्नविभ्रमस्योपलम्भात्। किं च कादाचित्के विभ्रमे सारूप्यापेक्षा नानाद्यविद्यानिबन्धने प्रपञ्चे।

[पूर्वपक्षी फिर शंका कर सकते हैं कि] जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं,—जीव और जड़ (संसार) में समरूपता न होने के कारण यह प्रपञ्च चित् (जीव) का विवर्त नहीं माना जा सकता। [सामान्यतः यह देखा जाता है कि जब किसी वस्तु की दूसरे रूप में मिथ्याप्रतीति होती है तो दोनों समरूपता होनी चाहिए। सीपी की प्रतीति रजत के रूप में होती है क्योंकि दोनों उजले हैं, ठोस हैं आदि। सीपी की प्रतीति लौह के रूप में क्यों नहीं होती? यदि संसार को जीव (ब्रह्म) का विवर्त मानते हैं तो दोनों में समरूपता होनी चाहिए परन्तु वह है कहाँ? एक जड़ है, दूसरा चेतन। अतः जगत् को चित् का विवर्त मानना गलत है। इस पर शंकर के अनुयायी कहते हैं कि] यह सोचना ठीक नहीं। ऐसी कोई व्याप्ति (निश्चित नियम, अविनाभाव सम्बन्ध) नहीं है कि सभी विभ्रम समरूपता के आधार पर ही होते हैं। काम आदि की वृत्तियाँ यद्यपि असरूप हैं [रूप से ही हीन हैं, सरूपता-असरूपता तो बाद की चीजें हैं] फिर भी स्वप्न में कान्ता का आलिंगन करने के जैसा भ्रम हो जाता है। [काम का अर्थ है तीव्र अभिलाषा के रूप में चित्त का चंचल होना। काम का अधिक ध्यान करने से स्वप्न में कान्तालिंगन का भ्रम होता है। जागृतावस्था में भी हो सकता है यदि भावना बहुत प्रबल हो जाय। स्पष्ट है कि काम का ही विवर्त कान्तालिंगन है। किन्तु काम-वृत्ति स्वयं तो नीरूप है—अतः रूपरहित का भी विवर्त होता है। आकाश रूपरहित है पर नीलापन आदि का भ्रम होता है। उसी तरह जीव और संसार की बात है। किसी तरह का साम्य दिखाकर तो समरूपता दिखाई जा सकती है। वास्तव में यह प्रश्न मनोविज्ञान का है। दो प्रकार की मिथ्या प्रतीति होती है—साधार और निराधार। साधार मिथ्याप्रतीति भ्रम (Illusion

है जिसमें किसी वस्तु की एक अवस्था दूसरी अवस्था के रूप में या सीपी चाँदी के रूप में जो दिखलाई पड़ती है वह भ्रम है। यहां रस्सी या सीपी की सत्ता है जो सारूप्य तथा मानसिक क्रियाओं के कारण बदली दिखाई पड़ती है। निराधार मिथ्या प्रतीति विभ्रम (Hallucination) है जिसमें किसी भी बाहरी वस्तु की सत्ता न होने पर भी केवल मानसिक क्रियाओं (भावना) के कारण किसी वस्तु की प्रतीति हो जाती है। कभी-कभी अपने कमरे में जगी अवस्था में भी हमें किसी व्यक्ति की उपस्थिति का भान हो जाता है। स्वप्न देखना, भूत-प्रेत देखना आदि ऐसी ही क्रियायें हैं। जहां तक भ्रम का सम्बन्ध है समरूपता होती है, किन्तु विभ्रम के लिए समरूपता नहीं, भावना चाहिए।]

दूसरी बात यह है कि कभी-कभी होने वाले विभ्रम में हमें समरूपता की आवश्यकता भले ही पड़े, अनादि-काल से चली आनेवाली अविद्या पर निर्भर करने वाले प्रपंच (संसार) के विषय में हमें ऐसे (सारूप्य) की कोई आवश्यकता ही नहीं।

तदवोचदाचार्यवाचस्पतिः--

१. विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥ इति।

तदेतत्सर्वं वेदान्तशास्त्रपरिश्रमशालिनां सुगमं सुघटं च।

इसे आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—'यह प्रपंच (संसार) तो अपरिणामी ब्रह्म का विवर्त है तथा अनादि वासना (छाप, अविद्या) से उत्पन्न होने के कारण समरूपता की आवश्यकता ही नहीं है।' यह सब कुछ वेदान्त-शास्त्र में परिश्रम करने वाले लोगों के लिए सुगम तथा मान्य है।

(२. वेदान्त सूत्र की विषय-वस्तु)

तच्च वेदान्तशास्त्रं चतुर्लक्षणम्। भगवता बादरायणेन प्रणीतस्य वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं विषय इति शंकराचार्याः प्रत्यपीपदन्। तत्र प्रथमे समन्वयाध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येण पर्यवसानम्। द्वितीयेऽविरोधाध्याये सांख्यादितर्कविरोधनिराकरणम्। तृतीये साधनाध्याये ब्रह्मविद्यासाधनम्। चतुर्थे फलाध्याये विद्याफलम्।

वह वेदान्तशास्त्र चार अध्यायों में है। [प्रत्येक अध्याय का एक-एक

प्रतिपाद्य विषय या लक्षण होने के कारण इसे चतुर्लक्षणी कहते हैं।] शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है कि भगवान् बादरायण के द्वारा रचित इस वेदान्त-शास्त्र का विषय प्रत्यक् (जीवात्मा) और ब्रह्म की एकता का प्रदर्शन करना है। प्रथम अध्याय को समन्वयाध्याय कहते हैं जिसमें सिद्ध किया गया है कि सारे वेदान्त (उपनिषद्) वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में ही समीहित है। द्वितीय अध्याय अविरोधाध्याय कहलाता है जिसमें सांख्य आदि दर्शनों के तर्कों से उत्पन्न विरोध का निराकरण किया गया है। तृतीय अध्याय साधनाध्याय है जिसमें ब्रह्मविद्या की सिद्धि की गई है। चतुर्थ अध्याय को फलाध्याय कहते हैं जिसमें ब्रह्मविद्या का फल निर्दिष्ट है।

तत्र प्रत्यध्यायं पादचतुष्टयम्। तत्र प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गं वाक्यजातं मीमांस्यते। द्वितीयेऽस्पष्ट-ब्रह्मलिङ्गमुपास्यविषयम्। तृतीये तादृशं ज्ञेयविषयम्। चतुर्थेऽव्यक्ताजापदादि संदिग्धं पदजातमिति।

अविरोधस्य द्वितीयस्य प्रथमे सांख्ययोगकणादादि स्मृति-विरोधपरिहारः। द्वितीये सांख्यादिमतानां दुष्टत्वम्। तृतीये पञ्चमहाभूतश्रुतीनां जीवश्रुतीनां च परस्परविरोधपरिहारः। चतुर्थे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः।

उनमें प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट रूप से (प्रत्यक्षतः) ब्रह्म को बतलाने वाले वाक्यों की मीमांसा हुई है। द्वितीय पाद में ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न करनेवाले उपासना-विषयक वाक्यों की मीमांसा है। तृतीय पाद में उसी तरह के (ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न करनेवाले ज्ञेय-विषयक वाक्यों की [समीक्षा है] और चतुर्थ पाद में 'अव्यक्त' 'अजा' आदि संदिग्ध शब्दों की समीक्षा हुई है। [एक श्रुति है—'महतः परमव्यक्तम्' (का० १।३।११)। दूसरी है—'अजामेकाम्' (श्वे० ४।५)। इनमें अव्यक्त, अजा आदि शब्द संदिग्ध हैं कि सांख्य-दर्शन की प्रकृति का प्रतिपादन तो ये शब्द नहीं करते हैं ?]

अविरोध का निर्देश करनेवाले **द्वितीय अध्याय** के प्रथम पाद में सांख्य, योग और वैशेषिक आदि स्मृतियों (दर्शनों) के द्वारा किये जानेवाले विरोध का परिहार किया गया है। द्वितीय पाद में सांख्यादि दर्शनों के मतों की दोषात्मकता दिखलाई गई है। तृतीय पाद में पाँच महाभूतों का वर्णन करनेवाली श्रुतियों

और जीव-विषयक श्रुतिवाक्यों के परस्पर विरोध का निवारण किया गया है। चतुर्थ पाद में लिङ्गशरीर का वर्णन करनेवाली श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। [लिङ्गशरीर = पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण (वायु), मन तथा बुद्धि—इन सतरह पदार्थों का संघात लिङ्गशरीर कहलाता है।]

तृतीयस्य प्रथमे जीवस्य परलोकगमनागमनविचारपुरस्सरं वैराग्यम्। द्वितीये त्वंपदतत्पदार्थपरिशोधनम्। तृतीये सगुणविद्यासु गुणोपसंहारः। चतुर्थे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गान्तरङ्गाश्रमयज्ञशमादिसाधनम्।

चतुर्थस्य प्रथमे ब्रह्मसाक्षात्कारेण जीवतः पापपुण्यक्लेशवैधुर्यलक्षणा मुक्तिः। द्वितीये मरणोत्क्रमणप्रकारः। तृतीये सगुणब्रह्मोपासकस्योत्तरमार्गः। चतुर्थे निर्गुणसगुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यब्रह्मलोकावस्थानानि। तदित्थं ब्रह्मविचारशास्त्राध्यायपादार्थसंग्रहः।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोक जाने या न जाने के प्रश्न पर विचार करके वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय पाद में ['तत्त्वमसि' (छां ६।८।७) महावाक्य के] 'त्वम्' और 'तत्' पदों के अर्थ का अनुशीलन किया गया है। तृतीय पाद में सगुण ज्ञान के विषय में गुणों का उपसंहार (अर्थात् अन्यत्र प्रतिपादित गुणों का संकलन) किया गया है। [जो लोग व्यावहारिक दृष्टि से सगुण की उपासना करते हैं। उनके दृष्टिकोण से उपास्य के गुणों का यहां पर संग्रह किया गया है।] चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म की विद्या (ज्ञान) प्राप्त करने के लिये बहिरंग और अन्तरंग साधनों जैसे आश्रम, यज्ञ (बहिरंग) तथा शम (अंतरंग) आदि का निरूपण हुआ है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने से जीते जी ही व्यक्ति को वह मुक्ति (जीवन्मुक्ति) मिलती है जिसमें पाप, पुण्य और क्लेश का सर्वथा विनाश हो जाता है। द्वितीय पाद में मरण और ऊपर उठने (स्वर्गगमन) के प्रश्न पर विचार किया गया है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले पुरुष के मरणोत्तर मार्ग का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्मवेत्ता और सगुण ब्रह्मवेत्ता की क्रमशः विदेहमुक्ति और ब्रह्मलोक में अवस्थिति का निरूपण हुआ है।

इस प्रकार ब्रह्म-विचार-शास्त्र (वेदान्तसूत्र) के अध्यायों और पादों में वर्णित विषयों का संग्रह किया गया।

विशेष—प्रत्येक पाद में अधिकरण (Topic) तथा प्रत्येक अधिकरण में सूत्र हैं। नीचे प्रत्येक पाद के अधिकरणों और सूत्रों की संख्या दी जा रही है—

अध्याय	पाद	अधिकरण		सूत्र	
प्रथम	१	११	४०	३१	१३५
,,	२	७		३२	
,,	३	१४		४३	
,,	४	८		२९	
द्वितीय	१	१३	४७	३७	१५७
,,	२	८		४५	
,,	३	१७		५३	
,,	४	९		२२	
तृतीय	१	६	६७	२७	१८६
,,	२	८		४१	
,,	३	३६		६६	
,,	४	१७		५२	
चतुर्थ	१	१४	३८	१९	७८
,,	२	११		२१	
,,	३	६		१६	
,,	४	७		२२	
			१९२		५५६

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) पर विभिन्न दार्शनिकों ने टीका करके अपने विशिष्ट मार्गों का* प्रवर्तन किया है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत तथा पूर्णप्रज्ञ का द्वैत हम देख ही चुके हैं। फिर भी शंकराचार्य के भाष्य के समक्ष कोई भी समीचीन नहीं लगता। विभिन्न भाष्यकारों में मतभेद होने के कारण बादरायण का मूल अभिप्राय क्या था, यह कहना कठिन हो गया है। यहाँ पर विषयारंभ के पूर्व शांकर-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना असंगत नहीं होगा।

जैसा कि स्वाभाविक है हम वेदों से ही भारतीय वाङ्मय की उत्पत्ति मानते हैं। वेदान्त के विषय में भी वही बात है। ऋग्वेद के सूक्तों में ही माया और ब्रह्म के सम्बन्ध की सूचनायें मिलती हैं। फिर भी वास्तविक वेदान्त वेद के अन्तिम भाग—उपनिषदों—से शुरू होता है जहाँ जीव और ब्रह्म के विषय में

* देखिये—पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४०१।

विशिष्ट कल्पनायें की गई हैं। संख्या में अनेक होने पर भी शंकराचार्य ने केवल ग्यारह उपनिषदों को मान्यता दी है। वेदान्त से उपनिषदों का ही बोध मुख्य रूप से होता है। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता में आ गया है। इसलिए उसे भी वेदान्त के अन्तर्गत ही रखते हैं। उपनिषद् और गीता में बिखरे हुए विचारों को बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में श्रृंखलाबद्ध किया। इस प्रकार वेदान्त के तीन प्रस्थान ग्रन्थ कहलाते हैं—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। शंकराचार्य ने तीनों पर व्याख्या लिखकर अद्वैतमत का प्रवर्तन किया।

शंकराचार्य (७८८–८२० ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर **शारीरकभाष्य** लिखा जिसने अद्वैत वेदान्त की पताका फहरा दी। शंकराचार्य केरल प्रान्त के नम्बूदरी ब्राह्मण थे तथा गौडपाद के शिष्य श्री गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य थे। स्मरणीय है कि गौडपाद ने **मांडूक्य-कारिका** लिखी थी जो मायावाद का प्रथम शास्त्र ग्रन्थ है। शंकर ने इसपर भी टीका लिखी थी। ३२ वर्षों की अल्प आयु में भी शंकर का यश अक्षुण्ण है। इनका गद्य अपने ढंग का अद्वितीय है। इन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण करके वेदान्त मत की प्रतिष्ठा की तथा कई स्थानों पर मठों की स्थापना की। शंकर के समकालिक **मण्डनमिश्र** थे जिन्होंने मीमांसा में बहुत यश प्राप्त किया था परन्तु शंकर के ही प्रभाव से ये वेदान्त मत में दीक्षित हो गये। इन्होंने **ब्रह्मसिद्धि** नामक ग्रन्थ लिखा जिस पर वाचस्पतिमिश्र ने ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, चित्सुख (१२२५ ई०) ने अभिप्रायप्रकाशिका और आनन्दपूर्ण ने भावशुद्धि नाम से टीकायें की थीं। मण्डन ने वेदान्ती होने पर अपना नाम सुरेश्वराचार्य रखा था। शंकर के एक शिष्य पद्मपादाचार्य थे जिन्होंने शारीरकभाष्य पर **पञ्चपादिका** वृत्ति लिखी जिसमें केवल चतुःसूत्री का विवेचन है। पंचपादिका पर कई टीकायें लिखी गई जिनमें प्रकाशात्मयति (१२०० ई०) की **विवरण** टीका प्रसिद्ध है। इसके नाम पर विवरण-प्रस्थान (Vivaraṇa School) ही बन गया। विवरण की दो टीकायें हैं—अखंडानंद सरस्वती (१५०० ई०) कृत तत्त्वदीपन तथा विद्यारण्य (१३५० ई०) कृत विवरणप्रमेयसंग्रह।

सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि (९०० ई०) ने **संक्षेपशारीरक** नामक एक पद्यबद्ध व्याख्याग्रन्थ लिखा। वाचस्पतिमिश्र (८५० ई०) ने शारीरकभाष्य पर अपनी सुप्रसिद्ध **भामती** नाम की टीका लिखी जो भाष्य के बाद अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी दो सुप्रसिद्ध टीकायें हैं—अमलानन्द (१२५०) की **कल्पतरु** टीका और अप्पयदीक्षित (१५५० ई०) की **परिमल** टीका। महाकवि श्रीहर्ष (११५० ई०) का **खण्डनखण्डखाद्य** वेदान्त का नैयायिक

विधि से विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है। चित्सुखाचार्य (१२२५ ई०) ने सुरेश्वर की **नैष्कर्म्यसिद्धि** पर, ब्रह्मसिद्धि पर तथा शारीरकभाष्य पर टीकायें लिखकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रत्यक्तत्त्वदीपिका (चित्सुखी) के नाम से लिखा। प्रस्तुत सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता माधवाचार्य सन्यस्त होकर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्होंने अपनी स्वतन्त्र कृति **पंचदशी** नाम से दी। शांकर-दर्शन के अन्य ग्रन्थों में आनन्दबोध का **न्यायमकरंद**, मधुसूदन सरस्वती की **अद्वैतसिद्धि** तथा **सिद्धान्तबिन्दु**, अप्पय दीक्षित का **सिद्धान्तलेशसंग्रह**, धर्मराजाध्वरीन्द्र की **वेदान्तपरिभाषा** एवं सदानन्द का **वेदान्तसार** प्रसिद्ध हैं।

(३. ब्रह्म की जिज्ञासा—प्रथम अधिकरण)

तत्र प्रथममधिकरणमथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र. सू. १।१।१) इति ब्रह्ममीमांसारम्भोपपादनपरम्। अधिकरणं च पञ्चावयवं प्रसिद्धम्। ते च विषयादयः पञ्चावयवा निरूप्यन्ते। 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) इत्येतद्वाक्यं विषयः। ब्रह्म जिज्ञासितव्यं न वेति संदेहः। जिज्ञास्यत्वव्यापकयोः संदेहप्रयोजनयोः संभवासंभवाभ्याम्।

उस (ब्रह्मसूत्र) में पहला अधिकरण (topic) है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (अब इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा होती है—ब्र० सू० १।१।१) जिसमें ब्रह्ममीमांसा (वेदान्तशास्त्र) के आरंभ का प्रतिपादन किया गया है। अधिकरण में पाँच खण्ड होते हैं, यह प्रसिद्ध ही है [= विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा संगति (या निर्णय)। देखिये—जैमिनिदर्शन।] अब विषय आदि उन पाँच अवयवों (organs) का निरूपण किया जाता है।

' आत्मा का दर्शन करना चाहिए' (बृहदारण्यक० २।४।५)—यह वाक्य **विषय** है। ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए या नहीं—यह **संदेह** है। जिज्ञासा के लिए सन्देह और प्रयोजन दोनों ही आवश्यक हैं। [किसी पक्ष में इन दोनों के रहने से जिज्ञासा] संभव है, कभी [अकेले के रहने से] असम्भव भी हो सकती है। [सन्देह वहीं होता है जहां किसी की सम्भावना और असंभावना दोनों हो। जिज्ञासा के साथ भी यही बात है, कहीं तो जिज्ञासा संभव है कहीं असंभव भी। कारण यह है कि किसी की जिज्ञासा तभी हो सकती है जब उसके विषय में सन्देह भी हो और जिज्ञासा का प्रयोजन (फल) भी मिले। जिस अर्थ के विषय में सन्देह

नहीं है, वस्तु पूर्ण निश्चित है, उसमें प्रयोजन रहने पर भी उसकी जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि वह वस्तु तो ज्ञात ही है। उसी तरह जहां जिज्ञासा का फल कुछ नहीं हो वह वस्तु सन्दिग्ध होने पर भी जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि वह ज्ञान निरर्थक हो जायगा। इसलिए जहां दोनों नहीं होंगे वहां जिज्ञासा नहीं होगी। जहां दोनों होंगे वहाँ जिज्ञासा हो सकेगी। दो पक्षों के होने से ही सन्देह हो गया।]

(४. आत्मा की जिज्ञासा असंभव—सन्देह की असंभावना)

तत्र कस्येदं जिज्ञास्यत्वमवगम्यते ? अहमनुभवगम्यस्य श्रुतिगम्यस्य वा ? नाद्यः। सर्वजनीनेनाहमनुभवेन इदमास्पद-देहादिभ्यो विवेकेनात्मनः स्पष्टं प्रतिभासमानत्वात्। ननु स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिदेहधर्मसामानाधिकरण्यानुभवात् अध्यस्तात्मभावदेहालम्बनोऽयमहंकार इति चेन्न। बाल्याद्यवस्थासु भिन्नपरिमाणतया बदरामलकादिवत्परस्परभेदेन शरीरस्य प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेः।

आप किसे जिज्ञास्य समझते हैं—'अहम्' (मैं) इस अनुभव से ज्ञेय (आत्मा) को या श्रुति के द्वारा ज्ञेय (आत्मा) को ? पहला विकल्प तो ठीक नहीं ही है। 'अहम्' का अनुभव सर्वजनीन रूप से प्रसिद्ध है, देह आदि का अनुभव 'इदम्' (यह—Third person) शब्द से होता है। तो, देहादि से आत्मा स्पष्टतः अलग प्रतीत होती है। [संदेह ही नहीं है तो जिज्ञासा क्यों होगी ? अनिश्चित वस्तु की ही जिज्ञासा होती है।]

[आत्मा की जिज्ञासा असंभव मानने वाले पूर्वपक्षी कहते हैं कि] यहाँ पर कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि आपका यह 'अहम्' कहना तो शरीर पर आत्मा का आरोपण करने से ही संभव है क्योंकि जब कहते हैं कि 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ', तो आत्मा को भी शरीर के धर्मों का आधार बना देते हैं। [मोटा, पतला होना शरीर के धर्म हैं। शरीर जड़ है, किन्तु उक्त वाक्यों में आत्मा पर जड़ के धर्मों का आरोपण किया गया है—अहम् (आत्मा के लिए सर्वनाम) और स्थूलः (देह के लिए विशेषण) दोनों को समानाधिकरण बनाकर चेतन पर जड़ के धर्मों का आरोपण हुआ है। इसलिए देह से अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु अनुभव-पथ में नहीं आती। यही कारण है कि आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए जिससे आत्मा और देह का भेद स्पष्ट हो। इस शंका के उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं कि] उक्त शंका ठीक नहीं। [यदि

शरीर और आत्मा में भेद नहीं होता] तो, बाल्य, युवा आदि अवस्थाओं में शरीर का परिमाण भिन्न-भिन्न रहता है इसलिए जैसे बैर और आँवले में परस्पर भेद होता है उसी तरह शरीर की [विभिन्न अवस्थाओं में परस्पर भेद होने के कारण 'मैंने युवावस्था में सुख भोगा', 'बचपन में मैं खेलता था' आदि की] प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। [इन अवस्थाओं में शरीर एक ही नहीं रहता—यह तो स्पष्ट है। साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि सभी अवस्थाओं में अनुभवकर्ता एक ही रहता है। अतः देह (बदलने वाली) और आत्मा (न बदलने वाली) दोनों में भेद तो है ही। चूँकि भेद स्पष्ट है अतः आत्मा की जिज्ञासा व्यर्थ है।]

अथोच्येत—यथा पीलुपाकपक्षे पिठरपाकपक्षे वा काल-भेदेनैकस्मिन् वस्तुनि पाकजभेदो युज्यते तथैकस्मिञ्शरीराभिधे वस्तुनि कालभेदेन परिमाणभेदः। अत एव लौकिकाः शरीर-मात्मनः सकाशादभिन्नं प्रतिपद्यमानाः प्रत्यभिजानते चेति। न तद्भद्रम्। मणिमन्त्रौषधाद्युपायभेदेन भूमिकाधानवत् नाना-विधान्देहान् प्रतिपद्यमानस्याहमालम्बनस्य भिन्नस्यात्मनः शरी-राद्भेदेन भासमानत्वात्।

[पूर्वपक्षियों को अभी भी खटका लगा ही है। वे सोचते हैं कि उक्त शंका की सफाई भी दे दी जा सकती है।] अब वे (पूर्वपक्षियों पर शंका करने वाले लोग) कह सकते हैं कि जैसे पीलुपाक-पक्ष (परमाणु की उत्पत्ति या नाश—वैशेषिकदर्शन में स्वीकृत) में या पिठरपाकपक्ष (पूरे पिण्ड की उत्पत्ति या नाश—न्यायदर्शन में स्वीकृत) में काल का भेद होने से एक ही वस्तु में पाकज (तेज या अग्नि से उत्पन्न) भेद हो सकता है (देखिये, औलूक्य-दर्शन), उसी प्रकार शरीर नामक वस्तु में, जो एक ही है, समय के भेद के कारण परिमाण का भेद हो सकता है। [परिमाणगत भेद का स्पष्टीकरण इसलिए किया गया कि परिमाण में भेद होने पर भी देह को एक ही समझा जाय—इसलिए देह ही 'अहम्' प्रतीति का विषय है। जड़ और चेतन में समानाधिकरणता है ही अतः आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए कि भेद स्पष्ट हो।] इसलिए तो लोकायत-मत (चार्वाक) के लोग शरीर को आत्मा से पृथक् नहीं समझते और [विभिन्न अवस्थाओं में पृथक् परिमाण से युक्त होने पर भी शरीर को] प्रत्यभिज्ञा से एक ही जानते हैं।

हमारा (पूर्वपक्षियों का) कहना है कि यह ठीक नहीं। मणि, मंत्र, औषधि आदि उपायों का प्रयोग करके [जैसे कोई व्यक्ति कभी हाथी, कभी बाघ, कभी

राक्षस और कभी मनुष्य बनकर] विभिन्न भूमिकाओं (Role) का ग्रहण करता है, वैसे ही नाना प्रकार के शरीरों में जा-जा कर 'अहम्' शब्द पर अवलंबित (Dependent, attached to) आत्मा जो भिन्न (शरीर से) है, वह शरीर से भिन्न रूप में प्रतीत होती है। [चूँकि आत्मा शरीर से भिन्न लगती है अतः ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए।]

विशेष—आत्मा की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, यह पूर्वपक्ष बहुत दूर तक जा रहा है। इसके दो खंड हैं। एक में तो **संदेह** की असंभावना दिखाकर अपने प्रतिपाद्य का निरूपण करते हैं, दूसरे में **प्रयोजन** की असंभावना दिखायेंगे। संदेह की असंभावना दिखाने में पूर्वपक्षी भी विरोधी दल से भिड़ा हुआ है। पूर्वपक्षी शरीर और आत्मा को स्पष्ट रूप से पृथक् मानकर संदेह का अवसर ही नहीं रहने देता जब कि इसके विरोधी दोनों में अभेद के प्रदर्शन में लगे हैं कि स्पष्टीकरण के लिए आत्मा की जिज्ञासा होनी ही चाहिए, नहीं तो जड़ और चेतन की पारस्परिक संसृष्टि (Mixture) से संदेह बना ही रहेगा।

अब पूर्वपक्षी अपने पक्ष की पुष्टि में आत्मा और शरीर का भेद और अधिक स्पष्ट करता है।

अतएव चक्षुरादीनामप्यहमालम्बनत्वमशक्यशङ्कम्। 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' (न्या० कुसु० १।१५) इति न्यायेन चक्षुरादौ नष्टेऽपि रूपादिप्रतिसंधानानुपपत्तेः। नाप्यन्तःकरणस्याहमालम्बनत्वमास्थेयम्। अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति न्यायेन कर्तृकरणभूतयोरात्मान्तःकरणयोस्तक्षवासिवत्संभेदासंभवात्।

इसीलिए (अर्थात् जैसे शरीर से आत्मा भिन्न है उसी तरह इन्द्रियों से आत्मा के भिन्न होने के कारण) चक्षु आदि इन्द्रियों में 'अहम्' की प्रतीति होती है—ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती। यह नियम है कि एक आदमी के देखे पदार्थ का स्मरण दूसरा आदमी नहीं कर सकता (न्या० कु० १।१५), इस लिए चक्षु आदि इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी रूपादि विषयों का अनुचिन्तन (नष्ट द्रव्य को प्राप्त करने के लिए व्यापार = प्रतिसंधान) करना संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त, अन्तःकरण (मन) को भी 'अहम्' का आधार नहीं मानना चाहिए। जो विरुद्ध धर्मों का अध्यास (आरोपण) है वही भेद है और जो कारणों का भेद है वही भेद-हेतु होता है—इस नियम से कर्ता और करण

के रूप में जो क्रमशः आत्मा और अन्तःकरण है उन दोनों में तादात्म्य (Identity संभेद) होना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार बढ़ई (तक्ष) और उसके बसूले (वासि) में। [जिस प्रकार बढ़ई और बसूले में तादात्म्य नहीं हो सकता क्योंकि बढ़ई कर्ता है और बसूला करण, कर्ता और करण में तादात्म्य नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा और मन में भी तादात्म्य नहीं होगा क्योंकि दोनों में भेद है—दोनों में एक पर कर्तृधर्म का आरोपण है (आत्मा = कर्ता है), दूसरे पर (मन पर) करण-धर्म का आरोपण है। विरुद्ध धर्मों का आरोपण होने से दोनों में भेद है—जब भेद ही स्पष्ट है तब जिज्ञासा क्यों करेंगे ?]

यद्यभेद एव नाद्रियते तर्हि 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि संख्यानमुत्सन्नसंकथं स्यात्। न स्यात्। एवं लोके शास्त्रे चोभयथा शब्दप्रयोगदर्शने मुख्यार्थत्वानुपपत्तौ 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादिवदौपचारिकत्वेनोपपत्तेः।

[पूर्वपक्षियों की उक्त अभेद-स्थापना पर शंका होती है—] यदि आप अभेद मानते ही नहीं हैं तो 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ', 'मैं काला हूँ' इत्यादि का जो सम्यक् ज्ञान है उसकी जड़ तो मिट जायगी। [कोई नहीं कहेगा कि ये अनुभव हमें नहीं होते। सबों को मानना पड़ेगा कि मोटा, पतला, काला, गोरा का अनुभव सबों को होता है। यदि आत्मा और शरीर में भेद ही है, अभेद कभी नहीं तो ये वाक्य आते कैसे हैं ?] उत्तर में कहेंगे कि ऐसी बात नहीं। इस प्रकार लौकिक या शास्त्रीय वाक्यों में, कहीं भी जब शब्द-प्रयोग हो और मुख्य अर्थ संगत नहीं हो रहा हो तो 'मंच चिल्लाते हैं' इत्यादि वाक्यों की तरह लाक्षणिक मानकर तो उन वाक्यों की सिद्धि हो सकती है। कारण यह है कि शब्दों का प्रयोग दोनों प्रकार से (मुख्य वृत्ति और गौण वृत्ति से भी) होते देखा जाता है। [जिस प्रकार 'मंच चिल्लाते हैं' इस वाक्य में अचेतन मंचों पर चेतन के धर्म 'चिल्लाने' का आरोप करते हैं तब मुख्य वृत्ति से अर्थ नहीं लगता और निदान लक्षणावृत्ति (गौण वृत्ति) की सहायता लेनी पड़ती है। उसी प्रकार 'मैं' आत्मा पर शरीर के धर्म मोटा, पतला आदि का आरोप गौण वृत्ति से होता है। ऐसे व्यवहार (वाक्य-प्रयोग) असंभव नहीं हैं, उपपत्ति (Explanation) से युक्त हैं।]

न द्वितीयः। अहमनुभवगम्यस्यैव श्रुतिगम्यत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादिश्रुतिभ्यो हि ब्रह्माव-

गम्यते। ब्रह्मभावश्च 'अहमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिष्वहंप्रत्ययगम्यस्यैव बोध्यते। तथा चेदमनुमानं समसूचि—विमतमजिज्ञास्यम्, असंदिग्धत्वात्, करतलामलकवत्।

दूसरा विकल्प [कि श्रुति से ज्ञेय आत्मा की जिज्ञासा होती है] भी ठीक नहीं। जो आत्मा 'अहम्' के अनुभव से ज्ञेय है वही श्रुति से ज्ञेय हो सकती है। 'ब्रह्म सत्य है, ज्ञान और अनन्त है' (तै० २।१।१) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का ज्ञान होता है और 'मैं आत्मा हूँ, 'ब्रह्म हूँ' (बृ० २।५।१९), 'वह तुम्हीं हो' (छां० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियों में 'अहम्' की प्रतीति (अनुभव) से ज्ञेय को ही ब्रह्म माना गया है। इस तरह निम्नोक्त अनुमान की सूचना मिलती है--

(१) विवादास्पद (आत्मा) अजिज्ञास्य है (प्रतिज्ञा)।
(२) क्योंकि इसके विषय में कोई सन्देह नहीं है (हेतु)।
(३) जिस प्रकार हाथ में विद्यमान आमलक-फल (उदाहरण)।

विशेष—यदि 'अहम्' के अनुभव से गम्य (Knowable) तथा सांसारिक सुख-दुःख का भोग करनेवाला जीव ही ब्रह्म होता तो भी इन श्रुतियों में विरोध की आशा नहीं हो सकती—'निष्फलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० ६।१९), 'अप्राणो ह्यमनाः' (मुं० २।१।२,), 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१) आदि। इन सबों में सांसारिक सुख-दुःख, क्रियाओं आदि से आत्मा को पृथक् दिखाने की चेष्टा की गई है। ब्रह्म के लक्षण इनमें नहीं हैं। वास्तव में ये श्रुतियाँ जीव की प्रशंसा करने के लिए अर्थवाद के रूप में प्रस्तुत हैं। इस प्रकार संदेहाभाव में आत्मा की जिज्ञासा नहीं होगी–यह कहा गया। अब प्रयोजन की असंभावना दिखा कर वही बात सिद्ध करेंगे। इस प्रकार यह लम्बा पूर्वपक्ष कुछ दूर तक चलेगा।

(४ क. आत्मा की जिज्ञासा असंभव—प्रयोजन का अभाव)

तथा फलं न फलभावमीक्षते। पुरुषैरर्थ्यत इति व्युत्पत्त्या निःशेषदुःखोपशमलक्षितं परमानन्दैकरसं च पुरुषार्थशब्दस्यार्थः सकलपुरुषधौरेयैः प्रेप्स्यते नैतत्सांसारिकं सुखजातम्। तस्यैहिकस्य पारलौकिकस्य च सातिशयतया च सक्षयतया च प्रेक्षावद्भिरर्थ्यमानत्वानुपपत्तेः। यत्तत्परिपन्थि दुःखजातं तज्जिहास्यते। तच्चाविद्यापरपर्यायसंसार एव। कर्तृत्वादिसकलानर्थकरत्वादविद्यायाः।

उसी प्रकार [आत्मा की जिज्ञासा का कोई प्रयोजन या फल भी नहीं हैं] जिसे फल आप लोग समझते हैं वास्तव में वह फल (प्रयोजन) हो ही नहीं सकता।

[अब जिसे आप लोग फल समझते हैं उसका हम उल्लेख करते हैं—] 'पुरुषों के द्वारा जिसकी कामना (√अर्थ्–धातु) की जाय'—यही व्युत्पत्ति है, इससे सभी अच्छे-अच्छे लोग पुरुषार्थ शब्द का अर्थ वह फल लेते हैं जिसमें सभी दुःखों का शमन हो जाय तथा परमानन्द का ही एकमात्र रस मिलता रहे। इस सांसारिक सुख-समूह का अर्थ वे लोग [पुरुषार्थ से कभी] नहीं लेते। सुख चाहे ऐहिक हो या पारलौकिक—उसमें अतिशयता (एक से बढ़कर दूसरा सुख होना, तारतम्य, Gradation) तथा सादृश्य (उसकी तरह का दूसरा सुख होना, Similarity) होने के कारण बुद्धिमान् लोग उसकी कामना कभी नहीं कर सकते। [सभी सुखों में तारतम्य लगा हुआ है। नौकरी पाने का सुख राज्य पाने के सुख से छोटा है। राज्यसुख स्वर्गसुख के सामने कुछ भी नहीं। इससे लगता है कि स्वर्ग का सुख भी किसी की अपेक्षा छोटा ही है। सुख के समान दूसरा सुख भी मिलता है। इसीलिए विद्वान् लोग निरतिशय तथा निरुपम आनंद की कामना करते हैं जिसमें तनिक भी दुःख की संभावना नहीं रहे।]

जो कुछ भी [उस परमानंद का] विरोधी दुःखसमूह है उसे छोड़ने की कामना की जाती है। वह दुःखसमूह और कुछ नहीं, यह संसार ही है जिसका दूसरा नाम अविद्या भी है। कारण यह है कि अविद्या ही कर्तृत्व आदि सभी अनर्थों को उत्पन्न करती है। [अविद्या के कारण ही प्राणी अर्थ में अनर्थ और अनर्थ में अर्थ की कल्पना करता है। वह वास्तव में किसी वस्तु का उत्पादक नहीं है, अविद्या के चलते ही वस्तुओं की उत्पत्ति केवल प्रतीत होती है परन्तु पुरुष अपने को ही कर्ता समझने लगता है। यह सब अविद्या के कारण होता है।]

समित्येकीकरणे वर्तते। सम्भेदादौ तथा चोपलम्भात्। तथा चात्मानं देहेनैकीकृत्य स्वर्गनरकमार्गयोः सरति येन पुरुषः स संसारोऽविद्याशब्दार्थः। तन्निवृत्तिः फलं फलवतामभिमतम्। तथा कथितम्—

अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः। इति।

[संसार-शब्द में] 'सम्' उपसर्ग एकीकरण (Unification) के अर्थ में है जैसे संभेद, [संगम] आदि शब्दों में पाया जाता है। इस प्रकार आत्मा को

देह से एक मानकर स्वर्ग और नरक के मार्गों पर पुरुष जिसके द्वारा चलता है (सरति) वही संसार है जो अविद्या शब्द का अर्थ है। इस संसार की निवृत्ति ही [आत्मजिज्ञासा का] फल है, ऐसा फलवादी (वेदान्ती) लोग मानते हैं। जैसा कहा भी है--अविद्या का अस्तंगत होना मोक्ष है और अविद्या ही बन्धन मानी गयी है।'

विशेष—इन दो परिच्छेदों में पूर्वपक्षियों ने ब्रह्मजिज्ञासा का सम्भावित (Possible) प्रयोजन उद्धृत किया है जो वेदान्तियों की ही मान्यता है। अब वे पूर्वपक्षी यह दिखलायेंगे कि वास्तव में यह प्रयोजन है ही नहीं। उसके प्रदर्शन के बाद कहीं इस लम्बे पूर्वपक्ष का अन्त होगा।

तच्च काशकुशावलम्बनकल्पम्। आत्मयाथात्म्यानुभवेन सह वर्तमानस्य संसारस्य रूपरसवद्विरोधाभावेन निवर्त्यनिवर्तकभावात्। ननु सहानुवर्तमानो बोधः संसारं मा बाधिष्ट। सहावर्तमानस्तु बोधः प्रकाशस्तमोवद्बाधिष्यत इति चेत्—तदेतद्रिक्तं वचः। अहमनुभवादन्यस्यात्मज्ञानस्य मूषिकविषाणायमानत्वात्।

[आत्मजिज्ञासा के लिए 'संसार की निवृत्ति' को प्रयोजन के रूप में रखना] ठीक वैसा ही है जैसे डूबने वाला आदमी काश या कुश के पौधे को पकड़ कर बचना चाहे। आत्मा के यथार्थ अनुभव के साथ यह संसार चलता है। [प्राणी को आत्मा का ज्ञान संसार में रहकर ही होता है जैसे उसे आन्तर सुख आदि का ज्ञान होता है।] जैसे रूप-रस आदि का बोध [इसी संसार में रहकर होता है वैसे ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान भी यहीं से होगा। दोनों के बीच] कोई विरोध नहीं है। इसलिए [संसार और आत्मज्ञान के बीच] निवर्त्य (संसार) और निवर्तक (आत्मज्ञान) का संबंध नहीं हो सकता। [यदि रूप-रसादि के ज्ञान से संसार की निवृत्ति नहीं होती तो आत्मज्ञान से भी नहीं होगी—दोनों की ज्ञान-विधि में कोई अन्तर नहीं है।]

शंका—मान लिया कि संसार के साथ अनुवर्तित होने वाला [= 'अहम्' के रूप में] आत्मज्ञान संसार की निवृत्ति भले ही न करे किन्तु साथ-साथ आवर्तित होने वाला (= शुद्ध अद्वितीय आत्मा के स्वरूप का) ज्ञान तो संसार की निवृत्ति कर सकेगा जैसे प्रकाश अन्धकार को हटा देता है? **उत्तर**—यह तर्क बिल्कुल खोखला है। 'अहम्' के अनुभव के अतिरिक्त किसी आत्मा का ज्ञान होना चूहे की सींग की तरह ही असंभव है।

नन्वन्योऽयमनुभवः पामराणां मा स्म भवन्नाम । वेदान्तवचननिचयपर्यालोचनक्षमाणां परीक्षकाणां संभवत्येवेत्यपि न वक्तव्यम् । अबाधितानुभवविरोधेन वेदान्तवाक्यानां ग्रावप्लवनादिवाक्यकल्पत्वात् । न ह्यागमाः परःशतं घटं पटयितुमुत्सहन्ते ।

इस पर आप लोग (वेदान्ती) कह सकते हैं कि ['अहम्' के सामान्य अनुभव से] यह अनुभव भिन्न है [तथा 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से शुद्ध अद्वितीय आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है ।] यह अनुभव मूर्खों को भले ही न हो किन्तु जो परीक्षक (बुद्धिमान् पुरुष) वेदान्त के वाक्यों की पर्यालोचना में समर्थ हैं उन्हें तो हो सकता है ? किन्तु हम कहेंगे कि ऐसा भी कहना नहीं चाहिए । हमारा अनुभव [कि अहम् और इदम् में पार्थक्य है यह] अबाधित है (प्रमाण है), उसका विरोध करने के कारण वेदान्त के वाक्य भी 'पत्थर तैरते हैं' इस वाक्य की तरह [अप्रामाणिक हैं । हमारा अनुभव कहता है कि आत्मा और जड़ दो पदार्थ हैं । दूसरी ओर इस अनुभव का विरोध 'सदेव सौम्य०' आदि से होता है जिसमें एक तत्त्व—अद्वितीय आत्मा का ही प्रतिपादन है । जो वाक्य हमारे अनुभव के विरुद्ध है वह प्रमाण नहीं है । आप लोग आगमों की अचिन्त्य शक्ति में विश्वास रखते हैं किंतु] सौ से ऊपर आगम मिलकर भी किसी साधारण घट को पट के रूप में परिणत नहीं कर सकते ।

न चाध्ययनविधिव्याकोपः । गुरुमतानुसारेण हुंफडादिवाक्यवत् जपमात्रोपयोगित्वेनाचार्यमतानुसारेण वा 'यजमानः प्रस्तरः' (तै० ब्रा० ३।३।९) इत्यादिवाक्यवत् स्तावकत्वेन वेदान्तसिद्धान्तस्याध्येतव्यत्वसम्भवात् । तथा च प्रयोगः—विवादास्पदं ब्रह्म विचार्यपदं न भवत्यफलत्वात्काकदन्तवदिति ।

[हमारे पक्ष को मानने पर भी] अध्ययन-विधि ('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' तै० आ० २।१५—यह विधि) की प्रवृत्ति में रुकावट उत्पन्न नहीं होगी । [शंकाकार के कहने का तात्पर्य यह है कि अध्ययन का उपयोग इसी में है कि अर्थज्ञान प्राप्त करके कर्म में उसका उपयोग करें । जो वाक्य असम्भव अर्थ का निर्देश करते हैं उनका तो उपयोग ही नहीं हो सकेगा । जैसी कि आप पूर्वपक्षियों की मान्यता है ये वाक्य असम्भव अर्थों का प्रतिपादन करते हैं । इसलिए उनका अध्ययन तो

निरर्थक हो जायगा। ऐसी अवस्था में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की विधि व्यर्थ हो जायगी। पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ऐसी समस्या नहीं होगी।] गुरुमत के अनुसार 'हुं फट्' आदि वाक्यों की तरह [उक्त श्रुति-वाक्यों का] उपयोग केवल जप के लिए ही है। दूसरी ओर आचार्य (कुमारिल) के मत के अनुसार 'यजमान पत्थर है' (तै० ब्रा० ३।३।९) इत्यादि वाक्यों की तरह [उक्त श्रुतिवाक्यों का] उपयोग विधि-वाक्यों की केवल स्तुति करने भर के लिए है—अतः वेदान्त (उपनिषद्) के वाक्यों को तो हम भी अध्येतव्य मानते ही हैं। इसीलिए तो हम अपना अनुमान देते हैं—

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत) ब्रह्म विचार का विषय नहीं हो सकता। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि इसके विचार का कोई फल नहीं है। (हेतु)

(३) जैसे कौए के दाँतों का। (उदाहरण)

विशेष—हम जानते हैं कि मीमांसा-दर्शन की दो शाखायें हैं—गुरुमत और भाट्टमत। गुरुमत के अनुसार अध्ययन-विधि अपूर्व विधि नहीं है। प्रत्युत अध्यापन-विधि का ही अनुवाद है। अध्यापन-विधि में केवल पाठ की ही प्राप्ति होती है, अर्थबोध की नहीं। इसलिए विधि की आवश्यकता के अनुसार सर्वत्र अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं है। यदि अर्थ सम्भव है तो उसका ग्रहण करें। यदि सम्भव नहीं तो उसे त्याग दें। इनका उपयोग 'हुं फट्' आदि अर्थहीन मन्त्रों की तरह केवल जप के लिए है।

भाट्ट-मत के अनुसार अध्ययन-विधि की प्रवृत्ति अर्थज्ञानरूपी दृष्टफल के लिए होती है। अर्थ सर्वत्र है। जहाँ वेदों में वाच्यार्थ संभव नहीं वहाँ पर 'यजमानः प्रस्तरः' की तरह अर्थवाद मानकर लक्षणा से अर्थबोध करते हुए उन वाक्यों में स्तुति मानते हैं। इसलिए किसी भी दशा में—जप के लिए या स्तुति के लिए श्रुतिवाक्यों का उपयोग रहेगा ही। ब्रह्म के प्रतिपादक वेदवाक्य का या तो जप (Recitation) के लिए उपयोग है या जीव की प्रशस्ति के बोध के लिए। जीव यज्ञादि का कर्ता या उपास्य देवता हो सकता है। स्पष्टतः यह मीमांसकों की ओर से वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य-निरूपण (Interpretation) है।

काक-दन्त पर एक लोकोक्ति दी गई है—

काकस्य कति वा दन्ता मेषस्याण्डं कियत्पलम्।
का वार्ता सिन्धुसौवीरेष्वेषा मूर्खविचारणा॥

इसमें असंभव तथा अनर्गल बातों का संकलन किया गया है।

तदाहुराचार्याः—

२. अहंधियात्मनः सिद्धेस्तस्यैव ब्रह्मभावतः।
तज्ज्ञानान्मुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नावकल्पते ॥ इति।

न च भेदेनाध्यस्तदेहादिनिवृत्तिः फलमित्यफलत्वहेतुरसिद्ध इति वेदितव्यम्। भेदग्रहो हि व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरिति न्यायेन भेदाग्रहपरिपन्थिनं भेदसंस्कारमपेक्षते। अनाकलितकलधौतस्य शुक्तिशकले तत्समारोपानुपलम्भात्।

आचार्यों ने इसे कहा भी है— (१) चूँकि 'अहम्' की प्रतीति से आत्मा की सिद्धि हो जाती है, (२) वही आत्मा ब्रह्म के रूप में सिद्ध है, (३) उस आत्मा को जानने से मुक्ति होने को नहीं है—इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा प्रश्न नहीं दिखलाई पड़ता। [इस श्लोक में पूर्वपक्ष का उपसंहार-सा लगता है यद्यपि अभी इसके कुछ खण्ड बाकी ही हैं।]

[वेदान्ती लोग कह सकते हैं कि अद्वितीय ब्रह्म में] भिन्न रूप में जो देहादि पदार्थों का आरोपण होता है (प्रतीति होती है), उसकी निवृत्ति ही [ब्रह्मजिज्ञासा का] फल है, अतः उपर्युक्त अनुमान में दिया गया हेतु—'क्योंकि इसके विचार का कोई फल नहीं है'—असिद्ध है। किन्तु [पूर्वपक्षी कहते हैं कि] ऐसा नहीं समझना चाहिए।

व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति होती है—इस नियम से भेद का ग्रहण (Apprehension of difference) भेद के अग्रहण (अज्ञान) के विरोधी भेदसंस्कार की अपेक्षा रखता है। [उपर्युक्त न्याय से ही धूम अग्नि की अपेक्षा रखता है। अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य। यदि अग्नि न हो तो धूम की प्राप्ति ही नहीं होगी। उसी तरह भेदग्रह या भेदाध्यास भेद के संस्कार की अपेक्षा करता है। यदि भेदसंस्कार (व्यापक) न हो तो भेदाध्यास होगा ही नहीं। भेदसंस्कार भेद के अग्रह का नाश करके भेदाध्यास उत्पन्न करता है।] रजत का संस्कार बिना रहे हुए शुक्ति (सीपी) के टुकड़े पर उसके आरोपण की संभावना नहीं है। [जिस समय कहते हैं कि यह रजत है तो रजत का संस्कार उत्पन्न होकर रजत के अज्ञान का नाश करके सीपी पर, अयथार्थ रूप में ही सही, पर रजत कीं प्रतीति करा देता है। रजत का संस्कार यदि उत्पन्न नहीं होगा तो रजत की प्रतीति भी नहीं होगी। इसे आगे बढ़ाते हैं।]

संस्कारश्च प्रमितिमाकाङ्क्षति। अननुभूते संस्कारानुदयात्। न

च भ्रान्तिरूपोऽनुभवस्तत्करणमिति भणितव्यम्। भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वकत्वेन क्वचित्प्रमितेरवश्याभ्युपगमयितव्यत्वात्। प्रयोगश्च—विमतावात्मानात्मानौ भेदेन प्रमितावभेदायोग्यत्वात्। तमः-प्रकाशवत्।

उपर्युक्त संस्कार यथार्थ अनुभव (प्रमिति Actual experience) की अपेक्षा रखता है क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव ही नहीं किया गया है उसका संस्कार भी नहीं जागृत हो सकता। [यद्यपि कहीं-कहीं अयथार्थ अनुभव से भी संस्कार की उत्पत्ति देखते हैं तथापि वह अनुभव भी किसी संस्कार के ही बाद होगा—अतः कहीं न कहीं यथार्थ अनुभव की आवश्यकता पड़ी ही होगी। इसलिये यहाँ भी भेदसंस्कार को उत्पन्न करने वाला पहला भेदानुभव यथार्थ ही मानना पड़ेगा। चूँकि यह भेदानुभव यथार्थ है इसलिए ब्रह्म का विचार या जिज्ञासा करने से भी उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है। ब्रह्मविचार करना निष्फल हो गया अतः हमारे अनुमान में जो 'निष्फल' हेतु दिया गया था वह असिद्ध नहीं है। इसे आगे स्पष्ट कर रहे हैं—]

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भ्रान्ति के रूप में होनेवाला (= अयथार्थ) अनुभव ही संस्कार की उत्पत्ति का साधन है (संस्कार की उत्पत्ति कहीं-कहीं अयथार्थ अनुभव से होती है, यह कहना ठीक नहीं = इसका भी उत्तर दे सकते हैं)। भ्रान्ति के पूर्व में भी अभ्रान्ति (यथार्थ अनुभव) रहेगी ही—अतः कहीं न कहीं प्रमिति (यथार्थ अनुभव) को आवश्यक रूप से स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसके लिए अनुमान भी है—

(१) विवादास्पद ये दोनों आत्मा और अनात्मा भिन्न रूप में ज्ञात होती हैं। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि ये अभेद के योग्य नहीं हैं। (हेतु)

(३) जैसे अन्धकार और प्रकाश [अभेद के योग्य नहीं हैं]। (उदाहरण)

न चात्मानात्मनोरभेदायोग्यत्वलक्षणो हेतुरसिद्ध इति शङ्कनीयम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—अनात्मात्मपरिशेषः स्यादात्मानात्मपरिशेषो वा? आद्ये मुक्तिदशायामिव परिदृश्यमानं जगदस्तमियात्। द्वितीये जगदान्ध्यं प्रसज्येत।

ऊपर जो 'आत्मा और अनात्मा में अभेद (एकरूपता) की अयोग्यता' के रूप में हेतु दिया गया है वह असिद्ध है, ऐसी शंका नहीं करें। कारण यही

है कि नीचे दिये गये विकल्पों में किसी को सहना इसके लिए (शंका के लिए) कठिन है। वे विकल्प हैं--क्या अनात्मा आत्मा का परिशेष (अंग) है या आत्मा ही अनात्मा का परिशेष (अंग) है ? [जो लोग शंका करते हैं कि आत्मा और अनात्मा में जो अभेद की अयोग्यता है वह असिद्ध है—उनसे यह पूछें कि यदि उन दोनों में अभेद की योग्यता है तो वे अभिन्न होंगे --एक का लय दूसरे में होगा, जैसे जल में नमक का लय होता है। अब कहें कि किसमें किसका लय होता है ? आत्मा में अनात्मा का या अनात्मा में आत्मा का ? दूसरे शब्दों में, केवल आत्मा ही अवशिष्ट रहती है या अनात्मा ?] यदि आत्मा ही अवशिष्ट रहती है तो जैसी बात मुक्ति की दशा में होती है उसी तरह यह दृश्यमान जगत् समाप्त हो जायगा। [मुक्ति की दशा में केवल आत्मा ही बचती है, संसार की निवृत्ति हो जाती है। यही दशा सदा रहती।] यदि अनात्मा ही अवशिष्ट रहती है तो समूचा संसार [जड़ हो जाने के कारण] अंधा हो जायगा।

तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वाच्च दृग्दृश्ययोरात्मानात्मनोरभेदायोग्यत्वमवधेयम्। ततश्चार्थाध्यासानुपपत्तौ तत्पूर्वकस्य ज्ञानाध्यासस्यासंभवेन ब्रह्मणो विचार्यत्वासंभवाद्विचारात्मिका चतुर्लक्षणशारीरकमीमांसा नारम्भणीयेति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तोऽभिधीयते—।

[उपर्युक्त विकल्पों को न सहने के अतिरिक्त) अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने के कारण भी, दृक् और दृश्य में अर्थात् आत्मा और अनात्मा में अभेद (तद्रूपता) होने की अयोग्यता है, यह मानना ही पड़ेगा।

इसलिए [आत्मा पर] वस्तुओं के अध्यास (Super-imposition) की सिद्धि नहीं होती। [आत्मा और जड़ में तादूप्य की योग्यता ही नहीं कि एक पर दूसरे का अध्यास हो।] यही नहीं, उसके आधार पर [आत्मा में जो प्रपंच-विषयक लौकिक] ज्ञान है उसका अध्यास भी संभव नहीं। अतः ब्रह्म विचार के योग्य है ही नहीं। फलतः विचार के रूप में जो चार अध्यायों वाली शारीरक-मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) बनायी गई है, उसका आरम्भ नहीं करना चाहिए।

इस पूर्वपक्ष के आने पर अब हम सिद्धान्त का वर्णन करते हैं।

विशेष—अधिकरण में तीसरा अंग पूर्वपक्ष होता है। ब्रह्मजिज्ञासा-अधिकरण (प्रथम सूत्र) का पूर्वपक्ष बहुत दूर तक निरूपित हुआ। इसमें दो मुख्य बातें थीं—ब्रह्मजिज्ञासा के लिए संदेह का अभाव और उसके लिए प्रयोजन का अभाव। दोनों पक्षों पर वादी-प्रतिवादी के तर्कों का उत्थापन करते हुए

विचार किया गया है। इस प्रसंग में वेदान्त के दृष्टिकोण पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। अब उत्तरपक्ष का विचार करते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासा का आरंभ करना चाहिए।

(५. ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ संभव—उत्तरपक्ष)

अहंपदाधिगम्यादन्यदात्मतत्त्वं नास्तीति न वक्तव्यम्। निरस्तसमस्तोपाधिकस्यात्मतत्त्वस्य श्रुत्यादिषु प्रसिद्धत्वात्। न च तेषामुपचरितार्थता। उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया तत्त्वं बोधयतामुपचरितार्थत्वानुपपत्तेः। लिङ्गषट्कं च पूर्वाचार्यैर्दर्शितम्—

३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'अहम्' शब्द के द्वारा जिसका ज्ञान होता है उसके अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं। वास्तव में आत्मा उससे भिन्न है जो श्रुति में प्रसिद्ध है।]

जिसकी सारी उपाधियाँ नष्ट हो गई हैं वह आत्मतत्त्व श्रुति आदि में प्रसिद्ध है। ['अहम्' की प्रतीति से ज्ञेय जो जीवात्मा है वह सोपाधिक है, इसीलिए तो 'अहम्' के रूप में प्रतीत होती है। अहंभाव आदि सभी धर्म औपाधिक हैं। 'सदेव सौम्य०' आदि श्रुतिवाक्यों में जो प्रसिद्ध है वह निरुपाधिक आत्मतत्त्व है तथा ब्रह्म के रूप में है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः', निरुपाधि जीव या आत्मा ब्रह्म ही है। इसीलिए उसका निश्चय करने के लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी आवश्यक है।] उन श्रुतिवाक्यों को उपचार (लाक्षणिक, गौण, अर्थवाद) के अर्थ में लेना (= जीवात्मा की प्रशंसा के रूप में मानना) उचित नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि छह प्रकार के लिंग (साधन) हैं जो तात्पर्य का निर्णय करते हैं, इसलिए उनसे जब तत्त्व (निरुपाधि, अद्वितीय तथा शुद्ध ब्रह्म) का बोध करेंगे तो उन श्रुतिवाक्यों में उपचार-अर्थ असिद्ध हो जायगा।

पहले के आचार्यों ने इन छह प्रकार के लिंगों का निर्देश किया है—'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये तात्पर्य का निर्णय करने के लिए लिंग (साधन) हैं।' [यद्यपि इन्हें आगे समझाया गया है, पर संक्षेप में इनका अर्थ देख लें। किसी प्रकरण में जिस विषय का प्रतिपादन करना है उसका उल्लेख प्रकरण के आदि में करना **उपक्रम** (Introduction) है, प्रकरण के अन्त में करना **उपसंहार** (Conclusion)

है। ये दोनों मिल कर के तात्पर्य-निर्णय के साधन बनते हैं। उपक्रम और उपसंहार में किसी विषय का प्रतिपादन देखकर पूरे प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय समझ में आता है तथा उस प्रकरण के किसी वाक्य का तात्पर्य भी उस संदर्भ में लग जाता है। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन यदि प्रकरण में ही बीच में बार-बार करें तो वह **अभ्यास** (Repetition) कहलाता है। तात्पर्य के निरूपण में इससे भी काफी सहायता मिलती है। जब प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय किसी भी दूसरे प्रमाण से ज्ञात न हो तो उसे **अपूर्वता** (Exclusiveness) कहते हैं। प्रकरण में जहाँ-तहाँ सुनाई पड़ने वाला प्रयोजन **फल** (Purpose) है। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की प्रशंसा करना **अर्थवाद** (Eulogy) है। जिससे प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि हो तथा जो जहाँ-तहाँ सुनाई पड़े वह युक्ति **उपपत्ति** (Proof) है। प्रकरण का तात्पर्य इन्हीं छह लिंगों से निर्णीत होता है।]

विशेष—इन छह लिंगों के बल पर शंकराचार्य छान्दोग्योपनिषद् के निर्दिष्ट अंश के प्रकरण को ब्रह्मपरक मानते हैं। यह उदाहरण मात्र है। विशेष विवरण के लिए उक्त उपनिषद् का छठा प्रपाठक देखना अनिवार्य है।

(५ क. उपक्रम आदि लिंगों के उदाहरण—आत्मा की सिद्धि)

तत्र 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्युपक्रमः। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८-१६) इत्युपसंहारः। तयोर्ब्रह्मविषयत्वेन ऐकरूप्यमेकलिङ्गम्। असकृत् 'तत्त्वमसि' (६।८-१६) इत्युक्तिरभ्यासः। मानान्तरागम्यत्वमपूर्वत्वम्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम्।

उनमें 'हे सौम्य ! सबसे पहले यह सत् ही था' (छां० ६।२।१) यह **उपक्रम** है [चूँकि छांदोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में प्रकरण के आदि में ही है तथा निरुपाधिक केवल सत् के रूप में विद्यमान, अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है।] 'यह सब कुछ उसके रूप में ही हैं, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह तुम ही हो' (छां ६।८-१६ तक प्रत्येक खंड के अन्त में नौ बार)—यह उपसंहार है। ये दोनों लिङ्ग ब्रह्म के विषय में होने के कारण एक रूप—एक ही प्रकार के लिङ्ग हैं। 'वह तुम ही हो' ऐसा अनेक बार कहना अभ्यास है। [छठे अध्याय या प्रपाठक में इसे नौ बार कहा गया है। प्रत्येक खंड का उपसंहार करते हुए 'तत्त्वमसि' कहा गया है।]

दूसरे प्रमाण से अज्ञेय होना अपूर्वता है। [अद्वितीय आत्मा को दूसरे प्रमाणों से भी जान सकते हैं। परन्तु उसका प्रदर्शन नहीं हुआ है। 'मैं उस औपनिषद पुरुष को पूछता हूँ' (बृ० ३।९।२६) इत्यादि वाक्य इसकी पुष्टि करते हैं कि उस पुरुष का ज्ञान उपनिषद् के अतिरिक्त किसी भी दूसरे साधन से नहीं हो सकता।] उसी प्रसंग में, एक के जानने से सबों का ज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है [जैसे, येनाश्रुतं श्रुतं भवति (छां० ६।१।३) तथा आगे भी।] यही फल है।

सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादाः। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तयः। तस्मादेतैर्लिङ्गैर्वेदान्तानां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मपरत्वं निश्चेतव्यम्। तदित्थमौपनिषदस्यात्मतत्त्वस्याहमनुभवेऽनवभासमानत्वात्तस्यानुभवस्याध्यस्तात्मविषयत्वं सिद्धम्।

सृष्टि (Creation), स्थिति (Sustention), प्रलय (Dissolution), प्रवेश (Entrance) तथा नियमन (Control)—ये [ब्रह्म के विषय में दिये गये] पाँच अर्थवाद हैं। [यद्यपि ब्रह्म सत्, निष्कल आदि है किन्तु सगुण का आरोप करके उसकी कतिपय शक्तियों की प्रशंसा उपनिषदों में हुई है। वह अर्थवाद है। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६।२।३) में अद्वितीय ब्रह्म से सृष्टि का वर्णन किया गया है। 'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छां० ६।८।४)—यहाँ स्थिति और नियमन दोनों का वर्णन है। 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छां० ६।८।६) में प्रलय का निरूपण है। 'इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२)—इसमें प्रवेश का वर्णन है। इस प्रकार श्रुति में निरूपित सृष्टि आदि क्रियाओं के द्वारा ब्रह्म की प्रशंसा हुई है।]

मृत्तिका आदि के दृष्टान्त उपपत्ति हैं। [अद्वितीय वस्तु की सिद्धि के लिए उक्त प्रसंग में मिट्टी का उदाहरण दिया गया है कि केवल मिट्टी का पिंड जान लेने से मिट्टी के बने सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। वे विकृत रूप—खिलौना, घड़ा, सुराही आदि—केवल वाणी के खेल हैं। विभिन्न नामों से पुकारे जाने के कारण ये विभिन्न पदार्थ नहीं हैं—सत्य तो केवल मिट्टी है। ठीक उसी प्रकार सारे पदार्थों के नाम और रूप भ्रम हैं, वाणी के विकार हैं—सत्य केवल ब्रह्म है। उसी के अध्यस्त रूप ये पदार्थ हैं। यह युक्ति ही उपपत्ति है। देखिये—'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो

नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' (छां० ६।१।४)। इस प्रकार विभिन्न उपनिषदों में भी छह लिङ्गों का निरूपण हुआ है। इसके स्पष्ट विवरण के लिए वेदान्त-सार देखें।]

इस प्रकार इन लिंगों से यह निश्चय कर लेना चाहिए कि सभी उपनिषदों (वेदान्तों) का तात्पर्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म को आत्मरूप में दिखाना है। तो, इस तरह उपनिषदों में प्रतिपादित जो आत्मतत्त्व है वह 'अहम्' के अनुभव में प्रतीत नहीं होता। [हमारा 'अहम्' का अनुभव आत्मा नहीं है। आत्मा शुद्ध वही है जो उपनिषदों में प्रतिपादित है।] इसलिए यह सामान्य अनुभव अध्यस्त (आरोपित) आत्मा के विषय में है, यह सिद्ध हुआ। [आत्मत्व का आरोपण देहादि पर होता है। उसी से संबद्ध प्रतीति हमें 'अहम्' के रूप में होती है, शुद्ध आत्मा को नहीं। यह आरोपण भ्रममूलक है। जैसे चाँदी के रूप में सीपी प्रतीत (अवभासित) होती है, उसी तरह आत्मा के रूप में देह प्रतीत होती है। कुछ लोग कह सकते हैं कि 'अहम्' के अनुभव में निर्विशेष ब्रह्म का अवभास भले ही न हो किन्तु जीवात्मा की प्रतीति तो होती होगी। वैशेषिक-दर्शन में ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा स्वीकृत भी है जो प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है और विशेषणयुक्त है। इसलिए 'अहम्' का अनुभव आरोपित आत्मत्व से युक्त देहादि के विषय में होता है। परन्तु यह कहना युक्ति-युक्त इसलिए नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा के लिए कोई प्रमाण ही नहीं।]

(६. आत्मा का अध्यास—वैशेषिक-मत की परीक्षा)

कणभक्षाक्षचरणादिकक्षीकृतस्यात्मनो भानाभावादहमनुभवस्याध्यस्तात्मविषयत्वमेषितव्यम्। न तावदहमनुभवः सर्वगतत्वमात्मनोऽवगमयितुमिष्टे। अहमिहास्मि सदने जानान इति प्रादेशिकत्वग्रहणात्। न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वं प्रतिभासत इति वेदितव्यम्। अहमित्युल्लेखायोगात्।

कणाद या गौतम आदि के द्वारा स्वीकृत जो आत्मा है उसकी भी प्रतीति ['अहम्' के अनुभव से] नहीं होती है अतः 'अहम्' के अनुभव को अध्यस्त आत्मा का ही विषय समझना चाहिए। [अब यह दिखलाते हैं कि न्याय-वैशेषिक में स्वीकृत आत्मा का प्रतिभास क्यों नहीं होता—] यह 'अहम्' का अनुभव आत्मा के विभुत्व का बोध नहीं करा सकता। [स्मरणीय है कि वैशेषिक-दर्शन में आत्मा को विभु मानते हैं। 'अहम्' के अनुभव में विभुत्व

का कहीं लेश भी नहीं है। अतः वैशेषिकों के द्वारा संमत आत्मा भी 'अहम्' के रूप में प्रतिभासित नहीं होती।] कारण यह है कि 'मैं यहाँ पर घर में जाननेवाला हूँ' इस वाक्य में ['अहम्' अनुभव वाली आत्मा की] प्रादेशिकता का बोध होता है [उसकी विभुता का नहीं]। यहाँ पर शरीर की प्रादेशिकता का बोध नहीं होता है क्योंकि 'अहम्' के रूप में शरीर का उल्लेख नहीं किया जाता है।

विशेष—'मैं यहाँ पर घर में जाननेवाला हूँ' इस वाक्य में तीन खण्ड हैं। 'मैं' शब्द से आत्मा की प्रतीति होती है, 'घर' से प्रादेशिकता की जो विभुता की उलटी है, 'जाननेवाला' से ज्ञाता की। ये तीनों धर्म एक के ही प्रतीत होते हैं। किन्तु इस वाक्य में वर्णन किसका है? क्या शरीर का? नहीं, क्योंकि शरीर न तो आत्मा ही है और न ज्ञाता ही। तो क्या आत्मा का वर्णन है? वह नहीं, क्योंकि आत्मा वैशेषिकों के अनुसार प्रादेशिक नहीं, विभु है। फल यह होगा कि ऐसे वाक्यों की सिद्धि व्यवहार में आने पर भी नहीं हो सकेगी।

यदि यह उत्तर दिया जाय कि घर में यद्यपि विभु आत्मा की संभावना नहीं हो सकती किन्तु आत्मा का एक भाग तो घर में रह सकता है इसलिए उस रूप में यह प्रतीति हो सकती है—तो इसका भी प्रत्युत्तर होगा कि जब आत्मा के भाग इस तरह होने लगेंगे तो घर में रहनेवाले व्यक्ति को भी 'वन में हूँ' ऐसी प्रतीति हो सकेगी। इसलिए अध्यास से ही उक्त प्रतीति की सिद्धि करनी चाहिए।

कुछ लोग फिर कहते हैं कि उक्त प्रतीति तो आहार्य आरोप से भी सिद्ध हो सकती है। बाधज्ञान होने पर भी जो आरोप किया जाता है वह आहार्य आरोप कहलाता है जैसे—यह आदमी सिंह है। यहाँ पर आरोप के समय बाधज्ञान है ही कि यह आदमी वास्तव में सिंह नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में आरोप दो प्रकार का संभव है—(१) आत्मा के धर्मों का शरीर पर आरोप और (२) शरीर के धर्मों का आत्मा पर आरोप। अब इन पक्षों का क्रमशः विचार करते हैं।

ननु यथा राज्ञः सर्वप्रयोजनविधातरि भृत्ये 'ममात्मा भद्रसेनः' इत्युपचारः, तद्वदात्मवचनस्याहंशब्दस्य देह उपचार इति चेत्—मैवं वोचः। अचरितात्मभावस्य देहादेः स्वसमानाकृतिशिलापुत्रकादिवज्ज्ञातृत्वायोगात्। न च ज्ञातृत्वमप्युपचरितम्। प्रयोक्तुः स्वप्रतिपत्तिप्रकाशके प्रयोगे प्रतिपत्तृत्वोपचारानुपपत्तेः।

[आत्मा के धर्मों का शरीर पर आरोप—इस पक्ष को लेकर शंका हो रही है। यदि ऐसा कहें कि] जैसे किसी राजा के सभी काम करनेवाले नौकर को वह राजा औपचारिक (लाक्षणिक) रूप से कहता है कि यह भद्रसेन मेरी आत्मा है, उसी प्रकार आत्मा के वाचक 'अहम्' शब्द का देह पर उपचार (आरोप) होता है। [राजा का आरोप नौकर पर=आत्मा का आरोप देह पर।] इसके उत्तर में हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। आत्मा के धर्मों का आरोप (उपचार) हो जाने पर भी शरीर उसी तरह ज्ञाता नहीं बन सकता जिस प्रकार शरीर के समान आकार वाली पाषाण-प्रतिमा [अचेतन होने के कारण ज्ञाता नहीं बन सकती। इसलिए 'अहमिह अस्मि सदने जानानः' इस वाक्य में 'जानानः' (जाननेवाला) शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती।]

ऐसा भी नहीं कह सकते कि [जैसे शरीर पर आत्मा की कल्पना हुई है वैसे ही] उसका ज्ञाता होना भी कल्पित (उपचरित) है। ज्ञाता के अपने ज्ञान के प्रकाशक प्रयोग में ज्ञातृत्व का उपचार (कल्पना) नहीं हो सकता। [ज्ञाता अपने ज्ञान के प्रकाशन के लिए अपने ज्ञान के अनुसार वाक्यों का प्रयोग करता है—वह चाहे मुख्य वृत्ति से करे या गौण वृत्ति से, लेकिन ज्ञाता ही इसे कर सकता है दूसरा नहीं। जब वह ज्ञाता गौणवृत्ति से प्रयोग करना चाहता है तब वह ऐसे धर्म की कल्पना करता है जो कहीं पर अविद्यमान भी हो सकता है। फलतः ज्ञाता, कल्पना करनेवाला और प्रयोग करनेवाला—ये तीनों एक ही हैं। 'अहं' से उसीका बोध होता है। यदि 'अहं' से देह का ही बोध करें जिस पर ज्ञातृत्व की कल्पना की गई हो तो वह देह अपने ही अन्तर्गत रहने वाले ज्ञातृत्व की कल्पना करने वाली भी कैसे हो जायगी ? दूसरे, जिस देह पर ज्ञातृत्व कल्पित हो वह वास्तव में तो ज्ञाता है नहीं—क्योंकि ज्ञातृत्व कल्पित है—इसलिए वह प्रयोक्ता भी नहीं बन सकती। कल्पित वस्तु से वास्तव में कोई सचमुच का काम नहीं ले सकते। कल्पित अग्नि से कोई जल नहीं सकता और न कल्पित सिंह किसी को खा सकता है। देह पर आत्मा के धर्मों का आरोप होने से देह आत्मा की तरह ज्ञाता, प्रयोक्ता और कल्पक नहीं बन सकती। आरोप कुछ और है, वास्तविकता कुछ और।]

अथ देहधर्मः प्रादेशिकत्वमात्मन्युपचर्येत तदा देहात्मनोर्भेदेन भवितव्यम्। प्रसिद्धभेदे माणवके सिंहशब्दवत्सांप्रतिकगौणत्वे तिरोहितभेदेन सार्षपादौ रसे तैलशब्दवन्निरूढगौणत्वे वा गौणमुख्ययोर्भेदाध्यवसायस्य नियतत्वात्।

[शरीर का आरोप आत्मा पर, इस पक्ष पर विचार करने के लिए शंका

करते हैं। वे कहते हैं कि] अब यदि शरीर के धर्म अर्थात् प्रादेशिकत्व (किसी एक स्थान में होना—जैसे घर में) का आरोप आत्मा पर औपचारिक रूप में करें तो शरीर और आत्मा में भेद होगा ही। जहाँ भेद स्पष्ट हो वहाँ पर माणवक पर सिंह शब्द के आरोप की तरह सांप्रतिक (कभी-कभी प्रयुक्त) गौणता होने पर अथवा जहाँ भेद अस्पष्ट हो वहाँ पर सरसों आदि के रस पर शब्द के आरोप की तरह निरूढ़ (परंपरा से प्रयुक्त) गौणता होने पर गौण और मुख्य अर्थों में भेदज्ञान निश्चित होता है। [कहने का अर्थ यह है—जहाँ बुद्धिपूर्वक एक के धर्म का दूसरे पर आरोप करते हैं वहाँ पर पहले दोनों का भिन्न रूप में ज्ञान होना आवश्यक है। 'सिंहो माणवकः' वाक्य में सिंह से माणवक का भेद प्रसिद्ध है। क्रूरता आदि गुणों को देखकर माणवक पर सिंह का आरोप हुआ है। यहाँ पर गौणता सांप्रतिक (Occasional) है, निरूढ़ (Constant) नहीं। माणवक पर सिंह का आरोप तो कभी-कभी ही होता है। जब गौण होने पर भी शब्द प्रयोग या प्रसिद्धि के कारण रूढ़ शब्द के समान सदा प्रयुक्त होता है तो उसे निरूढ़ गौणता कहते हैं। तैल का अर्थ है तिल का रस जो मुख्य अर्थ है। अब गौणरूप से तैल का प्रयोग दूसरे बीजों के रसों पर भी होता है जैसे—सार्षपः तैलः (सरसों का तैल)। ऐसा प्रयोग रूढ़ हो गया है इसलिए इसे निरूढ़ गौणता कहते हैं। स्मरणीय है कि सरसों और तिल के तेलों में भेद विद्यमान रहने पर भी तिरोहित हो गया है। 'तैल' शब्द की गौणता की प्रतीति भी भेदज्ञान वालों को ही हो सकती है क्योंकि इस तरह का प्रयोग बिल्कुल रूढ़ हो गया है। किसी भी दशा में, आहार्य आरोप की स्थिति में, आरोप्यमाण और आरोप के विषय का भेदज्ञान होना आवश्यक है। जहाँ भी गौणता है वहाँ भेदज्ञान भी होगा। आत्मा देह से भिन्न रूप में प्रतीत नहीं होती इसलिए यहाँ आहार्य आरोप से गौणी वृत्ति का सहारा नहीं लिया जा सकता है।]

अथ मम शरीरमिति भेदभानसंभवाद्गौणत्वं मन्येथाः, तदयुक्तम्। अहंशब्दार्थस्य देहादिभ्यो निष्कृष्यासाधारणधर्मवत्त्वेन प्रतिभासमानत्वाभावात्। अपरथा लोकायतिकमतं नोदयमासादयेत्। मम शरीरमित्युक्तिस्तु 'राहोः शिरः' इतिवदौपचारिकी।

[वेदान्ती लोग पूर्वपक्षी का उत्तर दे रहे हैं।] यदि आप लोग (=पूर्वपक्षी) 'मम शरीरम्' (मेरा शरीर) इस वाक्य में भेदज्ञान की संभावना रखते हुए

(आहार्य आरोप से ही) गौणता मानते हैं तो यह भी ठीक नहीं। देहादि से बिल्कुल अलग हटकर असाधारण धर्म से युक्त पदार्थ के रूप में 'अहम्' शब्द का अर्थ प्रतीत नहीं होता। ['मम शरीरम्' में देहादि को ही आत्मा के रूप में समझते हैं। यदि आत्मा को देहादि से पृथक् करके असाधारण धर्म से युक्त पदार्थ के रूप में उसका अनुभव ही करते तो ऐसे अनुभव के विरुद्ध] लोकायतिक-मत [कि देह ही आत्मा है] उत्पन्न नहीं हो सकता था।

[जब देह में आत्मा की प्रतीति होती है तो 'मम शरीरम्' वाक्य में स्पष्ट प्रतीत होने वाला भेद कहाँ रहेगा ? इसी पर उत्तर देते हैं कि] 'मेरा शरीर' इस तरह की युक्ति (Expression) औपचारिक (लाक्षणिक) है। (यद्यपि आत्मा और देह में अभेद की प्रतीति होती है फिर भी किसी तरह भेद की कल्पना करके इसका निर्वाह कर लें] जैसे 'राहोः शिरः' (राहु का सिर) इस वाक्य में करते हैं। [राहु ही सिर है और सिर ही राहु, फिर भी अन्य प्राणियों की तरह राहु के शरीर की कल्पना करके उसके शरीर के इस विशेष भाग सिर का बोध करते हैं। वैसे ही 'मम शरीरम्' में करें]

विशेष—आत्मा और शरीर को एक मानने वाले वेदान्ती हैं जो यह इसलिए स्वीकार करते हैं कि इस भ्रमज्ञान को हटाने के लिए ब्रह्मजिज्ञासा की आवश्यकता सिद्ध करें। आत्मा और शरीर में भेद मानने वाले पूर्वपक्षी हैं जो इसलिए मानते हैं कि दोनों में स्पष्ट प्रतीत होने वाला भेद रहने के कारण ब्रह्मजिज्ञासा की निरर्थकता सिद्ध करें। यद्यपि अभी शंकर की ओर से उत्तर-पक्ष चल रहा है परंतु जहाँ-तहाँ समस्याओं के रूप में पूर्वपक्ष के दर्शन भी हमें हो रहे हैं। अब शंकराचार्य की तरफ से आत्मा और शरीर की अभेद-प्रतीति का साधक प्रमाण दिया जा रहा है। स्मरणीय है कि यह केवल प्रतीति है, वास्तविकता या परमार्थ नहीं।

मम शरीरमिति ब्रुवाणेनापि कस्त्वमिति पृष्टेन वक्षस्थलन्यस्तहस्तेन शृङ्गग्राहिकयाऽयमहमिति प्रतिवचनस्य दीयमानत्वेन देहात्मप्रत्ययस्य सकलानुभवसिद्धत्वात्। तदुक्तम्—

४. देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥ इति।

तथा च व्यापकस्य भेदभानस्य निवृत्तेर्व्याप्यस्य गौणत्वस्य निवृत्तिरिति निरवद्यम्।

'मेरा शरीर' ऐसा कहने वाले पुरुष से भी जब यह पूछा जाता है कि तुम

कौन हो [यह तो तुम्हारा शरीर हुआ], तो वह अपने वक्षस्थल पर हाथ रख कर, शृङ्ग-ग्राहिका न्याय से (= पशुओं की सींग पकड़-पकड़ कर उनका निर्देश करना कि यह ऐसा है), यही उत्तर देता है कि मैं यह हूँ। इस तरह सबों के अनुभव से यही बात सिद्ध होती है कि देह आत्मा है, यह प्रतीति होती ही है। इसे कहा भी है—'जिस प्रकार आत्मा के रूप में देह की प्रतीति (Apprehension) प्रामाणिक मानी जाती है उसी प्रकार लौकिक प्रमाण तभी तक है जब तक आत्मा का निश्चय (साक्षात्कार) नहीं हो जाता।' [आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर, लौकिक या व्यावहारिक जगत् में प्रमाण के रूप में प्रतीत होने वाले पदार्थ, मिथ्या हो जाते हैं—केवल ब्रह्म या आत्मा की ही सत्ता रह जाती है।]

इसलिए इस व्यापक भेदज्ञान के मिट जाने से उस [भेदज्ञान] के द्वारा व्याप्य गौणता की भी निवृत्ति हो जाती है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। [ऊपर दिखा चुके हैं कि गौणता (व्याप्य) और भेदज्ञान (व्यापक) में व्याप्ति संबंध है। जहाँ-जहाँ गौणता है वहाँ-वहाँ भेदज्ञान रहता है। व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति भी हो जायगी।]

विशेष—भेद (पूर्वपक्षी) और अभेद (वेदान्ती) का झगड़ा अभी कहाँ समाप्त हुआ है? पूर्वपक्षियों का अखाड़ा अभी यथापूर्व लगा हुआ है। शंकराचार्य भी उन्हें अच्छी तरह पीस देने की चिंता में लगे हैं। पूर्वपक्षी भेदसिद्धि के लिए दूसरा तर्क देते हैं।

(६ क. आत्मा के अध्यास की पुनः सिद्धि—भेद का खण्डन)

नन्वभिज्ञया भेदसिद्धिर्मा संभून्नाम। प्रत्यभिज्ञया तु सोऽहमित्येवंरूपया तत्सिद्धिः सम्भविष्यतीति चेत्—न। विकल्पासहत्वात्। किमियं प्रत्यभिज्ञा पामराणां स्यात् परीक्षकाणां वा? नाद्यः। देहव्यतिरिक्तात्मैक्यमवगाहमानायाः प्रत्यभिज्ञाया अनुदयात्। प्रत्युत श्यामस्य लौहित्यवत्कारणविशेषादल्पस्यापि महापरिमाणत्वमविरुद्धमनुभवतां तद्देह एव तस्याः सम्भवाच्च।

एक शंका की जाती है कि मान लिया कि ['मैं स्थूल हूँ' इस प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण 'मेरा शरीर'—इस] अभिज्ञा या ज्ञान से [जीव और शरीर के बीच] भेद की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु 'वह मैं हूँ' (सोऽहम्)

इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) से तो उस भेद की सिद्धि संभव है ? [सः = परमात्मा, अहम् = जीवात्मा । उन दोनों की एकता तभी सम्भव है जब आत्मा को देह से भिन्न मानें । यदि देह ही आत्मा होती तो वह कभी भी परमात्मा नहीं बन सकती थी । तो, देह और आत्मा में भेद है, अतः 'अहम्' की प्रतीति को गौण कहा जा सकता है ।]

[पूर्वपक्षियों की इस शंका पर शंकर कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं है। नीचे दिये गये विकल्पों में किसी को सहने की क्षमता उक्त तर्क में नहीं है। अच्छा, यह प्रत्याभिज्ञा क्या मूर्खों को होती है या परीक्षकों (विद्वानों) को ?

मूर्खों को तो वह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती जिसमें देह से भिन्न आत्मा की [परमात्मा से] एकता प्रतिभासित हो । [मूर्ख लोग देह से भिन्न जीवात्मा की प्रतीति नहीं कर सकते । किन्तु प्रत्यभिज्ञा में देहभिन्न जीवात्मा की परमात्मा से एकता प्रतीत होती है अतः मूर्ख उस ज्ञान से वंचित हैं। अब शंकराचार्य अपने ढंग से 'सोऽहम्' की व्याख्या करते दिखलाई पड़ते हैं।] बल्कि किसी विशेष कारण से जैसे काला पदार्थ लाल हो जाता है उसी तरह छोटी वस्तु भी बहुत बड़ा परिमाण (आकार) धारण कर लेती है, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता । इस तरह का अनुभव करनेवाले लोगों को तो देह (देहरूपी जीवात्मा) में प्रत्यभिज्ञा हो सकती है । [अभिप्राय यह है कि अग्नि-संयोग से काला घड़ा लाल हो जाता है, मिट्टी-जल आदि के संयोग से छोटा बीज बड़ा वृक्ष बन जाता है । वैसे ही देहरूपी जीवात्मा भी कारण विशेष से परमात्मा बन जाती है । ऐसी संभावना के द्वारा 'सोऽहम्' प्रत्यभिज्ञा हो ही सकती है । अतः 'सोऽहम्' की सिद्धि के लिए देह और आत्मा में भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है । जीवात्मा (देहरूपी भी) स्वाभाविक गति से परमात्मा बन जाती है यदि कारण वर्तमान हों—भेद ज्ञान की कहीं अपेक्षा नहीं है ।]

न द्वितीयः । व्यवहारसमये पामरसाम्यानतिरेकात् । अपरोक्षभ्रमस्य परोक्षज्ञानविनाश्यत्वानुपपत्तेश्च । यदुक्तं भगवता भाष्यकारेण—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' (ब्र० सू० १।१।१ भा०) इति । भामतीकारैरप्युक्तं—शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विचारयन्ति, न प्रतिपत्तार इति । तथा चात्मगोचरस्याध्यासात्मरूपत्वं सुस्थम् ।

विद्वानों को भी वह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि व्यवहार के समय विद्वान् भी मूर्खों की तरह ही [सामान्य धर्म से युक्त रहते हैं । जो विद्वान् श्रवण और मनन में कुशल हैं, किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है

वे आगम और उपपत्ति के द्वारा जीवात्मा को देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न समझ लेते हैं। किन्तु जहाँ तक प्रमाण और प्रमेय के प्रयोग का प्रश्न है वे सामान्य जीवों की तरह हैं। जैसे देह को आत्मा के रूप में समझकर अहंभाव से युक्त होकर दूसरे प्राणी व्यवहार करते हैं वैसे ही ये भी करते हैं। यदि प्रत्यभिज्ञा की सत्ता मानें तो दूसरे लोगों की तरह उनका व्यवहार नहीं रह पायेगा। दूसरी ओर जिन परीक्षकों ने तत्त्व का साक्षात्कार भी कर लिया है उनमें तो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी ही नहीं है—उस पर आधारित भेदसिद्धि तो दूर की बात है।]

दूसरी बात यह है कि अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) में होने वाला भ्रम परोक्ष-ज्ञान से नष्ट नहीं हो सकता। [रस्सी में किसी को साँप का भ्रम प्रत्यक्ष रूप से हो रहा है। यदि उसे कहें कि इस स्थान पर साँपों का होना संभव नहीं है, तो परोक्षज्ञान से संबद्ध इस वाक्य से भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। आप्तवाक्य से भ्रम का ज्ञान हो जा सकता है, पर निवृत्ति नहीं। निवृत्ति तो 'यह साँप है' इस प्रत्यक्ष अनुभव से ही संभव है। उसी तरह हमें भ्रम देह आत्मा को लेकर है, उसकी निवृत्ति के लिए 'सोऽहम्' की प्रत्यभिज्ञा दे रहे हैं जो परोक्षज्ञान है। तो भ्रम की निवृत्ति कैसे हो सकती है।]

इसीलिए भगवान् भाष्यकार (शंकराचार्य) ने कहा है—'[शास्त्रचिंतक होने पर भी ब्रह्म का साक्षात्कार बिना हुए विद्वान् व्यवहार-दशा में] पशुओं से भिन्न नहीं हैं।' [शंकराचार्य ने भाष्य के आरंभ में ही अध्यास का निरूपण करते समय इसका निरूपण किया है। व्यावहारिक दशा में पशु और शास्त्रज्ञ के व्यवहार में कोई अंतर नहीं। उन्होंने लिखा है कि हाथ में डंडा उठाये हुए किसी व्यक्ति को देखकर पशु हट जाता है, वही पशु जब किसी के हाथ में हरी घास देखता है तो उसकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। वैसे ही शास्त्रज्ञ पुरुष भी अपने शरीर के नाशक, हाथ में शस्त्र लिए बलवान् पुरुष को देखकर भाग खड़े होते हैं, अन्य पुरुषों के प्रति प्रवृत्त होते हैं अतः इनका प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार पशुओं के समान ही है। जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता उनका मोह दूर नहीं होता।]

भामतीकार (वाचस्पति मिश्र) ने भी कहा है—'शास्त्रचिंतक (ब्रह्म साक्षात्कार-हीन किन्तु श्रवण और मनन से युक्त) लोग ही इस तरह का विचार (पशुवत् व्यवहार) करते हैं, आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाले (प्रतिपत्तारः) लोग नहीं।' इस प्रकार यह सुस्थिर (सिद्ध) हो गया कि हमें जो आत्मा के रूप में प्रतीत होता है, वह वस्तुतः आत्मा के अध्यास (शरीर पर आत्मा का अध्यास) के रूप में है।

विशेष—अभी तक न्याय-वैशेषिक के मत में स्वीकृत आत्मा का खण्डन करके आत्मा की अध्यासरूपता सिद्ध कर रहे थे। अब जैन-मत की आत्मा पर विचार करते हैं। जैन लोग आत्मा (जीव) को विभु नहीं मानते किन्तु उसका परिमाण शरीर के तुल्य है, यही मानते हैं। ऐसी दशा में 'अहमिहास्मि सदने जानानः' इस तरह की प्रतीति न्याय-वैशेषिक में भले ही गौणरूप से मानी जाय कि आत्मा के विभु होने के कारण प्रादेशिकता का आरोप उस पर कैसे हो, परन्तु यहाँ तो कोई वैसी बात नहीं—जितना बड़ा जीव उतना बड़ा शरीर; जहाँ शरीर वहाँ जीव। अतः प्रादेशिकता का प्रश्न सहल हो जाता है। अब इस पक्ष का विश्लेषण और खंडन करने के लिए शंकर संनद्ध हो गये हैं।

(६ ख. जैनमत में स्वीकृत जीव पर विचार)

न चार्हतमतानुसारेणाहंप्रत्ययप्रामाण्यायात्मनो देहपरिमाणत्वमङ्गीकरणीयमिति सांप्रतम्। मध्यमपरिमाणस्य सावयवत्वेन देहादिवदनित्यत्वे कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया 'अवयवसमुदायः आत्मा' इत्यभ्युपगम्येत तदा वक्तव्यम्। किं प्रत्येकमवयवानां चैतन्यं संघातस्य वा ?

नाद्यः। बहूनां चेतनानामहमहमिकया प्रधानभावमनुभवतामैकमत्याभावेन समसमयं विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरस्यापि विशरणनिष्क्रियत्वयोरन्यतरापातात्।

आप लोग (पूर्वपक्षी) [अपनी युक्ति की रक्षा के लिए] 'अहम्' की प्रतीति की प्रामाणिकता के लिए जैन-मत के अनुसार 'आत्मा शरीर के परिमाण की है' ऐसा नहीं स्वीकार कर सकते हैं। मध्यम परिमाणवाली वस्तु (जो न सर्वाधिक परिमाण रखे और न न्यूनतम ही) अवयवों से युक्त होती है फलतः [आत्मा को] शरीर आदि की तरह ही अनित्य मानना पड़ेगा। उसका परिणाम यह होगा कि किये गये कर्म का नाश और न किये गये फल की प्राप्ति होने लगेगी। [यदि आत्मा अनित्य है तो उत्पत्ति-विनाश-शील है। जिस आत्मा ने किसी शरीर से संबद्ध होकर कोई काम किया वह उसे न मिलकर दूसरी आत्मा को मिल जायगा क्योंकि फल पाने तक तो वह आत्मा बदल ही जायगी। दूसरी आत्मा को जिसने वैसा काम नहीं किया था, वह फल मिल जायगा।]

अब यदि इस दोष से बचने की इच्छा से आप यह सिद्ध कर दें कि

अवयवों का समुदाय आत्मा है, तब हमारे इन विकल्पों का उत्तर दें—[आत्मा में चैतन्य होता है ।] तो चैतन्य प्रत्येक अवयव में है या अवयवों के समूह में ?

पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी दशा में बहुत से चेतन हो जायँगे, वे तू-तू मैं-मैं करते हुए प्रधानता प्राप्त करने के लिए लड़ने लगेंगे—उनमें एक मति तो रहेगी ही नहीं, इसलिए एक ही समय में वे विरुद्ध दिशाओं की क्रिया करने लगेंगे । साथ-साथ शरीर पर भी विपत्ति पड़ेगी कि] या तो वह विदीर्ण (टुकड़े-टुकड़े) हो जायगा या निष्क्रिय ही हो जायगा—दोनों में से एक दशा तो उसकी हो ही जायगी । [यदि आत्मा चेतन अवयवों का समूह है तो सभी अवयवों की सामर्थ्य समान होगी भले ही उनका स्वभाव भिन्न-भिन्न होगा । आपस में विमति होना अनिवार्य है । एक पूर्व की ओर जायगा दूसरा पश्चिम की ओर । ये गतियाँ एक ही शरीर में होंगी । एक ही शरीर दो विरुद्ध दिशाओं में नहीं जा सकेगा—दोनों ओर की खींचतान से देह फट जायगी। यदि दोनों दिशाओं में समान गति हुई तो दोनों में से किसी तरफ देह नहीं जा सकेगी । निदान उसे क्रियारहित होना पड़ेगा ।]

द्वितीयेऽपि संघातापत्तिः किं शरीरोपाधिकी स्वाभाविकी यादृच्छिकी वा ? नाद्यः । एकस्मिन्नवयवे छिन्ने चिदात्मनोऽप्यवयवश्छिन्न इत्यचेतनत्वापातात् । न द्वितीयः । अनेकेषामवयवानामन्योन्यसाहित्यनियमादर्शनात् । न तृतीयः । संश्लेषवद्विश्लेषस्यापि यादृच्छिकत्वेन सुखेन वसतामकस्मादचेतनत्वप्रसङ्गात् ।

यदि दूसरी ओर यह कहते हैं कि समूह में ही चेतनता है तो प्रश्न है कि अवयवों का यह संघात कैसे होता है ? क्या [सिद्ध] शरीर को ध्यान में रख कर यह संघात होता है या स्वभावतः ही होता है या मनमाने ढङ्ग से होता है ? [पहले विकल्प का अर्थ है कि शरीर के जितने अवयव हैं उतने आत्मा के भी हैं । शरीर चूँकि एक है इसलिए आत्मा भी शरीर के अनुसार ही संहत रूप में है । दूसरा विकल्प बतलाता है कि सभी अवयव प्रकृति से ही आपस में मिले हुए हैं । इसमें नियम है । तीसरा विकल्प बिना किसी नियम के मनमाने ढंग से अवयवों का संघात बतलाता है । जब इच्छा हुई मिले, न हुई न मिले ।]

इनमें पहला विकल्प इसलिए ठीक नहीं है कि यदि शरीर का एक अवयव कट जाता है तो आत्मा का भी वह अवयव कट जायगा । इसलिए जीव पर अचेतनता का आरोप हो जायगा । [जीव चेतन है, अवयवों का समूह है ।

एक अवयव के नष्ट होने पर समूह का ही उच्छेद होगा—जीव का विनाश होगा, उसे शरीर की तरह ही अचेतन मानना पड़ेगा। यदि संघात को स्वाभाविक या यादृच्छिक मानेंगे तो यह दोष नहीं आ सकेगा क्योंकि शरीर के अवयवों से आत्मा के अवयवों का कोई उच्छेदात्मक संबंध नहीं रहेगा।]

दूसरा विकल्प इसलिए ठीक नहीं है कि अनेक अवयव एक दूसरे से सदा एक तरह से ही मिले रहेंगे, ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता। [यदि अवयवों में संश्लेष होना स्वाभाविक होता तो चूँकि वस्तु अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होती इसलिए छोटा अवयव भी कभी पृथक् नहीं होता। सभी अवयव एक रूप में ही परस्पर मिले हुए रहते। परन्तु वे जैन ही यह नहीं मानेंगे। बचपन आदि अवस्थाओं के भेद के या दूसरे जन्म में शरीर के भेद से जीव उतना ही बड़ा हो जाता है इसे वे स्वीकार करते हैं—अतः अवयवों का संश्लेष बदलता रहता है। जीव बढ़ता-घटता है।]

तीसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यदि मनमाने ढंग से संश्लेष (Conjunction) होता है तो इसी तरह विश्लेष (Disjunction) भी तो होगा। इसलिए सुख से (निश्चित) पड़े हुए जीव अकस्मात् अचेतन हो जायँगे [जब कि उनका विश्लेष होगा। जब सब कुछ मनमाना ही है तो क्या पता कि कब विश्लेष हो जाय—अवयवों का संघात टूट जाय, इसलिए जीव पर अचेतनता की आपत्ति कभी भी आ सकती है। परन्तु वास्तव में जीव को चेतन सदा मानना चाहिए।]

न चाणुपरिमाणत्वमात्मनः शङ्कनीयम् । 'स्थूलोऽहम्' 'दीर्घोऽहम्' इति प्रत्ययानुपपत्तेः ।

[अब पूर्वपक्षी सोचते हैं कि आत्मा को अणु के परिमाण में मानकर हम प्रादेशिकता की सिद्धि कर सकते हैं। पर शंकर इस सिद्धान्त को ही काट देते हैं। वे कहते हैं कि] आत्मा अणु के परिमाण में (Atomic) है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। [उसे स्वीकार करने से आपको लाभ भले ही हो कि इसकी प्रादेशिकता की सिद्धि कर लें] परन्तु 'मैं मोटा हूँ', 'मैं लंबा हूँ' ऐसी प्रतीतियों की सिद्धि (Explanation) नहीं की जा सकती।

(७. विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन—विज्ञान आत्मा)

न च विज्ञानात्मभाषिणां नैष दोषः । विशुद्धसावयवत्वाभावादिति गणनीयम् । यः सुषुप्तः सोऽहं जागर्मीति स्थिरगोच-

रस्याहमुल्लेखस्य क्षणभङ्गिविज्ञानगोचरत्वे अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूप-मिथ्याध्यासस्य तदवस्थानात् ।

ऐसा नहीं समझें कि विज्ञान को आत्मा माननेवाले [बौद्धों के] मत में यह दोष नहीं लगता। (विज्ञानवादी लोग विज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। उसकी प्रतीति भी 'अहम्' के रूप में ही होती है। किन्तु यहाँ 'अहम्' देहादि के आकार में रहता है क्योंकि ज्ञान साकार है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा का प्रादेशिक होना या स्थूल होना—सब कुछ सिद्ध हो जायगा। कोई बात असिद्ध नहीं रहेगी। शरीर के अवयवों के कट जाने से इसके कटने का प्रसंग भी नहीं उठेगा। कारण यह है विज्ञान प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है। जब जैसा शरीर मिला—तब तैसा विज्ञान हो गया।] वह जानना चाहिए कि विज्ञान में विशुद्ध अवयव नहीं रहते। [शरीर मूर्त परमाणुओं का संघात है जब कि विज्ञान (आन्तरिक पदार्थ) स्कन्धों का संघात है। यह काल्पनिक है इसलिए इसके अवयव अलग से सिद्ध नहीं हैं। विशुद्ध का अभिप्राय है दूसरे अवयवों से पृथक् रहकर उत्पन्न होना। अब बतलायेंगे कि विज्ञानवादियों के मत में भी 'अहम्' की प्रतीति मुख्य नहीं है।]

'जो सोया था, वही मैं जाग रहा हूँ' इस वाक्य में 'अहम्' का उल्लेख स्थिर भाव (Entity) के रूप में हो रहा है। दूसरी ओर विज्ञान क्षण भर में ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिए मिथ्या अध्यास तो उसमें अवस्थित मानना पड़ेगा ही। यह अध्यास एक वस्तु में दूसरी वस्तु के बोध के रूप में है। [अस्थिर विज्ञान में स्थिर आत्मा की प्राप्ति के कारण अध्यास अनिवार्य है।]

तदनेन कृशोऽहं कृष्णोऽहमित्यादीनां प्रख्यानानां बुद्ध्या सरूपताख्यानेनौपचारिकत्वं प्रत्याख्यातम् । तद्व्यापकभेदभानासंभवस्य प्रागेव प्रपञ्चितत्वात् । तथा च प्रयोगः—विमतं शास्त्रं विषयप्रयोजनसहितम्, आविद्यकबन्धनिवर्तकत्वात्सुप्तोत्थितबोधवत् ।

तो, इसी के द्वारा, 'मैं पतला हूँ' 'मैं काला हूँ' आदि प्रतीतियों को जो बुद्धि के सरूप कहने से औपचारिक मानते हैं—वह भी खंडित हो गया। [स्मरणीय है कि विज्ञानवादी विज्ञान के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं मानते। बुद्धि ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में होकर अपने सरूप आकार वाले घट आदि बाह्य पदार्थों की कल्पना अपने से भिन्नरूप में करती है।

इससे 'मैं स्थूल हूँ' आदि प्रतीतियों में 'अहम्' की प्रतीति औपचारिक है। परन्तु इस तर्क से उसका भी खंडन हो गया। क्योंकि] हम पहले ही इसे स्पष्ट कर आये हैं कि उस (औपचारिकता) का व्यापक भेदज्ञान होना संभव नहीं है। इसी दर्शन में इसी प्रसंग में अभी-अभी कहा गया है कि औपचारिक होने के लिए भेदज्ञान अनिवार्य है। परन्तु ये विज्ञानवादी बौद्ध यहाँ पर भेदज्ञान स्वीकार करेंगे ही नहीं क्योंकि वे विज्ञान के अतिरिक्त किसी भी वास्तविक पदार्थ की सत्ता नहीं मानते।]

[अभी तक यह सिद्ध कर रहे थे कि 'अहम्' की प्रतीति आत्मा के अध्यास का विषय है। अब यह बतलाते हैं कि उक्त अध्यास की निवृत्ति करने वाले तथा आत्मा जैसा संदिग्ध विषय होने के कारण वेदान्तशास्त्र का आरंभ करें। उसीके लिए अनुमान दे रहे हैं।] अनुमान ऐसा है—

(१) प्रस्तुत शास्त्र विषय और प्रयोजन से युक्त है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि यह अविद्यामूलक बन्धन की निवृत्ति करता है। (हेतु)
(३) जिस प्रकार सो कर उठने पर बोध होता है। (उदाहरण)
[अब दृष्टान्त का स्पष्टीकरण होगा।]

यथा स्वप्नावस्थायां मायापरिकल्पितयोषादिकृतबन्धनिवर्तकस्य सुप्तोत्थितबोधस्य मन्दिरमध्ये सुखेन शय्यायामवतिष्ठमानो देहो विषयः। तस्य सुप्तबोधेनानिश्चयात्। स्वप्नमायाविजृम्भितानर्थनिवृत्तिः प्रयोजनम्। एवं मननादिजन्यपरोक्षज्ञानद्वारेण आध्यासिककर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थनिषेधकस्य शास्त्रस्य सच्चिदानन्दैकरसं प्रत्यगात्मभूतं ब्रह्म विषयः। तस्याहमनुभवेनानिश्चयात्। अध्यासनिवृत्तिः प्रयोजनम्।

जैसे स्वप्न की अवस्था में किसी स्त्री के द्वारा माया से कल्पित बंधन हो जाय तो उसकी निवृत्ति सोकर उठने पर जो बोध होता है उसी से संभव है। [इस अवस्था में बोध का] विषय है वह शरीर जो किसी कोठरी में सुख से बिछावन पर लेटा हुआ है। उसी देह के विषय में सोये हुए व्यक्ति का ज्ञान निर्णय नहीं कर पा रहा है [और जागने पर उसीका बोध निश्चित हो जाता है।] स्वप्न की माया से उत्पन्न (विजृम्भित = व्याप्त) अनर्थ का निवारण करना ही इस [बोध] का प्रयोजन है।

ठीक इसी तरह मननादि से उत्पन्न परोक्ष-ज्ञान के द्वारा, अध्यास से

उत्पन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थों का निवारण शास्त्र (वेदान्त-शास्त्र) से होता है। उस शास्त्र का विषय ब्रह्म है जो [और कोई नहीं,] यह प्रत्यगात्मा या जीव ही है तथा जिसका एकमात्र रस (आस्वादन, अनुभूति) सत्, चित् और आनन्द है। इसी आत्मा के विषय में 'अहम्' के अनुभव के द्वारा निश्चय नहीं किया जा सकता। अध्यास (Superimposition) की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है।

तथा चाफलत्वादिति हेतुरसिद्ध इति सिद्धम्। तदुक्तम्—

५. श्रुतिगम्यात्मतत्त्वं तु नाहंबुद्ध्यावगम्यते।
अपि खे कामतो मोहा नात्मन्यस्तविपर्यये ॥ इति।

इतोऽयमसंदिग्धत्वादिति हेतुरप्यसिद्ध इति सिद्धम्।

इस प्रकार, [पूर्वपक्षी ने जो 'ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए' इसकी सिद्धि के लिए] 'क्योंकि उसका कोई फल नहीं' आदि हेतु दिया था वह असिद्ध है [क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का फल (प्रयोजन) हम दिखला चुके हैं।] इसे कहा है—'जो आत्मतत्त्व एकमात्र श्रुति के द्वारा जाना जा सकता है वह 'अहम्' की बुद्धि (ज्ञान, प्रतीति) से ज्ञात नहीं हो सकता। [अहम् की प्रतीति अध्यास पर आधारित है जिसमें अहंकार (Ego) और आत्मा (Soul) का तादात्म्य कर दिया गया है। आत्मा यद्यपि अप्रत्यक्ष है फिर भी आकाश की तरह उसमें मोह की संभावना होती ही है। आत्मा मिथ्याज्ञान से रहित होने पर मोह से ग्रस्त नहीं होती। इसे ही कहते हैं।] जिस प्रकार यदृच्छा से आकाश पर [रूपादि का अध्यास करते हैं परन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं।] विपर्यय के नष्ट हो जाने पर आत्मा में मोह नहीं होता।'

इसके बाद [पूर्वपक्षी ने जो आत्मा की अजिज्ञास्यता सिद्ध करने के लिए] 'क्योंकि वह संदिग्ध नहीं है' यह हेतु दिया था वह भी असिद्ध है, यह सिद्ध हुआ।

(८. आत्मा के विषय में सन्देह)

यद्यपि सर्वः प्राणी प्रत्यगात्मास्तित्वं प्रत्येत्यहमस्मीति। न हि कश्चिदपि नाहमस्मीति विप्रतिपद्यते। प्रत्यगात्मैव ब्रह्म 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति सामानाधिकरण्यात्। तस्मादात्मतत्त्वमसंदिग्धं सिद्धम्। तथापि धर्मं प्रति विप्रतिपन्ना बहुविधा इति न्यायेन विशेषप्रतिपत्तिरुपपद्यत एव।

यद्यपि सभी प्राणी जीवात्मा के अस्तित्व की प्रतीति करते हैं कि मैं हूँ।

किसी को भी इस तरह की विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि मैं नहीं हूँ। जीवात्मा ही ब्रह्म है क्योंकि 'वह तुम हो' (छा० ६।८।७) इस वाक्य में दोनों को समानाधिकरण दिखाया गया है। इसलिए आत्मतत्त्व बिल्कुल असंदिग्ध है—यह सिद्ध हुआ।

फिर भी यह नियम है कि किसी वस्तु के धर्म को लेकर बहुत तरह के विवाद चलते रहते हैं। इस नियम से तो विशेष की प्रतिपत्ति (प्रतिपादन) हमें करनी ही है।

विशेष—आत्मा धर्मी है जिसके धर्म के विषय में नाना प्रकार के विवाद हैं। अब यहाँ पर आत्मा के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का संग्रह किया जा रहा है।

तथा हि—चैतन्यविशिष्टं देहमात्मेति लोकायता मन्यन्ते। इन्द्रियाण्यात्मेत्यन्ये। अन्तःकरणमात्मेत्यपरे। क्षणभङ्गुरं संतन्यमानं विज्ञानमात्मेति बौद्धा बुध्यन्ते। देहपरिमाण आत्मेति जैना जिनाः प्रतिजानते। कर्तृत्वादिविशिष्टः परमेश्वराद्भिन्नो जीवात्मेति नैयायिकादयो वर्णयन्ति। द्रव्यबोधस्वभावमात्मेत्याचार्याः परिचक्षते।

वे [विवाद] इस प्रकार हैं—लोकायत (चार्वाक) मत वाले मानते हैं कि चैतन्य से युक्त देह ही आत्मा है। इनमें ही कुछ लोग इन्द्रियों को और कुछ लोग मन (अन्तःकरण) को आत्मा मानते हैं। संतान (Series) से युक्त और क्षणभंगुर विज्ञान ही आत्मा है, बौद्धों का बोध इस तरह का है। जिन (विजयी) जैनों की प्रतिज्ञा (Proposition) है कि देह का परिमाण (Dimension) ही आत्मा है। नैयायिक आदि वर्णन करते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर से भिन्न है तथा कर्तृत्व आदि से युक्त है।

आचार्य (कुमारिलभट्ट) कहते हैं कि द्रव्य का स्वभाव (अज्ञान स्वरूप) और बोध का स्वभाव (ज्ञान स्वरूप) आत्मा है [उनका कहना यह है कि 'आत्मानन्दमयः' (तै० २।५।१) में 'आनन्दमय' शब्द से आनन्द की प्रचुरता का बोध होता है, साथ-साथ उसके विरोधी अंश (= द्रव्यांश) का भी, थोड़ा ही सही, अस्तित्व मालूम पड़ता है। सोकर उठने पर कितने आदमी कहते हैं कि मैं सुख से सोया रहा, कुछ स्वप्न में जान नहीं सका। यह दशा सुषुप्ति की थी। यदि इस दशा में प्रकाश नहीं होता तो ऐसा कहना कभी संभव नहीं था कि सुषुप्ति में कुछ बोध नहीं रहता है। इसलिए आत्मा में प्रकाश का अंश

सिद्ध होता है। साथ-साथ बोध का अभाव रहता है इसलिए अप्रकाशांश अर्थात् द्रव्यांश भी उस (सुषुप्ति की) दशा में है। इसीलिए ये लोग आत्मा को द्रव्य-स्वभाव और ज्ञानस्वभाव मानते हैं।]

भोक्तैव केवलं न कर्त्तेति सांख्याः संगिरन्ते। चिद्रूपः कर्तृत्वादिरहितः परस्मादभिन्नः प्रत्यगात्मेत्यौपनिषदा भाषन्ते। एवं प्रसिद्धे धर्मिणि विशेषतो विप्रतिपत्तौ तद्विशेषसंशयो युज्यते। तथा च संदेहसंभवाज्जिज्ञास्यत्वं ब्रह्मणः सिद्धम्।

तदित्थं ब्रह्मणो विचार्यत्वसंभवेन तद्विचारात्मकं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रमारम्भणीयमिति युक्तम्। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इत्यादि सर्वस्य शास्त्रस्यैतद्विचारापेक्षत्वात् शास्त्रप्रथमाध्यायसंगतमिदमधिकरणम्।

सांख्य लोग कहते हैं कि आत्मा (पुरुष) केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं। उपनिषदों के अध्येताओं का कथन है कि जीवात्मा चित् के रूप में, कर्तृत्वादि विशेषणों से रहित तथा परमात्मा से अभिन्न है। इस प्रकार धर्मी (आत्मा) प्रसिद्ध है परन्तु उसके विशेषणों (गुणों) को लेकर विवाद है। इसलिए आत्मा के विशेष (धर्म, गुण) के विषय में संशय होना युक्तिसंगत ही है। और जब संदेह होना संभव है तो ब्रह्म का जिज्ञासा का विषय होना भी सिद्ध है।

अब चूँकि ब्रह्म विचारणीय हो सकता है इसलिए उसका विचार करने वाले ब्रह्म-मीमांसा शास्त्र का आरंभ करना चाहिए, यह उचित है। [इस प्रकार यह उत्तर-पक्ष हुआ।] 'जिससे इस संसार के जन्म आदि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) यहाँ से आरंभ करके यह समूचा शास्त्र इसी ब्रह्म के विचार में लगा हुआ है इसलिए शास्त्र के प्रथमाध्याय (समन्वय से संबद्ध अध्याय) के साथ यह अधिकरण संगत है। [यह **संगति** हुई।]

विशेष— इस प्रकार उदाहरण के लिए प्रथम सूत्र से संबद्ध ब्रह्मजिज्ञासा-अधिकरण का विस्तृत विश्लेषण किया गया। वास्तव में इसमें अधिक स्थान तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष ने ही घेर लिया जिसमें अवान्तर पक्षों और विषयों का भी यथास्थान समावेश कर दिया गया है। इससे लाभ यह हुआ कि दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचय हो गया। वे विषय हैं—आत्मा (ब्रह्म) तथा अध्यास।

(९. ब्रह्म की सिद्धि के लिए आगम प्रमाण)

नन्वित्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा ?

न कदाचित्तत्र प्रत्यक्षं क्रमते। अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानम्। व्याप्तस्य लिङ्गस्याभावात्। नाप्यागमः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै० २।१।१) इति श्रुत्यैवागमगम्यत्वनिषेधात्। उपमानादिकमशक्यशङ्कम्। नियतविषयत्वात् तस्माद् ब्रह्मणि प्रमाणं न संभवतीति चेत्—।

शंका—यह पूछा जा सकता है कि उपर्युक्त ब्रह्म के लिए प्रमाण क्या है—प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम? कभी भी प्रत्यक्ष को तो प्रमाण नहीं ही मान सकते। क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियातीत है [और प्रत्यक्ष की प्राप्ति इन्द्रियों की पहुँच वाले पदार्थों में ही होती है]। अनुमान भी नहीं लग सकता क्योंकि [ब्रह्म से] व्याप्त किसी भी लिंग (साधन) की संभावना नहीं है। आगम प्रमाण भी नहीं लगेगा क्योंकि 'जहाँ से वाणी लौट आती है' (तै० २।१।१) आदि श्रुति के द्वारा ही, ब्रह्म आगम से ज्ञेय है, इसका निषेध किया गया है।

उपमान आदि की शंका तक नहीं की जा सकती क्योंकि इनका विषय (प्रयोगक्षेत्र, Jurisdiction) बिल्कुल सीमित है। इसलिए ब्रह्म के लिए कोई भी प्रमाण संभव नहीं है।

मैवं वोचः। प्रत्यक्षाद्यसंभवेऽपि आगमस्य सत्त्वात्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति वाग्गोचरत्वनिषेधात्कथमेतदिति चेत्—श्रुतिरेव निषेधति वेदान्तवेद्यत्वं ब्रह्मणः श्रुतिरेव विधत्ते। न हि वेदप्रतिपादितेऽर्थेऽनुपपन्ने वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते। अपि तु तदुपपादनमार्गमेव विचारयति। तस्मादुभयमपि प्रतिपादनीयम्।

समाधान—ऐसा न कहें। यद्यपि [ब्रह्म की सिद्धि के लिए] प्रत्यक्षादि प्रमाण संभव नहीं हैं किन्तु आगम की तो सत्ता है। यदि आप कहें कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते (जहाँ से वाणी लौट आती है)' इसमें ब्रह्म के वाणी के गोचर (वाणी से ज्ञेय, प्रकाश्य) होने का निषेध किया गया है, तो हम उत्तर देंगे कि श्रुति ही ब्रह्म के वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ज्ञेय होने का निषेध भी करती है और श्रुति ही विधान भी करती है। [परन्तु इससे घबराना नहीं है।]

वेद में प्रतिपादित अर्थ जब असिद्ध होता है तब उससे वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती, बल्कि उस अर्थ की सिद्धि का रास्ता खोजती है। इसलिए दोनों प्रकार की श्रुतियों का प्रतिपादन (साधन) करना चाहिए।

विषयत्वनिषेधकानि वाक्यानि वाक्यजन्यवृत्तिव्यक्तस्फुरण-

लक्षणफलासंभवविवक्षया प्रवृत्तानि । विषयत्वबोधकानि तु वृत्ति-जन्यावरणभङ्गलक्षणफलसंभवविवक्षया । तदुक्तं भगवद्भिः—

६. अनाधेयफलत्वेन श्रुतेर्ब्रह्म न गोचरः ।
प्रमेयं प्रमितौ तु स्यादात्माकारसमर्पणात् ॥ इति ।

७. न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम् ।
तज्जन्यावृतिभङ्गत्वात्प्रमेयमिति गीयते ॥ इति च ।

[अब सभी प्रकार के श्रुति-वाक्यों में एकवाक्यता का प्रदर्शन करने का प्रयास करते हैं—] श्रुतियों में जो वाक्य ब्रह्म को ज्ञान का विषय नहीं मानते वे इस विचार से प्रवृत्त हुए हैं कि उन वाक्यों से उत्पन्न वृत्ति (ज्ञान) से व्यक्त होनेवाला **स्फुरण** (ज्ञान में अपने आकार का समर्पण) रूपी फल प्राप्त होना असम्भव है । दूसरी ओर जो वाक्य ब्रह्म को ज्ञान का विषय मानते हैं वे इस विचार से प्रवृत्त होते हैं कि उक्त वृत्ति (वाक्यजन्य ज्ञान) से उत्पन्न आवरण-भंग (अज्ञान-नाश) रूपी फल प्राप्त होना संभव है । [जब किसी प्रकार का ज्ञान होता है तो उसके दो फल हैं—आवरणभंग और स्फुरण । प्रक्रिया यह है कि अन्तःकरण बुद्धि के रूप में आकर, अपने अन्तर्गत चिदाभास को लेकर किसी विषय को व्याप्त करता है । बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश (आव-रणभंग) होता है तथा चिदाभास की व्याप्ति से विषय (घटादि) का स्फुरण (प्रकाशन) होता है । बुद्धि अचेतन होने के कारण स्वयं घटादि का प्रकाशन नहीं कर सकती । घटादि ज्ञान की यही विधि है ।* अब ऊपर कहा गया है कि श्रुतियाँ ब्रह्म की ज्ञानगोचरता का विधान भी करती हैं, निषेध भी, निषेध इसलिए करती हैं कि स्फुरण अर्थात् ज्ञान में ब्रह्म के आकार का समर्पण सम्भव नहीं है । अज्ञान का नाश होने पर आत्मा अपने आप स्फुरित होती है । यही कारण है, स्फुरण वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का फल नहीं हो सकता । चिदाभास की व्याप्ति से आत्मा का स्फुरण नहीं होता । इसलिए 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि वाक्य हैं । दूसरी ओर, कुछ वाक्यों में ब्रह्म को ज्ञानगोचर माना गया है । वह इसलिए कि ज्ञान का पहला फल जो अज्ञाननाश है, वह तो सम्भव है न ? अज्ञान-नाश बुद्धि की व्याप्ति से ही होता है इसलिए उसकी सम्भावना में कोई आपत्ति नहीं । फलतः दोनों प्रकार की श्रुतियों का समन्वय (Reconciliation) होता है ।

* देखिये—पंचदशी, (७।९१)
बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥

इसे बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा है—'ब्रह्म श्रुति का विषय इसलिए नहीं बन सकता क्योंकि [ब्रह्म पर स्फुरण रूपी] फल का आरोपण (उत्पादन) [श्रुति] नहीं कर सकती। [ब्रह्म तो स्वयं स्फुरित होता है। श्रुति उस पर स्फुरणरूपी फल का उत्पादन नहीं कर सकती। ब्रह्म] प्रमेय तभी हो सकता है जब वह ज्ञान पर अपने आकार का समर्पण करे। [जैसे घट का स्फुरण, चिदाभास के द्वारा, अपने आकार का समर्पण ज्ञान पर करने से होता है, उस प्रकार से ब्रह्म का स्फुरण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञान-नाश के बाद स्वयं प्रकाशित होता है।]॥ ६ ॥

'ब्रह्म प्रमाण से प्रकाशित नहीं होता क्योंकि उसका प्रकाश अपने आप होता है। [सत्य इतना ही है कि प्रमाण से] आवृति (अज्ञान, आवरण) का नाश होता है [और आवरणभंग से ब्रह्म का स्फुरण होता है] इसलिए ब्रह्म प्रमेय कहलाता है ॥ ७ ॥'

विशेष—जिस स्थान पर ब्रह्म को ज्ञेय कहा गया है वहाँ यह समझें कि अज्ञान-नाश की संभावना की दृष्टि से विचार किया गया है क्योंकि अज्ञान-नाश भी ज्ञान ही है। जहाँ पर ब्रह्म को अज्ञेय कहा गया है वहाँ यह समझें कि स्फुरण की असंभावना का दृष्टिकोण है। स्फुरण ज्ञान का अंतिम फल है। स्फुरण की असंभावना का अर्थ है कि किसी प्रमाण के द्वारा स्फुरण नहीं होना। वस्तुस्थिति के अनुसार ब्रह्म का स्फुरण अपने आप होता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने पाण्डित्य का प्रदर्शन तथा अपनी अतुल मेधाशक्ति का परिचय देते हुए श्रुति पर आरोपित ब्रह्मशास्त्रीय विप्रतिपत्तियों का निराकरण किया है।

(९. सिद्ध अर्थ का बोधक होने से वेद अप्रमाण—पूर्वपक्ष)

ननु स्यादेष मनोरथो यदि सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्यं सिध्येत्। संगतिग्रहणायत्तत्वात् प्रामाण्यनिश्चयस्य। संगतिग्रहणस्य च वृद्धव्यवहारायत्तत्वात्। वृद्धव्यवहारस्य च लोके कार्यैकनियतत्वात्। न ह्यस्ति संभवः शब्दानां कार्येऽर्थे संगतिग्रहः सिद्धार्थाभिधायकत्वं तत्र वा प्रामाण्यमिति।

न हि तुरङ्गत्वे गृहीतसंगतिकं तुरङ्गपदं गोत्वमाचष्टे तत्र वा प्रामाण्यं भजते। तस्मात्कार्यगृहीतसंगतिकानां शब्दानां कार्य एव प्रामाण्यम्।

[मीमांसकों की ओर से शंका हो रही है कि आपका] यह मनोरथ

(समन्वय करने वाला) तभी पूर्ण हो सकता है यदि सिद्ध अर्थ (Established truth) का प्रतिपादन करने पर भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाय। कारण यह है कि प्रामाणिकता का निश्चय संगति (शब्द और अर्थ का सम्बन्ध) के ग्रहण करने पर निर्भर हैं। [जब तक शब्दार्थ सम्बन्ध न समझें तब तक किसी वाक्य को प्रमाण नहीं मान सकते।] संगति का ग्रहण भी वृद्ध व्यवहार पर निर्भर करता है। लौकिक दृष्टि से वृद्ध व्यवहार एकमात्र कार्य से ही सम्बद्ध रहता है। [कार्य = जिसे करना चाहिए, कर्तव्य। बालक पहले-पहल वृद्धव्यवहार से ही शक्ति-ग्रहण करता है। व्यवहार का अर्थ है 'गामानय' (गाय लाओ) – इस प्रकार के विधि-वाक्यों के सुनने के बाद जो गाय लाने के रूप में प्रतीत होता है। गाय लाना एक कार्य है क्योंकि विधि बतलाने वाला प्रत्यय (लोट्) उसमें लगा है, उसके सुनने से कर्तव्य की भावना होती है। इस प्रकार बालक कार्यरूपी 'आनयन' (Bringing) के साथ नी-धातु की संगति का ग्रहण करता है। 'राम ने रावण को मारा' यह वाक्य सिद्ध है अतः किसी व्यवहार की प्रतीति इसमें नहीं होगी। ऐसे वाक्यों से बालक शक्तिग्रहण नहीं कर सकता। उसी तरह जिस शब्द से कार्य का बोध नहीं होता तथा जो सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक है ऐसे शब्द से शक्तिग्रहण नहीं होता—तो उक्त सिद्ध अर्थ में प्रयुक्त शब्द प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसलिए सिद्ध ब्रह्म के बोधक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्यों को प्रमाण नहीं मान सकते।]

कार्य (कर्तव्य) के अर्थ में शब्दों की संगति का ग्रहण करना सम्भव नहीं है इसलिए उन्हें सिद्ध अर्थ का बोधक नहीं मान सकते और न उस अर्थ में उन्हें प्रामाणिक ही मान सकते हैं।

तुरंगत्व के रूप में जिसकी संगति का ग्रहण किया गया है वह तुरंग (घोड़ा) शब्द गोत्व का बोधक नहीं हो सकता और न उस अर्थ में प्रामाणिक ही माना जा सकता। इसलिए यह निष्कर्ष निकला कि जिन शब्दों की संगति कार्य के अर्थ गृहीत की गई है उनकी प्रामाणिकता कार्य (साध्य, कर्तव्य) के रूप में ही होती है, [सिद्ध अर्थ में नहीं। साध्य अर्थ में संकेतग्रह होने से साध्य अर्थ ही प्रामाणिक होगा। सिद्ध अर्थ में संकेतग्रह होता ही नहीं, अतः उसमें प्रामाणिकता मानना ठीक नहीं। मीमांसक केवल विधिवाक्यों को जिनमें साध्य का निर्देश रहता है, प्रामाणिक मानते हैं।]

ननु मुखविकासादिलिङ्गाद् हर्षहेतुं प्रसिद्धार्थमनुमाय यत्र शब्दस्य संगतिग्रहो यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु, तत्रावश्यं

कार्यमन्तरेणैव शब्दस्य सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यमाश्रीयत इति चेत्—न। पुत्रजन्मवदेव प्रियासुखप्रसवादेरनेकस्य हर्षहेतोरुपस्थीयमानत्वेन परिशेषावधारणानुपपत्तेः। पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थपरेषु प्रयोगेषु द्वारं द्वारमित्यादिवत्कार्याध्याहारेण प्रयोगोपपत्तेश्च।

कहीं-कहीं सिद्ध वाक्य से भी शक्तिग्रह होता है, इस आशय से शंका करते हैं—] अब कोई यह कह सकता है कि जैसे तुम्हें पुत्र हुआ है, इस प्रकार के वाक्यों में मुख-विकास आदि साधनों को देख कर हर्ष के कारण का, जो प्रसिद्ध तथ्य है, अनुमान करके जहाँ शब्द की संगति का ग्रहण करते हैं वहाँ तो कार्य (साध्य, कर्तव्य) न रहने पर भी, सिद्ध अर्थ में शब्द की प्रामाणिकता मानते हैं। [शंका का यह आशय है—राम ने मोहन को लक्ष्य करके एक वाक्य कहा कि तुम्हें पुत्र हुआ है। यह वाक्य किसी कर्तव्य का तो निर्देश करता नहीं है, सिद्ध वाक्य है। इसे सुनकर मोहन का मुख प्रसन्न हो गया। इस लिङ्ग से राम निश्चय करता है कि तुम्हें पुत्र हुआ है, इस वाक्य का अर्थ है,—पुत्र का जन्म होना। शब्दों का अर्थ राम को लग गया—संगति का ग्रहण हो गया। ऐसा नहीं सोचें कि किसी दूसरे कारण से—जैसे परीक्षा में प्रथम होने, नौकरी पाने आदि से—राम का मुख प्रसन्न है, ऐसी दशा में पुत्र के जन्म का ही अर्थ कैसे लेते हैं ? ऐसी बात नहीं है क्योंकि राम ने मोहन की भार्या को आसन्न-प्रसवा के रूप में देखा था। इससे उसने 'पुत्रस्ते जातः' वाक्य का अर्थ 'पुत्रजन्म' ही निश्चित किया। निष्कर्ष यह निकला कि सिद्ध वाक्यों में भी शक्तिग्रह होता है अतः वे भी प्रमाण हैं। यह वेदान्तियों की ओर से मीमांसकों को उत्तर दिया गया है।]

[अब मीमांसक इस अवान्तर पक्ष का उत्तर दे रहे हैं।] ऐसी बात नहीं है। कारण यह है कि जिस प्रकार पुत्रजन्म को हर्ष का कारण मानकर ['पुत्रस्ते जातः' वाक्य का अर्थ निश्चय करते हैं, उसी प्रकार पत्नी का सुख से प्रसव होना आदि भी [हर्ष के कारण हो सकते हैं उन्हें हटा कर] परिशेष के नियम से [पुत्र के जन्म का] निश्चय करना संभव नहीं है। [पुत्रजन्म को हर्ष का कारण तभी माना जा सकता है जब हर्ष के दूसरे कारण असम्भव हो जायँ तथा केवल पुत्रजन्म ही कारणों की शृंखला में बचा रहे। ऐसी बात नहीं कि हर्ष के प्रसव सम्बन्धी ही दूसरे कारण न हों। कन्या उत्पन्न होने पर भी सुख से प्रसव हो जाने पर या अच्छे लग्न में प्रसव होने पर भी हर्ष हो सकता है। दूसरी बात यह है कि 'पुत्रस्ते जातः' भी सिद्धवाक्य नहीं है। वक्ता के तात्पर्य से 'तुम जानो' इस विधिबोधक शब्द का अध्याहार किया जा सकता है।]

'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि सिद्ध अर्थ का बोध कराने वाले प्रयोगों में 'द्वारं द्वारम्' (=द्वारं विधेहि, दरवाजा लगाओ) इत्यादि वाक्यों की तरह कार्य (विधिबोधक शब्द) का अध्याहार करके प्रयोग की सिद्धि की जा सकती है। [किसी वाक्य में विधि मुख्य है, उसके बोधक पदों का अध्याहार करना सर्वथा उचित है। तात्पर्य रहने पर तो विधि-बोधक पदों का अध्याहार करना आवश्यक ही है। अब वेदान्त-वाक्यों पर आरोपण होगा कि वे शास्त्र ही नहीं हैं। शास्त्र में विधि और निषेध दो ही बातें रहती हैं—ऐसा करो, ऐसा मत करो।]

शास्त्रत्वप्रसिद्धया च न वेदान्तानां सिद्धार्थपरत्वम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणामेव वाक्यानां शास्त्रत्वप्रसिद्धेः। तदुक्तं भट्टाचार्यैः—

८. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ इति।

जिस तरह शास्त्र की प्रसिद्धि है उस तरह से तो वेदान्त-वाक्यों को सिद्ध अर्थ से संबद्ध मानना ही नहीं चाहिए। जो वाक्य प्रवृत्ति या निवृत्ति का उपदेश करते हैं वे शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध होते हैं। इसे कुमारिल भट्ट ने कहा है—'नित्य (वेद) या कृतक (अनित्य सूत्र आदि) शब्द के द्वारा पुरुषों को प्रवृत्ति या निवृत्ति का जो उपदेश करता है वही शास्त्र कहलाता है।' [शास्त्र के रूप में वेदान्त-वाक्यों की प्रसिद्धि है—इसलिए वे सिद्ध अर्थ अर्थात् ब्रह्मके प्रतिपादक नहीं हो सकते। यदि आप कहें कि सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्य इसके साक्षी हैं, तो फिर ये वाक्य शास्त्र ही नहीं है क्योंकि न तो इन वाक्यों से प्रवृत्ति का ही बोध होता है और न निवृत्ति का ही। इस प्रकार आगम को ब्रह्म के प्रमाण के रूप में रखना भूल है।]

न चैतेषां स्वरूपपरत्वे प्रयोजनमस्ति। श्रुतवेदान्तार्थस्यापि पुंसः सांसारिकधर्माणामनिवृत्तेः। तस्माद्वेदान्तानामप्यात्मा ज्ञातव्य इति समाम्नातेन विधिनैकवाक्यतामाश्रित्य कार्यपरतैवाश्रयणीयेति सिद्धम्। ततश्च केवलसिद्धरूपे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं न सिध्यतीति चेत्।

[पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हुए मीमांसक कहते हैं कि] इन वेदान्त-वाक्यों का [विधि से सम्बन्ध न रहने के कारण] अपने रूप के बोध के लिए कोई प्रयोजन (उपयोग) नहीं है। वेदान्त (उपनिषदों) के वाक्यों का अर्थ

सुन लेने के बाद भी पुरुष से सांसारिक धर्मों की निवृत्ति नहीं ही होती है। इसलिए वेदान्त-वाक्यों में भी 'आत्मा ज्ञेय है (जानना चाहिए)' इस प्रकार के समाम्नात (कथित) विधि से एकवाक्यता दिखा कर उन वाक्यों को कार्य (कर्तव्य, विधि) से ही सम्बद्ध माना जाय, [सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं], यह सिद्ध हो गया।

इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि केवल सिद्ध (साध्य नहीं) के रूप में ब्रह्म के विषय में वेदान्त-वाक्य प्रामाणिक नहीं हो सकते।

(९ क. सिद्ध अर्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति—उत्तरपक्ष)

अत्र प्रतिविधीयते। न तावत्सिद्धे व्युत्पत्त्यसिद्धिः। प्रागुन्नीतया नीत्या 'पुत्रस्ते जातः' इति वाक्यात्सिद्धपरादपि व्युत्पत्तिसिद्धेः। न च परिशेषावधारणानुपपत्तिः। प्रियासुखप्रसवादेरपि संभवादिति भणितव्यम्। पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवादिसूचकाभावात्।

अब हम उसका प्रत्युत्तर देते हैं। पहले (तावत्) यह समझें कि सिद्ध अर्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती है, यह बात नहीं है। जिस नियम का उन्नयन (प्रकाशन) पहले ही किया गया है, उसीसे 'पुत्रस्ते जातः' इस सिद्ध वाक्य से भी व्युत्पत्ति की सिद्धि होती है। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि ['पुत्रस्ते जातः' का अर्थ करने में] परिशेष के द्वारा [पुत्रजन्म का अर्थ] निर्णय करना संभव नहीं है। आपने इसका (परिशेष का निर्णय न हो सकने का) कारण बतलाया है कि पत्नी को सुख से प्रसव हो जाना आदि भी कारण के रूप में सम्भव हो सकते हैं। परन्तु यह इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि पुत्र शब्द से अंकित वस्त्र का प्रदर्शन करनेवाले [संदेशवाहक] के द्वारा पत्नी को सुख से प्रसव होने आदि की सूचना नहीं मिलती। [यह कारण एकमात्र पुत्रजन्म में ही केन्द्रित है। हर्ष का कारण इसीलिए पुत्रजन्म ही है। इसके फलस्वरूप सिद्ध वाक्य से भी शक्ति (व्युत्पत्ति) का ग्रहण होता है। कहना यह है कि मोहन ने राम के पुत्र की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव किया। वह पुत्रशब्द से युक्त कुंकुम से अंकित पट दिखानेवाले संदेशवाहक को लेकर राम के पास गया। यह किसी अज्ञात प्रथा की ओर निर्देश है। मोहन ने राम से कहा—बड़े भाग्यवान् हो राम, तुम्हें पुत्र हुआ है। राम तो सुनते ही हर्ष से भर गया। उसके दोनों कपोल प्रफुल्ल हो गये, आँखें खिल उठीं। मोहन उसके हर्षातिरेक को देखकर अनुमान करता है कि पुत्र की उत्पत्ति ही इसके हर्ष का कारण है। यद्यपि

सुख से प्रसव भी हुआ है पर वह केवल होने से ही हर्षहेतु नहीं हो सकता। यदि ऐसा नहीं होता तो 'गामानय' वाक्य को सुनकर प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति का छत्र, जूता आदि धारण करना आदि विद्यमान होने से उसमें भी शक्तिग्रहण हो जाता। फलतः परिशेष का नियम लगाना संभव है जो कारणों की शृङ्खला से पुत्रजन्म को निकाल कर खड़ा करता है तथा सिद्ध वाक्य में भी शक्तिग्रह की सिद्धि करता है।]

पुत्रजन्मैव तत्सूचकमिति चेत्—प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे कारणाभावात्। पुत्रजननस्यैवाधिकानन्दहेतुत्वाच्च।

पुत्रोत्पत्तिविपत्तिभ्यां नापरं सुखदुःखयोः।

इति विद्यमानत्वात्। तथा चाचकथच्चित्सुखाचार्यः—

९. दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः॥

(चित्सुखी, पृ० ८८) इति।

यदि आप कहें कि [प्रिया को सुख से प्रसव होने आदि का] सूचक पुत्र का जन्म ही है [तथा इस आधार पर दूसरे कारणों की संभावना हो सकती है जो हर्ष के कारण बनकर शक्तिग्रह में बाधा पहुंचा सकते हैं, तो हमारा उत्तर है कि ऐसी अवस्था में यह मान्य है कि पुत्र का जन्म तो पहले प्रतीत हो चुका है जिसे आप कारण मान रहे हैं—इसी के ऊपर दूसरे कारण आधारित हैं। दूसरे कारणों को तभी स्वीकृत किया जा सकता है जब इस प्रथम प्रतीत होने वाले कारण को त्याग दें। किन्तु] इस प्रथम प्रतीत होनेवाले (हर्षकारण) पुत्रजन्म को त्याग कर [दूसरे कारणों को मान्यता देने का] कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता।

[पुत्र का जन्म न केवल सबसे पहले प्रतीत होता है प्रत्युत] वह पुत्रजन्म ही सबसे अधिक आनन्द का कारण होता है। इसकी पुष्टि के लिए यह श्लोकार्ध विद्यमान है—'पुत्र की उत्पत्ति से बढ़कर न कोई सुख है और उसकी विपत्ति से बढ़कर कोई दुःख भी नहीं।'

ऐसा ही चित्सुखाचार्य ने कहा है—'जिसने चैत्र के पुत्र की उत्पत्ति देखी है वह (देवदत्त) पुत्र शब्द से अंकित वस्त्र लिये हुए संवादवाहक के साथ [चैत्र के पास] जाता है इसी से वह [पुत्रजन्म ही चैत्र के हर्ष का कारण है—] इस परिशेष का निश्चय कर लेता है।' (चित्सुखी, पृ० ८८)।

यदुक्तं 'सिद्धार्थपरेषु कार्याध्याहारः' इति तदयुक्तम्। मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगसिद्धावध्याहारानुपपत्तेः। यदुक्तं 'शास्त्रत्वप्रसिद्ध्या च न स्वरूपपरत्वम्' इति तदप्ययुक्तम्। हितशासनादपि शास्त्रत्वोपपत्तेः। न च प्रयोजनाभावः। श्रुतमतवेदान्तजन्याद्वितीयात्मविज्ञानाभ्यासेन संसारनिदानाविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मात्मतालक्षणपरमपुरुषार्थसिद्धिः।

ऊपर आपने पूर्वपक्ष से यह जो कहा है कि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में कार्य (विधिबोधक) शब्द का अध्याहार करें, तो यह समीचीन नहीं है। कारण यह है कि जो वाक्य सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है उसमें भी मुख्य अर्थ की वाचकता मानकर प्रयोग की सिद्धि की जा सकती है [=सिद्ध वाक्य भी प्रयोग में मुख्यार्थ का बोध करा सकते हैं], अतः अध्याहार उपपन्न (Justified) नहीं है।

आपने फिर यह कहा है कि शास्त्र की प्रसिद्धि के दृष्टिकोण से [ये वेदान्त वाक्य] अपने स्वरूप या अर्थ का प्रतिपादन तक करने में असमर्थ हैं, यह भी असंगत है क्योंकि [उक्त लक्षण के अतिरिक्त] जो हित (कल्याण) का शासन (प्रतिपादन) करता है वह भी शास्त्र कहलाता है। [इसलिए कल्याण के साधक ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्य शास्त्र हैं।]

आप इसकी तनिक चिंता न करें कि [स्वरूप का प्रतिपादन करने में] कोई प्रयोजन नहीं। वेदान्त के वाक्यों का श्रवण और मनन कर लेने पर उससे अद्वितीय (Monistic) आत्मा के विज्ञान का अभ्यास किया जा सकता है। इसके बाद विद्या (ज्ञान) का उदय होने से संसार के निदान (कारण) अविद्या की निवृत्ति होती है तथा इसीके उपलक्षण के रूप में ब्रह्ममय हो जाना परम पुरुषार्थ (Summum bonum) है जिसकी प्राप्ति होती है। [अतः शास्त्र-वाक्यों के मुख्यार्थ-बोध का उपयोग तो है ही।]

न चात्र विधिः संभवति। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं शाब्दज्ञानं विधेयं किं वा भावनात्मकमाहोस्वित्साक्षात्काररूपम्?

नाद्यः। विदितपदार्थसंगतिकस्याधीतशब्दन्यायतत्त्वस्यान्तरेणापि विधिं शब्दादेवोपपत्तेः। नापि द्वितीयः। भावनाया

ज्ञानप्रकर्षहेतुभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्। अप्राप्तप्रापकस्यैव विधित्वाङ्गीकारात्।

यहाँ पर (=ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वेदान्तवाक्यों में) विधि की संभावना ही नहीं है क्योंकि नीचे दिये विकल्पों को सहने की शक्ति ही इसमें नहीं है। वे विकल्प हैं—क्या शाब्दज्ञान (सुने गये शब्दों से उत्पन्न ज्ञान) का विधान किया जाता है या भावना का विधान होता है या साक्षात्कार का विधान करते हैं ?

पहला विकल्प [कि शाब्दज्ञान ही विधेय है] ठीक नहीं है क्योंकि जो व्यक्ति शब्द और उसके अर्थ की संगति (संबंध) जान चुका है तथा जिसने शब्दशास्त्र (व्याकरण) तथा न्यायतत्त्व (मीमांसाशास्त्र) का अध्ययन समाप्त कर लिया है वह तो विधि के बिना भी केवल सुने गये शब्द से ही शाब्दज्ञान पा सकता है, [इसके पृथक् विधान की अपेक्षा नहीं है।]

दूसरा विकल्प [कि भावना विधेय है] भी ठीक नहीं क्योंकि भावना (पुनः पुनः चिंतन करना, निदिध्यासन) कारण है ज्ञान के प्रकर्ष का जिसकी सिद्धि अन्वय और व्यतिरेक से होती है। इसलिए अपने आप प्राप्त होने के कारण भावना विधेय नहीं है। आप भी उसे ही विधि मानते हैं जो अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराये। [अभिप्राय यह है—अग्नि के संनिकर्ष से शीतपीड़ा की निवृत्ति होती है, उसका संनिकर्ष न होने से शीतपीड़ा निवृत्त नहीं होती। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से अग्नि के संनिकर्ष को शीत के विनाश का कारण जान लेते हैं। उसे बताने के लिए ऐसा विधान (Injunction) नहीं देखा जाता कि शीत के विनाश के लिए अग्नि का सेवन करना चाहिए। जो किसी रूप में ज्ञात हो जाय उसे बताने के लिए विधि नहीं होती। वही दशा ज्ञानप्रकर्ष (कार्य) और भावना (कारण) की है। भावना होने से ज्ञानातिशय होता है, नहीं होने से ज्ञानातिशय का अभाव देखते हैं। इस प्रकार भावना को लोग पहले से ही जान लेते हैं। यही कारण है कि इसके लिए विधि की अपेक्षा नहीं है। विधि के बिना भी भावना प्राप्त है।]

तृतीये साक्षात्कारः किं ब्रह्मस्वरूपः किं वान्तःकरणपरिणामभेदः ? नाद्यः। तस्य नित्यत्वेनाविधेयत्वात्। नापि द्वितीयः। आनन्दसाक्षात्काररूपतया फलत्वेनाविधेयत्वात्।

तीसरे विकल्प में भी प्रश्न है कि ब्रह्म के स्वरूप में साक्षात्कार विधेय है या मन के परिणाम के एक विशेष भेद के रूप में ? पहला विकल्प इसलिए

ठीक नहीं है कि ब्रह्म का स्वरूप नित्य है अतः वह विधान के योग्य नहीं है। [जिसका करना संभव है वही विधेय होता है। जिसकी सत्ता कभी नहीं होती (जैसे खरहे की सींग) या जो नित्य रूप से सत् हो (जैसे ब्रह्म का स्वरूप) तो ये दोनों ही कभी भी करणीय नहीं हो सकते। इसलिए इनका विधान संभव नहीं। असत् तो कारकों के व्यापार के बाद भी सत्ता धारण नहीं कर सकता और सत् पहले से ही सिद्ध रहने के कारण कारकों के व्यापार की अपेक्षा नहीं रखता।] **दूसरा विकल्प** भी ठीक नहीं क्योंकि आनन्द का साक्षात्कार तो इसका फल है अतः वह विधेय नहीं। [स्मरणीय है कि फल को लक्ष्य करके उसके उपाय का विधान किया जाता है जैसे स्वर्ग के उद्देश्य से याग का विधान। स्वयं फल का ही विधान नहीं होता है। आनंद तो अंतःकरण का परिणाम है उसका साक्षात्कार ही तो फल है जिसके विधान की अपेक्षा नहीं है।]

तस्माज्ज्ञातव्य इत्यादीनामविधायकत्वात् 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पाणि० सू० ३।३।१६९) इति कृत्यप्रत्ययानामर्हार्थे विधानादर्हार्थतैव व्याख्येया। तथा च सर्वेषां वेदान्तवाक्यानामुपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्योपेतत्वात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मपरत्वमास्थेयम्।

इसलिए 'ज्ञातव्यः' इत्यादि शब्द विधान करनेवाले नहीं है। पाणिनि ने 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा० सू० ३।३।१६९ अर्थात् योग्यता के अर्थ में कृत्य और तृच् प्रत्यय भी होते हैं)—इस सूत्र में अर्ह (योग्यता) के अर्थ में कृत्य प्रत्ययों (तव्यत्, तव्य, अनीयर, ण्यत्, क्यप्) का विधान किया है। अतः इन शब्दों की अर्हता या योग्यता के अर्थ में ही व्याख्या करनी चाहिए। [फलतः ज्ञातव्य का अर्थ है ज्ञान के योग्य, द्रष्टव्य = देखने के योग्य।]

इस प्रकार चूँकि सारे वेदान्तवाक्य उपक्रम, उपसंहार आदि छह प्रकार के तात्पर्य-निर्णायक लिंगों से युक्त हैं, अतः ये सब-के-सब नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म या आत्मा का ही प्रतिपादन करते हैं—ऐसा मानना चाहिए।

विशेष—इस तरह जो प्रश्न चल रहा था कि ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण क्या है, उसका समुचित उत्तर दे दिया गया कि आगम ही ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण है। एक रूप से यहाँ इसकी भी विवेचना हो गई कि शास्त्रों का **विषय** ब्रह्म है। ऊपर कहा था कि शास्त्र का **प्रयोजन** भी है, जो है—अध्यास की निवृत्ति। अब उसकी विवेचना करेंगे।

(१०. अध्यास का निरूपण—प्रपंच का विवर्त रूप होना)

निष्प्रदेशे परमाणौ प्रदेशवृत्तित्वेनाभिमतस्य संयोगस्य दुरुपपादनतया तन्निबन्धनस्य द्व्यणुकस्यासिद्धौ द्व्यणुकादिक्रमेण आरम्भवादासंभवादचेतनायाः प्रकृतेर्महदादिरूपेण परिणामवादासंभवाच्च, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्यानिर्वचनीयः प्रपञ्चश्चिद्विवर्त इति सिद्धम्। स्वरूपापरित्यागेन रूपान्तरापत्तिर्विवर्त इति सत्यमिथ्याख्यावभास इति। अवभासोऽध्यास इति पर्यायः।

अवयवों में वृत्ति होने पर संयोग उत्पन्न होता है, इसे सभी मानते हैं। यह संयोग अवयवों (प्रदेश) से रहित परमाणु में सिद्ध करना कठिन है, इसलिए उस (संयोग) पर ही आधारित (निबन्धन) द्व्यणुक की भी सिद्धि नहीं हो सकती। फलतः द्व्यणुक आदि के क्रम से उत्पत्ति मानने वाला **आरंभवाद** (न्याय-वैशेषिक से संमत सिद्धान्त) की सिद्धि असंभव है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की परिणति (विकास) महत् आदि तत्त्वों के क्रम से मानने वाला **परिणामवाद** (सांख्यमत) भी असंभव है। [आरंभवाद या परिणामवाद के अयुक्त हो जाने पर यह संसार असत् ही न मान लें क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। ऐसा भी न करें कि प्रपंच प्रतीत होता है अतः किसी तरह इन दोनों सिद्धान्तों का ही निर्वाह करके, प्रपंच सत्य है, यही मान लें। कारण कि ज्ञानियों की दृष्टि से इस प्रतीति में बाध (प्रतिरोध) उत्पन्न होता है। यदि यह संसार सत्य होता तो इसकी प्रतीति में प्रतिरोध नहीं होता।] प्रतीति के बाध की सिद्धि किसी भी दूसरे उपाय से नहीं हो सकने के कारण, विवश होकर इस अनिर्वचनीय (Inexplicable) प्रपंच को चित् या आत्मा का विवर्त मानते हैं—यह सिद्ध हुआ। (अनिर्वचनीय = जिसका बाध ज्ञान से संभव है।]

अपने रूप का परित्याग किये बिना ही दूसरे रूप का आपादन करना **विवर्त** है। इसे सत्य और मिथ्या नाम का अवभास कहते हैं। [आत्मा सत्य है तथा अहंकार आदि प्रपंच मिथ्या। अहंकारादि अनात्म-पदार्थ पर आत्मा के स्वरूप का अध्यास नहीं होता बल्कि आत्मा के संसर्ग का ही अध्यास होता है। किन्तु आत्मा पर अहंकार आदि अनात्म-पदार्थ जो मिथ्या हैं, उनका स्वरूप भी अध्यस्त होता है। सीपी में रजत का अध्यास भी ऐसा ही है जिसमें सीपी अपने रूप का त्याग किये बिना ही रजत के रूप में बदल जाती है।] अवभास और अध्यास, ये दोनों पर्याय (Synonym) हैं।

(१० क. अध्यास के भेद—दो प्रकार से)

स चाध्यासो द्विविधः—अर्थाध्यासो ज्ञानाध्यासश्चेति । तदुक्तम्—

१०. प्रमाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परात्मता ।
तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभिः ॥ इति ।

यह अध्यास दो प्रकार का है—अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास [सीपी पर मिथ्या रजत का अध्यास होना अर्थाध्यास है । यह वही भ्रम है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है । एक अर्थ (वस्तु) का दूसरे पर आरोप होना **अर्थाध्यास** (Superimposition of objects) है । जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तब उसे **ज्ञानाध्यास** (Superimposition of knowledge) कहते हैं ।] इसे कहा गया है—'प्रमाण (नेत्र आदि), दोष (दूरी आदि) तथा संस्कार (रजत के पूर्वानुभव से आत्मा में उत्पन्न संस्कार), इन तीनों से उत्पन्न होनेवाली, एक वस्तु की जो दूसरे रूप में प्रतीति है, वह तथा उसका ज्ञान—ये दोनों अध्यास है, यह मनीषियों को अभीष्ट है ॥ १० ॥' [प्रस्तुत स्थल में अन्यथा-प्रतीति के तीन कारण दिये गये हैं । प्रमाण, दोष और संस्कार से ही मिथ्याख्याति होती है ।]

पुनरपि द्विविधोऽध्यासः । निरुपाधिकसोपाधिकभेदात् । तदप्युक्तम्—

११. दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञानसंभवः ।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः ॥

१२. उपाधिसंनिधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम् ।
उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम् ॥ इति ।

अध्यास पुनः दो प्रकार का है—निरुपाधिक और सोपाधिक । इसे भी कहा है—'दोष से या कर्म से संचालित अविद्या (अज्ञान) से जो उत्पन्न होता है तथा तत्त्वज्ञान का विरोधी होता है वह भ्रम निरुपाधिक (आत्मा पर अहंकार का अध्यास करने वाला) है । ['इदं रजतम्' वाक्य में इदम् का अंश उपहित नहीं हुआ है । उस पर रजत के संस्कार के साथ वर्तमान अविद्या के द्वारा रजत का अध्यास होता है । उसी प्रकार अविद्या के द्वारा ही अनुपहित चित् रूपी आत्मा पर अहंकार का अध्यास होता है ।] ॥ ११ ॥ उपाधि के सामीप्य

से जब अविद्या में क्षोभ (संचालन, क्रिया) उत्पन्न होता है तब उस अविद्या से ही उत्पन्न भ्रम को सोपाधिक कहते हैं जो उपाधि के विनाश से स्वयं भी नष्ट हो जाता है। [जब एकात्मक ब्रह्म पर, उसके उपहित हो जाने पर, जीव और ईश्वर के रूप में भेद की प्रतीति हो तो उसे सोपाधिक भ्रम कहते हैं।] ॥१२॥'

तत्र स्वरूपेण कल्पिताहमाद्यध्यासो निरुपाधिकः। तदप्युक्तम्—

१३. नीलिमेव वियत्येषा भ्रान्त्या ब्रह्मणि संसृतिः।
घटव्योमेव भोक्तायं भ्रान्तो भेदेन न स्वतः॥ इति।

अत एव भाष्यकारः 'शुक्तिका रजतवदवभासत एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति' निदर्शनद्वयमुदाजहार। शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति विस्तरभियोपरम्यते। एवं च दृग्दृश्यौ द्वावेव पदार्थाविति वेदान्तिनां सिद्धान्त इति सर्वमवदातम्।

उनमें स्वरूप से कल्पित 'अहम्' आदि का [आत्मा पर] अध्यास होना निरुपाधिक है। उसे भी कहा है—'जिस प्रकार आकाश में नीलापन का भ्रम है उसी तरह भ्रान्ति से यह संसार भी ब्रह्म में प्रतिभासित होता है। [आकाश सत्य है नीलिमा भ्रम, वैसे ही ब्रह्म सत्य है प्रपंच भ्रम। जैसे भ्रम के कारण आकाश से भिन्न] घट के आकाश को समझते हैं वैसे ही यह भोक्ता (जीव) [अपने को ब्रह्म से] भिन्न समझकर भ्रान्त होता है जब कि स्वरूप से ऐसी भिन्नता नहीं है॥ १३ ॥' [उक्त श्लोक में दोनों प्रकार के अध्यासों का वर्णन है। आत्मा पर अहंकारादि का अध्यास होना निरुपाधिक भ्रम है। निरुपाधिक भ्रम उसे कहते हैं जो अधिष्ठान (आत्मा) के ज्ञान से निवृत्त हो जाय अथवा जिसका निरूपण उपाधि के निरूपण के अधीन न हो। एक ब्रह्म में जीव और ईश्वर के भेद की प्रतीति होना सोपाधिक अध्यास है। सोपाधिक भ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से नहीं होती क्योंकि इसमें उपाधि लगी है। इसका निरूपण उपाधि के निरूपण पर आधारित है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आरंभ में दोनों के उदाहरण दिये हैं—इसे बतलाते हैं।]

इसी लिए भाष्यकार ने दो दृष्टान्तों का उद्धरण दिया है—'सीपी चाँदी की भाँति प्रतीत होती है (निरुपाधिक) और एक चंद्रमा दो चंद्रमाओं की तरह दिखलाई पड़ता है (सोपाधिक)।' अवशिष्ट बातें तो शास्त्र में ही स्पष्ट की हुई हैं, अतः विस्तार होने के भय से हम उपरत होते हैं। इस प्रकार वेदान्तियों का

सिद्धान्त है कि दृक् (आत्मा) और दृश्य (प्रपंच) ये दो पदार्थ ही हैं, इस तरह सब कुछ स्पष्ट है।

(११. अध्यास का मीमांसकों के द्वारा खंडन—लंबा पूर्वपक्ष)

अत्र प्रभाकरः—शुक्तिका रजतवदवभासत इति दृष्टान्तो नेष्टः। रजतप्रत्ययस्य शुक्तिकालम्बनत्वानुपपत्तेः। तथा हि—इदं रजतमिति प्रतीतौ शुक्तेरालम्बनत्वं पुरोदेशसत्तामात्रेणावलम्ब्यते, कारणत्वेन, भासमानत्वेन वा? नाद्यः। पुरोवर्तिनां लोष्टादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गात्।

इस प्रसंग में प्रभाकर का कहना है कि सीपी रजत के रूप में प्रतीत होती है, शंकराचार्य का यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। रजत का ज्ञान सीपी के विषय में हो जाय, ऐसा संभव नहीं है। [पट के विषय में कभी भी घट का ज्ञान नहीं हो सकता है। जो विषय है उसीका ज्ञान होगा, दूसरे का नहीं।] इसे इस रूप में देखें—'इदं रजतम्' इस प्रतीति में [चाँदी के ज्ञान को] सीपी के विषय में क्यों मानते हैं? क्या उसकी सत्ता सामने है इसीलिए या वह सीपी कारण के रूप में है इसलिए या केवल प्रतीत होती है इसलिए?

(१) यदि आप प्रथम विकल्प के अनुसार [चाँदी के ज्ञान को सीपी-विषयक इसलिए मानते हैं, कि सीपी की सत्ता ही सामने है तो यह कल्प] ठीक नहीं है क्योंकि तब तो पत्थर आदि को भी, जो सामने पड़े हैं, विषय (आलंबन) बनाया जा सकता है। [सामने केवल सीपी ही तो नहीं है जिसकी प्रतीति चाँदी के रूप में हो जायगी। पत्थर, मिट्टी आदि सारे पदार्थ सामने पड़े हैं। इन्हें रजतज्ञान का विषय क्यों नहीं बनाते? इससे पता लगता है कि सीपी विषय हो और प्रतीति रजत की हो, यह कभी भी संभव नहीं। अब दूसरे पक्ष को उठाते हैं।]

विशेष—यहाँ से अख्यातिवादी मीमांसकों का मत दिया जा रहा है। इसे संक्षेप में समझ लें। सीपी में जो 'इदं रजतम्' का ज्ञान होता है यह भ्रम नहीं, बल्कि यथार्थ ज्ञान है। वस्तुतः इसमें दो ज्ञान हैं। 'इदम्' प्रत्यक्षज्ञान है और 'रजतम्' स्मरणात्मक ज्ञान है जो पहले से देखे गये रजत के संस्कार के उद्बोध के कारण होता है। 'इदम्' (यह) के द्वारा सामने वर्तमान द्रव्यमात्र का बोध होता है। दोष के कारण उसमें अवस्थित सीपी का ग्रहण नहीं होता। तो, द्रव्यमात्र का ग्रहण हो जाने पर, रजत के सादृश्य के कारण, उसके संस्कार का

उद्बोध करके, वह द्रव्य रजत की स्मृति को उत्पन्न कर देता है। यह स्मृति ग्रहण का स्वभाव लिये हुए रहती है। दोष के कारण केवल ग्रहण में ही अवस्थित रहती है। इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक तथा स्मरणात्मक दोनों ज्ञानों में विषय या स्वरूप की दृष्टि से भेदग्रहण न कर सकने के कारण, ये दोनों ज्ञान, वास्तव में भिन्न रहने पर भी, 'इदं रजतम्' वाक्य में अभेद का व्यवहार चलाते हैं। चाँदी का इच्छुक व्यक्ति वहाँ इसलिए प्रवृत्त होता है कि 'यह चाँदी नहीं है' इस रूप में भेद का ज्ञान उसे नहीं है। यही अख्यातिवाद है।

अथ कलधौतबोधकरणसंस्कारोद्बोधकारणत्वेन तद्द्वारा रजतज्ञानकारणत्वादालम्बनत्वं मन्यसे, तदपि न संगच्छते। चक्षुरादीनामपि कारणत्वेन विषयत्वापातात्।

अथ भासमानतया विषयत्वमिष्यते, तदप्यश्लिष्टम्। रजत-निर्भासस्य शुक्तिकालम्बनत्वानुपपत्तेः। यस्मिन्विज्ञाने यदवभासते तत्तदालम्बनम्। अत्र च कलधौतानुभवः शुक्तिकालम्बनत्व-कल्पनायां विरुध्यते।

(२) अब यदि आप यह कहें कि चांदी (कलधौत) का बोध कराने वाले संस्कार के जाग जाने के कारणस्वरूप उसके द्वारा ही रजत के ज्ञान का कारण होने से सीपी को हम विषय मानते हैं तो यह मत भी संगत नहीं है। [रजत के ज्ञान के] कारण तो चक्षु आदि भी हो सकते हैं, तो क्या आप उन्हें भी विषय मानने को तैयार हैं? [रजत का स्मरणात्मक ज्ञान उसके संस्कार के उद्बोध से उत्पन्न होता है। सीपी चूँकि उक्त संस्कार को जगाती है इसलिए रजतज्ञान का कारण सीपी है—सीपी विषय है और रजत का ज्ञान होता है। परन्तु यदि कारणों को विषय मानते चलें तो रजतज्ञान के विषयों का पहाड़ खड़ा हो जायगा—नेत्र आदि भी तो कारण हैं।]

(३) अब यदि यह कहें कि प्रतीत होती है इसीलिए उसे विषय मानते हैं तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। चाँदी की प्रतीति सीपी पर निर्भर करे, यह संभव नहीं। जिसके ज्ञान में जो प्रतीत होता है वही उसका विषय (आलंबन) है। यहाँ पर यदि सीपी को विषय मानकर चाँदी का अनुभव करें तो यह नियम के विरुद्ध होगा। [सीपी को विषय मानेंगे तो सीपी का ही अनुभव होगा, चाँदी का नहीं। फलतः सीपी को विषय मानने पर चाँदी की अनुभूति नहीं होगी—यह निश्चित हुआ।]

तथा चाचकथन्न्यायवीथ्यां शालिकनाथः—

१४. अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते ।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यत्वलक्षणम् ॥

१५. इदं रजतमित्यत्र रजतं त्ववभासते ।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥

१६. तेनान्यस्यान्यथा भासः प्रतीत्यैव पराहतः ।
अन्यस्मिन्भासमाने हि न परं भासते यतः ॥

(प्रक० प० ४।२३–२५) इति ।

इसे न्यायवीथी (=प्रकरणपंचिका का चतुर्थ प्रकरण—प्रभाकरमत के अनुसार ग्रंथ) में शालिकनाथ (मीमांसक, समय—७९० ई०, कृतियाँ—शाबर-भाष्य-व्याख्या, प्रकरणपंचिका) ने कहा है—'हम यहाँ कहते हैं कि जिस विज्ञान में जो पदार्थ प्रतीत होता है वही उस ज्ञान का विषय (अर्थात् वेद्य) होता है । वेद्य या अवेद्य होने का लक्षण किसी दूसरे में नहीं होता है ॥ १४ ॥ 'यह चाँदी है' इसमें चाँदी की ही प्रतीति होती है । अतः इस प्रतीति का विषय चाँदी ही बन सकती है, सीपी नहीं क्योंकि सीपी की प्रतीति तो नहीं हो रही है ॥ १५ ॥ इस प्रकार एक पदार्थ का दूसरे रूप में प्रतीत होना उस प्रतीति (ज्ञान) के द्वारा ही खंडित हो गया । क्योंकि जब एक पदार्थ भासित (प्रतीत) हो रहा है तब दूसरा पदार्थ भी भासित नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ (प्रकरण पंचिका ४।२३-२५)।

विशेष—इन सभी श्लोकों का मुख्य अर्थ यही है कि जिसकी प्रतीति होती है, वही विषय है । घट की प्रतीति हो रही है तो ज्ञेय घट ही है, पट नहीं । चाँदी की प्रतीति होने पर विषय भी चाँदी ही है, सीपी नहीं । यदि सीपी की प्रतीति हो तो भले ही सीपी को विषय मान सकते हैं ।

(११ क. मिथ्याज्ञान के लिए कारण-सामग्री का अभाव)

किं च मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सामग्री न समस्ति । किं केवलानीन्द्रियादीनि दोषदूषितानि वा ? नाद्यः । तेषां समीचीनज्ञानजननसामर्थ्योपलम्भात् । अन्यथा समीचीनं रजतज्ञानं न कदाचिदुदयमासादयेत् । न द्वितीयः । दोषाणामौत्सर्गिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिबन्धमात्रप्रभावत्वात् ।

इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण-सामग्री भी नहीं है। प्रश्न है कि क्या एकमात्र इन्द्रियाँ ही कारण हैं या दोषों से दूषित इन्द्रियाँ कारण हैं ? पहला विकल्प तो ठीक नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियों में सम्यक् (Correct) ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य देखी जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो चाँदी का ठीक ज्ञान कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता था।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक (औत्सर्गिक) शक्ति का ही प्रतिबन्ध भर कर सकते हैं, [उसमें किसी अपूर्व शक्ति का उत्पादन नहीं कर सकते।]

न हि दुष्टं कुटजबीजं वटाङ्कुरं जनयितुमीष्टे। न वा तैल-कलुषितं शालिबीजमशाल्यङ्कुरजननायालम्। किं तु स्वकार्यं न करोति।

ननु दावदहनदग्धस्य वेत्रबीजस्य कदलीकाण्डजनकत्वं दृष्टमिति चेत्—तन्न स्थाने। दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणां विपरीतकार्यकारित्वं प्रत्यनुदाहरणात्।

[अब अपने कथन की पुष्टि के लिए दृष्टान्त देते हैं—] दोष से दूषित केवड़े का बीज बड़ के पेड़ का अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता। अथवा तेल से कलुषित धान का बीज धान से भिन्न किसी पौधे के अंकुर का उत्पादन करने में समर्थ नहीं है। [दूसरे के अंकुर का उत्पादन तो दूर रहा] वह अपना कार्य भी नहीं करता। [फल यह हुआ कि दोषयुक्त होने से भी इन्द्रियाँ मिथ्याज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकतीं। दोषों के रहने से ज्ञानोत्पादन का कार्य बंद हो सकता है। ऐसा नहीं कि एक ज्ञान को छिपाकर दूसरा मिथ्याज्ञान ये दोष उत्पन्न कर दें।]

अब एक शंका है कि दावाग्नि से जले हुए बेंत के बीज में केले का काण्ड (धड़) उत्पन्न करने की शक्ति देखी जाती है उसका क्या उत्तर देंगे ? वास्तव में यह शंका युक्तियुक्त नहीं है। कारण यह है कि जल जाने पर तो वह बेंत का बीज रहा नहीं (बेंत का उत्पादन करने की सामर्थ्य उसमें रही नहीं)। इसलिए 'दोष विपरीत कार्य उत्पन्न कराने की शक्ति रखते हैं'—इसका उदाहरण तो हुआ ही नहीं। [बात यह है कि दोषों के कारण विपरीत कार्य—जैसे सीपी में रजत का ज्ञान उत्पन्न करने के जैसा कार्य—उत्पन्न होने का उदाहरण तभी संभव था जब जले हुए बेंत के बीज में बेंत को उत्पन्न

करने की सामर्थ्य रहती, फिर भी वह बेंत उत्पन्न न करके केले की धड़ उत्पन्न करता।]

न च भस्मकदोषदूषितस्य कौक्षेयस्याशुशुक्षणेः बह्वन्नपचनसामर्थ्यं दृष्टमित्येष्टव्यम्। अशितपीताद्याहारपरिणतौ जाठरस्य जातवेदसः शक्तत्वात्। तदुक्तम्—

१७. अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारणम्।
दोषाश्चेन्न हि दोषाणां कार्यशक्तिविघातता॥
१८. भस्मकादिषु कार्यस्य विघातादेव दोषता।
अग्नेर्हि रसनिष्पत्तिः कार्यं जठरवर्तिनः॥
(प्रक० प० ४।७३-७४) इति।

[आप अपने कथन की पुष्टि के लिए] यह उदाहरण भी नहीं दे सकते कि भस्मक-दोष (अधिक अन्न पचानेवाला रोग) से दूषित होने पर जठराग्नि (कौक्षेयक = जठर-संबंधी, कुक्षि = पेट, आशुशुक्षणि = अग्नि) में बहुत अधिक अन्न पचाने की शक्ति देखी जाती है (अर्थात् दूषित अग्नि में अन्न पचाने की सामर्थ्य है)। खाये-पीये गये आहार की परिणति (परिपाक, रक्तादि का निर्माण) में जठराग्नि अपने आप ही समर्थ होती है। [आहार अधिक हो जाने से अग्नि में जो मंदता उत्पन्न होती है उसे भस्मक-रोग रोक देता है, मंदता आने नहीं देता। किन्तु साथ-साथ रक्तादि रसों के निर्माण में भी प्रतिबंध लग जाता है।]

इसे कहा गया है—'अयथार्थ (मिथ्या) ज्ञान (जैसे सीपी में चाँदी का ज्ञान) की उत्पत्ति के लिए कोई कारण ही नहीं मिलता। यदि दोषों को कारण मानें तो यह युक्त नहीं क्योंकि वे दोष कार्योत्पादन की शक्ति में केवल प्रतिबंध कर सकते हैं [अपूर्व शक्ति का उत्पादन नहीं।]॥ १७॥ भस्मक आदि रोगों को जो आप दोष मानते हैं वह केवल इसलिए कि वे [रुधिरोत्पादन रूपी] कार्य के प्रतिबंधक हैं क्योंकि जठरवर्ती अग्नि का रसनिष्पादन करना तो स्वाभाविक कार्य ही है॥ १८॥' (प्रकरणपंचिका ४।७३-७४)।

(११ ख. असत् अर्थ का ज्ञान नहीं होता)

अपि चासत्यप्यर्थे ज्ञानप्रादुर्भावाभ्युपगमे समीचीनस्थलेऽपि ज्ञानानां स्वगोचरव्यभिचारशङ्काङ्कुरसंभवेन निरङ्कुशो व्यवहारो लुप्यते। तदाह—

१९. यदि चार्थं परित्यज्य काचिद् बुद्धिः प्रकाशते ।
व्यचिचारवति स्वार्थे कथं विश्वासकारणम् ॥
(प्रक० प० ४।६६) इति ।

इसके अतिरिक्त यह आपत्ति भी होगी कि यदि आप असत् या अविद्यमान वस्तु के विषय में ज्ञान की उत्पत्ति मानेंगे (= चाँदी के न रहने पर भी चाँदी का ज्ञान मानेंगे) तो जहाँ ठीक (Correct) ज्ञान होता है उस स्थल में भी ज्ञान अपने विषय (गोचर) से व्यभिचरित होने लगेगा (अर्थात् विषय न रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति होने लगेगी)। ऐसी शंका के अंकुरों के उत्पन्न होने से संसार में निरंकुश (निःशंक) व्यवहार का बिल्कुल अभाव ही हो जायगा । [यह अभिप्राय है कि यदि प्रमाण माने जाने वाले व्यक्ति भी चाँदी दिखाकर कहें कि यह चाँदी है तो शंका हो सकती है कि यह आप्तज्ञान कभी विषयाभाव में भी तो हो सकता है ! फलतः चाँदी का निश्चय न हो सकने से उसकी ओर लोगों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । सारा ज्ञान शंकायुक्त हो जायगा और सभी व्यवहार नष्ट हो जायँगे । परंतु वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही है । सभी व्यवहार निश्चित ज्ञान के बाद ही होते हैं ।]

इसे कहा है—'यदि कोई ज्ञान वस्तु को अपेक्षा रखे बिना ही प्रकाशित हो तो वह ज्ञान जब अपने विषय को लेकर ही व्यभिचारित (Inconsistent) होता है तो कैसे विश्वसनीय हो सकता है ?' [चाँदी न होने पर भी यदि उसका ज्ञान हो जाय तो वह व्यभिचारी है, नियम का पालन नहीं करता—ज्ञान किसी विषय का ही होता है यह नियम है । वह विषय-विहीन ज्ञान अपने विषयरूप पदार्थ की सत्ता का बोध कैसे करायेगा ? निष्कर्ष यह निकला कि अविद्यमान रजत प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है, वह वस्तुतः स्मरण ज्ञान है । अतः 'इदं रजतम्' में प्रत्यक्ष और स्मरण इन दोनों ज्ञानों को स्वीकार करें—यह मीमांसकों का सुझाव और मान्यता है ।]

(११ ग. ग्रहण और स्मरण का विश्लेषण)

ननु रजतगोचरैकविशिष्टज्ञानानङ्गीकारे विशिष्टव्यवहारो न सिध्येत् । अतस्तत्सिद्धयेऽपि विपर्ययोऽङ्गीकार्य इति चेन्न । इदं रजतमिति ग्रहणस्मरणाभिधस्य बोधद्वयस्य व्यवहारकारणत्वाङ्गीकारात् । यद्येवमिदं शुक्तिकाशकलं तद्रजतमित्यतोऽपि विशिष्टव्यवहारः स्यादिति । तन्न ।

अब ये वेदान्ती कह सकते हैं कि जब तक आप रजत के विषय में एक विशिष्ट (प्रत्यक्ष) ज्ञान नहीं स्वीकार करते तब तक ['इदं रजतम्' के रूप में आपका] यह विशिष्ट व्यवहार सिद्ध नहीं होने का है। [अभिप्राय यह है कि उक्त वाक्य का प्रयोग तभी सफल होगा जब उसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को किसी न किसी रूप में रजत का प्रत्यक्ष हो रहा है। बिना रजत-प्रत्यक्ष के कौन मूर्ख 'इदं रजतम्' कहेगा ? किन्तु वस्तुतः तो रजत वहाँ है नहीं] इसलिए उसकी सिद्धि के लिए भी विपर्यय (मिथ्याज्ञान, भ्रम) आपको मानना ही पड़ेगा।

हमारा उत्तर है कि ऐसी बात नहीं। उक्त व्यवहार ('इदं रजतम्' वाक्य का व्यवहार) का कारण हम 'इदं रजतम्' में विद्यमान ग्रहण (प्रत्यक्ष—'इदं' शब्द में) तथा स्मरण ('रजतम्' में) इन दो ज्ञानों को मानते हैं।

[अब वेदान्ती एक आपत्ति इस उत्तर पर भी करते हैं—] यदि ऐसी बात होती [कि दो प्रकार के ज्ञानों से 'इदं रजतम्' का व्यवहार चलता है] तो 'यह सीपी का टुकड़ा है, वह चाँदी है' इस तरह के वाक्यों से भी विशिष्ट व्यवहार होने लगता। [स्थिति यह है कि जहाँ वास्तव में दो ज्ञान होते हैं जैसे सीपी का ज्ञान सीपी के रूप में और उसके आधार पर ही चाँदी का स्मरण, वहाँ ज्ञानों के पार्थक्य के कारण 'इदं रजतम्' के रूप में विशिष्ट व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि इस वाक्य से ज्ञान की एकता प्रकट होती है। यदि दो ज्ञानों को उक्त व्यवहार का कारण मानते हैं तो 'इदं रजतम्' तथा 'इदं शुक्तिकाशकलं, तद्रजतम्' इन दोनों व्यवहारों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा ! पर स्वयं विचार करें, कितना अन्तर दोनों में है ?]

मीमांसक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। [इसका कारण आगे के लम्बे वाक्य में दे रहे हैं।]

तत्रेदमिति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य दोषदूषितचक्षुर्जन्यत्वेनानाकलितशुक्तित्वादिविशेषितस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वाद्, रजतमिति ज्ञानस्यासंनिहितविषयस्य संयोगलिङ्गाद्यप्रसूततया सदृशावबोधितसंस्कारमात्रप्रभवत्वेन परिशेषप्राप्तस्मृतिभावस्य दोषहेतुकतया गृहीत-तत्तांशप्रमोषाद् ग्रहणमात्रत्वोपपत्तेः।

उस (वाक्य) में 'इदम्' शब्द सामने में विद्यमान केवल द्रव्य का ही ग्रहण करता है (कौन द्रव्य है—यह पता नहीं, केवल 'कुछ द्रव्य है' यही ग्रहण हुआ है)। दोषयुक्त आँखों से उसका प्रत्यक्ष होने के कारण उक्त ज्ञान (द्रव्य-ग्रहण) में शुक्तित्व आदि विशेषणों (Particulars) का ग्रहण

नहीं हो सका (=यह नहीं जान सके कि जिस द्रव्य को देखा है वह सीपी है)। अतः ['इदम्' के द्वारा सीपी का] ग्रहण सामान्य रूप से किया गया है।*

'रजतम्' शब्द [का प्रयोग सूचित करता है कि उसके] ज्ञान का विषय (चाँदी) समक्ष में नहीं है। वह (रजतज्ञान) न तो संप्रयोग (विषयेन्द्रियसंनिकर्ष अर्थात् प्रत्यक्ष) से उत्पन्न हो सकता है, न लिंग (साधन अर्थात् अनुमान) से और न किसी दूसरे प्रमाण से ही। सदृश वस्तु को देखने से जो संस्कार जगा है, उसीसे यह (रजतज्ञान) उत्पन्न हुआ है इसलिए परिशेष (अन्त में बचे हुए होने) के कारण उसे हम स्मरणात्मक ज्ञान मानते हैं। [स्मृति का कारण यह है कि रजत के सदृश वस्तु को देखने से रजत का जो संस्कार मानस-पटल पर बैठा है वह जागृत हो जाता है। केवल इसी से रजत का ज्ञान उत्पन्न होता है।] दोष के कारण, उस शब्द में जो रजत का तत्त्वांश लिया गया है उसे त्याग देना (प्रमोष) पड़ता है जिससे उसकी (रजतज्ञान की) सिद्धि केवल ग्रहण (Apprehension) के रूप में ही हो सकती है। [रजतज्ञान से कोई काम नहीं लिया जा सकता क्योंकि यह ज्ञान दोष से युक्त है। अतः उसकी उपयोगिता केवल ग्रहण के अर्थ में ही है। ज्ञान हुआ है पर उपयोग नहीं।]

तदप्युक्तम्—

२०. नन्वत्र रजताभासः कथमेष घटिष्यते।
उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम्॥

२१. शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद्भेदहेतवः।
ते न ज्ञाता अभिभवाज्ज्ञाता सामान्यरूपता॥

२२. अनन्तरं च रजतस्मृतिर्जाता तयापि च।
मनोदोषात्तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम्॥

२३. रजतं विषयीकृत्य नैव शुक्तेर्विवेचितम्।
स्मृत्यातो रजताभास उपपन्नो भविष्यति॥

(प्रक० प० ४।२६-२९)

---

* तुलना करें—निरुक्त—१।१, 'अदः इति सत्त्वानामुपदेशः' ('यह, वह' आदि शब्दों से वस्तुओं का सामान्यरूप में ग्रहण होता है।

इसे भी [शालिकनाथ ने] कहा है:—**प्रश्न**—[यह तो कहिये कि [रजत के अभाव में] यह रजतज्ञान उत्पन्न होना कैसे सम्भव है ? **उत्तर**—बतलाते हैं, सीपी के टुकड़े का ग्रहण भेदों (विशेषों, Particulars) से रहित होकर किया जाता है ॥ २० ॥ सीपी में जो विशेष गुण हैं जिनसे उसका पार्थक्य रजत से स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है, वे अभिभूत (Overruled) होने के कारण ज्ञात नहीं होते । [इन्द्रियों का दोष इतना प्रबल हो जाता है कि वह सीपी के गुणों को प्रकट होने देता ही नहीं—जिससे न तो हम सीपी का सीपी के रूप में ज्ञान कर सकते और न ही सीपी और चाँदी का भेद कर सकते । 'इदं रजतम्' के व्यवहार के समय इतना ही पता रहता है, इदं = कोई द्रव्य जिसके विशेष गुण अज्ञात हैं ।] तो, उस समय द्रव्य की सामान्य रूपता ही ज्ञात होती है ॥ २१ ॥

'उसके बाद रजत की स्मृति उत्पन्न होती है । उस स्मृति से भी, मानसिक दोष के कारण तत्त्वांश के ज्ञान (परामर्श) से शून्य तथा सीपी से विवेचित (अलग किये गये), रजत को विषय नहीं बनाया जाता—इस प्रकार रजतज्ञान की सिद्धि की जायगी । [दोनों श्लोकों का अन्वय एक साथ ही है—तयापि स्मृत्या मनो······विवर्जितं शुक्तेर्विवेचितं रजतं नैव विषयीकृत्य (व्यवस्थापितम्) ।] ॥ २२–२३ ॥ (प्रकरणपंचिका, ४।२६–२९) ।

२४. न ह्यसंनिहितं तावत्प्रत्यक्षं रजतं भवेत् ।
लिङ्गाद्यभावाच्चान्यस्य प्रमाणस्य न गोचरः ॥
२५. परिशेषात्स्मृतिरिति निश्चयो जायते पुनः ।
(प्रक० प० ४।३१–३२) इति ।

'पहले तो यही देखें कि रजत सामने में है नहीं, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । लिंग (Middle term) आदि न होने से वह अन्य प्रमाणों (अनुमान आदि) का विषय भी नहीं बन सकता ॥ २४ ॥ इसलिए परिशेषतः (और कोई साधन नहीं होने के कारण अन्त में) यही निश्चय करना पड़ता है कि रजतज्ञान स्मृति ही है ॥ २५ ॥' (प्रकरणपंचिका, ४।३१–३२) ।

विशेष—इस प्रकार ग्रहण और स्मरण से 'इदं रजतम्' की सिद्धि की गई । अब इस पक्ष पर वेदान्ती पुनः प्रहार करने का विचार कर रहे हैं ।

(११ घ. ग्रहण और स्मरण में अभेद या सारूप्य)

ननु किमिदमेकैकं व्यवहारकारणमुत संभूय ? न प्रथमः ।

देशभेदेन प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न चरमः। 'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञाना-यौगपद्यात्—' (वै० सू० ३।२।३) इत्यादिना ज्ञानयौगपद्य-निषेधात्। अतो ज्ञानद्वयं हेतुरित्ययुक्तं वच इति चेत्—मैवं वोचः। अविनश्यतोः सहावस्थाननिषेधेऽपि विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानस्यानिषिद्धत्वेन निरन्तरोत्पन्नयोस्तदुपपत्तेः।

[वेदान्ती हमारे पक्ष पर आक्षेप करते हैं—] अच्छा, यह तो बतलाइये कि आपका यह (ग्रहण और स्मरण) दोनों पृथक्-पृथक् ['इदं रजतम्' के] व्यवहार का कारण है या दोनों मिलकर एक ही साथ ? इनमें पहला विकल्प संभव नहीं है क्योंकि उस स्थिति में देश (Place) के भेद से भी प्रवृत्ति होने लगेगी। ['इदम्' का प्रत्यक्ष हुआ है तो उसकी प्रवृत्ति वैसे ही पदार्थ की ओर होगी। स्मरण से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति नियमतः वैसी ही नहीं होती। दूसरे एक-एक प्रकार के ज्ञान से भी प्रवृत्ति होने का प्रसंग हो जायगा। प्रवृत्ति-भेद हो जायगा।]

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि [कणाद ने यह लिखकर कि] 'प्रयत्न एक ही साथ न हो सकने से तथा ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ न होने के कारण [मन एक ही है]'—(वै० सू० ३।२।३), ज्ञानों के एक साथ होने का निषेध किया है। [कणाद के वैशेषिक-दर्शन में सूत्र इस रूप में है—प्रयत्नायौग-पद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्। इसमें कहा गया है कि एक शरीर में मन एक ही रहता है। यदि एक ही शरीर में कई मन होते तो बहुत से प्रयत्न या ज्ञान साथ-साथ होने लगते। दो विभिन्न अवयव एक दूसरे से विरुद्ध प्रयत्न एक ही साथ उत्पन्न करते। उसी तरह दो इन्द्रियों से दो ज्ञान एक ही साथ उत्पन्न हो सकते। लेकिन ऐसा होता कहाँ है ? इसलिए शरीर में एक ही मन सिद्ध होता है। हमारा तात्पर्य इस सूत्र से इतना ही है कि दो ज्ञान एक साथ मिलकर कार्य नहीं कर सकते।]

इसलिए [पूर्वपक्ष के अवान्तर पक्ष का निष्कर्ष निकला कि] दो ज्ञान (ग्रहण + स्मरण) कारण के रूप में होंगे, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है।

अब हमारा उत्तर है कि ऐसा मत कहो। यद्यपि दो अविनाशी (स्थायी) ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते तथापि एक विनाशी और दूसरे अविनाशी, इन दोनों ज्ञानों के एक साथ होने का तो निषेध नहीं न किया गया है ? इसलिए बिना व्यवधान (Interval) के उत्पन्न होने वाले ज्ञानों का एक साथ रहना (सहावस्थान) सिद्ध हो सकता है। [यदि एक ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरा

द्वितीय क्षण को छोड़कर (व्यवधान देकर) तृतीय क्षण में उत्पन्न हो तब तो दोनों की सहावस्थिति कभी संभव ही नहीं है। हाँ, यदि वे दोनों क्रमशः प्रथम और द्वितीय क्षणों में उत्पन्न हों जिससे कोई व्यवधान न पड़े तो तृतीय क्षण में एक साथ कार्य कर सकते हैं। ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में अवस्थित रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में ग्रहण प्रथम क्षण में उत्पन्न हुआ और स्मरण द्वितीय क्षण में। तृतीय क्षण में ग्रहण विनाशावस्था में जा रहा है जब कि स्मरण उस समय अविनाशावस्था में हैं। इसलिए तृतीय क्षण में 'इदं रजतम्' का ज्ञान उत्पन्न होता है।]

ननु रजतज्ञानाद् रजतार्थी रजते प्रवर्ततां नाम। पौरस्त्ये वस्तुनि कथं प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्—न। स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतभेदयोः ग्रहणस्मरणयोः संनिहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येण वस्तुतः परस्परं विभिन्नयोरप्यभेदोचितसामानाधिकरण्यव्यपदेशहेतुत्वोपपत्तेः।

[अब पुनः शंका है—] मान लिया कि रजत का ज्ञान हो जाने से रजत की इच्छा करनेवाला व्यक्ति रजत की ओर प्रवृत्त हो जायगा। किन्तु सामने में विद्यमान वस्तु में उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? [प्रश्न है कि यदि रजत के स्मरण से व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है तो स्मरण जिस रजत का हुआ है उसी की ओर प्रवृत्ति होगी। घर में अपनी पेटी में उसने चाँदी देखी हो और उसी का स्मरण हुआ हो तो उसी चाँदी की ओर व्यक्ति प्रवृत्त होगा, न कि सामने में स्थित वस्तु की ओर।]

किन्तु बात ऐसी नहीं है। ग्रहण और स्मरण इन दोनों के भेद का ज्ञान (Apprehension) न तो स्वरूप के आधार पर हुआ है, न विषय के आधार पर ही। इसलिए ये संनिहित (सामने वर्तमान) रजत के विषय में उत्पन्न ज्ञान के समरूप हैं। वास्तव में ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि [किन्हीं दो पदार्थों में] अभेद की सिद्धि के लिए उचित जो समानाधिकरण का नियम (Law of identity) होता है, उसी से उक्त ('इदं रजतम्') व्यवहार का कारण समझा जा सकता है। [सामने मे विद्यमान रजत का ज्ञान आँखों के संपर्क में आने वाले रजत का प्रत्यक्ष और यथार्थ ज्ञान है। जैसे 'इदं रजतम्' वाक्य इदंता तथा रजतता इन दोनों में समानाधिकरण का व्यवहार उत्पन्न करके उसी के द्वारा प्रवृत्ति भी उत्पन्न करता है, उसी प्रकार

उस ज्ञान की सरूपता के कारण ये दोनों ज्ञान भी समानाधिकरण का व्यवहार और प्रवृत्ति उत्पन्न करेंगे। अब बतलाते हैं कि संनिहित रजत के ज्ञान से ग्रहण-स्मरणात्मक ज्ञान की सरूपता कैसे है ?]

ग्रहणस्मरणयोः संनिहितरजतज्ञानसारूप्यं कथम् ? यथा चैतत्तथा निशम्यताम्। संनिहितरजतगोचरं हि विज्ञानमिदमंशरजतांशयोरसंसर्गं नावगाहते। तयोः संसृष्टत्वेन असंसर्गस्यैवाभावात्। नापि स्वगतं भेदम्। एकज्ञानत्वात्। एवं ग्रहणस्मरणे अपि दोषवशाद्विद्यमानमपीदमंशरजतांशयोरसंसर्गं भेदं नावगाहेत इति। भेदाग्रहणमेव सारूप्यम्।

सामने में विद्यमान रजत के ज्ञान के साथ ग्रहण और स्मरण की समरूपता कैसे होती है ? जैसे होती है, वह सुनो—सामने में विद्यमान (संनिहित) रजत के विषय में जो विशिष्ट ज्ञान (सामान्य रूप से होने वाले ज्ञानों की अपेक्षा भिन्न ज्ञान, Different from the usual way of knowledge होता है वह 'इदम्' के अंश और रजत के अंश में भेद (असंसर्ग) का ग्रहण नहीं करता। कारण यह है कि ये दोनों अंश एक दूसरे से मिले हुए हैं अतः भेद हो ही नहीं सकता। [दोनों ज्ञानों की सरूपता भेद का ग्रहण न कर सकने के कारण है। जहाँ पर सच्चे रजत का प्रत्यक्ष करते हैं वहाँ पर तो 'इदम्' और रजत के अंशों में कोई भेद ही नहीं है क्योंकि वे एक दूसरे से संसृष्ट अर्थात् मिले हुए हैं। वहाँ का ज्ञान असंसर्ग (भेद) का विषय नहीं है। इसलिए वहाँ भेद का ग्रहण नहीं करते।]

[सच्चे रजत का ज्ञान करने के समय 'इदम्' और 'रजतम्' में] स्वगत भेद का भी ग्रहण नहीं करते क्योंकि दोनों एक ही ज्ञान हैं। [अवान्तर भेद होने से स्वगत भेद किया जाता है। सच्चे रजत का ज्ञान होने में 'इदम्' और 'रजतम्' दोनों इस तरह मिलते हैं कि अवान्तर-भेद का स्थान ही नहीं।]

उसी प्रकार ग्रहण और स्मरण, ये दोनों ज्ञान भी दोष (मानसिक दोष) के कारण, 'इदम्' के अंश तथा रजत के अंश में असंसर्ग अर्थात् भेद विद्यमान रहने पर भी उसका ग्रहण नहीं करते। और भेद का ग्रहण न करना ही तो समरूपता है। [दोनों ज्ञानों के स्थान में तो एकता ही नहीं है—क्योंकि ज्ञान दो हैं। असंसर्ग और अवान्तरभेद की संभावना है। परंतु दोष के कारण उसका ग्रहण नहीं हो पाता। विरोध का स्फुरण होने से ही असंसर्ग या भेद का ग्रहण होता है। जैसे सीपी और चाँदी में भेद है वैसे ही तत् और इदम् में भी भेद है।

प्रत्यक्ष में यद्यपि इदमंश प्रतीत होता है तथापि उससे विरुद्ध रहने वाला तदंश **स्मरण** में दोष के कारण प्रतीत नहीं होता। वैसे ही **स्मरण** में यद्यपि रजतांश विषय बनता है तथापि दोष के ही कारण उसका विरोधी शुक्तित्व **प्रत्यक्ष** में विषय नहीं बन पाता। इस प्रकार विरोध का स्फुरण नहीं हो सकने के कारण स्वरूप या विषय से विद्यमान रहने पर भी भेद ग्रहण नहीं होता। स्वरूप से विद्यमान रहने पर भी भेद का ग्रहण नहीं करना—'तत्' के रूप में जो परोक्षांश है उसकी प्रतीति दोष के कारण स्मरण के रूप में नहीं होती। विषय से विद्यमान रहने पर भी भेद का ग्रहण नहीं करना—दोष के कारण शुक्तित्व की प्रतीति प्रत्यक्ष के रूप में नहीं होती इसलिए।]

तदुक्तं गुरुमतानुसारिभिः—

२६. ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी।
सम्यग्रजतबोधाच्च भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः॥
२७. तथापि भिन्ने नाभाते भेदाग्रहसमत्वतः।
सम्यग्रजतबोधस्तु समक्षैकार्थगोचरः॥
२८. ततो भिन्ने अबुद्ध्वा च ग्रहणस्मरणे इमे।
समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः॥
२९. अपरोक्षावभासेन समानार्थग्रहेण च।
अवैलक्षण्यसंवित्तिरिति तावत्समर्थिता॥
३०. व्यवहारोऽपि तत्तुल्यस्तत एव प्रवर्तते।
(प्रक० प० ४।३३–३७) इति।

एवमगृहीतविवेकमापन्नसंनिहितरूप्यज्ञानसारूप्यं ग्रहणस्मरणद्वयमयथाव्यवहारहेतुरिति सिद्धम्।

इसे गुरुमत का अनुसरण करने वालों ने कहा है—'ये दोनों ग्रहण और स्मरण भेद के साथ प्रतीत नहीं होते। सच्चे रजत का जैसा बोध होता है यद्यपि उससे ये वास्तव में भिन्न हैं ॥२६॥ तथापि भिन्न-जैसे लगते नहीं हैं क्योंकि दोनों प्रकार के बोधों में भेद का ग्रहण न होने की समता है। सच्चे रजत का बोध तो सामने में विद्यमान एक ही वस्तु के विषय में होता है ॥ २७ ॥ लोग इस ग्रहण और स्मरण को उससे भिन्न रूप में न समझ कर केवल समान रूप में ही समझते हैं। [ग्रहण-स्मरणात्मक ज्ञान भी सम्यक् रजत के ज्ञान की तरह ही समझा

जाता है। यद्यपि यह लोगों का मानसिक दोष है कि दोनों में अन्तर नहीं कर पाते।] ॥ २८ ॥ प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) में प्रतीति होने के कारण तथा एक समान ही वस्तु का ग्रहण करने के कारण दोनों में अभेद-संवित्ति (Knowledge of identity) का समर्थन होता है। उसके समान व्यवहार भी होता है तथा उससे लोगों की प्रवृत्ति भी सिद्ध (Justified) होती है ॥ २९-३० ॥ (प्रकरणपंचिका ४।३३-३७)।

इस प्रकार इस अयथाव्यवहार (असामान्य या विशिष्ट व्यवहार) का कारण ग्रहण और स्मरण इन दोनों को मानते हैं जिनमें परस्पर भेद का ग्रहण नहीं होता तथा जिन्हें समक्ष में विद्यमान रूप्य (चाँदी) के ज्ञान की समरूपता मिल चुकी है—यह सिद्ध हो गया।

(११ ङ. 'पीतःशङ्खः' के व्यवहार का समर्थन)

यद्येवमयथाव्यवहारो ग्रहणस्मरणजन्यस्तर्हि 'पीतः शङ्खः' इत्यादौ स न सिद्धः, तत्र तयोरभावादिति चेत्—न। अगृहीतविवेकयोः प्राप्तसमीचीनसंसर्गज्ञानसारूप्यत्वे ग्रहणयोरेव व्यवहारसंपादकत्वोपपत्तेः। नयनरश्मिवर्तिनः पित्तद्रव्यस्य पीतिमा दोषवशाद् द्रव्यरहितो गृह्यते। शङ्खोऽप्यकलितशुक्लगुणः स्वरूपतो गृह्यते। तदनयोर्गुणगुणिनोः संसर्गयोग्ययोरसंसर्गाग्रहसारूप्यात्पीततपनीयपिण्डप्रत्ययावैलक्षण्याद् व्यवहार उपपद्यते।

[पुनः एक शंका हो रही है—] यदि हम यह मान भी लें कि यह असामान्य व्यवहार ग्रहण तथा स्मरण से उत्पन्न होता है तथापि 'शंख पीला है' इस [असामान्य प्रयोग] में तो वह सिद्ध नहीं होता? कारण यह है कि इस प्रयोग में दोनों का अभाव देखते हैं। [ग्रहण की सत्ता होने पर भी स्मरण की सत्ता नहीं रहती। पीतत्व का अंश स्मरण का विषय नहीं हो सकता क्योंकि उसके संस्कार को जगाने वाली कोई चीज नहीं है। इसलिए मीमांसकों के अनुसार 'पीला शंख' का प्रयोग असंभव हो जायगा। हम [वेदान्ती इसे मिथ्या-ज्ञान कह कर आसानी से चला सकते हैं।]

[मीमांसक कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं है। [यद्यपि यहाँ पर ग्रहण और स्मरण नहीं हैं तथापि] व्यवहार के प्रयोजक के रूप में दो ग्रहणों की ही सिद्धि होती है। इन दोनों ग्रहणों के बीच भेद का ज्ञान नहीं होता तथा ये समीचीन (ठीक Correct) संसर्ग के ज्ञान की तरह ही हैं। [पीत शंख

में दो प्रत्यक्ष ज्ञान ही हैं जिन्हें हम ग्रहण कहते हैं। एक प्रत्यक्ष है पीत, दूसरा है शंख। इन दोनों ग्रहणात्मक ज्ञानों में वस्तुतः जो परस्पर भेद है, दोष के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती।]

नेत्रकिरणों में अवस्थित पित्तद्रव्य की पीतिमा का ग्रहण होता है परन्तु दोषवश हम पित्त द्रव्य का ग्रहण उसमें नहीं कर पाते। [पीत शंख का ज्ञान पित्त के दोष से होता है। पित्त आँखों की किरणों में रहने वाला पीले रंग का एक सूक्ष्म द्रव्य है। जब आँखों की किरणें शंख से संबद्ध होती हैं तब दोषवश पित्तद्रव्य का ग्रहण न होकर केवल उसमें स्थित पीत गुण का ही ग्रहण होता है। यह हुआ **पीत** का प्रत्यक्ष अर्थात् पित्तद्रव्य के पीलेपन का ग्रहण करते हैं। अब शंख का प्रत्यक्ष देखें।] **शंख** का केवल स्वरूप ही गृहीत होता है उसके शुक्ल गुण का ग्रहण नहीं होता। [पीत के प्रत्यक्ष में केवल गुण का ग्रहण हुआ, शंख के प्रत्यक्ष में केवल गुणी का। ये दोनों प्रत्यक्ष सम्यक् संसर्गज्ञान के समरूप है। समीचीन संसर्गज्ञान का अर्थ है स्वर्ण आदि में वस्तुतः विद्यमान रहने वाले पीत गुण के संबंध का ज्ञान।]

तो, इन दोनों में अर्थात् गुण और गुणी में, जो संसर्ग के सर्वथा योग्य हैं, भेद का ग्रहण न हो सकने की समानता है तथा पीले स्वर्ण (तपनीय) के पिंड की प्रतीति की समरूपता के कारण उक्त व्यवहार चलता है। [(१) **भेद ग्रहण न हो सकने की तुलना**—पीत के प्रत्यक्ष में दोषवश द्रव्य का ग्रहण नहीं होता है, उधर शंख के प्रत्यक्ष में दोषवश गुण का ग्रहण नहीं हो रहा है। इसे इस सूत्र द्वारा समझें—

पीत + (पित्त)।
(श्वेत) + शंख।
= पीत + शंख।

कोष्ठ में दिये गये द्रव्य या गुण का ग्रहण नहीं हो रहा है। (२) **समीचीन संसर्ग-ज्ञान से तुलना**—स्वर्ण वास्तव में पीला है। यहाँ गुण और द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष होता है। साथ ही दोनों के शुद्ध सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रत्यक्ष के समान उक्त पीत शंख का प्रत्यक्षद्वयात्मक ज्ञान भी है। इसी से व्यवहार चलता है। असंगति नहीं है।]

यथोक्तम्—

३१. पीतशङ्खावबोधे हि पित्तस्येन्द्रियवर्तिनः।
पीतिमा गृह्यते द्रव्यरहितो दोषतस्तथा॥

३२. शङ्खस्येन्द्रियदोषेण शुक्लिमा न च गृह्यते ।
केवलं द्रव्यमात्रं तु प्रथते रूपवर्जितम् ॥
३३. गुणे द्रव्यव्यपेक्षे च द्रव्ये च गुणकाङ्क्षिणि ।
भासमाने तयोर्बुद्धिरसम्बन्धं न बुध्यते ॥
३४. सत्यपीतावभासेन समे भाते मती इमे ।
व्यवहारोऽपि तत्तुल्य एवमत्रापि युज्यते ॥
(प्रक० प० ४।४८-५१) इति ।

जैसा कि कहा गया है—'पीत शंख के ज्ञान में [चक्षु] इन्द्रिय में विद्यमान पित्त का द्रव्यांश छोड़कर दोष के कारण केवल पीतत्व का ग्रहण होता है ॥ ३१ ॥ उधर इन्द्रिय के ही दोष के कारण शंख के शुक्लत्व का ग्रहण नहीं होता। रूप के अंश को छोड़कर केवल द्रव्य का अंश ही उसमें प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥

गुण को द्रव्य (अपने आश्रयदाता द्रव्य) की अपेक्षा है तो द्रव्य भी गुण (अपने आश्रित गुण) की आकांक्षा रखता है। ये दोनों जब इस रूप में प्रतीत होने लगते हैं [तो दोनों में वस्तुतः सम्बन्ध नहीं रहने पर भी उस] असम्बन्ध को उन दोनों की बुद्धि (ज्ञान) नहीं समझ पाती (=विषय नहीं बना सकती) ॥ ३३ ॥ ये दोनों ज्ञान सचमुच के पीत-गुण की प्रतीति की तरह प्रतिभासित होते हैं। इसलिए दोनों का व्यवहार (=पीत स्वर्ण और पीत शंख) समान ही रहता है। ऊपर की तरह यह व्यवहार भी युक्तियुक्त है ॥ ३४ ॥' (प्रकरण पंचिका ४।४८-५१)।

(१२. 'नेदं रजतम्' की सिद्धि—मीमांसक-मत)

नन्विदं रजतमिति भ्रान्तिज्ञानानभ्युपगमे रजतप्रसक्तेरसत्त्वान्नेदं रजतमिति निषेधः कथं कलधौताभावं बोधयतीति चेत्—नैष दोषः। भेदाग्रहप्रसञ्जितस्य शुक्तौ रजतव्यवहारस्य निषेधस्वीकारेण कल्पनालाघवसद्भावात् ।

[वेदान्ती लोग फिर शंका करते हैं] कि यदि आप 'इदं रजतम्' में भ्रान्तिज्ञान नहीं मानेंगे तो रजत की प्राप्ति का अभाव रहेगा (वास्तव में चाँदी तो वहाँ है नहीं) इसलिए 'यह चाँदी नहीं है' इस प्रकार का निषेध चाँदी के अभाव का बोध कैसे करायेगा ? [निषेध किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर ही काम देता

है। किसी स्थान पर पानी की प्रसक्ति होने पर ही कह सकते हैं कि यहाँ पानी नहीं है। जहाँ चाँदी है ही नहीं, वहाँ पर 'चाँदी नहीं है' वाक्य अव्यावहारिक हो जायगा।]

[मीमांसक कहते हैं कि] इनमें तनिक भी दोष नहीं है। सीपी में भेद ग्रहण न हो सकने के कारण वहाँ रजत का व्यवहार किया गया है उसी (व्यवहार) का निषेध यहाँ स्वीकार किया गया है, जिसमें कल्पना का लाघव भी होता है। [तात्पर्य यह है कि 'यह चाँदी नहीं' का अर्थ है—'यह चाँदी के व्यवहार के योग्य नहीं है।' यदि हम रजत का निषेध भी मान लेते तो भी उसका अर्थ रजत के व्यवहार का निषेध ही होता। इस प्रकार दोनों स्थितियों में एक ही बात सिद्ध होती है। इसलिए 'नेदं रजतम्' का अर्थ लाघव से 'रजत के व्यवहार का निषेध' ही रखें। इसके अतिरिक्त रजत के निषेध की कल्पना क्यों करें ?]

तदुक्तं पञ्चिकाप्रकरणे—

३५. मिथ्याभावोऽपि तत्तुल्यव्यवहारप्रवर्तनात्।
रजतव्यवहारांशे विसंवादयतो नरात्॥

३६. बाधकप्रत्ययस्यापि बाधकत्वमतो मतम्।
प्रसज्यमानरजतव्यवहारानिवारणात्॥

(प्रक० प० ४।३८-३९) इति।

तदनेन प्राचीनयोर्ज्ञानयोः सत्यत्वे कथं भ्रमत्वसिद्धिरिति शङ्का पराकृता। अयथाव्यवहारप्रवर्तकत्वेन तदुपपत्तेः।

इसे प्रकरण पंचिका में कहा गया है—'उस (अनुभवजन्य व्यवहार) के तुल्य व्यवहार का प्रवर्तन करने पर भी रजत के व्यवहार के अंश में मिथ्याभाव (Falsity) हो सकता है क्योंकि रजत को लेकर ही ये (वेदान्ती) लोग विवाद करते हैं। [तात्पर्य यह है कि 'इदं रजतम्' में, वेदान्ती लोग रजत को भले ही मिथ्या सिद्ध करें क्योंकि व्यवहार का प्रवर्तक होने पर भी उसमें विवाद खड़ा हो सकता है परंतु 'इदम्' पर तो कोई आपत्ति नहीं है। मिथ्यावादी भी 'इदं' को मिथ्या नहीं कहते। क्योंकि इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। बाधक प्रतीति की दशा में भी इदमंश की अनुवृत्ति होती ही है। 'नेदं रजतम्' में] जो बाधक की प्रतीति होती है उसकी बाधकता भी इसीलिए मानी जाती है कि प्राप्त (प्रसज्यमान) रजत के व्यवहार का उससे निषेध

हो ॥ ३६ ॥ (प्रकरण पंचिका, ४।३८–३९)। [इन श्लोकों में कहना यही है—'इदम्' सदा प्रमाण है। भ्रान्ति केवल स्मृति के रूप में होने वाले रजत की है जिसमें विवाद है। वेदान्ती लोग बाधक की प्रतीति के अधीन मिथ्याज्ञान को मानते हैं। जिसका बाध (प्रतिरोध) किसी से हो गया वह मिथ्या है। इदम् के अनुभव का बाधक कोई नहीं है। अतः यह मिथ्या नहीं। अब रजतांश को लें। बाधा हो रही है जिसे बाधा न कहकर निषेध कहें। निषेध किसका ? रजतव्यवहार का या रजत का ? हम कहते हैं रजत के व्यवहार का ही। किसी भी दशा में तो हमें व्यवहार ही करना है। मिथ्या को लेकर लड़नेवालेसे कहें कि बाध या निषेध व्यवहार का ही होता है और हमारी बात ही रह जाती है।]

तो, इसके साथ ही साथ उस शंका का निराकरण कर दिया गया कि जब दोनों प्राचीन ज्ञान सत्य हैं तो भ्रम होने की बात कैसे चलती है। उस भ्रम की सिद्धि असामान्य व्यवहार के प्रवर्तक के रूप में होती है। [प्रभाकर के सामने समस्या है कि सभी ज्ञान जब सत्य हैं तब लोग 'भ्रम' शब्द से किस वस्तु का बोध करते हैं ? जिन स्थलों में (जैसे सीपी को चाँदी मानने में) प्रवृत्ति निष्फल हो जाय उन्हें हम भ्रम कहा करते हैं। और बाध ? रजत के व्यवहार का निषेध होने पर उसे बाध कहते हैं (जैसे 'नेदं रजतम्' में)। यह कहने से शंकराचार्य संतुष्ट होनेवाले नहीं हैं।]

(१२ क. प्रभाकर-मत से अभाव का खंडन)

किं च नेदं रजतमिति बाधकावबोधो नाभावमवगाहते। भावव्यतिरेकेणाभावस्य दुर्ग्रहणत्वात्। यद्येवम्, अङ्ग नास्तीति प्रत्ययस्य किमालम्बनम् ? अपरथा माहाभानिकपक्षानुप्रवेश इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः।

अभावस्य धर्मिप्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूप्यत्वेऽवश्याभ्युपगमनीये दृश्ये प्रतियोगिन्यदृश्ये वा स्मर्यमाणेऽधिकरणमात्रबुद्धेरेव 'नास्तीति' व्यवहारोपपत्तावतिरिक्ताभावकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

इसके अतिरिक्त 'यह रजत नहीं है' यह बाधक का ज्ञान अभाव के रूप में नहीं है। कारण यह है कि भाव के अतिरिक्त अभाव नाम की वस्तु का ग्रहण करना ही कठिन है।*

---

* देखिए, रामानुजदर्शन, पृ० १९०-९१।

[इस पर वेदान्ती लोग शंका करते हैं—] हे महोदय ! यदि ऐसी बात है तो हमें बतलाइये कि 'नहीं है' इस प्रतीति (Apprehension) का आधार क्या है ? यदि ऐसा नहीं कर सके (=आधार के बिना भी प्रतीति मानते हैं) तो माध्यमिक (शून्यवादी) बौद्धों के पक्ष में आप जा रहे हैं। [ये बौद्ध सारे व्यवहारों को आलम्बनरहित मानते हैं।] इस पर हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। [इसका कारण आगे बतला रहे हैं।]

अभाव का निरूपण धर्मी और प्रतियोगी के निरूपण के ही अधीन रहता है। [धरातल में घट नहीं है—यहाँ घटाभाव का ज्ञान हो रहा है जिसमें धरातल धर्मी है और घट प्रतियोगी। दोनों के ज्ञान के पश्चात् ही घटाभाव का ज्ञान हो सकता है।] जिसकी सिद्धि करना आवश्यक है वह प्रतियोगी (घट) दृश्य हो या अदृश्य हो किन्तु उसका स्मरण किया जा रहा है। ऐसा होने पर मात्र आधार का ज्ञान रहने से ही 'नहीं है' इस व्यवहार की सिद्धि हो जायगी। अतः अलग से अभाव की कल्पना करने के लिए कोई प्रमाण ही नहीं है। [धर्मी की कल्पना से अधिक अच्छी कल्पना धर्म की ही होती है। अतः अभाव किसी अधिकरण का एक धर्म है तथा केवल भूतल के रूप में है। इसी से 'घटो नास्ति' का व्यवहार चलता है। घट नहीं है=भूतल का शुद्ध ज्ञान। केवल भूतल का ज्ञान घटादि प्रतियोगी के न रहने पर ही संभव है। हाँ, प्रतियोगी का स्मरण तो करना ही है। भूतल का ज्ञान रहने से 'घट नहीं है' का ज्ञान हो जायगा।]

तदुक्तममृतयकलायाम्—

३७. अत्रोच्यते द्वयी संविद्वस्तुनो भूतलादिनः।
एका संसृष्टविषया तन्मात्रविषया परा॥
३८. तन्मात्रविषया वापि द्वयी साथ निगद्यते।
प्रतियोगिन्यदृश्ये च दृश्ये च प्रतियोगिनि॥
३९. तत्र तन्मात्रधीर्येयं स्मृते च प्रतियोगिनि।
नास्तित्वं सैव भूभागे घटादिप्रतियोगिनः॥
(प्रक० प० ६।३७-३९) इति।

इसे **अमृतकला** (प्रकरण पंचिका के छठे प्रकरण का नाम) में कहा गया है—'इस दर्शन में भूतल आदि वस्तु में दो प्रकार का ज्ञान माना गया है। एक का तो संसृष्ट विषय होता है (जैसे भूतल घट से युक्त है)। दूसरे

प्रकार के ज्ञान का विषय केवल वह वस्तु ही है (जैसे केवल भूतल का ज्ञान) ॥ ३७ ॥ अब वह तन्मात्र विषयक ज्ञान भी दो प्रकार का कहा जाता है— एक तो प्रतियोगी के अदृश्य हो जाने पर और दूसरा प्रतियोगी के दृश्य ही रहने पर ॥ ३८ ॥ उनमें जो यह तन्मात्र विषयक बुद्धि है जब प्रतियोगी के स्मरण के साथ उत्पन्न होती है तब उसे ही भूतल में घटादि प्रतियोगी का अभाव मानते हैं। (केवल भूतल के स्वरूप का ज्ञान घट के स्मरण के साथ हो तो उसे ही अभाव कहते हैं। स्पष्टतः अभाव भावरूप ही है)। (प्रकरण-पंचिका, ६।३७-३९)।

अत एव प्राभाकरमतानुसारिभिः प्रमाणपारायणे प्रत्यक्षादीनि पञ्चैव प्रमाणानि प्रपञ्चितानि । नन्वेवमभावस्याभावे नकारस्य वैयर्थ्यमापद्येत । अनुशासनविरोधश्चापतेदिति चेत्— तदेतद्वार्तम् । एकोनपञ्चाशद्वर्णानां मध्ये कस्यापि वर्णस्याभावार्थत्वादर्शनेन वर्णस्य सतो नकारस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः ।

इसीलिए प्रभाकर-मत का अनुसरण करनेवाले [शालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपंचिका के पाँचवें प्रकरण अर्थात्] प्रमाण-पारायण में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का ही निरूपण किया है। [ये प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, और अर्थापत्ति। छठा प्रमाण अनुपलब्धि है जिसे भाट्ट-मीमांसक मानते हैं। प्रभाकर इसे नहीं मानते। अनुपलब्धि केवल अभाव का ही ग्रहण करती है किन्तु प्रभाकर-मत में भाव के अतिरिक्त अभाव नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिए उसके ग्रहण के लिए पृथक् प्रमाण की क्या आवश्यकता है ?]

अब समस्या होगी कि जब इस प्रकार अभाव की सत्ता नहीं मानते हैं तो नकार व्यर्थ हो जायगा। [न = नहीं, यह अव्यय है। इसका क्या उत्तर होगा ?] यही नहीं, पाणिनि के अनुशासन का भी विरोध हो जायगा। [पाणिनि ने **'नञ्'** (२।२।६) सूत्र में उत्तर पद के साथ तत्पुरुष समास होने का विधान किया है—इसका विरोध होगा। क्योंकि यदि नञ् निरर्थक है तो उत्तर पद के साथ कैसे मिल सकेगा ? इस प्रकार अभाव न मानने पर 'न' का समर्थन करने का प्रश्न उठ खड़ा हो जाता है।]

किन्तु ये तर्क व्यर्थ के हैं। उनचास वर्णों के बीच कोई भी वर्ण अभाव के अर्थ में नहीं मिलता (देखा जाता) है। इसलिए वर्ण होने के कारण नकार भी उस (अभाव) के अर्थ में सिद्ध नहीं होता। [यह विवेचन अनुमान के रूप में है जिसका पूर्ण रूप ऐसा हो सकता है—

(१) न-कार अभावार्थक नहीं है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि यह वर्ण है। (हेतु)
(३) जैसे अकार आदि दूसरे वर्ण हैं। (उदाहरण)
उनचास वर्णों की संख्या इस तरह पूर्ण होती है—१६ स्वर, २५ स्पर्श वर्ण, ४ अंतःस्थ तथा ४ ऊष्म वर्ण।]

न चैवमनुशासनविरोधः। तदन्य-तदभाव-तद्विरुद्धेष्वर्थेसु अनुशासनस्यैवमर्थः स्यात्। तथा हि—चेतनानां मध्ये कश्चन कस्यचिन्मित्रं, कश्चन कस्यचिदुदासीनः तथैवाचेतनानामपि। तदन्यपदेन तदुदासीनो नकारार्थः। विरुद्धपदेन शत्रुर्नकारार्थः। तदभावपदेन मित्रं नकारार्थः।

अभाव न मानने से [पाणिनि के] अनुशासन का भी विरोध नहीं होता। [नञ् से मुख्यतः ये तीन अर्थ प्रतीत होते हैं—] तदन्य (···से भिन्न), तदभाव (···का अभाव) तथा तद्विरुद्ध (···से विरुद्ध)। इन अर्थों में अनुशासन का उपर्युक्त विधि से अर्थ हो सकता है। देखिए—चेतन पदार्थों के बीच कोई किसी का शत्रु है, कोई किसी का मित्र, तो कोई किसी से उदासीन ही है। यही दशा अचेतन पदार्थों की भी है। तदन्य शब्द से नकार का अर्थ समझें—उससे उदासीन। विरुद्ध शब्द से नकार का अर्थ शत्रु है। तदभाव शब्द से नकार का अर्थ मित्र है। [इस प्रकार दूसरे अर्थों में नकार के अर्थों की व्याख्या की जाती है।]

तथा चाब्राह्मणपद एवैतत्त्रयं प्रतीयते—शूद्र इत्युदासीनो, यवन इति शत्रुः, क्षत्रिय इति मित्रम्। एवं सर्वत्र नञ्प्रयोग-स्थले द्रष्टव्यमिति न कश्चिदभावो भावव्यतिरिक्तः सम्भवति। तस्मादुक्तया रीत्या भ्रमप्रसिद्ध्या विवादाध्यासिताः प्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात् , दण्डीति प्रत्ययवदिति सिद्धम्।

इस प्रकार 'अब्राह्मण' शब्द में ही उक्त तीनों की प्रतीति होती है—शूद्र के प्रति [नकारार्थ] उदासीन है, यवन के प्रति शत्रु और क्षत्रिय के प्रति मित्र है। [तात्पर्य यह हुआ कि अब्राह्मण शब्द में यदि 'अ' का अर्थ तदन्य लेंगे तो शूद्र अर्थ होगा। यदि विरुद्ध अर्थ में 'अ' मानें तो अब्राह्मण = यवन। अन्त में यदि अभाव अर्थ लें तो अब्राह्मण का अर्थ क्षत्रिय होगा।] इसी तरह नञ् का

प्रयोग होने वाले सभी स्थानों में देखना चाहिए। अतः भाव के अतिरिक्त अभाव नाम का कोई पदार्थ मिलना संभव नहीं है।

इसलिए उपर्युक्त रीति से भ्रम की सिद्धि कर लें [= 'इदं रजतम्' में ग्रहण और स्मरण के रूप में दो ज्ञान रहने पर भी वास्तविक व्यवहार होने पर प्रवृत्ति के विसंवादित (निष्फल) हो जाने से कुछ लोग भ्रम का व्यवहार करते हैं, वस्तुतः तो वह है नहीं। इसके बाद अनुमान होता है—]

(१) विवादास्पद प्रतीतियाँ यथार्थ (Real) हैं—प्रतिज्ञा।

(२) क्योंकि ये प्रतीतियाँ हैं—हेतु।

(३) जैसे दण्डी (दण्ड धारण करने वाला) की प्रतीति होती है—उदाहरण। यह सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ पर मीमांसकों ने अपने लंबे पूर्वपक्ष का अन्त किया। उनका लक्ष्य यही था कि मिथ्याज्ञान का खंडन करें। मिथ्याज्ञान के रूप में वेदान्त में स्वीकृत सभी प्रतीतियों को वे सत्य और यथार्थ मानते हैं। 'इदं रजतम्' या 'पीतः शङ्खः' कोई भी उदाहरण उन्हें अपनी मान्यता से हटा नहीं सका। अब शंकराचार्य अपने प्रबल तर्कों के चपेटों से प्रभाकर-मत का मस्तक चूर्ण करेंगे।

(१३. मिथ्याज्ञान की सत्ता है—शंकर का उत्तरपक्ष)

तदपरे न क्षमन्ते। इह खलु निखिलप्रेक्षावान् समीहित-तत्साधनयोरन्यतरप्रवेदने प्रवर्तते। न च रजतमर्थयमानस्य शुक्तिकाशकलज्ञानं तद्रूपमनुभावयितुं प्रभवति। शुक्तिकाशकलस्य समीहिततत्साधनयोरन्यतरभावाभावात्। नापि रजतस्मरणं पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिकारणम्। तस्यानुभवपारतन्त्र्यतयाऽनुभवदेश एव प्रवर्तकत्वात्।

इस मत को दूसरे लोग सह नहीं पाते। यह निश्चित है कि सभी विवेकशील मनुष्य अभीष्ट वस्तु या उसकी प्राप्ति के साधन इन दोनों में से किसी एक के ज्ञान में ही प्रवृत्त होते हैं। ऐसा नहीं देखा जाता कि जो व्यक्ति रजत का इच्छुक है उसे सीपी के टुकड़े का ज्ञान उस (रजत के) रूप का अनुभव करा दे। [सीपी के टुकड़े में रजत की सत्ता नहीं है। 'इदम्' के रूप में सीपी का टुकड़ा ज्ञात है किन्तु रजत चाहने वाले व्यक्ति को न तो उससे अपनी अभीष्ट वस्तु का ही स्वरूप मालूम होता न उसके साधन का ही। क्योंकि] सीपी का टुकड़ा उस व्यक्ति का न तो अभीष्ट ही हो सकता न अभीष्ट-प्राप्ति का साधन ही।

इसके अतिरिक्त रजत का स्मरण [जो ये मीमांसक मानते हैं] सामने में विद्यमान पदार्थ में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि स्मरण अनुभव के अधीन रहता है, इसलिए वह (रजतस्मरण) अनुभव के स्थान में (जहाँ पर चाँदी देखी थी और जिसका स्मरण कर रहे हैं वहीं) प्रवृत्ति को उत्पन्न कर सकता है। [स्मरण अनुभव पर ही निर्भर करता है। जिस स्थान का, जिस रूप का और जिस वस्तु का अनुभव होगा—उसके अनुरूप ही स्मरण भी हो सकेगा। जिस स्थान पर चाँदी देखी थी, प्रवृत्ति उसी स्थान की ओर होगी—अन्यत्र नहीं। सामने की सीपी पर प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती।]

नापि भेदाग्रहो व्यवहारकारणम्। ग्रहणनिबन्धनत्वाच्चेतनव्यवहारस्य। ननु न वयमेकैकस्य कारणत्वं ब्रूमहे येनैवमुपालभ्येमहि। किं त्वगृहीतविवेकस्य ज्ञानद्वयस्य प्राप्तसमीचीनपुरःस्थितरजतज्ञानसारूप्यस्येत्यनुक्तोपालम्भोऽयमिति चेत्—तदप्ययुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—समीचीनरजतावभाससारूप्यं भासमानं प्रवर्तकं सत्तामात्रेण वा ?

आप यह भी नहीं कह सकते [जैसा ऊपर कहा है] कि भेद का ग्रहण न करना ही ['इदं रजतम्' आदि विशिष्ट] व्यवहारों का कारण है। चेतन के सारे व्यवहार ग्रहण (ज्ञान, प्रतीति) पर चलते हैं [और आप कहते हैं कि ग्रहण न होने से व्यवहार चलता है ?]

[अपनी रक्षा के लिए कदाचित् आप कहेंगे—] हमलोग एक-एक को लेकर तो (केवल 'इदम्' के ग्रहण को या केवल रजत के स्मरण को) कारण नहीं मान रहे हैं कि आप (वेदान्ती) हमें इस तरह खरी-खोटी सुना रहे हैं। बल्कि हम तो उन दोनों ज्ञानों को जिनमें भेद की प्रतीति नहीं होती तथा जिनमें सच्चे और संनिहित रजत के ज्ञान के साथ समरूपता है, उन्हें ही [कारण मानते हैं], अतः हमारा मत उलाहना (उपालंभ) देने योग्य नहीं है।

हम (वेदान्ती) कहेंगे कि यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि नीचे दिये विकल्पों को सहने की शक्ति इसमें नहीं है। वे विकल्प हैं—[आप कहते हैं कि उक्त दोनों ज्ञानों में (ग्रहण + स्मरण या दो ग्रहण ही) सच्चे रजत के ज्ञान से सादृश्य है उसी सादृश्य से व्यक्ति प्रवृत्त होता है तो] वह सच्चे रजत की प्रतीति से सादृश्य होना क्या केवल ज्ञान रहने से ही प्रवृत्ति का कारण होता है या वस्तुतः विद्यमान रहकर प्रवृत्ति उत्पन्न करता है ? [अब प्रथम विकल्प में दो विकल्प करते हैं।]

आद्ये विकल्पे भेदाग्रहापरपर्यायस्य सारूप्यस्य समीचीन-संनिभे इमे ज्ञाने इति विशेषाकारेण गृह्यमाणस्य प्रवृत्तिकारणत्वं, किं वानयोरेव स्वरूपतो विषयतश्च मिथो भेदाग्रहो विद्यत इति सामान्याकारेण गृह्यमाणस्य सारूप्यस्य ?

पहले विकल्प में [दो विकल्प हैं—] (१) सारूप्य को दूसरे शब्दों में 'भेद का ग्रहण न करना' भी कहते हैं। 'ये दोनों ज्ञान सच्ची चाँदी के ज्ञान के समान हैं'—इस प्रकार **विशेष आकार** में गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। (२) इन दोनों ज्ञानों में ही स्वरूप और विषय को लेकर भेदाग्रह (सारूप्य) है—इस प्रकार **सामान्य आकार** में गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। [चूँकि ज्ञान दो प्रकार का होता है इसलिए ज्ञात सादृश्य वाले विकल्प के दो खण्ड हो रहे हैं। वैशेषिक आदि कहते हैं कि जिस धर्म के कारण सादृश्य होता है—उस धर्म और सादृश्य में तादात्म्य है, वह धर्म ही सादृश्य है। उस धर्म का यह रूप है—मुख (उपमेय) और चन्द्र (उपमान) में सौन्दर्य (धर्म) समान है। यह कभी विशेषाकार में ज्ञात होता है। कभी-कभी सामान्य रूप में ही—जैसे यह धर्म अमुक पदार्थ में है। प्रस्तुत प्रसंग में देखते हैं कि भेदाग्रह समान धर्म है। जैसे सच्ची चाँदी के ज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं होता वैसे ही ज्ञानद्वय से युक्त प्रतीति में भी भेद ग्रहण नहीं हो पाता। इस रूप में भेदाग्रह का ज्ञान प्रवृत्त करता है या इन दोनों ज्ञानों के पारस्परिक भेद का ग्रहण नहीं होने से ही हम प्रवृत्त होते हैं ? संक्षेप में यह कहें कि सच्चे रजत के ज्ञान से तुलना करने पर भेदाग्रह ज्ञान प्रवर्तक होता है या अपने ही दोनों ज्ञानों में भेदाग्रह होने से प्रवृत्ति होती है ?]

नाद्यः। समीचीनज्ञानवत्तत्संनिभज्ञानस्य तदुचितव्यवहारप्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। न खलु गोसंनिभो गवय इत्यवभासो गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति।

न द्वितीयः। व्याहतत्वात्। न खल्वनाकलितभेदस्यानयोरिति, अनयोरिति ग्रहे भेदाग्रह इति च प्रतिपत्तिर्भवति। अतः परिशेषात्सत्तामात्रेण भेदाग्रहरूपस्य सारूप्यस्य व्यवहारकारणत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि जैसे समीचीन ज्ञान (सच्ची चीज

का ज्ञान) [अपने उचित व्यवहार की ओर लोगों को प्रवृत्त करता है उसी तरह से समीचीन ज्ञान] की तुलना करने वाला (Similar) ज्ञान ('इदं रजतम्' का) उस सम्यक् ज्ञान की तरह व्यवहारों में लोगों को प्रवृत्त नहीं कर सकता। 'गौ के समान गवय होता है' यह प्रतीति गौ चाहने वाले व्यक्ति को गवय की ओर प्रवृत्त नहीं करती। [विद्यमान वस्तु के साथ अविद्यमान वस्तु के सादृश्य का ज्ञान होने से भी अविद्यमान वस्तु की ओर प्रवृत्ति नहीं होती।]

दूसरा विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि इसमें व्याघात (प्रतिरोध) होता है। जिसमें भेद का ग्रहण ही नहीं किया गया है (= ग्रहण और स्मरण में), उसमें 'इन दोनों में' इस तरह की प्रतीनि नहीं हो सकती और न 'अनयोः' (इन दोनों में)—ऐसा लेने से भेदाग्रह की ही प्रतीति हो सकती। [एक ओर कह रहे हैं कि भेद का ग्रहण नहीं होता अर्थात् ज्ञान एक है, दूसरी ओर द्विवचन शब्द का प्रयोग भी कर रहे हैं। यह व्याघात* नहीं तो क्या है ?]

इसलिए अब अवशिष्ट बचे दूसरे विकल्प को लें अर्थात् विद्यमान होने के कारण (सत्तामात्र से) भेदाग्रह रूपी सादृश्य को व्यवहार का कारण मानें। [जैसे इन्द्रिय स्वयम् अज्ञात होने पर भी ज्ञान उत्पन्न करती है अथवा पास में पड़ी आग अज्ञात होने पर दाहक होती है उसी तरह इन दोनों ग्रहण-स्मरणात्मक ज्ञानों में वस्तुतः विद्यमान भेदाग्रह (सादृश्य) ज्ञात न होने पर भी व्यवहार या प्रवृत्ति की उत्पत्ति कर सकता है। मीमांसकों ने ऐसा ही माना भी है। इसपर भी विचार करते हैं।]

एवमेवास्त्विवति चेत्—तर्हि इदमिह संप्रधार्यम्। किमयं भेदाग्रहः समारोपोत्पादनक्रमेण व्यवहारकारणमस्तु, उतानुत्पादितारोप एव स्वयमिति। न च द्वितीयः पक्ष एव श्रेयान्। तावतैव व्यवहारोत्पत्तावारोपस्य गौरव-दोषदुष्टत्वादिति मन्तव्यम्। विशिष्टव्यवहारस्य विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वनियमेनाज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेः।

यदि मीमांसक उपर्युक्त रूप में विकल्प को ही स्वीकार करें तो उन्हें यह स्पष्ट करना चाहिए कि यह भेदाग्रह समारोप की उत्पत्ति के क्रम से व्यवहार का प्रयोजक है या बिना आरोप की उत्पत्ति किये स्वयं ही व्यवहार को चलाता

---

* Self-Contradiction (व्याघात)।

है ? [सीपी पर रजत के स्वरूप का आरोप भेदाग्रह के ही कारण होता है। यही आरोप व्यवहार या प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, इसलिए आरोप के क्रम से भेदाग्रह व्यवहारादि का कारण है, ऐसा मानते हैं। दूसरा विकल्प है कि भेदाग्रह रजत के स्वरूप को सीपी पर बिना आरोपित किये ही व्यवहार का प्रवर्तन करता है।]

दूसरा पक्ष ही कोई अधिक अच्छा नहीं है क्योंकि यदि उतने से ही व्यवहार की सिद्धि होती है तो आरोप को इस विवाद में ले आना कल्पनागौरव के दोष से दूषित हो जायगा। यह समझें। यह नियम है कि विशिष्ट व्यवहार विशिष्ट ज्ञान के बाद ही हो सकता है, इसलिए अज्ञान (भेदाग्रह) के बाद [विशिष्ट व्यवहार की] सिद्धि नहीं होती। [जैसे पुरुष में दण्ड की विशिष्टता जानकर ही यह व्यवहार होता है कि यह दण्डी है वैसे ही सामने के पदार्थ में रजतत्व की विशिष्टता जानकर ही 'यह चाँदी है' ऐसा व्यवहार करेंगे। अज्ञान से यह व्यवहार कभी संभव नहीं। भेद-ज्ञान न होना ही अज्ञान है। यदि अज्ञान ही व्यवहार का कारण होता तो सामने के पदार्थ के संनिकर्ष के पूर्व भी तो वह सुलभ ही था तो वैसा व्यवहार क्यों नहीं हुआ, अथवा प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ? इसलिए चेतन के व्यवहार का कारण ज्ञान ही है, अज्ञान नहीं।]

विशेष—सत्तामात्र वाले विकल्पों में दूसरे को तो काट दिया गया किन्तु पहले को शंकर स्वयं स्वीकार करेंगे। तदनुसार आरोपपूर्वक भेदाग्रह के कारण ही रजत की प्रतीति होती है।

(१२ क. रजत का सीपी पर आरोप)

नन्वयं व्यवहारो नाज्ञानपूर्वक इत्यनाकलितपराभिसंधिः स्वसिद्धान्तसिद्धार्थाद् यदि कश्चिच्छङ्केत, स प्रतिवक्तव्यः।

शुक्तिकाविषयस्य ग्रहणस्यासमीहितविषयत्वेन रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुत्वासंभवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां रजतज्ञानस्य समीहितविषयत्वेन प्रवृत्तिहेतुत्वसंभवाच्चेदमर्थाभिसंभिन्नग्रहविविक्तस्यापि रजतस्मरणस्य कारणत्वं वक्तव्यम्।

यदि कोई (मीमांसक) अपने सिद्धान्त के सिद्ध अर्थ के अनुसार शंका करे और 'यह व्यवहार (सीपी में चाँदी का व्यवहार) अज्ञानपूर्वक नहीं है' इस रूप में जो दूसरों (वेदान्तियों) की अभिसंधि (धारणा, hold) है उसका ध्यान न रखे तो उसे इस प्रकार उत्तर देना होगा। [ये मीमांसक आरोप की

आवश्यकता की सिद्धि करने वाले वेदान्त के गूढ़ अभिप्राय को नहीं समझते। इसलिए ऐसा कहते हैं।]

सीपी के विषय का जो ग्रहण है वह अभीष्ट विषय नहीं है इसलिए रजत के इच्छुक व्यक्ति में वह प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरी ओर अन्वय-व्यतिरेक से, रजत ज्ञान अभीष्ट विषय होने के कारण प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकता है। इन दोनों कारणों से, 'इदम्' अर्थ से संयुक्त उसके प्रत्यक्षानुभव से पृथक् होने पर भी रजत के स्मरण को ही कारण मानना चाहिए। [इष्ट वस्तु का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति होती है उसके अभाव में नहीं— इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा निर्णय होता है कि रजत का ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण है। लेकिन स्मरणात्मक रजत-ज्ञान को प्रवृत्ति-कारण कहना सम्भव नहीं है। ज्ञान और इच्छा का विषय समान होने पर भी, इच्छा और प्रवृत्ति का समान विषय नहीं रह पायेगा। इच्छा का विषय (इष्ट) रजत भले ही हो परन्तु वह प्रवृत्ति का विषय नहीं है। कारण यह है कि प्रवृत्ति 'इदम्' के अर्थ की ओर अभिमुख हो रही है। तो यहाँ पर जिसकी ओर प्रवृत्ति है वही वस्तु ज्ञान या इच्छा का विषय बन जाती है—इसे किसी तरह सिद्ध करना ही है। यह 'इदम्' का अर्थ, जो प्रवृत्ति का विषय बना हुआ है, उसकी सिद्धि तब तक नहीं होगी जब तक इच्छा के विषय—रजत—का आरोप नहीं मानेंगे। इसे ही आगे समझा रहे हैं।]

तच्च वक्तुं न शक्यते। जानाति इच्छति ततः प्रवर्तत इति न्यायेन ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानविषयत्वेन भाव्यम्। तथा चेदंकारास्पदाभिमुखप्रवृत्तस्य रजतार्थिनस्तदिच्छानिबन्धनम्। अन्यथा अन्यदिच्छन्नन्यद् व्यवहरतीति व्याहन्येत। तथा च यदीदंकारास्पदं रजतावभासगोचरतां नाचरेत्कथं रजतार्थी तदिच्छेत्। यद्यरजतत्वाग्रहणादिति ब्रूयात् रजतत्वाग्रहात्कस्मादयं नोपेक्षेतेति।

किन्तु यह कहा नहीं जा सकता [कि स्मरणात्मक रजत-ज्ञान प्रवृत्ति उत्पन्न करता है]। एक नियम है कि मनुष्य किसी वस्तु को जानता है, तब उसकी इच्छा करता है और अन्त में उसके लिए प्रवृत्त होता है—इससे स्पष्ट है कि ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक ही वस्तु रहनी चाहिए। उसके अनुसार, जो रजतार्थी 'इदम्' शब्द के द्वारा प्रतीत वस्तु की ओर प्रवृत्त हुआ है उसकी इच्छा भी उसी ('इदम्' शब्द के द्वारा प्रतीत वस्तु) पर आधारित

है। यदि ऐसा नहीं होगा तो दूसरी वस्तु की इच्छा हो और व्यवहार दूसरी वस्तु का करें —ऐसा व्याघात होने की सम्भावना होगी।

ऐसी स्थिति में यदि 'इदम्' शब्द का प्रतीति-विषय रजत-ज्ञान को विषय नहीं बनाता (= 'इदम्' से रजत का ज्ञान नहीं होता) तो रजतार्थी उसकी इच्छा कैसे करेगा ? यदि ये उत्तर दें कि [सामने में विद्यमान वस्तु] रजत से भिन्न है, ऐसा ग्रहण नहीं होता [इसीलिए रजतार्थी उसकी इच्छा करेगा] तो हम कहेंगे कि [उन्हीं मीमांसकों के मत से] चूँकि संनिहित वस्तु का रजत के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है इसलिए उसकी उपेक्षा वह क्यों नहीं करेगा ? [रजत के रूप में ग्रहण न होने से उधर प्रवृत्ति ही नहीं होगी—यह उत्तर दिया जा सकता है। उपेक्षा = प्रवृत्ति नहीं होना।]

युगपत्तद्भव-भेदाग्रहाभेदाग्रह-निबन्धनाभ्यामुपादानोपेक्षाभ्यां पुरतः पृष्ठतश्चाकृष्यमाणः पुरुषो दोलायमानतया रूप्यारोपमन्तरेणोपादानपक्ष एव न व्यवस्थाप्यत इत्यनिच्छताऽप्यच्छमतिना समारोपः समाश्रयणीयः।

यथाह—भेदाग्रहादिदंकारास्पदे रजतत्वमारोप्य तज्जातीयस्योपकारहेतुभावमनुस्मृत्य तज्जातीयत्वेनास्यापि तदनुमाय तदर्थी प्रवर्तत इति प्रथमः पक्षः प्रशस्यः।

इससे एक ही साथ (Simultaneously) रजत के भेद का अज्ञान और रजत के अभेद का [दोनों उत्पन्न होंगे जिन] पर आधारित उपादान (प्रवृत्ति) और उपेक्षा (अप्रवृत्ति) के द्वारा पुरुष (रजतार्थी) आगे-पीछे की ओर खिचने लगेगा। [उपर्युक्त दोनों अज्ञान एक ही साथ विद्यमान रहेंगे। अपना-अपना कार्य वे एक ही साथ करेंगे। लेकिन प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों एक ही साथ संभव नहीं होती।] वह मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ (Confused) होने से तब तक प्रवृत्ति के पक्ष में समझा नहीं जा सकता जब तक हम रजत का सीपी पर आरोप नहीं मान लें। [रजत का आरोप मान लेने से व्यक्ति की प्रवृत्ति उस आरोपित रजत की ओर सरलता से सिद्ध हो जायेगी।] इस तरह आप जैसे स्वच्छ बुद्धि के व्यक्ति को, इच्छा न रहते हुए भी समारोप (Imposition) मान ही लेना चाहिए।

जैसा कि कहा है—भेद के अज्ञान के कारण 'इदम्' शब्द के द्वारा प्रतिपादित वस्तु पर रजतत्व का आरोप करके, उस जातिवाले (रजत) पदार्थ को

उपकार का कारण (Beneficial) स्मरण करके, उसी जाति का होने के कारण इस (आरोपित रजत) के उपकार का कारण होने का अनुमान करके उसकी कामना से पुरुष प्रवृत्त होता है। इसलिए पहला पक्ष (अर्थात् आरोप उत्पन्न करके भेदाज्ञान व्यवहार का कारण बनता है) मानना अच्छा है।

विशेष—अनुमान का रूप इस तरह का है—

(१) सामने में विद्यमान पदार्थ उपकारक है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि यह रजत है। (हेतु)

(३) जैसे पहले के अनुभव का रजत। (उदाहरण)

यहाँ स्मरणीय है कि जबतक हम रजत को आरोपित न मानें तबतक पक्ष में हेतु की सत्ता नहीं हो सकती। पक्ष है पुरोवर्ती पदार्थ, हेतु है रजतत्व।

न च तटस्थरजतस्मरणपक्षेऽपि हेतोर्गृहीतत्वेनायं मार्गः समान इति वाच्यम्। रजतत्वस्य हेतोः पक्षधर्मत्वाभावात्। न च पक्षधर्मताया अभावेऽपि व्याप्तिबलाद्गमकत्वं शङ्क्यम्। व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गस्यैव गमकत्वाङ्गीकारात्।

आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि तटस्थ (पहले से अनुभूत तथा अनारोपित) रजत का स्मरण मानने वाले पक्ष में भी तो हेतु का ग्रहण कर लेने से यह मार्ग एक तरह का ही है। [शंका का यही आशय है कि रजत का स्मरण करने से आरोप के बिना भी हेतु का ज्ञान होने के कारण अनुमान करना आसान है। हेतु 'रजतत्व' उसमें दिया जा सकता है। परन्तु शंका इसलिए ठीक नहीं है] क्योंकि 'रजतत्व' को हेतु जो बनायेंगे वह (हेतु) पक्ष (= 'इदम्' का अर्थ) का धर्म नहीं रखता। [पूर्वपक्षी आरोप को तो स्वीकार नहीं कर रहा है इसलिए 'इदम्' के द्वारा अभिहित वस्तु में रजतत्व हेतु की वृत्ति नहीं होगी। 'इदम्' को तो ग्रहण मानते हैं, रजत को स्मरण।]

उत्तर में आप यह नहीं कह सकते कि पक्ष-धर्मता (Minor Premise, हेतु और पक्ष का सम्बन्ध बतलाने वाला वाक्य) के बिना भी केवल व्याप्ति (Major Premise, हेतु और साध्य का सम्बन्ध बतलाने वाला वाक्य) बल से हम हेतु को ज्ञापक मान लेंगे। यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त लिंग (साधन, Middle Term) ही ज्ञापक हो सकता है। [अतः हेतु की पक्ष में वृत्ति होना परम आवश्यक है, नही तो अनुमान होगा ही नहीं।

तदाहुः शबरस्वामिनः—ज्ञातसंबन्धस्यैव पुंसो लिङ्गविशिष्ट-

धर्म्येकदेशदर्शनाल्लिङ्गिविशिष्टधर्म्येकदेशबुद्धिरनुमानमिति। आचार्योऽप्यवोचत्—

४०. स एष चोभयात्मा यो गम्ये गमक इष्यते।
असिद्धेनैकदेशेन गम्यासिद्धेर्न बोधकः॥ इति।

इसे शबर स्वामी कहते हैं—'जो व्यक्ति [साधन और साध्य—जैसे धूम और अग्नि का] सम्बन्ध जानता है वह जब लिंग (साधन—धूम) से विशिष्ट धर्मी (जैसे पर्वत, जंगल आदि जहाँ भी धूम हो) का एक भाग देखकर लिंगी (साध्य—अग्नि) से विशिष्ट धर्मी (पर्वत) के एक भाग का बोध करता है तो वही अनुमान है।' [साधनयुक्त धर्मी को देख कर उसकी साध्ययुक्तता का ज्ञान करना अनुमान है। कोई नई चीज शबर ने नहीं कही है।]

हमारे आचार्य ने भी कहा है—'गम्य (साध्य) में जो ज्ञापक (गमक = साधन, हेतु, लिंग) लिया जाता है वह उभयात्मक (अर्थात् व्याप्ति-विशिष्ट और पक्ष में स्थित भी) होता है। यदि उसका एक भाग भी असिद्ध हो गया (जैसे हेतु व्याप्तियुक्त होने पर भी पक्षनिष्ठ न हो या पक्षनिष्ठ होने पर भी व्याप्तिमान् न रहे) तो गम्य (साध्य) की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिए वैसा हेतु साध्य का बोधक नहीं हो सकता ॥ ४० ॥'

(१४. आरोप के विषय में शंका-समाधान)

ननु भवत्पक्षेऽपि पुरःस्थितस्येदमर्थस्य परमार्थतो रजतत्वं नास्तीति न रजतत्वं धर्म्येकदेश इति चेन्न। पक्षानुरूपो बलिरिति न्यायेनानुमित्याभासानुगुणस्यैकदेशस्य विद्यमानत्वात्। तथा च प्रयोगः—

विवादाध्यासितं रजतज्ञानं पुरोवर्तिविषयं रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यम्, यथोभयवादिसंमतं सत्यरजतज्ञानम्।

विवादपदं शुक्तिशकलं रजतज्ञानविषयोऽव्यवधानेन रजतार्थिप्रवृत्तिविषयत्वाद्रजतपदसमानाधिकरणपदान्तरवाच्यत्वाद्वा वस्तुरजतवत्।

कोई शंका कर सकता है कि आपके पक्ष (सीपी पर रजत का आरोप वाला पक्ष) में भी तो सामने में विद्यमान 'इदम्' का अर्थ (प्रतीत वस्तु)

वास्तव में रजत नहीं है इसलिए 'रजतत्व' [हेतु जो आपने ऊपर दिया है वह] धर्मी (पर्वतादि) का एक भाग नहीं बन सकता।

परंतु ऐसी बात नहीं है। 'यक्ष के अनुसार बलि दी जाती है' इस नियम से अनुमान के द्वारा यह ज्ञात होता है कि धर्मी का एक भाग प्रतीति के अनुरूप ही [अवास्तविक रूप में] विद्यमान है। [धर्मी का एक भाग = रजतत्व। 'इदम्' के द्वारा प्रतीत वस्तु में साध्य अर्थात् उपकारकता वस्तुतः तो नहीं है, कुछ देर तक प्रतीत होती है। साध्य यदि अवास्तविक है तो उसके साधन को क्या पड़ा है कि वह वास्तविक बनने जाय ? अवास्तविक साध्य का साधन—रजतत्व—भी यदि अवास्तविक हो जाय तो क्या हानि है ? उपकारकत्व की जैसी प्रतीति, वैसी ही रजतत्व की। जैसे को तैसा !]

इसके लिये अनुमान-प्रयोग (Form of inference) इस रूप में होगा—

(१) विवादास्पद रजतज्ञान सामने में विद्यमान विषय से युक्त है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि रजतार्थी उसकी ओर नियम से प्रवृत्त होते हैं। (हेतु)

(३) जिसका साधन उस तरह है, उसका साध्य भी वैसा ही होगा जैसे दोनों वादियों के द्वारा स्वीकृत सच्चे रजत का ज्ञान। (व्याप्ति + उदाहरण)

[इस अनुमान से यह सिद्ध हुआ कि रजतविषयक ज्ञान पुरोवर्ती पदार्थविषयक है। अतः रजत और पुरोवर्ती पदार्थ में तादात्म्य की सिद्धि हो जाती है। अब दूसरे अनुमान से यह सिद्ध कर रहे हैं कि सीपी का टुकड़ा चाँदी के ज्ञान का विषय है अतएव सीपी और चाँदी में तादात्म्य है। इन दोनों तादात्म्यों की उपपत्ति आरोप से ही होती है। यह दूसरा अनुमान लें—]

(१) विवादास्पद सीपी का टुकड़ा चाँदी के ज्ञान का विषय है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि रजतार्थी की प्रवृत्ति बिना व्यवधान के उसी ओर होती है, क्योंकि रजत शब्द के समानाधिकरण दूसरे पद ('इदम्') का वह (सीपी का टुकड़ा) वाच्य है। (हेतु)

(३) जैसे वास्तविक चाँदी होती है। (उदाहरण)

(१४ क. मीमांसकों के तर्कों का उत्तर)

यदुक्तं रजतज्ञानस्य शुक्तिकालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति तदप्ययुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोध उद्भाव्यते इदमंशस्य वा ?

नाद्यः। अनङ्गीकारपराहतत्वात्। न द्वितीयः। इदंतानियतदेशाधिकरणस्य चाकचिक्यविशिष्टस्य वस्तुतो रजतज्ञानालम्बनत्वमनवलम्बमानस्य भवत एवानुभवविरोधात्। इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपूर्वकमुपादानादिव्यवहारदर्शनाच्च।

आप कहते हैं कि रजत का ज्ञान यदि सीपी पर आधारित हो जाय तो **अनुभव का विरोध** होगा। किन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि किसी भी निम्नोक्त विकल्प को सहने की शक्ति इसमें नहीं है। विकल्प ये हैं :—आप अनुभव का विरोध कहाँ पर मानते हैं? क्या रजत के आकार की प्रतीति **सीपी पर** आधारित होती है तब, या **'इदम्'** अंश पर आधारित होती है तब? [सभी लोगों का यह अनुभव है कि चाँदी की प्रतीति पुरोवर्ती पदार्थ पर निर्भर करती है। फिर भी अनुभव-विरोध माननेवाले कहते हैं कि पुरोवर्ती पदार्थ सीपी के रूप में चाँदी की प्रतीति का आधार है, इसीसे अनुभव का विरोध होता है। अथवा 'इदम्' अंश के रूप में वह आधार होगा। अब दोनों का खंडन करते हैं।]

(१) पुरोवर्ती पदार्थ सीपी के रूप में रजतज्ञान का आधार नहीं हो सकता क्योंकि इसे हम स्वीकार नहीं करते। अतः यह खंडित हो गया [कि इसमें अनुभव का विरोध होगा। हम इस रूप में रजत का आरोप मानते नहीं, जिससे अनुभवविरोध की उक्त प्रक्रिया हमपर लागू नहीं हो सकती। इसमें सफाई देने का स्थान ही नहीं है। हाँ, यदि अनुभव-विरोध आप 'इदम्' के अंश पर आधारित रजतज्ञान में मानें तो सफाई देंगे—]

(२) यह दूसरा विकल्प ठीक नहीं क्योंकि जिस वस्तु का आधार 'इदम्' अंश से नियत (पुरोवर्ती) स्थान ही है तथा जो (वस्तु) चाकचिक्य (जगमगाहट) से युक्त है उसे रजत के ज्ञान का आधार न मानने से आपकी उक्ति ही अनुभव का विरोध करती है। [आपका कथन गलत है। जिसकी आँखें दूषित हैं वह व्यक्ति सामने में पड़ी चीज को देखकर उसकी जगमगाहट से अपने अंतःकरण में उसकी वृत्ति बैठाता है। द्रव्य का निश्चय तो नहीं हो सकता—सीपी के रूप में अंतःकरण की वृत्ति नहीं जगी है। जगी है तो 'इदम्' के रूप में। अतः 'इदम्' के रूप में पुरोवर्ती पदार्थ पर आधारित रजतज्ञान अनुभवसिद्ध है। यदि कोई नहीं मानता तो वही अनुभव के विरुद्ध जा रहा है।] दूसरे, 'इदं रजतम्' इस प्रकार समानाधिकरण होने के कारण पुरोवर्ती पदार्थ में

अँगुली का निर्देश करके भी प्रवृत्ति आदि व्यवहार देखे जाते हैं। [कोई अँगुली दिखाकर कहता है कि यह चाँदी है, तो उसे लेने के लिए हम चल पड़ते हैं।]

यच्चोक्तम्—दोषाणामौत्सर्गिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिबन्धकतया विपरीतकारित्वं नास्तीति। तदप्ययुक्तम्। दावदग्धवेत्रबीजादौ तथा दर्शनात्। न च दग्धस्य वेत्रबीजत्वं नास्तीति मन्तव्यम्। श्यामस्य घटस्य रक्ततामात्रेण घटत्वनिवृत्तिप्रसङ्गात्।

ननु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुवृत्तयोः प्रत्ययप्रयोगयोः सद्भावाद् घटत्वस्य सद्भाव इति चेत्—न। अत्रापीदं वेत्रबीजमिति तयोः समानत्वात्।

आपने यह भी कहा था कि दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति का केवल प्रतिबन्ध कर सकते हैं (देखिये—अनु० ११ क) अतः ये विपरीत कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते (अर्थात् दोष केवल आवरण करने में समर्थ हैं विक्षेप में नहीं)। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि दावाग्नि से जले हुए बीज में वह शक्ति (विपरीत-कार्योत्पादन की) देखते हैं। आप यह न सोचें (जैसा कि उक्त स्थल पर हमारी शंका का उत्तर देते हुए किया था) कि जल जाने पर वह बेंत का बीज रहा ही नहीं। ऐसा यदि होता तो काले (कच्चे) घड़े में पकने पर यदि लाली आने लगती तो बस इतने से ही वह घट-संज्ञा से रहित हो जाता। [इससे सिद्ध हुआ कि परिणाम होने के कारण स्वाभाविक धर्म की हानि नहीं होती। बेंत का बीज जलने पर भी बेंत का बीज ही है। अतः वह विपरीत कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है ही।]

अब यह शंका की जा सकती है कि [उपर्युक्त घट के उदाहरण में] यह (कच्चा) भी घट है, वह (पका) भी घट ही है—यहाँ [घटविषयक] प्रतीति और व्यवहार दोनों ही अनुवृत्त अर्थात् पहले की तरह होते हैं। दोनों के विद्यमान रहने से वहाँ घटत्व ही विद्यमान है [जिससे कच्चे और पक्के घड़ों में 'घट' शब्द का ही व्यवहार होता है। वह बात यहाँ पर लागू नहीं है।] परन्तु यह शंका इसलिए ठीक नहीं कि यहाँ पर भी दोनों स्थितियों में वह बेंत का बीज एक समान ही है।

तथा भस्मकदोषदूषितस्य जाठराग्नेर्बह्वन्नपचनसामर्थ्यं दृश्यते। न च बह्वन्नपचनसामर्थ्यं जाठरस्यैव जातवेदसो न भस्मकव्याधेरिति वक्तुं युक्तम्। तस्य मन्दमल्पपचनसामर्थ्येऽपि

सहसा महत्पचनस्य भस्मकव्याधिसाहायकमन्तरेणानुपपत्तेः। अन्यथा सर्वेषां तथापत्तेः।

उसी प्रकार भस्मक-दोष से दूषित जठराग्नि में बहुत-सा अन्न पचाने की सामर्थ्य देखते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि बहुत-सा अन्न पचाने की सामर्थ्य केवल जठराग्नि में ही है, भस्मक-रोग में नहीं। उस (जठराग्नि) में धीरे-धीरे थोड़ा-सा अन्न पचाने की सामर्थ्य होने पर भी अकस्मात् अधिक-से अधिक अन्न पचाने की शक्ति तब तक सिद्ध नहीं होती जब तक भस्मक-रोगरूपी दोष की सहायता न ले ली जाय। यदि ऐसा नहीं हो तो सभी (जठराग्नियों) के साथ यह बात होने लगेगी [कि वे अधिक-से-अधिक अन्न पचाने लगेंगी – चाहे भस्मक रोग रहे या न रहे। परन्तु ऐसा नहीं देखते। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोषों का आविर्भाव हो जाने पर क्रिया विपरीत भी होती है।]

किं च ज्ञानानां यथार्थव्यवहारकारणत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारकारणत्वमङ्गीकुर्वाणो भवानेव पर्यनुयोज्यो भवति। तदुक्तं भाष्ये—'यश्चोभयोः समानो दोषो द्योतते तत्र कश्चोद्यो भवतीति'। अत्राप्युक्तम्—

४१. यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥ इति।

इसके अतिरिक्त जब आप (मीमांसक) यह स्वीकार करने लगते हैं कि ज्ञान यथार्थ व्यवहार का कारण होने पर भी दोष के कारण अयथार्थ व्यवहार के प्रयोजक हैं तो अपने ही तर्कों से आप स्वयं पकड़े जाते हैं। [यह आशय है—मीमांसकों के अनुसार पुरोवर्ती पदार्थ का प्रत्यक्ष (इदम्) और रजत का स्मरण (रजतम्), ये दोनों ज्ञान सच्चे हैं किन्तु दोष के कारण एक ही ज्ञान से उत्पन्न जैसा व्यवहार जो करते हैं वह असत्य है। इसका अर्थ है कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि दोष यथार्थ व्यवहार के विपरीत अयथार्थ व्यवहार के रूप में कार्य उत्पन्न करते हैं। धन्य हैं मीमांसक जी, स्वयं तो दोषों में विपरीत कार्योत्पादन-शक्ति मानते हैं और हम पर लाञ्छन लगाते हैं कि आप ऐसा मानते हैं। दोनों तो एक ही तरह के दोष से युक्त हैं। कौन किसे दोषी घोषित करे ?]

इसे भाष्य में कहा है—'दोनों में जब समान दोष दिखलाई पड़ रहा है तो उसमें किसे लांछनीय समझें ?' यहाँ भी कहा गया है—'(४१) जब दोनों

पक्षों में एक समान दोष हो और उसका परिहार (निराकरण) भी एक ही समान हो तो वैसे पदार्थ के विवेचन में किसी एक पर लांछन लगाना ठीक नहीं है।'

तथापि मामकस्यानुमानस्य किं दूषणं दत्तमासीत् ? यद्यनुमानदूषणं विना न परितुष्यति, हन्त, कालात्ययापदिष्टता । कृष्णवर्त्मानुष्णत्वानुमानवत् । एतावन्तं कालं यदिदं रजतमित्यभादसौ शुक्तिरिति प्रत्यक्षेण प्राचीनप्रत्ययस्यायथार्थत्वं प्रवेदयता यथार्थत्वानुमानस्यापहृतविषयत्वाद् बाध्यत्वसंभवात् ।

फिर भी हमारे (मीमांसकों के) द्वारा दिये गये अनुमान में* अपने क्या दोष लगाया ? [वेदान्ती कहते हैं कि] अच्छी बात, महोदय, यदि अनुमान में दोष दिखाये बिना आप संतुष्ट नहीं हो रहे हैं तो सुनिये—आपके अनुमान में कालात्ययापदिष्ट या बाधित हेत्वाभास है। वह वैसा ही अनुमान है जैसे अग्नि को अनुष्ण सिद्ध करने के लिए अनुमान दिया जाय। [अग्नि अनुष्ण है क्योंकि यह द्रव्य है जैसे जल। यह अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित होता है।]

इस समय तक जो पदार्थ रजत के रूप में प्रतीत होता रहा है वह सीपी है—इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्राचीन प्रतीति की अयथार्थता सिद्ध करता है। यथार्थता सिद्ध करने वाले अनुमान का विषय अपहृत हो जाता है (चाँदी सीपी बन जाती है)। इसलिए वह बाध्य तो है ही।

यच्चोक्तं स्वगोचरव्यभिचारे सर्वानाश्वासप्रसङ्ग इति । तदसांप्रतम् । संविदां क्वचित्संवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेद इति, तथा तावकेऽपि मते तथा मामकेऽप्यसौ पन्था न वारित इति समानयोगक्षेमत्वात् ।

तौतातितमतमवलम्ब्य विधिविवेकं व्याकुर्वाणैराचार्यवाचस्पतिमिश्रैर्बोधकत्वेन स्वतःप्रामाण्यं न व्यभिचारेणेति न्यायकणिकायां प्रत्यपादि । तस्मादविश्वासशङ्का अनवकाशं लभते ।

आपने यह कहा कि यदि [ज्ञान में] अपने विषय का व्यभिचार मानें

---

* विवादस्पद प्रतीतियाँ यथार्थ हैं, क्योंकि वे प्रतीतियाँ हैं जैसे दण्डी की प्रतीति। देखिये—अनु० १२क का अंत।

(विषय के यथार्थ न होने पर भी उसका ज्ञान स्वीकार करें और विषय से व्यभिचरित होनेवाला ज्ञान मानें) तो सभी व्यक्तियों की प्रवृत्ति (आश्वासन, विश्वास) रुक जायगी। पर ऐसी बात नहीं है। ज्ञान से कहीं-कहीं संवादी (व्यभिचरित, यथार्थ के साथ अयथार्थ) व्यवहार की उत्पत्ति होती है फिर भी सब जगह वैसा ही होने की शंका से प्रवृत्ति का बिल्कुल नाश ही नहीं हो जाता। जिस तरह आपके मत में ऐसा होने पर भी प्रवृत्ति नहीं रुकती, उसी तरह हमारे मत में भी [व्यभिचरित होने पर भी मार्ग नहीं बन्द होता] क्योंकि हम दोनों के योगक्षेम (संपाद्य विषय और प्रणाली) समान ही हैं। [वेदान्ती लोग विषय के यथार्थ रूप में न होने पर भी ज्ञान मानते हुए **विषय का व्यभिचार** ग्रहण करते हैं। मीमांसक लोग व्यवहार के यथार्थ न होने पर भी ज्ञान को उस व्यवहार का प्रयोजक मानते हैं और ज्ञान में **व्यवहार का व्यभिचार** मानते हैं। दोनों को अविश्वास तो है ही—यह दोष दोनों में है। कोई गंगा में तैरते समय डूब गया तो कोई भी गंगा में नहीं तैरेगा, ऐसी बात नहीं देखते। अतः कहीं पर व्यभिचार पाकर प्रवृत्ति सर्वत्र रुक ही नहीं जाती—यह हम दोनों वादी मानते हैं।]

तौतातित (कुमारिल भट्ट) के मत का अनुसरण करके विधियों की विवेचना करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने **न्यायकणिका** में प्रतिपादन किया है कि [अपूर्व अर्थ का) बोधक होने के कारण विधि को अपने आप में प्रामाणिक मानते हैं न कि [फल का] व्यभिचार होने के कारण। [जहाँ पर वाचस्पति ने इसका प्रतिपादन किया है उसका विषय कुछ इस प्रकार का है—चार्वाकपक्षी शंका करते हैं कि वेद में विहित पुत्रकाम इष्टि संपन्न कर लेने पर भी कहीं-कहीं पुत्र की उत्पत्ति नहीं देखते अतः फल का व्यभिचार (Inconsistency) देखकर संबद्ध विधि को अप्रामाणिक मानें। इसी पर वाचस्पति का कहना है कि विधि स्वतः प्रमाण है क्योंकि अपूर्व विधि है—इसके प्रतिपादित अर्थ की प्राप्ति किसी दूसरे साधन से नहीं होती। फल के व्यभिचार से इसके प्रामाण्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

इसलिए अविश्वास (अनाश्वास) की शंका का कोई स्थान ही नहीं।

(१५. माध्यमिक बौद्धों का खण्डन—भ्रमविचार)

ननु माध्यमिकमतावलम्बनेन रजतादिविभ्रमालम्बनमसदिति चेत्—तदुक्तम्। असतोऽपरोक्षप्रतिभासायोग्यत्वात्। तदुपादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च।

ननु विज्ञानमेव वासनादिस्वकारणासामर्थ्यासादितदृष्टान्तसिद्धस्वभावविशेषमसत्प्रकाशनसमर्थनमुपजातम् । असत्प्रकाशनशक्तिरविद्या संवृतिरिति पर्यायाः । तस्मादविद्यावशादसन्तो भान्तीति चेत्—तदपि वक्तुमशक्यम् ।

माध्यमिक-मत का अवलंबन लेने पर यह शंका हो सकती है कि रजत आदि के विभ्रम का आधार (सीपी) ही असत् है । [माध्यमिक बौद्धों (Nihilists) के मत से सभी पदार्थ शून्य हैं अतः सीपी भी तो असत् ही है ।] इस का उत्तर तो दे दिया गया है कि एक तो, असत् अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) में प्रतीत हो नहीं सकता [जब कि सीपी में रजत का भ्रम प्रतीत होता है]; दूसरे, [उक्त भ्रम के आधार पर जो रजत-ग्रहण की प्रवृत्ति लोगों में देखते हैं] उसके ग्रहण की इच्छा से लोगों में वह प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ।

[अब ये शून्यवादी माध्यमिक लोग कहेंगे कि वासना असत् के प्रकाशन की शक्ति रखती है—असत् होने पर भी सत् की तरह प्रकाशित होती है । उसका यह प्रकाशन अनादि काल से चला आ रहा है । वह वासना ही असत् विज्ञान को सत् के रूप में प्रकाशित करती है । जिस तरह वह स्वयं प्रकाशित होती है उसी तरह विज्ञान में भी असत्-प्रकाशन की शक्ति दे देती है । स्वप्न के दृष्टान्त से हम जान लेते हैं कि विज्ञान में असत्-प्रकाशन की शक्ति है । जैसे स्वप्नावस्था में असत् पदार्थों का प्रकाशन होता है उसी तरह विज्ञान भी असत्-पदार्थों का प्रकाशन करता है । इसे ही कहते हैं—] यह शंका हो सकती है कि वासना आदि अपने कारणों की शक्ति से प्राप्त तथा [स्वप्न के] दृष्टान्त से सिद्ध एक विशेष स्वभाव **विज्ञान** को मिलता है और वह है—असत् पदार्थों के प्रकाशन की क्षमता । उसे असत् के प्रकाशन की शक्ति कहें, अविद्या कहें या संवृति (Concealment) कहें, [कोई अन्तर नहीं क्योंकि] तीनों पर्याय ही हैं । इसीलिए अविद्या के कारण ही असत् पदार्थ प्रतीत होते हैं । यदि ये (बौद्ध) ऐसा कहें तो हम कहेंगे कि इस प्रकार कहना भी असंभव है । [कारण आगे देंगे ।]

शक्यस्य दुर्निरूप्यत्वात् । किमत्र शक्यं कार्यं ज्ञाप्यं वा ? नाद्यः । असतः कारणत्वानुपपत्तेः । न द्वितीयः । शक्यस्य कारणत्वेनाङ्गीकृतत्वात् । ज्ञानादन्यस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेश्च । उपलब्धौ वा तस्यापि ज्ञाप्यत्वेन ज्ञापकान्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेश्च ।

शक्य (घटादि) पदार्थ का निरूपण करना ही कठिन है। [असत्-प्रकाशन की शक्ति जिसमें है वह विज्ञान शक्त कहलाता है। वह विज्ञान अपनी शक्ति से जिन-जिन पदार्थों का प्रकाशन करता है वे शक्य हैं जैसे—घट, पट, वृक्ष आदि।] क्या यहाँ पर शक्य पदार्थ कार्य (Product, उत्पन्न पदार्थ) है [दण्डादि का कार्य जैसे घट है वैसा] या ज्ञाप्य [उत्पन्न ज्ञान का विषय—जैसे दीपादि का ज्ञाप्य घट है वैसा] है ?

पहला विकल्प तो होगा ही नहीं क्योंकि असत् वस्तु (विज्ञान भी तो असत् ही है—सर्वं शून्यम् !) घटादि (शक्य कार्य) का कारण नहीं बन सकती।

दूसरा विकल्प [कि शक्य ज्ञाप्य है] भी ठीक नहीं क्योंकि शक्य पदार्थ को कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। [यदि शक्य घटादि पदार्थ ज्ञाप्य हैं तो विज्ञान इनका ज्ञापक है। ज्ञापक और ज्ञाप्य में सीधा संबंध है नहीं। जैसे दीपक (ज्ञापक) घट आदि का ज्ञान उत्पन्न करता है वैसे ही विज्ञान घटादि का ज्ञान उत्पन्न करता है। तो, शक्य (घट) कारण नहीं हो सका।] दूसरे एक ज्ञान (विज्ञान से उत्पन्न विज्ञान) से भिन्न दूसरा (घट के विषय में) ज्ञान पाया नहीं जाता। यदि आप [हठपूर्वक] कहें कि पाया ही जाता है तो ज्ञाप्य होने के कारण [इस दूसरे ज्ञान—घट विषयक ज्ञान को] भी दूसरे ज्ञापक की अपेक्षा होगी और अन्त में अनवस्था-दोष ही हाथ लगेगा। [तात्पर्य यह है कि आप एक विज्ञान से घट ज्ञान (दूसरा ज्ञान) मानते हैं। इस द्वितीय ज्ञान का शक्य (अर्थात् घटादि पदार्थ) कार्य नहीं है, ज्ञाप्य ही है। जब ज्ञाप्य है तब इस द्वितीय ज्ञान का भी कोई ज्ञापक होगा ही। ज्ञापक = ज्ञानोत्पादक। अतः इस द्वितीय ज्ञान से तृतीय ज्ञान की उत्पत्ति मानें—उसका भी कोई ज्ञापक होगा, फिर उसका ज्ञाप्य। यह स्थिति अनन्त काल तक चलेगी।]

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया विज्ञानं सद्रूपमेवासतः प्रकाशकमिति कक्षीक्रियत इति चेत्—अत्र देवानांप्रियः प्रष्टव्यः पुनः। असौ सदसतोः सम्बन्धो निरूप्यनिरूपकभावोऽविनाभावो वा ?

नाद्यः। असत उपकाराधारत्वायोगेनानुपकृततया निरूप्यत्वानुपपत्तेः। न चरमः। धूमधूमध्वजयोरिव तदुत्पत्तिलक्षणस्य, शिंशपावृक्षयोरिव तादात्म्यलक्षणस्य वा, अविनाभावनिदानस्य सदसतोरसंभवात्। तस्माद्विज्ञानमेवासत्प्रकाशकम्—इत्यसद्वादिनामयमसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत्।

अब यदि उक्त (अनवस्था) दोष का परिहार करने की इच्छा से ये स्वीकार करें कि विज्ञान सत् के रूप में होते हुए भी असत् का प्रकाशक है तो उस मूर्खाधिराज से पूछना चाहिए। [यह प्रत्युत्तर जो दोष के परिहार के रूप में दिया जा रहा है वह न तो पूर्णतः माध्यमिक-मत की ओर से दिया जा रहा है क्योंकि माध्यमिक-मत में विज्ञान को भी असत् मानते हैं जब कि यहाँ विज्ञान को सद्रूप माना गया है। न यह प्रत्युत्तर पूर्णतः विज्ञानवादियों की ओर से दिया गया है क्योंकि वे बाह्य घटादि पदार्थों को ज्ञानस्वरूप मानते हैं और यहाँ वैसा किया नहीं गया है। अतः शंका करने वाले 'आधा तीतर आधा बटेर' या अर्धजरतीय (आधा बूढ़ा आधा जवान) के न्याय से प्रत्युत्तर देते हैं। यही कारण है कि माधवाचार्य उनके लिए 'देवानां प्रियः' (मूर्ख) का प्रयोग करते हैं।] अच्छा कहिये—सत् और असत् के बीच उपर्युक्त संबन्ध किस रूप में है, निरूप्य तथा निरूपक के रूप में या अविनाभाव (Invariable relation) के रूप में ?

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि असत् पदार्थ (घट आदि) उपकार (सामर्थ्य-विशेष, अतिशय) का आधार नहीं हो सकता और जब तक उसमें निरूपक (विज्ञान) के द्वारा अतिशय का आधान (=उसे उपकृत) नहीं किया जाता तब तक यह निरूप्य बन ही नहीं सकता। [चूँकि असत् वस्तु किसी का आश्रय नहीं हो सकती अतः उसमें सामर्थ्य का आधान करना संभव ही नहीं है।]

दूसरा विकल्प [कि व्याप्ति के बल से विज्ञान घटादि का ज्ञापक है] भी ठीक नहीं क्योंकि [बौद्धों के द्वारा स्वीकृत अविनाभाव के दो ही कारण हैं—तदुत्पत्ति और तादात्म्य।] उनमें सत् (विज्ञान) और असत् (घटादि) के बीच, न तो धूम और अग्नि की तरह तदुत्पत्ति (Causal relation) से उत्पन्न व्याप्ति (अविनाभाव) संभव है, न ही शिंशपा और वृक्ष की तरह तादात्म्य (Law of identity) से उत्पन्न व्याप्ति। (देखिये, बौद्ध-दर्शन, अनु० १)।

इसलिए, 'विज्ञान ही असत् पदार्थ का प्रकाशक है' यह असद्वादियों का असत् प्रलाप (Idle talk) है। इस प्रकार आरोप्यमाण वस्तु असत् नहीं होती।

विशेष—शून्यवादी बौद्धों का सिद्धान्त **असत्ख्यातिवाद** कहलाता है जिसमें आरोप्यमाण वस्तु को असत् कहते हैं। शंकराचार्य आरोप को भ्रम या मिथ्या भले ही कहते हैं, असत् नहीं। असत् का अर्थ है तीनों काल में बाधित

पदार्थ जैसे वन्ध्यापुत्र, शशशृंग आदि। मीमांसकों के सिद्धान्त का नाम **अख्यातिवाद** है जिसमें भ्रमज्ञान नहीं मानते। नैयायिक लोग **अन्यथाख्यातिवाद** मानते हैं जिसके अनुसार एक वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में होती है। वेदान्तियों का सिद्धान्त **अनिर्वचनीयख्यातिवाद** है जिसमें वस्तु को सत्, असत् या उभयात्मक रूप में व्यक्त करना असंभव है। यह स्मरणीय है कि शंकर सत्ता के तीन रूप मानते हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। अनिर्वचनीयता पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से वे सभी प्रतीतियाँ ठीक हैं जिनसे हम दैनिक कार्य करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से ये भ्रम हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है। प्रातिभासिक दृष्टि से सीपी पर रजत का आरोप भी सत् है किन्तु व्यावहारिक दशा में वह भ्रम है। ऊपर की सत्ता की दृष्टि से नीचे की सत्तावाली वस्तुएँ भ्रम होती हैं।

सत् का ही किसी पर आरोप होता है, असत् का नहीं। शश पर शृङ्ग का आरोप करते हैं क्योंकि शृङ्ग की अन्यत्र सत्ता संभव है। परन्तु अब शशशृङ्ग का किसी पर आरोप नहीं करेंगे क्योंकि इसकी सत्ता कहीं नहीं है।

(१५ क. विज्ञानवादियों का खण्डन—भ्रमविचार)

ननु विज्ञानवादिनयानुसारेण प्रतीयमानं रजतं ज्ञानात्मकम्। तत्र च युक्तिरभिधीयते—यद्यथानुभूयते तत्तथा। अन्यथात्वं तु बलवद्बाधकोपनिपातादास्थीयत इत्युभयवादिसंमतोऽर्थः। तत्र च नेदं रजतमिति निषिद्धेदंभावं रजतमर्थादान्तरज्ञानरूपमवतिष्ठते। न चेदंतया निषेधे सति अनिदंतया च बहिरपि व्यवस्थोपपत्तेः कुतः संविदाकारतेति वाच्यम्। व्यवहितस्यापरोक्षत्वानुपपत्तावपरोक्षस्य विज्ञानस्य कक्षीकर्त्तव्यत्वात्। तथा च प्रयोगः—विवादपदं विज्ञानाकारः, संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्, विज्ञानवदिति।

[विज्ञानवादी पूर्वपक्षी के रूप में कह रहे हैं—] विज्ञानवदियों के सिद्धान्त के अनुसार, प्रतीत होनेवाला रजत ज्ञानात्मक है। इसके लिए युक्ति (Argument) दी जाती है—जिसका जैसा अनुभव होता है वह पदार्थ वैसा ही है। उसका दूसरे रूप में होना तो किसी बलवान् बाधक के उपादान (Introduction) से ही सिद्ध होता है, यह बात दोनों वादियों को (विज्ञानवादी और वेदान्तीको भी) मान्य है। [किसी को पानी गर्म लगा तो यह उष्णता जलकी

नहीं है, अग्नि की ही है—यह सिद्ध होता है। अन्वय-व्यतिरेक से जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता की सिद्धि होती है। जहाँ इस तरह का कोई बाधक न हो वहाँ तो अनुभव के अनुसार ही वस्तु का निर्णय करना चाहिए।]

'नेदं रजतम्' में जो रजत शब्द है उसे 'इदम्' के अर्थ से निषिद्ध कर दिया गया है। [नञ् का अर्थ है निषेध ! उसका संबंध इदं के साथ है, रजत के साथ नहीं अर्थात् रजत का इदंभाव से कोई मतलब नहीं रहा। रजत है ही, परन्तु 'नेदम्' कहने से उसके बाहर दिखाई देने की बात रुक गई। इस तरह] अर्थ से ही सिद्ध हुआ कि वह (रजत) आन्तरिक ज्ञान (या विज्ञान) के रूप में अवस्थित है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'इदम्' के रूप में निषेध हो जाने से 'नेदम्' के रूप में बहिर्जगत् में भी तो रजत के होने की व्यवस्था सिद्ध की जा सकती है, फिर आप इसे केवल संविद् या विज्ञान के आकार में ही कैसे मानते हैं ?*

ऐसा इसलिए नहीं कहें क्योंकि [नेदं कहने से रजत को बाह्य-जगत् में व्यवस्थित करने के समय आपत्ति होगी कि रजत तो] व्यवहित या दूर हो गया, वह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के रूप में नहीं माना जा सकता इसलिए उसे प्रत्यक्ष (आन्तर रूप से) विज्ञान ही मानना पड़ेगा। इसके लिए अनुमान का प्रयोग भी है—

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत रजत) विज्ञान के आकार में है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि बाह्येन्द्रियों के संनिकर्ष से रहित होकर यह प्रत्यक्ष है। (हेतु)
(३) जैसे विज्ञान होता है। (उदाहरण)

तदनुपपन्नम्। विकल्पासहत्वात्। बाधकोऽवबोधः किं साक्षाज्ज्ञानाकारतां बोधयत्यर्थाद्वा ? नाद्यः। नेदं रजतमिति प्रत्ययस्य रजतविवेकमात्रगोचरस्य ज्ञानाभेदगोचरतायामनुभवविरोधात्।

नेदं रजतमिति रजतस्य पुरोवर्तित्वप्रतिषेधो ज्ञानाकारतां कल्पयतीति चेत्—तदेतद्वार्तम्। प्रसक्तप्रतिषेधात्मनो बाधकावबोधस्य तत्रैव सत्त्वात्प्रतिषेधोपपत्तेः। विज्ञानाकारत्वसाधनम-

---

* जो चाँदी यहाँ पर नहीं है तो कहीं घर में पेटी में रखी तो हो सकती है ? यहाँ नहीं होने से बिल्कुल आन्तर विज्ञान में ही है, इसका क्या प्रमाण ? कहीं भी बाह्य जगत् में हो सकती है।

प्यविज्ञानाकारे बहिष्ठे साक्षिप्रत्यक्षे भावरूपाज्ञाने वर्तत इति सव्यभिचारः।

[अब वेदान्ती उत्तर देते हैं कि] उक्त कथन असिद्ध है। कारण यह है कि निम्न विकल्पों को यह सह नहीं सकता। यह जो बाधक ज्ञान है वह क्या सीधे ही ज्ञान के आकार का बोध कराता है या तात्पर्य के द्वारा ? पहला विकल्प तो ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि 'यह रजत नहीं है' यह (बाधक) प्रतीति केवल रजत के भेद से ही संबन्ध रखती है। यदि उसे रजत के ज्ञान के अभेद (स्वरूप) के विषय में मानेंगे तो हमारे अनुभव के विरुद्ध होगा।

अब यदि आप यह कहें कि 'यह रजत नहीं है' यह वाक्य जो रजत के पुरोवर्ती (सामने) होने का निषेध करता है, वही ज्ञान के आकार का बोध कराता है ·(= तात्पर्य से इसका बोध हो), तो हम कहेंगे कि यह व्यर्थ है। बाधक ज्ञान प्राप्त वस्तु का निषेध करता है [अप्रसक्त वस्तु का विधान नहीं।] बाधक ज्ञान की सत्ता वहीं (सामने का स्थान) पर है अतः प्रतिषेध की सिद्धि हो जाती है। [यहाँ पर दोष के कारण कल्पित प्रतीयमान रजत प्राप्त है। उसका प्रतिषेध समक्ष ही है। अतः इस प्रतिषेध के वास्तविक होने के कारण आन्तर (विज्ञानरूप) रजत की सिद्धि तात्पर्य से नहीं होती। संनिहित न होने पर भी नहीं ही होती है।]

[रजत को आप विज्ञानवादियों ने 'बहिरिन्द्रिय के संनिकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष है' ऐसा हेतु देकर विज्ञानाकार सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह सव्यभिचार हेतु है क्योंकि इसकी वृत्ति [व्यभिचारपूर्वक] उस भावात्मक अज्ञान में है जो विज्ञानकार नहीं है, [संसार का मूलकारण होने से] बाहर अवस्थित है तथा [बाह्येन्द्रिय संनिकर्ष के बिना भी] 'मैं अज्ञ हूँ' के रूप जिसका प्रत्यक्ष होता है। [ऊपर के विज्ञानवादियों के अनुमान में साध्य—विज्ञानाकारत्व—था। उसका अभाव भावात्मक अज्ञान में है। उक्त अनुमान के हेतु की वृत्ति इसमें भी है। साध्याभाव में वृत्ति रहने से हेतु सव्यभिचार है।]

(१५ ख. नैयायिकों की अन्यथाख्याति का खण्डन)

नन्वन्यथाख्यातिवादिमतानुसारेण रजतस्य देशान्तरसत्त्वेन भाव्यम्। अन्यथा तस्य प्रतिषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तेः। न हि कश्चित्प्रेक्षावाञ्शशविषाणं प्रतिषेद्धुं प्रभवति। तदुक्तम्—

४२. व्यावर्त्याभाववत्त्वैव भाविकी हि विशेष्यता।

अभावाविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥

(न्या० कु० ३।२) इति ।

तथा च तस्य देशान्तरसत्त्वमाश्रयणीयमिति चेत्—तदपि न प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। असतः संसर्गस्येव कलधौतस्य निषेधप्रतियोगित्वोपपत्तेः ।

[बौद्धों की सहायता के लिए नैयायिक लोग आ धमके । 'वह रजत नहीं है' इसमें प्रतिषेध ही स्पष्ट है । तात्पर्य (अर्थ) से आन्तरिक विज्ञान के आकार में रजत की सिद्धि नहीं हुई, न सही । जो रजत पास में नहीं है, घर की पेटी आदि में है उसकी सिद्धि तो तात्पर्य के द्वारा हो सकती है—प्रतिषेध रहे तो भी क्या आपत्ति है ? उनका पक्ष है—] अन्यथाख्याति का सिद्धान्त मानने वालों के अनुसार रजत की सत्ता दूसरे स्थान में तो माननी ही चाहिए । यदि ऐसा नहीं करेंगे तो वह प्रतिषेध का प्रतियोगी नहीं हो सकेगा । कोई भी ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं होगा जो 'खरहे की सींग' (असम्भव वस्तु) का प्रतिषेध करने में समर्थ हो । [इस प्रकार जो रजत पास में नहीं है उसकी सत्ता दूसरी जगह है । एक वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में हो, यही अन्यथाख्याति है । यह तभी सम्भव है जब दूसरा पदार्थ (रजत) सत् हो, अत्यन्त असत् नहीं क्योंकि उसकी प्रतीति हो नहीं सकती ।]

इसे कहा है—'व्यावर्त्य (प्रतियोगी—घटाभाव) का [भूतल में] परमार्थतः (भाविकी) अभाव-युक्त होना ही विशेष्य होना है । उसी प्रकार [घट के] अभाव के अभाव के रूप में जो पारमार्थिक वस्तु हो जाय तो वही उसका विशेषण होना (प्रतियोगिता) है ।' (न्यायकुसुमांजलि, ३।२) ।

[व्याख्या—खरहे की सींग आत्यन्तिक रूप से असत् है, सीपी में रजत की प्रतीति आभासित है । अतः ये अवास्तविक हैं, पारमार्थिक नहीं । इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि अवास्तविक पदार्थ में न तो विशेष्य बनने की शक्ति है न विशेषण (प्रतियोगी) । सम्बन्ध के दो दल होते हैं—प्रतियोगी (विशेषण) और अनुयोगी (विशेष्य) । जब हम कहते हैं कि भूतल घट से युक्त है (घटवत् भूतलम्) तो स्पष्टतः 'घट' विशेषण (प्रतियोगी) है और 'भूतल' विशेष्य (अनुयोगी) । 'घटवत्' कहने पर घटाभाव की व्यावृत्ति (Exclusion) भूतल से होनी है अतः घटाभाव व्यावर्त्य हुआ । अब व्यावर्तक की खोज करें । व्यावर्त्य का विरोधी ही व्यावर्तक होता है । तो, घटाभाव का व्यावर्तक होगा—घटाभाव का अभाव (अर्थात् घट) । व्यावर्त्य (घटाभाव) के अभाव से युक्त

होना या घट से युक्त होना भूतल में पारमार्थिक रूप से सिद्ध है, अतः भूतल विशेष्य है। दूसरी ओर, अभाव के अभाव के रूप में होना अर्थात् घट के रूप में होना दिखलाई पड़ता है जो पारमार्थिक (Real) वस्तु का गुण है। अतः घटरूपता प्रतियोगिता (विशेषणता) है अर्थात् घट विशेषण है। इससे सिद्ध होता है कि 'नेदं रजतम्' में पारमार्थिक रजत ही प्रतिषेध का प्रतियोगी (विशेषण) हो सकता है, आभासिक रजत नहीं।]

इसलिए, नैयायिकों के अनुसार, उस (रजत) की सत्ता दूसरे स्थान पर माननी पड़ेगी। [शंकर-मत वाले कहते हैं कि] यह उक्ति प्रमाण-मार्ग में नहीं आती क्योंकि जैसे अविद्यमान संसर्ग का निषेध (जैसे—रूप और रस के संसर्ग का निषेध, 'रूपं न रससंयुक्तम्' में कल्पित संसर्ग का निषेध) किया जाता है वैसे ही कल्पित रजत को भी निषेध का प्रतियोगी (विशेषण) बनाया जा सकता है। [ऐसी बात नहीं कि केवल सत् वस्तु का ही निषेध होता है। असत् वस्तु की भी यदि कल्पना की गई हो तो उसका निषेध क्यों नहीं हो सकता ?]

(१६. 'इदं रजतम्' में ज्ञान की एकता—शंका और समाधान)

नन्विदं रजतमिति ज्ञानमेकमनेकं वा ? न तावदाद्यः। अपसिद्धान्तापत्तेरसम्भवाच्च। तथा हि—शुक्तीदमंशेन्द्रियसंप्रयोगादिदमाकारान्तःपरिणामरूपमेकं ज्ञानं जायते। न च तत्र कलधौतं विषयभावमाकल्पयितुमुत्सहते। असंप्रयुक्तत्वात्तस्य विषयत्वाङ्गीकारे सर्वज्ञत्वापत्तेः।

अब शंका हो रही है कि रजत का यह ज्ञान एक है या अनेक ? एकात्मक तो नहीं ही है क्योंकि इसमें अपसिद्धान्त (सिद्धान्त का भंग) होता है [अद्वैत वेदान्ती अज्ञान का द्वैत स्वीकार करते हैं—देखिए आगे]। इसके अतिरिक्त ऐसा करना सम्भव भी नहीं। कारण यह है कि सीपी के रूप में जो इदमंश है वह इन्द्रियों के साथ संबद्ध है अतः 'इदम्' के आकार में अन्तःकरण का परिणाम उत्पन्न होता है जो एक ही ज्ञान है। [इसी परिणाम को वृत्ति या ज्ञान भी कहते हैं।] इस ज्ञान का विषय रजत नहीं बन सकता क्योंकि रजतत्व का संनिकर्ष इन्द्रिय से नहीं हुआ है। फिर यदि [संनिहित न होने पर भी रजत को] ज्ञान का विषय मान लेंगे तो ज्ञाता (प्रत्यक्ष करने वाले) को सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। [सामने न रहने पर भी किसी वस्तु को जान लेना ही तो सर्वज्ञता है !]

न च चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायितया तज्ज्ञानस्य तज्ज-

न्यत्वं वाच्यम्। इदमंशज्ञानोत्पत्तौ तदुपक्षयोपपत्तेः। न चापि संस्काराद्रजतज्ञानस्य जन्म। स्मृतित्वापत्तेः। अथेन्द्रियदोषस्य तत्करणत्वम्। तदप्ययुक्तम्। स्वातन्त्र्येण तस्य ज्ञानहेतुत्वानुपपत्तेः। न हि ग्रहणस्मरणाभ्यामन्यः प्रकारः समस्ति। तस्मादिदमंशरजततादात्म्यविषयकमेकं विज्ञानं न घटते। नाप्यनेकम्, अख्यातिमतापत्तेरिति चेत्—।

आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि चक्षु के साथ, उस (रजत के) ज्ञान को, अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अनुविधान (अपेक्षा) दिखा कर, चक्षु से ही उत्पन्न मान लें। [चक्षु के साथ संनिकर्ष होने पर रजत-ज्ञान होता है—अन्वय। संनिकर्ष नहीं होने पर रजतज्ञान भी नहीं होता—व्यतिरेक। अतः चक्षु से से ही रजत ज्ञान हुआ है, पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ऐसी बात नहीं] क्योंकि 'इदम्' अंश के ज्ञान की उत्पत्ति में चक्षु की अनुपयोगिता की सिद्धि हो जायगी। [चक्षु का उपयोग वास्तव में इदमंश के ज्ञान में है क्योंकि उसी के साथ चक्षु का संनिकर्ष हो रहा है। रजत के ज्ञान के साथ संबंध मानने से तो इदमंश का त्याग करना पड़ेगा। इसका दूसरा पाठ है—**तदपेक्षायाः उपपत्तेः** अर्थात् इदमंश के ज्ञान में ही चक्षु को आवश्यकता सिद्ध होती है, रजत के ज्ञान में नहीं।]

ऐसा भी नहीं कह सकते कि संस्कार (Impression) से रजत-ज्ञान की उत्पत्ति होती है क्योंकि वैसी दशा में उसे स्मृति के रूप में मानना पड़ेगा। अब यदि कहें कि इन्द्रिय-दोष की सहायता से ऐसा होता है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि यह (इन्द्रियदोष) स्वतंत्रता से ज्ञान का कारण नहीं बन सकता। [किसी व्यक्ति में जो दोष है वह उस व्यक्ति के साथ रहकर ही दूसरे को दूषित कर सकता है, बिना व्यक्ति के नहीं। वैसे ही इन्द्रियों का दोष भी इन्द्रियों के द्वारा ही किसी कार्य का कारण हो सकेगा—स्वतंत्र रूप से नहीं।]

ग्रहण (इन्द्रियजन्य) और स्मरण (संस्कारजन्य) के अतिरिक्त ज्ञान का कोई प्रकार (जैसे दोषजन्य आदि) होना संभव ही नहीं। इसलिए किसी भी तरह इदमंश और रजत के तादात्म्य के विषय में **एकात्मक** (Singular) ज्ञान होना संभव ही नहीं है। **अनेकात्मक** ज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि वह अख्यातिवाद (दे० ऊपर) के दोषों को ले आवेगा।

उच्यते—प्रथमं दोषकलुषितेन चक्षुषेदंतामात्रविषयान्तःकरणवृत्तिरुत्पद्यते। अनन्तरं तया वृत्त्या चैतन्यावरणाभिभवे

सति तच्चैतन्यमभिव्यज्यते। पश्चादिदमंशचैतन्यनिष्ठा अविद्या रागादिदोषकलुषिता कलधौताकारेण परिणमते। इदमाकारान्तः-करणपरिणामावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठा कलधौतगोचरपरिणामसंस्कारसचिवा कलधौतज्ञानाभासाकारेण परिणमते।

इसका उत्तर दिया जाता है। पहले दोष से दूषित नेत्र के द्वारा केवल 'इदंभाव' के विषय में ही अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है [क्योंकि उस समय दोषवश सामने की चीज को सीपी के रूप में समझ नहीं पाते]। उसके बाद वह वृत्ति चैतन्य के आवरण (इदंभाव से युक्त चैतन्य के प्रकाशन को रोकनेवाला आवरण) को हटा देती है तथा वह चैतन्य अभिव्यक्त हो जाता है। [इदम् के रूप में चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। शुक्ति-अंश के रूप में चैतन्य व्यक्त नहीं होता क्योंकि दोषवश उस चैतन्य के आवरण का निस्सारण नहीं हुआ है। जिस चैतन्य का आवरण नष्ट होता है उसी चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। स्मरणीय है कि 'इदम्' अंश से युक्त चैतन्य का सीपी रूप में प्रतीत न होना तथा इसीलिए सीपी के आकार की वृत्ति (ज्ञान) पर अवभासित (Reflected) न होना ही अविद्या है।]

इसके बाद इदमंश के चैतन्य में अवस्थित अविद्या जो रागादि दोषों के कारण दूषित हो गई है, वह रजत के आकार में परिणत हो जाती है। 'इदम्' के आकार में स्थित अन्तःकरण (बुद्धि) के परिणाम से अवच्छिन्न (बँधे हुए) चैतन्य में रहने वाली [अविद्या] रजतविषयक परिणाम (वृत्ति) के संस्कार के साथ मिलकर रजतज्ञान के आभास (वृत्ति) के रूप में परिणत होती है। [दो प्रकार की अविद्या है—(१) 'इदम्' अंश से युक्त चैतन्य में रहनेवाली अविद्या रजत के उद्बोधित संस्कार की सहायता से रजत के आकार में परिणत होती है। (२) वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाली अविद्या रजत का ग्रहण करनेवाली वृत्ति के संस्कार के साथ रहकर वृत्तिरूप में परिणत होती है। अब इन दोनों परिणामों की अगली विधियों पर प्रकाश डालते हैं। स्मरणीय है कि ये दोनों परिणाम ही क्रमशः अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास कहलाते हैं।]

तौ च रजतवृत्तिपरिणामौ स्वाधिष्ठानेन साक्षिचैतन्येनाव्यवधानेन भास्येते। तथा च सवृत्तिकाया अविद्यायाः साक्षिभास्यत्वाभ्युपगमे वृत्त्यन्तरवेद्यत्वाभावान्नानवस्था।

यद्यप्यन्तःकरणवृत्तिरविद्यावृत्तिश्चेति द्वे इमे ज्ञाने, तथापि

विषयाधीनं फलम्। ज्ञातो घट इति विषयावच्छिन्नतया फलप्रतीतेः। तद्विषयश्च सत्यमिथ्याभूतयोरिदमंशरजतांशयोरन्योन्यात्मकतया एकत्वमापन्नः। तस्माद्विषयावच्छिन्नफलस्याप्येकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते।

ये दोनों—रजतपरिणाम और वृत्तिपरिणाम—अपने-अपने अधिष्ठान (आधार) स्वरूप साक्षिचैतन्य (प्रमाण के चैतन्य) के द्वारा, बिना किसी तरह की रुकावट के प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वृत्ति से युक्त अविद्या को साक्षी (द्रष्टा, प्रमाता) के द्वारा प्रतीत होने वाली सिद्ध कर देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दूसरी वृत्ति के द्वारा ज्ञेय नहीं है, अतः अनवस्था-दोष नहीं लगता। [अनवस्था की संभावना इसलिए थी कि जैसे विषय के आकार से युक्त अंतःकरण की वृत्ति से विषय की प्रतीति होती है वैसे ही उक्त वृत्ति का अवभास (प्रतीति) भी तो उसी वृत्ति का आकारवाली अन्तःकरण की दूसरी वृत्ति से ही होगा—इस तरह हम बढ़ते चले जायँगे। किन्तु अविद्या अकेले नहीं, वृत्ति के साथ साक्षी के द्वारा प्रतीत होती है। इसलिए दूसरी वृत्ति से ज्ञेय होने का प्रश्न उठता ही नहीं।]

यद्यपि अन्तःकरण की वृत्ति ('इदम्' के आकार में) तथा अविद्या की वृत्ति (रजत के आकार में) के रूप में ये दो ज्ञान हैं फिर भी फल तो विषय के अधीन ही रहता है? जब हम कहते हैं कि 'घट का ज्ञान हो गया' तो विषय (घट) से सम्बद्ध होकर ही फल की प्रतीति हो रही है। [यदि वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं तो दो वृत्तियों से ज्ञानों का द्वैविध्य प्रकट होता ही है। किन्तु 'इदं रजतम्' में 'एक ज्ञान' का व्यवहार, फल की एकता के कारण औपचारिक रूप से होता है। ज्ञान वृत्ति के रूप में है। उसका फल है विषय का अवभास (प्रतीति)। यह फल विषय के अनुसार ही प्राप्त होता है—जैसा विषय होगा वैसी ही प्रतीति होगी। तो यहाँ पर विषय क्या है? उसका विषय वास्तविक (Real) इदमंश तथा मिथ्या रजतांश, इन दोनों अंशों के अन्योन्यात्मक होने के कारण एकाकार (Singular) हो गया है। यदि विषय एक है तो विषय से ही व्याप्त फल भी एक ही होगा; अतः ज्ञान (फल) की एकता का उपचार (व्यवहार) होता है। [∴ ज्ञान एक है—यह सिद्ध हुआ।]

तदुक्तम्—

४३. शुक्तीदमंशचैतन्यस्थिताविद्या विजृम्भते।
रागादिदोषसंस्कारसचिवा रजतात्मना॥

४४. इदमाकारवृत्त्यक्तचैतन्यस्था तथाविधा ।
विवर्तते तद्रजतज्ञानाभासात्मनाप्यसौ ॥
४५. सत्यमिथ्यात्मनोरैक्यादेकस्तद्विषयो मतः ।
तदायत्तफलैकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते ॥ इति ।

पञ्चपादिकायामपि 'फलैक्याज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते'—इत्यभिप्रायेण 'सा चैकमेव ज्ञानमेकफलं जनयति', इत्युक्तम् ।

उसे कहा गया है—'सीपी में स्थित 'इदम्' अंश के चैतन्य में रहनेवाली अविद्या राग आदि दोषों के संस्कार के साथ-साथ रजत के रूप में परिणत होती है ॥ ४३ ॥ उसी प्रकार 'इदम्' के आकार की वृत्ति से अवच्छिन्न (अक्त = अञ्ज् + क्त) चैतन्य में रहने वाली अविद्या भी उस रजत-ज्ञान की प्रतीति (आभास, वृत्ति) के रूप में विवर्तित होती है ॥ ४४ ॥ सत्य और मिथ्या के रूप में दोनों के एकात्मक रहने से उसका विषय भी एक ही माना गया है। उस (विषय) के अधीन रहनेवाला फल भी एक है, अतः ज्ञान की एकता कही जाती है ॥ ४५ ॥'

पंचपादिका (शारीरक-भाष्य के चतुःसूत्री-भाग की पद्मपादाचार्य-विरचित व्याख्या) में भी 'फल की एकता के कारण ज्ञान की एकता भी मानी जाती है' इस अभिप्राय से कहा गया है कि वह अविद्या एक फल वाले एक ही ज्ञान को उत्पन्न करती है।

(१७. त्रिविध सत्ता तथा अनिर्वचनीयख्याति)

ननु शुक्तिकामस्तके भाव्यमानस्य कलधौतस्य तत्रैव सत्यत्वाभ्युपगमे नेदं रजतमिति निषेधः कथं प्रभवेदिति चेन्न । प्रातिभासिकसत्यत्वेऽपि व्यावहारिकसत्यत्वाभावेन प्रतिपन्नोपाधौ प्रतियोगित्वसंभवात् । तदुक्तं पञ्चपादिकाविवरणे (पृ० ३१)—त्रिविधं सत्त्वम् । परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः । अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वं मायोपाधिकमाकाशादेः । अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेरिति ।

अब प्रश्न हो सकता है कि सीपी के सिर पर (स्थान में) विभावित (Apprehended) रजत को तो हम केवल उसी स्थान पर ही सत्य मानेंगे (= जहाँ आरोप होगा, चाँदी केवल वहीं पर वास्तविक होगी, अन्यत्र

तो नहीं) फिर 'यह रजत नहीं है' इसमें निषेध का क्या उत्तर होगा ? (कौन-चाँदी सच्ची है—आरोपित या निषिद्ध ?)

ऐसी बात नहीं है। प्रातिभासिक दृष्टि से सत्यता (Apparent Reality) होने पर भी उसमें व्यावहारिक सत्यता (Practical Reality) का अभाव है इसीलिए सोपाधिक स्थानों में प्रतियोगी होने की संभावना रहती है। [सीपी के स्थान पर ही 'नेदं रजतम्' में निषेध की प्रतीति होती है यद्यपि रजत वहाँ पर रजत-निषेध का प्रतियोगी नहीं है। वहाँ पर वास्तव में चाँदी रहे तब तो रजत प्रतियोगी होगा—रजत की अवस्थिति तो अविद्या के परिणाम के कारण कुछ देर के लिए है। निषेध उसे कहते हैं जिसमें यह प्रतीति हो कि यह कभी ऐसा नहीं होता—काल का प्रभाव भी निषेध पर नहीं पड़ता। हाँ, जब रजत को व्यावहारिक दृष्टि से (उपाधि के साथ—व्यावहारिक रजत के रूप में) देखेंगे तो उस विशेष सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) के विचार से रजत निषेध का प्रतियोगी हो सकता है अर्थात् रजत का निषेध संभव है किन्तु व्यवहार-दशा में ही। प्रातिभासिक-दशा में वह संभव नहीं।]

इसे पंचपादिका के विवरण [रच०—श्रीप्रकाशात्मयति) में कहा गया है—'सत्ता तीन प्रकार की है। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता (Transcendental Reality) रहती है। माया की उपाधि से युक्त आकाशादि पदार्थों की सत्ता सार्थक क्रियाओं के संपादन (व्यवहार) में ही है। [इसे ही व्यावहारिक सत्ता कहते हैं।] अविद्या की उपाधि से युक्त (प्रातिभासिक) सत्ता [सीपी में प्रतीत] रजत आदि की है।

अन्यत्राप्युक्तम्—

४६. कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा।
बाधाभावात्पदार्थानां सत्त्वत्रैविध्यमिष्यते ॥
४७. तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
रूप्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते ॥ इति।

दूसरी जगह भी कहा गया है—'तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) में, व्यवहार-दशा में तथा प्रतीति के समय भी पदार्थों के ज्ञान का प्रतिरोध (Rejection) न हो इसलिए उनकी तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी जाती हैं ॥ ४६ ॥ ब्रह्म की सत्ता तात्त्विक (पारमार्थिक) है, आकाशादि की व्यावहारिक तथा रजत आदि पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है ॥ ४७ ॥'

४८. लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिकेऽवधौ ।
तत्प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येव मातरि ॥
४९. वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेऽवधौ ।
तद्व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सहैव तत् ॥ इति च ।

लौकिक अवधि (व्यवहार-दशा) में जो वस्तु लौकिक प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि) से बाधित (Rejected) हो जाय उसे प्रातिभासिक सत्त्व (पदार्थ, सत्ता) कहते हैं—इस सत्त्व के बाधित होने पर भी ज्ञाता (अनुभव करने वाला) रहता ही है ॥ ४८ ॥ वैदिक अवधि (परमार्थ-दशा) में जो वस्तु वैदिक प्रमाण (आगम) से बाधित हो जाय, उसे (आकाश, पशु, पक्षी आदि को) व्यवहारिक सत्त्व कहते हैं—इस सत्त्व के बाधित होने के समय ज्ञाता का भी साथ-साथ ही बाध (Rejection) हो जाता है ॥ ४९ ॥' [आकाशादि पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है क्योंकि व्यवहार-दशा में तो इनका बाध नहीं होता किन्तु 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों से जब आत्मा की एकता का साक्षात्कार करते हैं उस समय उसका बाध हो जाता है—उस दशा में तो द्वैत (Duality) का तनिक भी आभास नहीं मिलता । यहाँ तक कि ज्ञाता का ज्ञातृत्व भी उस समय प्रतीत नहीं होता, उसका भी बाध हो जाता है । बाध=प्रतीति का अभाव, न कि निषेध्य के रूप में प्रतीति ।]

ततः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरस्य मायामयस्य रजतादेः सदसद्विलक्षणत्वलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धम् । तदवोचच्चित्सुखाचार्यः—

५०. प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः ॥
(चित्सुखी, पृ० ७९) इति ।

इसलिए ख्याति (प्रतीति) के बाध की सिद्धि किसी भी दूसरे उपाय से न हो सकने के कारण, भ्रान्ति का विषय जो यह मायामय (Illusory) रजत आदि है इसे सत् तथा असत् से विलक्षण (भिन्न) रूप में अनिर्वचनीय ही सिद्ध किया जा सकता है । [सीपी में प्रतीत रजत इसलिए सत् नहीं है कि 'नेदं रजतम्' (निषेध) की सिद्धि नहीं होगी । व्यावहारिक दशा में तो उसका बाध सम्भव है न ? असत् भी नहीं है क्योंकि वैसा होने से इस प्रतीति (प्रातिभासिक ही सही) का क्या उत्तर होगा ? इसे ख्याति का विषय और बाध का विषय

दोनों तभी मान सकते हैं जब अनिर्वचनीय (Indescernible) मानें—अनिर्वचनीय सत् और असत् से विलक्षण होता है। इसीलिए इसे माया का परिणाम या मायामय माना है।]

इसे चित्सुखाचार्य ने कहा है—'सत् या असत्, इनमें प्रत्येक के द्वारा [या समूह के द्वारा भी] जो विचार के योग्य न हो सके उसे वेदान्ती लोग अनिर्वचनीय कहते हैं ॥ ५० ॥' (चि० पृ० ७९)।

(१८. माया और अविद्या की समानता)

ननु मायाविद्ययोः स्वाश्रयाव्यामोहहेतुत्व-तदभावाभ्यां भेदस्य जागरूकत्वेनाविद्यामयत्वे वक्तव्ये मायामयत्वोक्तिरारोप्यस्यायुक्तेति चेत्—तदयुक्तम्। अनिर्वचनीयत्वतत्त्वाभासप्रतिबन्धकत्वादिलक्षणजातस्य मायाविद्ययोः समानत्वात्।

प्रश्न है कि माया और अविद्या में भेद जागृत है क्योंकि उनमें माया तो तो अपने आश्रय (कर्त्ता, द्रष्टा) को व्यामोह (भ्रम) में नहीं डालती, [कर्त्ता की इच्छा का अनुसरण करती है, उल्लंघन नहीं।] दूसरी ओर अविद्या उससे भिन्न है। [सीपी-चाँदी में चाँदी का उपादान-कारण अविद्या ही है क्योंकि चाँदी देखने वाले की भ्रान्ति के कारण व्यामोह तो है ही। द्रष्टा की इच्छा से वह नहीं चलती क्योंकि द्रष्टा की इच्छा रहे या नहीं—अविद्या से चाँदी की प्रतीति हो ही जायगी।] इसलिए आरोप्य वस्तु (चाँदी) को आप अविद्यामय कहें, मायामय कहना असंगत है।

[इसका उत्तर है कि] यह प्रश्न ही असंगत है। माया और अविद्या दोनों समानरूप से अनिर्वचनीय हैं तथा तत्त्व की प्रतीति के प्रतिबन्धक आदि हैं।

किं चाश्रयशब्देन द्रष्टोच्यते कर्ता वा ? नाद्यः। मन्त्रौषधादिनिमित्तमायादर्शिनस्तस्य व्यामोहदर्शनात्। न द्वितीयः। विष्णोः स्वाश्रितमाययैव रामावतारे मोहितत्वेन तत्र मायावित्वस्याप्रयोजकत्वात्। बाधनिश्चयमन्त्रादिप्रतीकारबोधयोरेव प्रयोजकत्वात्। अपरथा पङ्ग्वन्धवत्कर्तापि व्यामुह्येत।

[वेदान्ती आगे पूछते हैं कि आपने जो ऊपर माया को अपने आश्रय के व्यामोह का अहेतु माना है, उसमें] आश्रय शब्द से क्या अर्थ लेते हैं—

[माया के परिणामरूप वृक्ष, पशु आदि को] जो देखता है वह मायाश्रय है या जो माया का निर्माण करता है वह मायाश्रय है ?

द्रष्टा तो माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि [तांत्रिक लोगों के द्वारा प्रयुक्त] मन्त्रों या औषधियों के योग से बनी माया (घोड़ा, हाथी, रुपयों की वर्षा आदि इन्द्रजाल) को देखनेवाला व्यक्ति व्यामोह में पड़ जाता ही है। [तब तो आपने जो पूर्वपक्ष के आसन से घोषणा की है कि माया व्यामोह उत्पन्न नहीं करती, उस उक्ति का क्या होगा ?]

कर्ता भी माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि विष्णु भगवान् (जो माया के कर्ता हैं) अपने ही आश्रय में रहनेवाली माया के द्वारा मोहित हुए थे (व्यामोह में पड़े थे) इसलिए [अपने ऊपर आश्रित व्यामोह के अभाव में ही कोई] मायावी (माया का रचयिता) होगा, ऐसी बात नहीं है (= माया का निर्माता होने पर भी व्यामोह में कोई पड़ सकता है)। [तात्पर्य यह है कि माया के कर्ता और द्रष्टा दोनों को व्यामोह होता है इसलिए जिस प्रकार अविद्या व्यामोह उत्पन्न करती है, माया भी व्यामोह उत्पन्न करती ही है। दोनों में इस दृष्टि से कोई भेद नहीं। तो, व्यामोह के निवारण के प्रयोजक अर्थात् कारण कौन-से हैं ?]

[व्यामोह के अभाव के] प्रयोजक दो हैं—[माया या अविद्या का द्रष्टा या प्रयोक्ता जो भी हो] वह **बाध का निश्चय** कर सके तथा **मंत्र आदि का प्रतीकार** (Reversal) जानता हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो अंधे या लँगड़े की तरह माया के निर्माता को भी व्यामोह हो जायगा। [अंधा या लँगड़ा अपने अंग से रहित होने के कारण अपना काम नहीं कर सकता—अंधा देख नहीं सकता, लँगड़ा चल नहीं सकता। वैसे ही मायाकार भी बाध-निश्चय करने में असमर्थ होने से तथा मंत्र-प्रतीकार से अनभिज्ञ होने से अपना कार्य—व्यामोह-निवारण—नहीं कर सकता। जैसे द्रष्टा मोहित होता है वैसे ही कर्ता भी मोहित हो जायगा। हाँ, उन दोनों में इतना अंतर अवश्य है कि द्रष्टा को (माया का प्रपंच देखकर मोहित होने वाले को) व्यामोह-नाश का अवसर कभी-कभी मिलता है, कर्ता को प्रायः मिला करता है। रामावतार में व्यामोह का कारण था, प्रतिकार का ज्ञान न होना—किसी प्रकार सिद्ध कर लें। माया-प्रयोक्ता या इन्द्रजाल दिखानेवाला (Magician) प्रतीकार भी जानता है अतः मोहित नहीं होता। ब्रह्म भी माया का रचयिता है—प्रतीकार-ज्ञान होने से स्वयं प्रभावित नहीं होता। फल यह हुआ कि माया और अविद्या दोनों में व्यामोह होता है। प्रतिकार जाननेवाले न तो अविद्या से मोहित होते

हैं, न माया से। अतः व्यामोह के दृष्टि-कोण से माया और अविद्या में भेद नहीं है, साम्य ही है।]

न चेच्छानुविधानाननुविधानाभ्यां तयोर्भेद इति भणितव्यम्। मायास्थले मणिमन्त्रौषधादिप्रयोगवदविद्यास्थलेऽपि द्विचन्द्रकेशोण्डुकादिविभ्रमनिमित्ताङ्गुल्यवष्टम्भादावपि स्वातन्त्र्योपलम्भात्। अत एव तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिभाष्यादिषु मायाविद्ययोरभेदेन व्यवहारः संगच्छते। क्वचिद्विक्षेपप्राधान्येनावरणप्राधान्येन च मायाविद्ययोर्भेदे तद्व्यवहारो न विरुध्यते। तदुक्तम्—

५१. माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छावशवर्ति वा।
अविद्याच्छादयत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायि वा॥ इति।

आप (पूर्वपक्षी) ऐसा भी नहीं कह सकते कि माया और अविद्या में भेद* इसलिए है कि माया कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है और अविद्या उसका अनुसरण नहीं करती। जिस प्रकार माया के स्थानों में मणि (Magic lantern समझें), मंत्र, औषध आदि का प्रयोग [स्वतंत्र रूप में] होता है, वैसे ही अविद्या (Ignorance) के स्थानों में भी दो चंद्रमा के भ्रम या केश के भ्रम या मकड़जाल होने के भ्रम के कारण रूप में, अँगुली से आँखों को स्तब्ध करना आदि हम पाते हैं जिसे कर्ता अपनी इच्छा पूर्वक करता है। [अंगुली यदि आँखों के नीचे के भाग में घुसा दी जाय तो हमें एक ही जगह दो चीजें दिखलाई देने लगेंगी—यहाँ देखते हैं कि कर्ता अपनी इच्छा से ही तो अविद्या उत्पन्न कर रहा है। फिर यह कैसे कहते हैं कि माया ही इच्छा से उत्पन्न की जाती है; अविद्या नहीं ?]

इसीलिए श्रुति, स्मृति तथा भाष्यग्रन्थों में जहाँ-तहाँ माया और अविद्या को अभिन्न (एकरूप) मानते हुए व्यवहार किया गया है।* कहीं-कहीं, माया में

---

* माया और अविद्या के भेद को पूर्वपक्षी इसलिए ले रहा है कि माया से वह ऐन्द्रिजालिकों का इन्द्रजाल (Magic) समझता है और अविद्या से सीपी-चाँदी आदि का भ्रम। शंकर दोनों को एकरूप ही मानते हैं।

* **श्रुति** में जैसे—भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः (सम्यक् ज्ञान से माया अर्थात् अविद्या की निवृत्ति)। **स्मृति** में, जैसे—

तरन्त्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

भाष्य में—अविद्या माया अविद्यात्मिका मायाशक्तिः, इत्यादि।

विक्षेप की प्रधानता के कारण या अविद्या में आवरण की प्रमुखता देखकर, माया और अविद्या में जो भेद करते हैं उससे इस व्यवहार का विरोध नहीं होता। [बात यह है कि अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं – आवरण (ढँक देना Concealment) तथा विक्षेप (रूप-परिवर्तन Distortion)। सीपी-चाँदी के दृष्टान्त में आवरण-शक्ति सीपी के स्वरूप को ढँक देती है, विक्षेप-शक्ति उसे चाँदी के रूप में विकृत कर देती है। यह तो साधारण अज्ञान की बात है। अनादि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का, सत् होने पर भी, आवरण कर दिया जाता है और जगत् का प्रदर्शन, असत् (परमार्थतः, नहीं तो मिथ्या) होने पर भी, किया जाता है। अविद्या = आवरण-प्रधान। माया = विक्षेप-प्रधान। यह केवल लोक-प्रसिद्धि की बात है। वास्तव में दोनों एक हैं।]

इसे कहा गया है—'विक्षेप-शक्ति से युक्त अज्ञान जो ईश्वर की इच्छा के अधीन है वह माया है। जो अज्ञान तत्त्व को ढँक दे (आवरण-शक्ति से युक्त हो) अथवा स्वतन्त्रता की अपेक्षा करे वह अविद्या है।'

(१८ क. अविद्या की सत्ता के लिए प्रमाण)

नन्वविद्यासद्भावे किं प्रमाणम् ? 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति' प्रत्यक्षप्रतिभास एव। ननु ज्ञानाभावविषयोऽयं नाभिप्रेतमर्थं गमयतीति चेत्—न तावदनुपलब्धिवादिनश्चोद्यमेतत्। परोक्षप्रतिभासहेतुत्वात्तस्याः। अयमपि परोक्षप्रतिभास एवेति चेत्—न तावल्लिङ्गशब्दानुपपद्यमानार्थजन्यः। ज्ञातकरणत्वात्तेषाम्। न चैतत्सामग्रीकाले ज्ञातमस्ति। अनुभूयते वा।

अब कोई पूछ सकता है कि इस अविद्या की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण क्या है ? हम उत्तर देंगे कि इसमें तो प्रतीति ही प्रमाण है—'मैं अज्ञ हूँ, अपने को या दूसरे को नहीं जानता'। [इस वाक्य में आत्मा पर आश्रित उस अविद्या-शक्ति की अनुभूति होती है जो बाहरी-भीतरी पदार्थों में व्याप्त है और जड़ात्मक है। यह अज्ञान ज्ञानाभाव के रूप में नहीं है। भावात्मक (Positive) कार्यों का उपादान-कारण होने से यह भावात्मक है।]

कोई शंका कर सकता है कि यह तो ज्ञानाभाव का विषय है, आपके (वेदान्तियों के) अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकेगा। [आशय यह है कि इस अविद्या या अज्ञान से आप संसार की सिद्धि नहीं कर सकते। संसार तो प्रकृति, परमाणु आदि से बना है] परन्तु ऐसी बात नहीं है, अनुपलब्धि

(Non-existence) को प्रमाण मानने वाले (भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती) लोग ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि अनुपलब्धि तो परोक्ष की प्रतीति करानेवाली होती है, [प्रत्यक्ष की नहीं। 'भूतल में घट नहीं है'—इस तरह घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाण से होता है। यह परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं। जो लोग अनुपलब्धि नहीं मानते, वे अनुमानादि के द्वारा अभाव की प्रतीति करते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। किसी भी दशा में अभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष से नहीं होती। चूंकि 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रत्यक्ष अनुभव है अतः इसे अभाव के शब्दों में (in terms of non-existence) व्यक्त नहीं किया जा सकता।]

अब यदि आप कहें कि यह भी परोक्ष अनुभव ही क्यों न माना जाय ? तो हम कहेंगे कि लिंग (अनुमान का कारण), शब्द (आगम का कारण) या अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्ति का कारण) से इस अनुभव की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह है कि इन सबों में [अर्थ] ज्ञात होने पर ही दूसरों का बोध होता है। [यह आशय है—यदि आप लोग 'अहमज्ञः' इस ज्ञान को परोक्ष मानते हैं तो यह अनुमान आदि किसी प्रमाण से उत्पन्न होगा। इस अनुभव की सिद्धि न तो अनुमान से होती है, न शब्द से और न अर्थापत्ति से—अनुपलब्धि का अधिकार भी पीछे समाप्त हो जायगा। इनमें क्रमशः लिंग, शब्द तथा अनुपपन्न होने वाला अर्थ स्वयं ज्ञात होने पर ही दूसरे अर्थ का बोधक हो सकता है। धूम (लिंग) यदि रहे भी किन्तु ज्ञात न हो तो अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता। शब्द भी जब तक ज्ञात न हो तब तक उससे शाब्दबोध नहीं होता बहरे को शाब्दबोध नहीं होता। अर्थापत्ति में भी, दिन में न खाने वाले देवदत्त की स्थूलता ज्ञात रहने पर ही उसके रात्रिभोजन का ज्ञान कराती है। 'अहमज्ञः' तो यह सब कुछ नहीं है।] इसके अनुभव के समय वैसा (लिंगादि) कुछ ज्ञात नहीं है और न वर्तमानकाल में ही उसका अनुभव हो रहा है। [अतः इन प्रमाणों के अधीन तो 'अहमज्ञः' नहीं ही है। अब अनुपलब्धि की खबर लेते हैं।]

अनुपलब्ध्या जन्यत इति चेत्—न तावदियमज्ञाता कारणम्। प्रत्यक्षेतरस्य ज्ञातकरणत्वनियमात्। नापि ज्ञातैव कारणम्। अनुपलब्ध्यनवस्थानात्। न च यथा परेषामभावग्रहणे योग्यानुपलब्धिः सहकारिणी तथा नः करणमिति शङ्क्यम्। ज्ञानकरण इव सहकारिणि ज्ञातत्वनियमाभावात्। अस्तु वा तथा ज्ञेयाभावग्रहणे करणम्। ज्ञानाभावग्रहणे करणं न भवत्येवेति वक्ष्यते।

यह कहा जा सकता है कि ['अहमज्ञः' में विद्यमान ज्ञानाभाव] अनुपलब्धि से उत्पन्न होगा [जैसे 'भूतले घटो नास्ति' में घटाभाव का ज्ञान होता है]। तो हम उत्तर देंगे कि यह (अनुपलब्धि) भी बिना ज्ञात हुए प्रमाण (करण) नहीं बन सकती। [जब तक घट की अनुपलब्धि ज्ञात न हो तब तक घटाभाव जान लेना सम्भव नहीं है। स्मरणीय है कि अनुपलब्धि को जानने के लिए ही यह प्रमाण स्वीकार किया गया है।]

यह नियम है कि प्रत्यक्ष से भिन्न किसी भी प्रमाण का कारण (साधन) ज्ञात ही रहना चाहिए। दूसरी ओर यह भी जान लें कि केवल ज्ञात होने से ही यह प्रमाण के रूप में नहीं आ सकती क्योंकि तब अनुपलब्धि की अनवस्था हो जायगी। [यदि घटानुपलब्धि ज्ञात होने पर ही घटाभाव का कारण बनती है तो कहिए कि घटानुपलब्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ ? घट की उपलब्धि का अभाव ही घटानुपलब्धि है। उस घटोपलब्धि के अभाव का ज्ञान भी अनुपलब्धि से ही होगा अर्थात् 'उपलब्धि की अनुपलब्धि' से उपलब्धि का अभाव ज्ञात होता है। इस क्रम से बढ़ते जाने में कहीं अन्त नहीं।]

आप ऐसी शंका नहीं कर सकते कि जैसे दूसरे (नैयायिकादि) लोग [अनुपलब्धि प्रमाण नहीं मानकर] अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं तथा योग्य (competent) अनुपलब्धि को सहकारी मानते हैं उसी प्रकार हम भी अनुपलब्धि को ज्ञान का कारण (प्रमाण) मानें। [नैयायिक लोग अनुपलब्धि मानते हैं, पर पृथक् प्रमाण रूप में नहीं; केवल प्रत्यक्ष के सहायक के रूप में। घटाभाव प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञात होता है। योग्यानुपलब्धि सहायता करती है। योग्य अनुपलब्धि = यदि घट होता तो अवश्य दिखलाई पड़ता। तो, इनके मत से अनुपलब्धि ज्ञात रहे या अज्ञात—सहायक ही होती है. इस तरह अनवस्था से बच जाते हैं। वैसे ये भी कहते हैं कि हम अनुपलब्धि को प्रमाण (पृथक्) मानते हुए भी अनवस्था से बचा लें।] ऐसा इसलिए नहीं होगा कि सहकारी होने पर ज्ञात होने का नियम नहीं है, परन्तु पृथक् ज्ञान-साधन (प्रमाण, source of valid knowledge) होने पर तो उसे [ज्ञात रहना ही पड़ेगा।]

यदि वैसा हो भी (अनुपलब्धि छठा प्रमाण रहे—अज्ञात या ज्ञात किसी भी दशा में प्रमाण हो) तो भी वह ज्ञेय के अभाव का बोध कराने के लिए प्रमाण है, ज्ञान के अभाव का बोध कराने के लिए वह प्रमाण नहीं है—इसे हम आगे कहेंगे। [इस स्थान तक यह सिद्ध किया जा रहा था कि अनुपलब्धि से भी 'अहमज्ञः' का बोध नहीं होता। फलतः 'अहमज्ञः' प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है।]

(१८ ख. 'अहमज्ञः' का प्रत्यक्ष अनुभव और नैयायिक—खण्डन)

प्रत्यक्षाभाववादे तु प्रत्यक्षेण तावद्धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः सतोरात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं न ब्रूयात्। घटवति भूतले घटाभावस्येव ज्ञानमात्राभावस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तयोरसतोस्तु सुतराम्। कारणाभावात्। अतोऽपि योग्यानुपलब्ध्या वा फल-लिङ्गाद्यभावेन वात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं दुर्लभमिति परमतेऽप्ययं न्यायः समानः। तदेवमात्मनि प्रत्यक्षेण वान्येन वा ज्ञानमात्राभावस्य ग्रहणमशक्यमिति स्थितम्।

[नैयायिक आदि अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार अभाव प्रत्यक्ष है। परन्तु 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष को वे हमारी तरह ही (देखिये—१८ क० का आरम्भ) नहीं मानते, प्रत्युत ज्ञानाभाव के रूप में मानते हैं। उनकी परीक्षा करें—]

प्रत्यक्ष को अभाव मानने वाले सिद्धान्त में [दो पक्ष हैं—'अहमज्ञः' में क्या ज्ञान-सामान्य का अभाव प्रत्यक्षीकृत हो रहा है या ज्ञान-विशेष का अभाव ? पहला विकल्प लेते हैं कि] प्रत्यक्ष के द्वारा तो धर्मी (= ज्ञानाभाव का धर्मी आत्मा) और प्रतियोगी (= ज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञान) का ज्ञान यदि सत् के रूप में सिद्ध है, तो आत्मा में ज्ञान-सामान्य का अभाव गृहीत होता है, ऐसा न कहें। कारण यह है कि जैसे घटयुक्त भूतल में घटाभाव का ग्रहण करते (= 'भूतले घटो नास्ति' वाक्य में), उस तरह [आत्मा में] ज्ञान-सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असंभव है। ['भूतले घटो नास्ति' में घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ भूतल घटाभाव का **धर्मी** है क्योंकि घटाभाव-धर्म उसी का है। घटाभाव का **प्रतियोगी** घट है क्योंकि इसी का अभाव है। प्रत्यक्ष के द्वारा दोनों की सत्ता जानते हैं। तब घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। अब इसी उदाहरण का विनियोग (Application) प्रस्तुत 'अहमज्ञः' पर करें। दूसरे शब्दों में 'मयि ज्ञानं नास्ति' कहें। तो, ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष हो रहा है जिसका **धर्मी** है 'अहम्' (आत्मा) और **प्रतियोगी** है 'ज्ञान'। स्मरणीय है कि यहाँ ज्ञान से ज्ञानसामान्य का अर्थ ले रहे हैं। यदि धर्मी और प्रतियोगी दोनों का ज्ञान विद्यमान हो (दोनों का प्रत्यक्ष हो चुका हो—आत्मा का और ज्ञान का) तो भी यह ग्रहण करना असंभव है कि आत्मा में ज्ञानसामान्य का अभाव है। ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जाने पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष कैसे ?]

दूसरी ओर, यदि ये दोनों (धर्मी का ज्ञान और प्रतियोगी का ज्ञान) विद्यमान नहीं रहे तब तो ['अहमज्ञः' में ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष मानना] और भी असंभव है क्योंकि कारण का ही अभाव हो जायगा। [अभाव के ज्ञान के लिए धर्मी (आधार) और प्रतियोगी का ज्ञान कारणरूप है। किन्तु आप पूर्वपक्षी लोग इन्हें मान नहीं रहे हैं। अतः कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न होगा ही नहीं।] इसलिए भी योग्य अनुपलब्धि के कारण या फल के रूप में लिंग आदि का अभाव होने से आत्मा में ज्ञान-सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असंभव है। इसलिए दूसरों (अनुपलब्धि को प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसकों) के मत से भी हमारा नियम मिलता-जुलता है। [ऊपर दिखा चुके हैं कि धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान रहे या नहीं रहे—दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञानसामान्य का अभाव ग्रहण करना असंभव है। इसलिए भी न तो अनुपलब्धि से ज्ञानसामान्य के अभाव का ग्रहण होता है और न ही अनुमान से। अनुमान की संभावना थी—ज्ञान का सर्वत्र व्यवहार फल के रूप में होता है, यही लिंग है। वह लिंग यहाँ नहीं मिलता, इसलिए 'अदर्शन' हेतु के द्वारा ज्ञानाभाव का अनुमान संभव था।]

तो, इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्यक्ष से या किसी दूसरे प्रमाण से आत्मामें ज्ञानमात्र का अभाव ग्रहण करना असंभव है। अब 'अहमज्ञः' में ज्ञानविशेष का अभाव वाला विकल्प लेते हैं।]

ननु ज्ञानविशेषाभावः प्रत्यक्षेण गृह्यताम्। न तावत्स्मरणाभावः। अभावग्रहणे प्रतियोगिस्मरणस्य कारणत्वात्। नाप्यनुभवाभावः। तस्यावर्जनीयत्वात्। नन्वात्मनि घटानुभवाभावः प्रत्यक्षविषयस्तर्हि 'अहमज्ञः' इति ज्ञानसामान्यवचनो जानातिर्ज्ञानविशेषेऽनुभवे लक्षणया वर्तनीयः। लक्षणा च सम्बन्धेऽनुपपत्तौ च सत्यां वर्तते।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि 'अहमज्ञः' में प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञानसामान्य का अभाव सिद्ध नहीं हुआ तो] प्रत्यक्ष से ज्ञान विशेष का अभाव लीजिये। [अच्छा तो ज्ञानविशेष अर्थ क्या है? स्मरण या अनुभव?] उक्त प्रत्यक्ष को **स्मरण का अभाव** (अहमज्ञः=मैं स्मरण-रूपी ज्ञान के अभाव से युक्त हूँ; इस रूप में) तो नहीं मान सकते क्योंकि अभाव के ज्ञान में [प्रतियोगी का ज्ञान] कारण होता है और यहाँ प्रतियोगी है स्मरण। [इसलिए स्मरण का ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान स्मरणात्मक ही है तो उसमें स्मरणाभाव कैसे संभव है?]

उक्त प्रत्यक्ष अनुभव का अभाव भी नहीं क्योंकि [ज्ञानाभाव से संबद्ध ज्ञान अनुभव के रूप में है अतः] अनुभव तो अनिवार्य ही है (उसका अभाव कैसे मानेंगे ?)

अब पुनः शंका होती है कि आत्मा में घट के अनुभव का अभाव यदि प्रत्यक्ष का विषय (Perceptible) है तो 'अहमज्ञः' ज्ञानसामान्य के वाचक ज्ञा-धातु (जानना) को लक्षणा (Indication) शक्ति के द्वारा ज्ञान (आत्म-स्वरूप)–विशेष से संबद्ध अनुभव के अर्थ में समझना चाहिए। लक्षणा वृत्ति का तब ग्रहण करते हैं जब सम्बन्ध की उपपत्ति (justification) नहीं हो रही हो।

संबन्धस्तावदनुभवत्वज्ञानत्वयोरेकव्यक्तिसमावेशो व्याप्य-व्यापकभावो वा विद्यत एव। अनुपपत्तिं तु न पश्यामः। नन्व-नुभवाभावे प्रत्यक्षस्य प्रमेयलाभस्तेनैव तस्यार्थवत्ता सिध्यति। सत्यम्। प्रयोजनमेतन्नानुपपत्तिः। अन्योन्याश्रयात्।

यहाँ पर सम्बन्ध यही है कि अनुभव होना और ज्ञान होना, दोनों का समावेश एक ही [घट-प्रत्यक्ष रूपी] व्यक्ति में होता है तथा दोनों के बीच व्याप्य (अनुभव होना) और व्यापक (ज्ञान होना) का सम्बन्ध भी है ही। इसमें असिद्धि की आशंका हम नहीं देखते। [अर्थ यह है कि 'गंगा में घोष' कहने से गंगा-शब्द का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) जो गंगा है उसका सम्बन्ध लक्ष्यार्थ (तट) के साथ आश्रय के माध्यम से है। गंगा और तीर में संयोग विद्यमान है। यह विवरण तभी होगा जब पदार्थ को जाति मानें। यदि व्यक्ति मानेंगे तो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में (= प्रवाह और तट में) सीधे ही संयोग-सम्बन्ध मानना पड़ेगा। उसी प्रकार यहाँ ज्ञा-धातु के वाच्यार्थ (ज्ञान) और लक्ष्यार्थ (विशेष अनुभव) में सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध है। घट-प्रत्यक्ष की एक ही व्यक्ति (Individual form) में वे दोनों हैं। व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध तो है ही। किन्तु जिस तरह गंगा-शब्द के शक्यार्थ (प्रवाह) में घोष की स्थिति असम्भव है वैसी बात यहाँ नहीं है—ज्ञान और अनुभव दोनों सहयोगी हैं।]

अब शंका होती है कि अनुभव (लक्ष्यार्थ) के अभाव में [प्रत्यक्ष के द्वारा कुछ भी बोधित न हो सकने के कारण] प्रत्यक्ष की सफलता के लिए प्रमेय का प्रदर्शन अवश्य करें क्योंकि इसी (प्रमेय) से उस प्रत्यक्ष की सार्थकता सिद्ध होती है। [प्रमेय अनुभवविशेष के अभाव के रूप में कहा जा सकता है यदि लक्षणा स्वीकार कर लें। अतः लक्षणा तो आप को माननी ही पड़ेगी।]

वेदान्ती उत्तर देते हैं कि तुम सच कहते हो। पर यह प्रयोजन लक्षणा को

अनुपपन्न होने से नहीं बचा सकता क्योंकि अन्योन्याश्रय-दोष हो जायगा। [प्रत्यक्ष की सफलता से लक्षणा की और लक्षणा से प्रत्यक्ष की सफलता की सिद्धि होती है। अब लक्षणा के मूल में जो असिद्धि है उसे दूसरे रूप में प्रकट करते हैं।]

नन्वहमज्ञ इत्यत्र नञ् आत्मनि ज्ञानमात्राभावं न ब्रूते। ज्ञानवति तस्मिन् तदभावात्। नाप्यनुभवाभावम्। ज्ञानोक्ते-स्तदनभिधायकत्वात्। नैरर्थक्यं च न युक्तमित्यनयैवानुपपत्त्या लक्षणेति चेत्—उक्तक्षणणैवाविद्या तदर्थोऽस्तु।

संदेह इति चेन्न। असमत्वात्कोटिद्वयस्य। अन्यत्र हि प्रतियोगिनिवृत्तिर्नञर्थः। अत्र तु प्रतियोगिव्याप्यनिवृत्तिरिति।

अब फिर **शंका** होती है कि 'अहमज्ञः' इस अनुभव में नञ् (Negation, अभाव) आत्मा में ज्ञान-सामान्य का अभाव प्रकट नहीं करता क्योंकि आत्मा ज्ञानयुक्त है, उसमें [ज्ञानमात्र का अभाव] नहीं हो सकता। न वह नञ् ज्ञान-विशेष अर्थात् अनुभव के अभाव को ही प्रकट करता है क्योंकि जब 'ज्ञान' (√ज्ञा) कहते हैं तो ज्ञान-विशेष का अर्थ प्रकट होता ही नहीं। [किसी गाँव में कोई व्याकरणाचार्य न हो तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह गाँव अविद्वान् है, जब कि उस गाँव में बड़े-बड़े पंडित हों। उसी प्रकार, यदि ज्ञान-विशेष न हो तो ज्ञान ही नहीं, ऐसा नहीं कहेंगे।] उक्त वाक्य को निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता [क्योंकि उन्मत्त व्यक्ति का वाक्य है नहीं।] इसीलिए अनुपपत्ति होने के कारण ('अहमज्ञः' यह ज्ञान किस प्रकार का है, यह निर्णय न हो सकने के कारण) लक्षणावृत्ति से इसकी सिद्धि मानें।

हमारा **उत्तर** है कि आप नञ् का अर्थ उपर्युक्त लक्षण से युक्त अविद्या ही क्यों नहीं मान लेते? [लक्षणा को स्वीकार करने के लिए आप चारों ओर से जो अनुपपत्ति का स्तूप खड़ा कर रहे हैं और कहते हैं कि इस ज्ञान का निरूपण करना असंभव है—इसी अनिर्वचनीयता को तो अविद्या कहते हैं। इसे ही हम अभाव का अर्थ क्यों न मान लें? अनुपपत्ति दिखाने के बाद लक्षणा मानने का कष्ट क्यों कर रहे हैं?]

[नैयायिकादि फिर **शंका** करते हैं कि मान लिया, अनुपपत्ति ही अविद्या है जो अनिर्वचनीय है, भावरूप है आदि। पर नञ् का अर्थ भी वही है, यह कैसे संभव है? अभाव भी तो नञ् का अर्थ हो सकता है? इस प्रकार] संदेह बना ही रहता है। हमारा **उत्तर** है कि संदेह इसलिए नहीं होगा क्योंकि दोनों कोटियाँ (पक्ष) बराबर नहीं हैं। [न्याय-दर्शन में हम देख चुके हैं कि

संदेह दोनों पक्षों के समान होने पर ही होता है—कोई प्रबल और कोई दुर्बल हो गया तो संदेह मिट जायगा। अब दिखायेंगे कि दोनों कोटियाँ कैसे असमान हैं।]

दूसरे स्थानों पर नञ् प्रतियोगी की निवृत्ति के अर्थ में होता है [जैसे 'अघटं भूतलम्' में अघट के नञ् से प्रतियोगी (घट) की निवृत्ति समझी जाती है।] किन्तु यहाँ पर ('अहमज्ञः' में) इसका अर्थ है, प्रतियोगी (ज्ञान) के द्वारा व्याप्य (अनुभव) की निवृत्ति (Negation)। [इस तरह आप लोगों को लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है तो अभाव का पक्ष तो दुर्बल हो ही गया। नञ् का अर्थ यदि अविद्या—अनिर्वचनीयता—मानेंगे तो यह कोटि प्रबल ही रहेगी। ऊपर हम लक्षणा-पक्ष और अविद्या-पक्ष की समता दिखा चुके हैं। अभी और भी कहेंगे।]

जानातिसमभिव्याहृतस्य नञः क्वचिदुक्तलक्षणाविद्याविषयत्वसिद्धिमन्तरेण न संदेह इत्यवश्यंभावेन सैव जानातिसमभिव्याहृतस्य नञः सर्वत्र तद्विषयत्वमवगमयति। विलुम्पति ज्ञानाभावकोट्यन्तरमिति क्व संदेहावकाशः? तदेवं लक्षणाहेत्वभावेऽनुभवाभावोऽप्यात्मनि न प्रत्यक्षेण गृह्यत इति परिशेषादुक्तलक्षणा अविद्यैव 'अज्ञः' इति प्रतिभासस्य विषय इति स्थितम्।

जब तक √ज्ञा (जानना) धातु के साथ उच्चरित नञ् को कहीं पर भी उक्त (अनिर्वचनीय) लक्षण (mark) वाली अविद्या का विषय सिद्ध नहीं कर देते, तब तक संदेह की स्थापना नहीं कर सकते। [जो लोग उक्त संदेह को प्रस्तुत करते हैं उन्हें अविद्या माननी पड़ती है तथा नञ् को अविद्या के अर्थ में लेना पड़ता है। यह तथ्य है।] चूँकि यह मानना बहुत आवश्यक है—इसलिए वही अविद्या ज्ञा-धातु के साथ उच्चरित नञ् को अविद्या-विषयक ही बोधित करती है। [अविद्या का अर्थ शीघ्र ही बुद्धिग्राह्य हो जाता है।] ज्ञानाभाव के रूप में उक्त प्रत्यक्ष को माननेवाली कोटि लुप्त हो जाती है। तो, अब संदेह का अवकाश ही कहाँ पर है?

तो, इस प्रकार लक्षणा मानने का कारण (अनुपपत्ति की संभावना) न रहने से, अनुभव का अभाव [जिसे आप लक्षणा से सिद्ध करने जा रहे थे], वह भी प्रत्यक्ष-रूप में आत्मा में गृहीत नहीं हो रहा है। अब शेष बची है अविद्या, जिसका लक्षण ऊपर [अनिर्वचनीय के रूप में] दिया गया है। वह अविद्या ही 'अज्ञः' इस शब्द में प्रतीति का विषय है। यह सिद्ध हुआ।

(१९. दूसरी विधि से 'अहमज्ञः' के द्वारा अविद्या की सिद्धि)

अस्तु वा ज्ञानाभावप्रतिभासः । अयमभावश्च प्रतियोगी यत्र निषिध्यते न ततः तत्त्वान्तरमन्यदधिकरणभावात् । मा भूदन्यभावत्वमन्याभावत्वं तु स्यात् । ननु तदपि विरुद्धम् । सत्यं, सति भेदे । स च प्रमाणात् । तच्च सति प्रतियोग्यभावाधिकरणतस्तत्त्वान्तरे । ननु घटवति भूतले घटाभावमितिव्यवहृती स्यातामिति चेत्—मा भूतामेते प्रतियोगिना सहानुभूयमानेऽधिकरणे ।

अच्छा, मान लिया कि ['अहमज्ञः' में] ज्ञानाभाव का ही प्रत्यक्ष हो रहा है। लेकिन यह अभाव तो उस तत्त्व से भिन्न तत्त्व नहीं जिसमें प्रतियोगी का निषेध किया जाता है अर्थात् वह तत्त्व आधार (अधिकरण) के स्वरूप से भिन्न नहीं है। [इस प्रकार अभाव को आधारात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है।]

[नैयायिक लोग फिर शंका करते हैं कि भूतल की अपेक्षा घटाभाव] एक भाव (positive entity) के रूप में भिन्न भले ही न रहे किन्तु अभाव के रूप में तो भिन्न अवश्य ही है। [इस प्रकार अभाव की सत्ता अधिकरण से पृथक् रूप में है, अतः 'अहमज्ञः' में नञ् का अर्थ अभाव ही है।] वे आगे कहते हैं कि यह भी तो आपके (वेदान्तियों के) सिद्धान्त से विरुद्ध हो गया [क्योंकि आप 'अहमज्ञः' में भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष मानते हैं और इधर अधिकरण से अभाव को पृथक् सिद्ध कर दिया गया है।]

वेदान्ती उत्तर देते हैं कि ठीक कहते हो किन्तु [अधिकरण और अभाव में] भेद सिद्ध हो जाय तब तो ? और भेद की सिद्धि होगी प्रमाण से ही (= अभावविषयक प्रत्यक्षादि से)। वह प्रमाण भी तभी काम दे सकता है जब प्रतियोगी (घट) के अभाव के आधार (भूतल) से उसे भिन्न तत्त्व मानें। [परन्तु यह होता नहीं। भेदसिद्धि के बाद प्रमाण भिन्नासिद्धि-विषयक होता है और वैसा होने पर ही प्रमाण भेद की सिद्धि करता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष से तो वह ग्रस्त है। अतः अभाव भिन्न तत्त्व के रूप में सिद्ध नहीं होता।]

अब पुनः शंका होगी कि घट से युक्त भूतल में भी घटाभाव का ज्ञान और घटाभाव का व्यवहार होने लगेगा। [यदि आप अभाव को भावात्मक मानते हैं तो ये दशायें होंगी ही।] हमारा उत्तर है कि प्रतियोगी के साथ जिस अधिकरण (आधार) का अनुभव हो रहा है उसमें तो ये ज्ञान और व्यवहार

नहीं हो सकते। [जहाँ प्रतियोगी (विरोधी) साक्षात् रहे वहाँ ये भले ही नहीं रहें किन्तु जब प्रतियोगी का स्मरण होने पर अधिकरण का अनुभव हो रहा हो तब तो इनका ग्रहण होगा ही (= ज्ञान और व्यवहार दोनों होगा) इसे ही आगे बतला रहे हैं—]

प्रतियोगिस्मरणे सत्यनुभूयमानेऽधिकरणे तु स्याताम्। एवमप्युपपत्तौ न तत्त्वान्तरविषयत्वं कल्प्यम्। काऽनुपपत्तिरिति चेद्बाधकाभावस्तावदुक्त एव। बाधकं तु कल्पनागौरवमेव। तथा हि—तत्त्वान्तरत्वं तावदेकं कल्प्यम्। तस्यापरोक्षत्वायेन्द्रियसंनिकर्षः कल्प्यः।

किन्तु प्रतियोगी का स्मरण करने पर जिस अधिकरण का अनुभव किया जाता है उसमें तो वे दोनों (ज्ञान + व्यवहार) हो ही सकते हैं। इस प्रकार भी [अभाव का ज्ञान होने पर जो 'नहीं है' का व्यवहार होता है उसकी] सिद्धि हो जाने पर अभाव को किसी दूसरे तत्त्व में नहीं लेना चाहिए। अब यदि पूछें कि इसमें अनुपपत्ति क्या है [जो आप ऐसा कह रहे हैं ?] अरे, हमने तो पहले ही कह दिया है कि बाधक न होने के कारण ही ऐसा हुआ है। कल्पना का गौरव (एक के बदले कई बातों को मानना) ही यहाँ पर बाधक है। [बाधक से बचने के लिए ही हम अविद्या के द्वारा उक्त प्रत्यक्ष की सिद्धि करते हैं। यदि ऐसा न करें तो एक के बदले कई चीजों को मानना पड़ेगा।]

देखिये—पहले तो एक भिन्न तत्त्व (अभाव) की कल्पना करनी पड़ेगी। उसके अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष मानने) के लिए इन्द्रियसंनिकर्ष की कल्पना करनी पड़ेगी।

स च संयोगादिर्न भवतीति संयुक्तविशेषणत्वादिः कल्प्य इत्यतो वरमुक्तलक्षणस्याधिकरणस्य व्यवहारविषयेऽङ्गीकारः। सति चैवं ज्ञानाभावेनापि प्रतियोगिस्मृतौ सत्यामनुभूयमानमधिकरणं ज्ञातैव। स च न केवलमन्तःकरणम्। जडत्वात्। नापि केवल आत्मैव। अपरिणामित्वाद्गुणत्वाच्च। अत उभयोरभेदाध्यासः। आत्माध्यासश्चोक्तलक्षणाविद्यात्मेति—आयातमविद्यायामेवाहमज्ञ इति प्रतिभासः प्रमाणमिति।

उसके बाद, चूँकि वह इन्द्रिय-संनिकर्ष संयोगादि के रूप में नहीं हो सकता (= चक्षु के संयोग से घटाभाव को देखा नहीं जा सकता), इसलिए संयुक्त वस्तु (भूतल) के साथ विशेषण-विशेष्य की भी कल्पना करनी पड़ेगी। [घटाभाव से युक्त भूतल है—इसमें भूतल चक्षु से संयुक्त है और घटाभाव विशेषण के रूप में है। भूतल में घटाभाव है—यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेष्य के रूप में है। इसी तरह की कल्पनायें करनी पड़ेंगी।]

इस [बार-बार की कल्पना] से तो कहीं अच्छा है उपर्युक्त लक्षण (प्रतियोगी का स्मरण होने पर जिसकी अनुभूति होती है) से युक्त अधिकरण को व्यवहार के रूप में मानें। [तो, अभाव का अनुभव = प्रतियोगी के स्मरण के साथ अधिकरण का अनुभव। अभाव = अधिकरण।] ऐसा होने पर ज्ञानभाव के द्वारा भी जब प्रतियोगी का स्मरण होता है तो जिस अधिकरण का अनुभव किया जा रहा है वह ज्ञाता ही है। ['अहमज्ञः' में ज्ञान के अभाव की अनुभूति जिस अधिकरण में हो रही है वह अधिकरण ही ज्ञाता (अध्यस्त आत्मा) है।] वह ज्ञाता न तो केवल अन्तःकरण (मन) है क्योंकि मन जड़ होता है [और ज्ञाता को चेतन होना आवश्यक है।] वह केवल आत्मा भी नहीं है क्योंकि आत्मा में न तो परिणाम (परिवर्तन) होता है और न उसमें कोई गुण ही रहते हैं।

इसलिए [उस ज्ञाता पर आत्मा और अन्तःकरण] दोनों के अभेद (सादृश्य) का अध्यास (Superimposition) होता है। अब, आत्मा का अध्यास चूँकि उपर्युक्त लक्षणों से युक्त अविद्या के रूप में ही होता है, अतः अविद्या में ही 'अहमज्ञः' इस के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण पर पहुँचते हैं।

(२०. अनुमान से अविद्या की सिद्धि)

अनुमानं च—विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्। अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति।

वस्तुपूर्वकमित्युक्त आत्मवस्तुपूर्वकत्वेनार्थान्तरता। तदर्थं वस्त्वन्तरेति। तथापि विषयभूते वस्त्वन्तरेऽर्थान्तरता। तदर्थं स्वदेशगतेति। अदृष्टादिकं प्रत्यादेष्टुं स्वनिवर्त्येति।

[अविद्या की सिद्धि के लिए] अनुमान भी होता है—

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत) प्रमाणज्ञान ऐसे वस्त्वन्तर (दूसरी वस्तु

अर्थात् अविद्या) के बाद होता है जो (वस्त्वन्तर) अपने प्रागभाव से व्यतिरिक्त (Different) हो, अपने विषय का आवरणरूप हो, अपने ही द्वारा निवृत्त हो सकता हो तथा अपने ही स्थान से संबद्ध (स्वदेशगत) हो। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह अप्रकाशित पदार्थ का प्रकाशक है। (हेतु)

(३) जैसे अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न दीपक की प्रभा होती है। (उदाहरण)

[प्रतिज्ञा के वाक्य में वस्त्वन्तर के चार विशेषण दिये गये हैं। सबों में 'स्व' शब्द लगा है जिससे प्रमाणज्ञान का बोध होता है। वह वस्त्वन्तर वास्तव में अविद्या ही है। उसके बिना कोई भी वैसा नहीं बन सकता। इस अनुमान से अविद्या की सिद्धि होती है क्योंकि 'अयं घटः' इस प्रमाणज्ञान के स्थान में प्रमाणज्ञान के पहले अविद्या रहती है। किन्तु, चूँकि वह भी प्रमाणज्ञान की अपेक्षा रखती है इसलिए **वस्त्वन्तर** कहलाती है। प्रमाणज्ञान के आश्रय अर्थात् आत्मा में रहने से **स्वदेशगत** कहलाती है। प्रमाणज्ञान से ही उसका विनाश होता है इसीलिए वह **स्वनिवर्त्य** है। प्रमाणज्ञान का विषय अर्थात् घट का आवरण करती है इसीलिए **स्वविषयावरण** है। अविद्या प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से भिन्न रूप में स्वीकृत की जाती है इसलिए **स्वप्रागभावव्यतिरिक्त** है। इन विशेषणों से विभूषित वस्त्वन्तर यदि अविद्या के अलावे कोई दूसरी हो तो बतलावें! इस साध्यांश के किसी टुकड़े को छोड़ देने पर अविद्या की सिद्धि में बाधा पहुँचेगी। उसका निरूपण अब करते हैं।]

(१) यदि केवल 'वस्तु के पश्चात्' (वस्तुपूर्वकम्) इतना ही कहते तो [प्रमाणज्ञान का आश्रय स्वरूप] आत्मा रूपी वस्तु के बाद होने के कारण [वह आत्मा अविद्या से] पृथक् पदार्थ हो जायगी। इसीलिए **वस्त्वन्तर** शब्द का प्रयोग किया गया है। ['वस्त्वन्तर' का प्रयोग करने से आत्मा प्रमाणज्ञान से पृथक् वस्तु सिद्ध नहीं होती क्योंकि वस्त्वन्तर = अपने से या स्वाश्रय से भिन्न।]

(२) अब यदि इसी प्रकार केवल वस्त्वन्तर को विषय (साध्य) के रूप में रखें तो [प्रमाणज्ञान के विषय जो घट आदि वस्तुएँ हैं वे अविद्या की अपेक्षा] भिन्न पदार्थ हो जायँगी। इसीलिए **स्वदेशगत** शब्द लगाया गया है। [अपने प्रमाणज्ञान का आधार आत्मा है, उसमें स्थित घटादि नहीं।]

(३) अदृष्ट (धर्म और अधर्म) आदि (= सुखादि आत्मगत) पदार्थों की व्यावृत्ति (Exclusion) के लिए **स्वनिवर्त्य** शब्द प्रयुक्त हुआ है।

[स्वदेशगत कहने से तो आत्मा के अन्दर के सारे पदार्थ—धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, इच्छा आदि—भी चले आयेंगे। इसीलिए स्वनिवर्त्य लगाया गया है कि अविद्या से केवल प्रमाणज्ञान के द्वारा निवर्त्य वस्तु का ही बोध हो।]

उत्तरज्ञाननिवर्त्यं प्रथमज्ञानं निवर्तयितुं स्वविषयावरणेति। स्वप्रागभावव्यप्रागभावं प्रतिक्षेप्तुं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेति। स्वप्रागभावव्यतिरिक्तपूर्वकमित्युक्ते विषयेणार्थान्तरता। तदर्थं विषयावरणेति। तादृशमन्धकारं व्यासेद्धुं स्वनिवर्त्येति। विषयगतामज्ञानतां निराकर्तुं स्वदेशगतेति। मिथ्याज्ञानमपोहितुं वस्त्वन्तरेति। धारावाहिकविज्ञाने व्यभिचारं व्यासेद्धुमप्रकाशितेति।

(४) उत्तर क्षण के ज्ञान से पूर्वक्षण के ज्ञान की निवृत्ति होती है इस [प्रकार के स्वनिवर्त्य ज्ञान] की व्यावृत्ति के लिए **स्वविषयावरण** शब्द लगाया है [जिससे अविद्या का लक्षण प्रकट होता है कि वह अपने विषय घट का आवरण स्वयं करती है—उसमें पूर्वापर ज्ञान का प्रश्न नहीं है।]

(५) [उक्त प्रकार के प्रमाणज्ञान में प्रागभाव है ही—] इसीलिए प्रागभाव को दूर करने के लिए **स्वप्रागभावव्यतिरिक्त** शब्द का प्रयोग हुआ है।

[इस प्रकार अभी तक अंतिम विशेषण से प्रथम विशेषण की ओर जाते हुए उन सबों की सार्थकता दिखा रहे थे। अब प्रथम विशेषण से आरम्भ करके अंतिम विशेषण की ओर आ रहे हैं। इस प्रकार विशेषणों की सार्थकता पर भली-भाँति विचार करके ही अनुमान के द्वारा अविद्या की सिद्धि की जा रही है।]

(१) यदि केवल इतना कहते कि 'प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न वस्त्वन्तर के बाद उत्पन्न होता है तो वह प्रमाणज्ञान अपने विषय (घट-पटादि) से ही पृथक् पदार्थ हो जाता। इस प्रसंग को रोकने के लिए **विषयावरण** शब्द का प्रयोग किया गया है [जिससे प्रमाणज्ञान और विषयों का ऐक्य सिद्ध होता है। विषय का आवरण है अर्थात् स्वयं विषयों के रूप में है।]

(२) [अब प्रश्न है कि अन्धकार भी तो विषय का आवरण करता है तो क्या इसे ही प्रमाणज्ञान कहेंगे ? नहीं,] ऐसे ही स्वविषयावरण करनेवाले अन्धकार का निषेध करने के लिए **स्वनिवर्त्य** शब्द लगाया है। [अंधकार स्वनिवर्त्य नहीं है, प्रमाणज्ञान है।] अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है, प्रमाणज्ञान से नहीं।]

(३) विषय-निष्ठ अज्ञातता को दूर करने के लिए **स्वदेशगत** विशेषण

लगा है। [घटादि विषयों में अज्ञातता है, उसका निराकरण भी प्रमाणज्ञान से ही होता है परन्तु वह अज्ञातता प्रमाणज्ञान में अवस्थित तो नहीं है।]

(४) मिथ्याज्ञान का निराकरण करने के लिए **वस्त्वन्तर** शब्द का प्रयोग किया गया है। [सीपी में जो चाँदी के रूप में ज्ञान होता है वह (सीपी के ज्ञान रूपी) प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से भिन्न होता है; इस प्रमाणज्ञान (शुक्तित्व-प्रकारक) से अपने विषय (सीपी) का आवरण भी निवृत्त हो जाता है तथा यह ज्ञान आत्मनिष्ठ (सीपी के ज्ञान के आश्रय आत्मा में स्थित) भी है फिर भी वह प्रमाणज्ञान वस्त्वन्तर नहीं है क्योंकि ज्ञान है—और यहाँ ज्ञान को वस्त्वन्तर मानते हैं।]

(५) धारावाहिक विज्ञान (ज्ञान-संतान Series of knowledge) में व्यभिचार रोकने के लिए **अप्रकाशित** का प्रयोग हुआ है। [धारावाहिक विज्ञान में प्रथम ज्ञान अज्ञानपूर्वक होता है। उस प्रथम ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है और विषय का प्रकाशन होता है। अब तो प्रकाशित वस्तु का ही प्रकाशन आरम्भ होने लगता है, अप्रकाशित का नहीं। केवल इसी गुण का अभाव धारावाहिक विज्ञान में है, अन्यथा और सब समान हैं।]

[अब दृष्टान्त की सार्थकता पर प्रकाश डालते हैं।]

मध्यवर्तिप्रदीपप्रभायां साध्यसाधनवैधुर्यप्रतिरोधाय प्रथमोत्पन्नविशेषणम्। सौरालोकव्याप्तदेशस्थप्रदीपप्रभाप्रतिक्षेपायान्धकारेति। न च ज्ञानसाधके प्रमाणे व्यभिचारः शङ्कनीयः। विप्रतिपन्नं प्रत्यसत्त्वनिवृत्तिमात्रस्य प्रमाणकृत्यत्वात्। तदुक्तं देवताधिकरणे कल्पतरुकारैः—अनुमानादिभिरसत्त्वनिवृत्तिः क्रियत इति।

मध्यवर्ती (प्रथमक्षण और अन्तिमक्षण के बीच की) प्रदीप-प्रभा में साध्य-साधन का अभाव रोकने के लिए **'प्रथम उत्पन्न'** यह विशेषण लगाया गया है। [दीप की प्रभा क्षण-क्षण में बदलती रहती है। उपर्युक्त अनुमान में प्रथम उत्पन्न दीप-प्रभा का दृष्टान्त दिया गया है अर्थात् अन्धकार से भरे स्थान में प्रथम क्षण की दीप-प्रभा। यहाँ पर उपर्युक्त लक्षणों से युक्त वस्त्वन्तर अन्धकार है, तो 'अन्धकार के बाद होना' साध्य हुआ। 'अप्रकाशित का प्रकाशन' हेतु है। यह स्पष्ट है कि मध्यवर्ती प्रभा उक्त वस्त्वन्तर के बाद नहीं होती क्योंकि अन्धकार की निवृत्ति प्रथम क्षण की प्रभा से ही हो जाती है। मध्यवर्ती प्रभा अप्रकाशित वस्तु का प्रकाशन भी नहीं करती क्योंकि यह काम

भी तो प्रथम क्षण वाली प्रभा ही करती है। इसलिए मध्यवर्ती प्रभा में साध्य-साधन का अभाव है और वह दृष्टान्त के रूप में नहीं दी जा सकती। दृष्टान्त की सार्थकता के लिए 'प्रथम उत्पन्न' विशेषण लगाया गया है।]

उसी तरह सूर्य के आलोक से व्याप्त स्थानों में स्थित प्रदीप की प्रभा की व्यावृत्ति (Exclusion) करने के लिए 'अन्धकार' शब्द का प्रयोग हुआ है। [दिन में सूर्य का प्रकाश फैला हो और यदि दीप की प्रभा प्रथम क्षण में उत्पन्न हुई भी हो, फिर भी वह (प्रभा न तो हेतु ही हो सकती है और न साध्य ही। इसलिए वैसी दीप-प्रभा दृष्टान्त के रूप में नहीं आ सकती। अन्धकार को हटाने वाली प्रभा ही दृष्टान्त हो सकती है।]

उक्त प्रदीप-प्रभा का व्यभिचार ज्ञानसाधक प्रमाण में होगा, ऐसी शंका न करें क्योंकि प्रमाण का काम केवल इतना ही है कि किसी वस्तु के अस्तित्व के विषय में विवाद करने वाले व्यक्ति को उसके असत्ता-विषयक सन्देह को मिटा दें। [व्यभिचार (असहचार) की संभावना इसलिए थी कि सभी प्रमाण तो ज्ञान के साधक हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की साधक इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमिति का साधक लिंग-परामर्श अनुमान है। शाब्द ज्ञान का साधक शब्द भी प्रमाण है। सो, ये प्रमाण हेतु से तो युक्त हैं क्योंकि अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशन करते हैं किन्तु साध्य यहाँ नहीं है क्योंकि उक्त वस्त्वन्तर के बाद ये नहीं होते। व्यभिचार की शंका का निवारण करते हैं कि प्रमाण उक्त वस्तु के प्रकाशक नहीं हैं। प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान ही वस्तुओं का प्रकाशन कर सकता है।]

इसे देवताधिकरण में कल्पतरु के रचयिता (अमलानन्द) ने कहा है—'अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा असत्ता की निवृत्ति करते हैं (अर्थात् प्रमाण वस्तु की सत्ता को लेकर विवाद करनेवाले व्यक्ति में सन्देह मिटा देते हैं कि यह असत् है। सत्ता की सिद्धि फिर ज्ञान से होती है।)

ननु साधनविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। प्रकाशशब्देन तमोविरोध्याकारस्य विवक्षितत्वात्। तदुक्तं विवरणविवरणे सहजसर्वज्ञविष्णुभट्टोपाध्यायैः—'न चात्र पक्षदृष्टान्तयोरेकप्रकाशरूपानन्वयः शङ्कनीयः। तमोविरोध्याकारो हि प्रकाशशब्दवाच्यः। तेनाकारेणैक्यमुभयत्रास्ति' इति।

नरेन्द्रगिरिश्रीचरणैस्त्वित्थमुक्तम्—'अप्रकाशितप्रकाशव्यवहारहेतुत्वं हेत्वर्थः। तस्य चोभयत्रानुगतत्वान्नासिद्ध्यादिरिति।'

अब यदि कोई कहे कि आपका दृष्टान्त (प्रभा) साधन से रहित है [क्योंकि प्रभा स्वयं तो अर्थ का प्रकाशन नहीं करती। अर्थ-प्रकाशन ज्ञान ही करता है। अर्थ-प्रकाशन = अर्थ का स्फुरित होना। प्रभा केवल अन्धकार हटाकर इन्द्रियों की सहायता करती है। तो, अर्थ-प्रकाशक न होने के कारण प्रभा साधन-रहित है—वह दृष्टान्त नहीं बन सकती। यदि आप ज्ञानस्फुरण के सहायकों को भी प्रकाशकों की श्रेणी में लेते हैं, तो इन्द्रियों का क्या अपराध है ? उन्हें भी प्रकाशक मानें।] तो हम कहेंगे कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि 'प्रकाश' शब्द का अर्थ [हम अर्थस्फुरण न लेकर] केवल अन्धकार के विरोधी के रूप में लेते हैं। [अन्तःकरण की वृत्ति आन्तरिक अन्धकार दूर करती है, प्रभा बाहरी अन्धकार दूर करती है। विषय का स्फुरण तो दूसरे रूप में होता है जो हम देख ही चुके हैं—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥
(पञ्चदशी ७।९१)

इन्द्रियों की बात आपने उठाई है। वे अन्तःकरण को मार्ग दिखाकर सहायता करती हैं, अन्धकार को दूर नहीं करतीं। इसलिए वे प्रकाशक नहीं हैं।]

इसे विवरण का विवरण (टीका) करते हुए जन्मजात-सर्वज्ञ श्री विष्णु-भट्ट उपाध्याय ने कहा है—'यहाँ (उक्त अनुमान में), पक्ष और दृष्टान्त दोनों एक प्रकार-से प्रकाशक नहीं हैं अतः उन दोनों में सम्बन्ध नहीं होगा, ऐसी शंका न करें। प्रकाश का अर्थ अन्धकार का नाशक ही यहाँ पर लिया गया है। इस रूप में दोनों (पक्ष-प्रमाणज्ञान, दृष्टान्त-प्रभा) में एकता तो है ही।'

नरेन्द्रगिरि श्रीचरण ने तो ऐसे कहा है—'अप्रकाशित पदार्थ को प्रकाश में लाने का व्यवहार हेतु का अर्थ है जो प्रकाश और ज्ञान दोनों में अनुगत (Common) है। इसलिए असिद्धि आदि की कल्पना न करें।

(२१. शब्द-प्रमाण से अविद्या की सिद्धि)

श्रुतेश्च। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० १।१०) इत्यादिका श्रुतिः।

५२. तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥ इति च।

एतेनैतत्प्रत्युक्तं यदुक्तं भास्करेण क्षपणकचरणं प्रमाणश-

रणे, 'भेदाभेदवादिनां भावरूपमज्ञानं नास्ति किं तु ज्ञानाभाव' इति ।

[अविद्या की सिद्धि के लिए] श्रुति-प्रमाण भी है। 'पुनः अन्त में संसार रूपी माया (या सारी माया) की निवृत्ति हो जाती है' (श्वे० १।१०)—इस तरह की श्रुति है। यह भी [स्मृति-वाक्य के रूप में] है—'हृदय में जिस (ब्रह्म) के निविष्ट कर दिये जाने पर योगी फैली हुई अविद्या या माया को पार कर जाते हैं वैसे अमेय (अज्ञेय) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है।'

इन तर्कों से ही भास्कराचार्य की उस उक्ति का खण्डन हो गया जिसे उन्होंने बौद्ध-संमत प्रमाणों का विवेचन करते हुए (?) स्पष्ट किया है कि भेदाभेदवादियों के यहाँ अज्ञान भावरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानाभाव है।

तथा च भास्करप्रणीतशारीरकमीमांसाभाष्यग्रन्थः । यदेव पररूपादर्शनं सैवाविद्येति । भावरूपाज्ञानानभ्युपगमे जीवेश्वरादिविभागानुपपत्तेः । न च भाविकः परमात्मनोंऽशो जीव इति वाच्यम् । निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिविरोधात् ।

भास्कराचार्य के द्वारा रचित शारीरक-मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के भाष्य का यही कथन है। पररूप का जो दिखलाई न पड़ना है, वही अविद्या है।

पर अब हमारा (अद्वैतवेदान्तियों का) यह कहना है कि भावरूप अज्ञान यदि स्वीकार नहीं करें तो जीव और ईश्वर के विभाग की सिद्धि नहीं होगी। लेकिन आप ऐसा न समझ लें कि सचमुच (भाविक = real, सत्य) जीव परमात्मा का अंश ही है क्योंकि वैसा मानने से इस श्रुति-वाक्य का विरोध होगा—'[वह ब्रह्म] कलाओं या अंशों से रहित है, क्रिया रहित है, शान्त (परिणामरहित) है,* [रागादि] दोषों से शून्य है तथा अंजन (धर्म-अधर्म आदि) से भी भिन्न है।' (श्वे० ६।१९)।

(२२. शाक्त-सम्प्रदाय में माया—शक्ति)

केचन शाक्ताः शक्तिं मायाशब्दार्थभूतां जगत्कारणत्वेनाङ्गीकृतां सत्यामभ्युपेत्य मातुलिङ्गगदाखेटविधारिणी महालक्ष्मीस्तस्याः प्रथमावतार इति वर्णयन्ति । सा च कालरात्रिः सर-

---

* शान्त = बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु—इन छह ऊर्मियों से रहित।

स्वतीति द्वे शक्ती उत्पाद्य ब्रह्माणं पुरुषं श्रियं च स्त्रियमुत्पाद-दयामास। स्वयं मिथुनं जनयित्वा स्वसुते अप्याह—अहमिव युवामपि मिथुनमुत्पादयतमिति।

ततः कालरात्रिर्महादेवं पुरुषं स्वरां स्त्रियं च जनयामास। सरस्वती च विष्णुं पुरुषं गौरीं च स्त्रियमुदपादयत्।

कुछ लोग अर्थात् शाक्त संप्रदाय वाले 'माया' शब्द का अर्थ शक्ति (Eternal and mysterious power) समझते हैं जिसे जगत् के कारण के रूप स्वीकृत किया गया है तथा जो सत्स्वरूपा है। उसे मान करके ये लोग मातुलिंग (एक फल), गदा और चर्म धारण करने वाली महालक्ष्मी का उसके प्रथम अवतार के रूप में वर्णन करते हैं।

उस (महालक्ष्मी) ने कालरात्रि और सरस्वती नामक दो शक्तियों को उत्पन्न करके पुरुष के रूप में (as for man) ब्रह्मा को और स्त्री के रूप में श्री (लक्ष्मी) को उत्पन्न किया। [महालक्ष्मी ने] स्वयम् एक जोड़े (ब्रह्मा + श्री) को उत्पन्न करके अपनी पुत्रियों से कहा—मेरे ही समान तुम दोनों भी जोड़ा उत्पन्न करती जाओ। तब कालरात्रि ने एक पुरुष अर्थात् महादेव को और एक स्त्री अर्थात् स्वरा को उत्पन्न किया। उधर सरस्वती ने भी एक पुरुष—विष्णु को और एक स्त्री—गौरी को उत्पन्न किया।

ततश्चादिर्विवाहमकरोदकारयच्च। एवं ब्रह्मणे स्वरां, विष्णवे श्रियं, शिवाय गौरीं दत्त्वा शक्तियुक्तानां तेषां सृष्टिस्थितिसंहाराख्यानि कर्माणि प्रत्यपादयदिति। तदेतन्मतं श्रुत्यादि-मूलप्रमाणविधुरतया स्वोत्प्रेक्षामात्रपरिकल्पितमिति स्वरूपव्या-क्रियैव निराक्रियेत्युपेक्षणीयम्। ततश्चानिर्वचनीयानाद्यविद्या-लसितः प्रत्यगात्मनि प्रतीयमानः प्रमातृत्वादिप्रपञ्च इत्यलम-तिप्रसङ्गेन।

तब पहली (महालक्ष्मी) ने विवाह किया और कराया भी। तदनुसार ब्रह्मा को स्वरा, विष्णु को श्री तथा शिव को गौरी समर्पित करके उन्हें शक्तियुक्त कर दिया तथा उन्हें क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार नामक कर्म बतला दिया।

[अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि] यह मत तो श्रुति आदि प्रमाणों पर आधारित नहीं है। अपनी उत्प्रेक्षा से ही यह कल्पित हुआ है अतः इसका सबसे

बड़ा खंडन यही है कि यह अपने आप ही अपने रूप का विश्लेषण करता है [प्रमाणों के आधार पर नहीं।] अतएव यह त्याज्य मत है।

तो इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय आदि का यह प्रपंच, जो प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) में प्रतीत होता है, अनादि अविद्या से युक्त है। अब अधिक क्या बढ़ायें ?

विशेष—यह आश्चर्य है कि सायण-माधव ने एक अवैदिक संप्रदाय—शैवों का वर्णन तो अपने दर्शन संग्रह में किया है, पर उस संप्रदाय से अन्यूनतर महत्त्व वाले शाक्तसंप्रदाय का केवल उल्लेख करके ही छोड़ दिया। वास्तव में शाक्त-संप्रदाय और तांत्रिक मत एक दिन अपने यौवन के आकाश में थे। दोनों के अपने-अपने सिद्धान्त थे। नाना प्रकार की क्रियाओं और विधियों से ये मत अत्यन्त चमत्कारपूर्ण थे। प्रत्येक प्रतीक का एक अर्थ था जिन्हें हम आज भ्रमवश भूल बैठे हैं। यहाँ उनका विवेचन समीचीन नहीं है। शैवों की तरह शाक्तों के भी आगम हैं जिन्होंने कुछ विदेशी पंडितों को भी आकृष्ट किया है। दुःख है कि आज आगम के ज्ञाता तो दूर, उन पर विश्वास करने वालों का भी अभाव हो गया है।

(२३. संसार अविद्या-कल्पित है—शंका-समाधान)

ननु किमर्थं प्रमातृत्वादीनामाविद्यकत्वं निगद्यते। ब्रह्म-ज्ञानेन निवर्तनाय जीवस्य ब्रह्मभावाय वा ? न प्रथमः। शास्त्र-प्रामाण्यादेव सत्यस्यापि ज्ञानेन निवृत्तेरुपपत्तेः। उपलम्भाच्च। तथा हि—

सेतुं दृष्ट्वा विमुच्येत ब्रह्महा ब्रह्महत्यया।

इत्यादिना पापं सनीस्रस्यते। विषयदोषदर्शनेन रागो दन्दह्यते। तार्क्ष्यध्यानेन विषं शम्यते। एवं कर्तृत्वादिबन्धः परमार्थिकोऽपि तत्त्वज्ञानेन निवर्त्येत।

शंका—ज्ञाता होना आदि भावों को आप अविद्याकल्पित (मिथ्या) क्यों मानते हैं ? क्या इसलिए कि ब्रह्मज्ञान से उसकी निवृत्ति हो सके ? [स्मरणीय है कि मिथ्या वस्तु की ही निवृत्ति ज्ञान से होती है, सच्ची वस्तु की नहीं। इसलिए प्रपंच को संभवतः सत्य नहीं मानते होंगे।] या इसलिए मानते हैं कि जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो ? [यदि जीव में ज्ञातृत्व आदि धर्म सत्य होते तो जीव को विशेषसहित मानना पड़ता और वैसी स्थिति में निर्विशेष ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। यों शुद्ध जीव और ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है।]

इनमें पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रों के प्रमाण से ही यह सिद्ध है कि ज्ञान से [न केवल मिथ्या वस्तु की, प्रत्युत] सत्य पदार्थ की भी निवृत्ति होती है। [मुंडकोपनिषद् (३।२।९) के इस वाक्य में बतलाया है कि ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। अब यह ब्रह्मत्व तभी होता है जब जीव की उपाधियों (External qualifications) का नाश हो जाय।* तो, जीव की मन-बुद्धि आदि उपाधियों के वास्तविक होने पर भी तो प्रमारूप ब्रह्मज्ञान से उनकी (सत्य उपाधियों की) निवृत्ति हो सकती। उपाधिनाश के पहले जीव ब्रह्मत्व पा नहीं सकता।] दूसरी बात यह है कि ऐसी बातों की प्राप्ति भी होती है जैसे—'ब्राह्मण का हत्यारा व्यक्ति [रामचन्द्र के रामेश्वर] पुल को देखकर ब्रह्महत्या से विमुक्त हो जाता है।' इन पापों के ध्वस्त होने का वर्णन है। विषयों में दोष देख लेने से राग (अनुरक्ति, आसक्ति, attachment) का दहन (नाश) होता है और गरुड़ जी (तार्क्ष्य) के ध्यान से विष उतर जाता है। [ये सारे कार्य सत्य (Real) हैं, मिथ्या नहीं। इनकी निवृत्ति तो ज्ञान से ही होती है।]

तो, इसी प्रकार कर्तृत्व, ज्ञातृत्वादि बन्धन [जो जीवों में लगे हैं यदि वे] सत्य भी हों (माने जायँ) तो क्या आपत्ति है ? तत्त्वज्ञान से उनकी निवृत्ति हो जायगी। [इसलिए ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति होने के लिए बन्धों (bondage) को मिथ्या मानने की आवश्यकता नहीं। सत्य मानने पर भी कार्य में अन्तर नहीं पड़ेगा।]

न चरमः। औपाधिकस्य जीवभावस्योपाधिनिवृत्त्या निवृत्तौ ब्रह्मभावसंभवात्। तस्माद्बन्धस्याविद्यकत्ववाचोयुक्तिः सावद्येति चेत्—नैतदनवद्यम्। सत्यस्यात्मवज्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेः। बन्धस्य मिथ्यात्वमन्तरेण शास्त्रप्रामाण्यादपि तदसिद्धेश्च। शास्त्रमपि—

लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः।

इति न्यायेन लोकावलोकितां पदशक्तिं पदार्थयोग्यतां चोररीकृत्य प्रचरतीति।

---

* तुल०—आत्मोपनिषद् (१।१६)—

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्॥

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं क्योंकि उपाधियों की निवृत्ति के बाद औपाधिक जीवत्व की निवृत्ति होने पर तो ब्रह्मत्व की प्राप्ति सम्भव ही है। इसलिए बन्ध (कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि सम्बन्ध-भाव) को अविद्या-कल्पित कहने की बात दोषों से भरी हुई है।

समाधान—आपका दोषारोपण भी दोषरहित नहीं है (= आपका कहना गलत है। जिस प्रकार [सत्य] आत्मा की निवृत्ति ज्ञान से होती है उस तरह [मन आदि पदार्थों को] सत्य मानने से उनकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकती। [उपाधियों को मिथ्या सिद्ध करने के ही अभिप्राय से शास्त्र उपाधि की निवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। यही कहते हैं।] बन्धों (Qualifications) को बिना मिथ्या माने, शास्त्रों के प्रमाण से भी उसकी असिद्धि ही होती है। [जहाँ पर शास्त्रों में युक्ति से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो वहाँ युक्तिसंगत अर्थ को ही शास्त्र का तात्पर्य मानना चाहिए।]

'जिस शब्द की सामर्थ्य (शब्दार्थ-बोध की शक्ति) लोक व्यवहार से अवगत हो चुकी है वह (शब्द) वेद में भी बोधक होता है'—इस नियम से शास्त्र भी लोक व्यवहार से सिद्ध पद की शक्ति और पदार्थबोध की योग्यता को स्वीकार करके ही अर्थबोध कराता है। [शास्त्र के वाक्यों का तात्पर्य लौकिक युक्तियों से ही ग्रहण करें।]

अपरथा 'आदित्यो यूपः' (तै० ब्रा० २।१।५) 'यजमानः प्रस्तरः' (तै० सं० १।७।४) इत्यादिवाक्यस्तोमस्य यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यापत्तेः वैदिक्याः क्रियायाः समक्षक्षयितया पारत्रिकफलकरणत्वान्यथानुपपत्त्या अपूर्वाङ्गीकरणानुपपत्तिश्च।

यदि ऐसा न हो तो 'आदित्य यज्ञस्तम्भ है' (तै० ब्रा० २।१।५) 'यजमान पत्थर है' (तै० सं० १।७।४) इस तरह के वाक्य-समूहों की प्रामाणिकता हमें उन्हीं अर्थों में माननी पड़ेगी जिनका बोध इनके अन्दर के शब्द कराते हैं। [संभाव्य अर्थ में ही श्रुति भी प्रामाणिक होती है। प्रथम वाक्य का यथाश्रुत अर्थ है—आदित्य और खूँटे का तादात्म्य ! किन्तु इस अर्थ में तो श्रुति प्रामाणिक नहीं हो सकती—लौकिक व्यवहार इसका विरोध करेगा। आदित्य के साथ सादृश्य भले ही है क्योंकि यूप में आदित्य के गुण—तेज, चमक आदि—हैं। इसी अर्थ में ये श्रुतिवाक्य प्रमाण हो सकते हैं। यजमान भी पत्थर के समान कष्टसहिष्णु है।]

[ज्योतिष्टोम-याग आदि] वैदिक क्रियायें देखते-ही-देखते नष्ट हो जानेवाली

हैं इसलिए पारलौकिक फल (स्वर्ग की प्राप्ति) उत्पन्न करने की असिद्धि दूसरे प्रकार से (कार्य-कारण-भाव के दृष्टिकोण से) भी हो जाती है। [आशय यह है कि ज्योतिष्टोम-याग एक क्रिया है जिसका नाश अत्यन्त शीघ्रता से हो जाता है। किन्तु वेदों में इसका फल दिया गया है—स्वर्गप्राप्ति। क्या स्वर्ग-प्राप्ति तक वह याग अपना फल देने के लिए बैठा रहेगा ? किसी भी दशा में दूर रहने के कारण कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थिति नहीं हो पाती। यदि आप कहें कि अपूर्व या अदृष्ट के कारण क्रिया का फल सुरक्षित रहेगा तो हमारा उत्तर है कि] अपूर्व को स्वीकार करने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं।

लोके च शुक्तिव्यक्तितत्त्वाभिव्यक्तावपनीयमानस्यारोपितस्य मिथ्यात्वदृष्टौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनात्मतत्त्वसाक्षात्कारविद्यापनोद्यस्याविद्यकस्य बन्धस्य मिथ्यात्वानुमानसंभवात्। विमतं मिथ्या, अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वात्, शुक्तिकारूप्यवदिति।

तो, लौकिक व्यवहार में जब सीपी का व्यक्तिगत (Individual) तत्त्व प्रकाशित होता है तब उसके द्वारा, दूर हटाने के योग्य आरोपित पदार्थ (चाँदी) के मिथ्या होने की दृष्टि मिलती है, उसी दृष्टान्त पर आधारित होने के कारण, आत्मतत्त्व के साक्षात्कार रूपी ज्ञान के द्वारा दूर हटाने योग्य जो यह अविद्या-कल्पित बन्ध है उसके मिथ्या होने का अनुमान किया जा सकता है। [सीपी के तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर आरोपित रजत की मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है। वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से इस कर्तृत्वादि बन्ध का नाश होता है। यदि सीपी में रजत की प्रतीति मिथ्या है तो आत्मतत्त्व में प्रपंच की प्रतीति भी मिथ्या ही है। अब उक्त अनुमान का स्वरूप दिखलाते हैं—]

(१) प्रस्तुत (बन्ध) मिथ्या है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि आधारभूत (आत्मा) के तत्त्वज्ञान से इसकी निवृत्ति होती है। (हेतु)

(३) जैसे सीपी और चाँदी की भ्रान्ति होती है। (उदाहरण)

न च 'विमतं सत्यं भासमानत्वात्' इति प्रतिप्रयोगे समानबलतया बाधप्रतिरोधः। प्रतिरोधभियाऽन्यतरदोषत्वसंभवादिति वदितव्यम्। मरुमरीचिकोदकादौ सव्यभिचारात्। अबाधितत्वेन विशेषणान्न दोष इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः। विशेषणासिद्धेः।

ऐसा न समझें कि प्रस्तुत विषय (प्रपंच) सत्य है क्योंकि प्रतीत होता

है—इस तरह के विरोधी अनुमान (Counter-argument) में समान बल होने के कारण बाध (संसार को मिथ्या मानकर आत्मतत्त्व के द्वारा उसकी निवृत्ति मानना) के सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा। क्योंकि प्रतिरोध (Opposition) के भय से [बचने के लिए] किसी एक में दोष की संभावना दिखानी होगी। [पूर्वपक्षी कहता है कि हमने एक विरोधी अनुमान दिया जिसमें प्रपंच का साध्य है सत्यता और दूसरी ओर आपका साध्य है मिथ्यात्व। दोनों के साध्य विरोधी हैं, दोनों दो हेतु भी दे रहे हैं। मान लिया कि एक हेतु सत् है, दूसरा असत्। किन्तु जब तक आप किसी एक हेतु में दोष दिखाकर दूसरे को प्रबल सिद्ध नहीं करते तब तक कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा। बतलाइये, हमारे हेतु में क्या दोष है ? सुनिये—]

मरुभूमि में मरीचि (सूर्य किरणों) से उत्पन्न (Mirage) जल आदि में व्यभिचार होगा [अर्थात् मृगमरीचिका में जल तो प्रतीत होता है पर वह सत्य नहीं है। अतः 'प्रतीत होने के कारण' कोई वस्तु सत्य हो, ऐसी बात नहीं। वह हेतु व्यभिचरित होता है।]

[पूर्वपक्षी फिर कहता है—] हम उक्त हेतु में 'अबाधित होने पर' ऐसा विशेषण लगा देते हैं (अर्थात्—'क्योंकि अबाधित होने पर प्रतीति होती है'—पूरा हेतु) तो दोष नहीं होगा [क्योंकि मृगमरीचिका प्रतीत तो होती है, पर इसकी निवृत्ति भी तो होती है ? दूसरी ओर प्रपंच की प्रतीति इस तरह की होती है कि उसकी निवृत्ति (बाध) न हो सके।] किन्तु ऐसा मत कहिये। आपके दिये गये विशेषण की ही सिद्धि नहीं हो सकेगी। [प्रपंच भासित होता है और बाधित नहीं होता हो, ऐसी बात नहीं। अब कैसे बाधित होता है, इसे दिखाते हैं।]

तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। कतिपयपुरुषकतिपयकालाबाधितत्वं हेतुविशेषणं क्रियते सर्वथा बालवैधुर्यम् वा ? न प्रथमः।

५३. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(वाक्यपदीय० १।३४)

इति न्यायेन त्रिचतुरप्रतिपत्तृप्रतिपादितस्यापि प्रतिपत्त्रन्तरेण प्रकारान्तरमुररीकृत्य प्रतिपादनात्।

इस विषय में हम आपसे जो पूछते हैं, उसका उत्तर दीजिये। उक्त हेतु (भासमानत्व) का विशेषण (अबाधित) जो आपने दिया है, उसका क्या अर्थ है? कुछ व्यक्तियों के लिए या कुछ निश्चित समय में बाध न होना? या सब प्रकार से बाध-रहित होना?

पहला विकल्प तो नहीं होगा क्योंकि यह नियम है—'जिस वस्तु का अनुमान प्रयत्नपूर्वक भी किया गया हो किन्तु दूसरे लोगों के द्वारा, जो अनुमान करने में कुशल हैं एवं अधिक योग्य प्रतिवादी (अभियुक्त = Discutient) हैं, वह वस्तु दूसरे ही रूप में सिद्ध की जाती है।' (वाक्यपदीय, १।३४)—इस नियम से जिस वस्तु का प्रतिपादन तीन-चार (कतिपय) प्रतिपादकों ने भले ही किया हो किन्तु दूसरे प्रतिपादकों के द्वारा दूसरे प्रकार से उसकी सिद्धि हो सकती है। [तात्पर्य यह हुआ कि कुछ समय में और कुछ व्यक्तियों के लिए अबाधित न होने से काम नहीं बनता। दूसरे समय में और दूसरे व्यक्तियों के लिए तो उसका बाध संभव है। ज्ञानियों की दृष्टि से आत्मा पर अध्यस्त प्रपंच का बाध हो सकता है। इसे आगम-प्रमाण से ही जानते हैं।]

नापि चरमः। सर्वथा बाधवैधुर्यस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञेयत्वात्। यद्येवं, हन्त, तर्हि ज्ञानात्मनोऽपि सत्यत्वं नावगम्यत इति चेत्—मैवं मंस्थाः। 'तत्सत्यं स आत्मा' (छा० ६।८।७) इत्यागमसंवादगतेः। न च प्रपञ्चेऽप्ययं न्याय इति मन्तव्यम्। तादृशस्यागमस्यानुपलम्भात्। प्रत्युताद्वितीयत्वं श्रावयन्त्याः श्रुतेः प्रपञ्चमिथ्यात्व एव पक्षपातात्।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिए किसी का सब तरह से बाधरहित होना हमलोग जान नहीं सकते।

[अब पूर्वपक्षी अपना खण्डन देख कर घबरा जाते हैं और वेदान्तियों से पूछते हैं कि] यदि ऐसी बात है तब तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की सत्यता भी नहीं ही जानी जा सकती है? [ज्ञानस्वरूप आत्मा किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होगी, इसका पता हम असर्वज्ञों को कैसे हो सकता है?] हम कहेंगे कि ऐसा मत समझो। आगम के संवाद (समन्वय) से उसकी प्रामाणिकता मालूम होती है—'वह सत्य है, वह आत्मा है' (छां० ६।८।७)।

[हमारे प्रमाण को देखकर संभवतः आप कह उठेंगे कि] प्रपंच (संसार) की सत्यता के लिए भी यही न्याय (Analogy) क्यों न लगाया जाय?

पर ऐसा समझना भूल है। उसकी सत्यता के लिए कोई आगम (श्रुति-वाक्य) है ही नहीं। उलटे, जिस समय श्रुति अद्वितीय तत्त्व (जैसे—सदेव सौम्येदमग्र आसीत् , एकमेवाद्वितीयम्—छां० ६।२।१) का प्रतिपादन करती है तो प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करने की ओर ही उसका पक्षपात रहता है।

विशेष—प्रपंच का मिथ्या होना या आत्मा की सत्यता के लिए अनुमानादि लौकिक प्रमाण सहायक भले हों निर्णायक नहीं हो सकते। निर्णय करने का काम श्रुति से ही संभव है। श्रुतियाँ सर्वज्ञ ईश्वर के निःश्वास के रूप में हैं। उनकी प्रामाणिकता हमें माननी ही होगी।

ननु कल्पनामात्रशरीरस्य पक्ष-सपक्ष-विपक्षादेः सर्वसुलभत्वेन जयपराजयव्यवस्थया कथं कथा प्रथेत ? कात्र कथंता ? 'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः।' (श्लो० वा० १।१।२ सूत्रे) इति न्यायेन त्रिचतुरकक्ष्याविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्य दूषणभूषणादेस्तत्र कथाङ्गत्वाङ्गीकारात् ।

अब शंका हो सकती है कि पक्ष, विपक्ष, सपक्ष आदि करना सबों के लिए संभव हो गया क्योंकि केवल कल्पना के सहारे तो यह सब करना है; तो, जय या पराजय की व्यवस्था (निर्णय) करने के लिए कथा (Discussion) की क्या आवश्यकता रह गयी ? [कहने का तात्पर्य यह है कि वाक्यपदीय की उपर्युक्त कारिका से तो तर्क की अप्रतिष्ठा हो जाती है—वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपनी-अपनी इच्छा से अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए अनुमान देंगे। तो, न किसी की पराजय होगी और न विजय ! तो तत्त्व का निर्णय कैसे होगा कि तथ्य क्या है ?]

[उत्तर देते हैं—] इसमें 'कैसे' की स्थिति ही नहीं आवेगी। [कुमारिल का कहना है कि] इस रूप में (तत्त्व का निर्णय करने के समय) बुद्धि तीन-चार ज्ञानों को जन्म देने के बाद आगे नहीं बढ़ सकती। इस नियम से, जो बाधक (दूषण) या साधक (भूषण) ज्ञान होगा वह तीन-चार कोटियों में ही विश्रान्त (समाप्त) हो जायगा तथा वह आभास (हेत्वाभासादि) के लक्षणों से पृथक् रहेगा। ऐसे ज्ञान को हम कथा का अंग स्वीकार कर लेंगे। [तत्त्व का निर्णय करने वाला ज्ञान तीन चार कोटियों तक चलता है, उसके बाद नहीं। ऐसा ज्ञान ही कथा है। जो जल्प और वितण्डा के रूप में ज्ञान होता है, आभासयुक्त है उसे तो तर्क से कुछ लेना-देना है ही नहीं अतः विश्रान्त होता ही नहीं। उसे हम कथांग नहीं कह सकते।]

अत एवोक्तं खण्डनकारेण—'व्यावहारिकीं प्रमाणसत्तामादाय विचारारम्भः' (ख० ख० खा०, पृ० ४४) इति। न च भेदग्राहिभिः प्रमाणैरद्वैतश्रुतेर्जघन्यतेति शङ्क्यम्। ब्रह्मणि पारमार्थिकसत्यत्वेन तदावेदिकायास्तत्त्वावेदनलक्षणप्रामाण्यायाः श्रुतेर्व्यावहारिकप्रमाणभावानां प्रत्यक्षादीनां च विभिन्नविषयतया परस्परं बाध्यबाधकभावासंभवात्।

इसीलिए तो **खण्डनखण्डखाद्य** के रचयिता [श्रीहर्ष] ने कहा है—'विचार (ब्रह्मविषयक, प्रमाणविषयक आदि) का आरम्भ व्यावहारिक प्रमाण सत्ता को आधार मानकर होता है।' (पृ० ४४)।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि भेद (Difference) का बोध कराने वाले प्रमाणों के द्वारा अद्वैत की प्रतिपादक श्रुतियों की गौणता (जघन्यता) सिद्ध हो जायगी। [भेद = जीव और ईश्वर में, जीवों में परस्पर भेद या जड़ पदार्थ का भेद। इनका अनुभव व्यवहार-दशा में होता है। तो, श्रीहर्ष की उक्ति के अनुसार, इन्हें प्रामाणिक मानकर कहीं अद्वैत-श्रुति (एकमेवाद्वितीयम्) कहीं गौण न हो जाय।] बात ऐसी है कि ब्रह्म में पारमार्थिक सत्यता होने से, उसका आवेदन (Exposition) करने वाली श्रुति, जिसका लक्षण और प्रामाण्य आवेदन करना ही है, उसके कारण [उक्त ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता में और] व्यावहारिक सत्ता (प्रमाण-भाव) या प्रत्यक्षादि में, परस्पर बाध्य-बाधक का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि [उन दोनों सत्ताओं के] विषय भिन्न-भिन्न हैं। [पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म के लिए है और व्यावहारिक सत्ता प्रत्यक्षादि के लिए। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में सत्य हैं। जैसे व्यावहारिक सीपी की सत्यता और प्रातिभासिक रजत की सत्यता में कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार श्रुत्युक्त ब्रह्म के अद्वैत की **पारमार्थिक** सत्यता में और द्वैत-प्रतीति की व्यावहारिक **सत्यता** में कोई विरोध नहीं।]

तदप्युक्तं तेनैव—

५४. तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः।
नानुमानादि तं कर्तुं तवापि क्षमते मते॥
(ख० १।२०)

५५. धीधना बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ।

क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥

(ख. १।२४) इति ।

तस्मात्तत्त्वज्ञानेन निवर्तनायास्य बन्धस्याज्ञानकल्पितत्वमङ्गीकर्तव्यम् । यत उक्तं—यतो ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकमिति ।

यह बात भी उसी (श्रीहर्ष, खण्डनकार) ने कही है—'इसलिए अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति के प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध (Opposition) होने की बात समाप्त हो गयी । अनुमान आदि प्रमाण तो उसे (श्रुतिबाध) करने में तुम्हारे (मीमांसकों के) मत में भी असमर्थ ही हैं । [श्रुति की अपेक्षा लिंग (अनुमान) दुर्बल होता है—दे० पृ० ५१४ ।] ॥ ५४ ॥ हे बुद्धिमान् पुरुषो ! [अद्वैत-प्रतिपादक] इस श्रुति के बाध के लिए अपनी बुद्धि तुम उसी समय खर्च कर सकते हो जब हाथ में आयी हुई चिन्तामणि को तुम समुद्र में फेंकने की इच्छा करो । अभिप्राय यह है कि अद्वैत-जैसा सुन्दर सिद्धान्त हाथ में है और उसे काटने के लिए नाना प्रकार के प्रयास कर रहे हो, यह ठीक नहीं ।] ॥ ५५ ॥

इसलिए तत्त्वज्ञान के द्वारा इसकी निवृत्ति करने के लिए बन्ध को अज्ञान-कल्पित मानना ही चाहिए । क्योंकि कहा भी है—चूँकि ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है ।

विशेष—नैषधीयचरित के प्रसिद्ध रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के खण्डन-खण्डखाद्य से लिये गये इन श्लोकों में अनुप्रास की छटा देखने ही योग्य है । सब कुछ होने पर भी वे मूलतः कवि थे । देखें—'क्षतः क्षतः', 'मते मते' (पादान्त-यमक) । 'धीधना बाधना', 'मणि पाणि', 'लब्धमब्धौ' । एक तो अनुष्टुप्-छन्द, दूसरे दर्शन का ग्रंथ—उसमें इतने चमत्कारी शब्दों की योजना !

(२४. प्रपंच की सत्यता का खण्डन—सत्य की निवृत्ति नहीं)

यदुक्तं—'सत्यस्यापि दुरितस्य सेतुदर्शनेन निवृत्तिरुपलभ्यत इति'—तदयुक्तम् । विहितक्रियानुष्ठानेन जनितस्य धर्मस्याधर्मनिवर्तकत्वध्रौव्यात् । 'धर्मेण पापमपनुदन्ति' (म० ना० २२।१) इति श्रुतेः । प्रमाणवस्तुपरतन्त्रशालिन्या दर्शनक्रियायाश्चोदितपुरुषप्रयत्नतन्त्रत्वाभावेन विधानासंभवात् ।

पूर्वपक्षियों ने जो कहा है कि सचमुच के (Real) पाप का नाश सेतु (रामेश्वर-पुल) के देखने से हो जाता है, वह संगत नहीं है । विहित क्रियाओं

के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाला धर्म अधर्म की निवृत्ति करता है—यह बिल्कुल निश्चित (ध्रुव) है। इसकी पुष्टि के लिए श्रुति-प्रमाण भी है—'धर्म से पाप का नाश करते हैं' (महानारायण० २२।१)। [इससे यह निष्कर्ष निकला कि पाप का नाशक धर्म है, ज्ञान नहीं। अब दिखाते हैं कि दर्शन-क्रिया विहित है या नहीं ?] दर्शन-क्रिया प्रमाण और विषय के अधीन रहती है, प्रेरित पुरुष के प्रयत्नों के अधीन वह नहीं रहती; इसलिए उसका विधान किया जाना असंभव है।

विशेष—यज्ञादि कर्म मुख्यतः मनुष्यों के प्रयत्नों पर निर्भर करते हैं, इसीलिए उनका विधान करना संभव है। ज्ञान प्रमाणों और विषयों पर निर्भर करता है, अतः उसे विहित नहीं किया जा सकता। इसीलिए उक्त श्लोकार्ध (सेतुं दृष्ट्वा प्रमुच्येत०) सेतु-दर्शन की विधि नहीं है प्रत्युत उसमें सेतुस्नान की प्रशंसा की गई है—उसके लिखने का यही अभिप्राय है।

ब्रह्महत्यां प्रमुच्येत तस्मिन्स्नात्वा महोदधौ।

इत्यादिस्मृतिविहित ब्रह्मचर्याङ्गसहित-दूरतरदेशगमनसाध्य-ब्रह्महननिवृत्तिफलक-सेतुस्नानप्रशंसार्थत्वात्। यस्य हि दर्शन-मात्रेणैव दुरितोपशमः किमुत स्नानेन ? अन्यथा दूरगमनानर्थक्यं प्रसजेत्। तत्र खरादीनामप्यनर्थनिवृत्तिरापतेत्। अन्धस्य न स्याच्च।

'उस स्थान पर समुद्र में स्नान करने से व्यक्ति ब्रह्महत्या से छूट जाता है'—इस प्रकार स्मृतियों में विहित, ब्रह्मचर्य रूपी अंग के साथ अधिक दूरस्थ देश में जाने से संपन्न होनेवाले सेतु स्नान की प्रशंसा की गई है जिस (सेतु स्नान) से ब्रह्महत्या की निवृत्ति के रूप में फल मिलता है। जिसे केवल देखने से ही पापों का शमन होता है, स्नान की तो बात ही क्या ? यदि ऐसा नहीं होता तो दूर जाने का परिश्रम व्यर्थ हो जाता। दूसरे [सेतु के पास रहनेवाले] गधे आदि जानवरों के अनर्थों की भी निवृत्ति हो जाती। [वे तो आसानी से सेतु देख सकते हैं, स्नान भी कर सकते हैं। फल तो उसे ही मिलता है जो दूर से श्रद्धापूर्वक, कष्ट सहते हुए तीर्थयात्रा करके वहाँ पहुँचता है।] अन्त में यह भी आपत्ति होगी कि अन्धों को तो उक्त फल नहीं मिलेगा [क्योंकि उन्हें आँख ही नहीं कि दर्शन कर सकें।]

ननु—

५६. अग्निचित्कपिला राजा सती भिक्षुर्महोदधिः।

दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः ॥

इति क्वचिद्दर्शनक्रियाया अपि विधानं दरीदृश्यत इति चेत्-मैवं वोचः। तत्राप्यनयैवानुपपत्त्या अग्निचिदाद्यर्घपरिचर्यादावेव तात्पर्यावधारणात्।

शंका—निम्नलिखित वाक्य में तो दर्शन-क्रिया का भी विधान देखते हैं—'अग्नि का चयन करने वाला यजमान, कपिला गौ, राजा, सती स्त्री, भिक्षुक (परमहंस) और महासागर, ये दिखलाई पड़ते ही पवित्र कर देते हैं। अतः इन्हें प्रतिदिन देखना चाहिए ॥ ५६ ॥' [इसका अभिप्राय है कि कहीं-कहीं दर्शन-क्रिया का भी विधान होता है।]

समाधान—ऐसा मत कहो। वहाँ पर भी इसी तरह की असिद्धि दिखाकर अग्निचेता (यजमान) आदि योग्य पदार्थों की परिचर्या करने का ही तात्पर्य निरूपित किया जाता है।

यच्चोक्तं विषयदोषदर्शनात् रागो दन्दह्यत इति। तत्र विषयदोषदर्शनेन विरोधभूतानभिरतिसंज्ञकवैराग्यैकप्रादुर्भावाद्रागनिवृत्तौ तददर्शनमात्रमिति न व्यभिचारः।

यदपि तार्क्ष्यध्यानादिना विषादि सत्यं विनश्यतीति। तन्न श्लिष्यते। तत्रापि मन्त्रप्रयोगादिक्रियाया एव विषाद्यपनोदकत्वात्। ध्यानस्य प्रमात्वाभावाच्च।

ऊपर पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि विषयों में दोष देख लेने पर राग नष्ट हो जाते हैं, वहाँ तात्पर्य यह है कि विषयों में दोष देख लेने से उनके (विषयों के) विरोधी एक ऐसे वैराग्य की उत्पत्ति होती है जिसका नाम **अनभिरति** (Detachment) है। उसके बाद राग की निवृत्ति हो जाती है, अतः व्यभिचार का प्रश्न ही नहीं उठना क्योंकि वास्तव में राग केवल दृष्टिगोचर नहीं होता है, [और कोई बात नहीं है।]

उन लोगों ने फिर कहा है कि तार्क्ष्य (गरुड़) के ध्यान आदि से सचमुच का विष उतर जाता है। यह बात ठीक नहीं जँचती। यहाँ भी मंत्र-प्रयोग आदि क्रियायें ही विष का हरण करती हैं। दूसरी बात यह है कि ध्यान यथार्थ अनुभव का रूप ले नहीं सकता। [पूर्वपक्षियों का कहना है कि ज्ञान-विशेष जो यथार्थ अनुभव के रूप में है वही सत्य वस्तु का विनाशक है। अब उसमें गरुड़

के ध्यान से विषनाश का उदाहरण देना युक्तिसंगत नहीं है। ध्यान का अर्थ है अविच्छिन्न स्मृति का प्रवाह। उसमें अनुभव तो है नहीं, यथार्थ अनुभव तो दूर की बात है।]

यद्वादि—औपाधिकस्य जीवभावस्योपाधिनिवृत्त्यानिवृत्तौ ब्रह्मभावोपपत्तेर्न तदर्थमर्थवैतथ्यकथनमिति। तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। किमुपाधेः सत्यत्वमभिप्रेत्य मिथ्यात्वं वा ? न प्रथमः। प्रमाणाभावात्। नापरः। इष्टापत्तेः। तस्मादाविद्यको भेद इति श्रुतावद्वितीयत्वोपपत्तयेऽभिधीयते, न तु व्यसनितया।

पूर्वपक्षी ने यह भी कहा था कि जीवत्व उपाधि-युक्त है, जब उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है तो उस निवृत्ति के बाद ब्रह्मत्व की सिद्धि हो ही जायगी। उसके लिए (ब्रह्मत्व-सिद्धि के लिए) अर्थों (ज्ञातृत्वादि प्रपंच, Objects) को मिथ्या बनाने की क्या आवश्यकता है ?

यह शंका भी [डूबते हुए व्यक्ति की] काश या कुश-घास के सहारे पार हो जाने की आशा मात्र ही है। कारण यह है कि निम्नलिखित विकल्पों को यह सह नहीं सकता। क्या उपाधियों को सत्य मानते हुए आप युक्ति दे रहे हैं या मिथ्या मानते हुए ? उपाधियों को सत्य मानकर युक्ति नहीं दे सकते क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण ही नहीं है। उन्हें मिथ्या मानकर भी नहीं चल सकते क्योंकि उसमें तो हमारे पक्ष की पुष्टि होगी।

इसलिए हमलोग जो भेद को अविद्या-कल्पित मान रहे हैं वह इसलिए कि श्रुति (सदेव……एकमेवाद्वितीयम्, छां० ६।२।१) में प्रतिपादित अद्वैत-तत्त्व की सिद्धि हो। यह न समझिये कि हमलोगों को [अद्वैत-वाद का] व्यसन (धुन, Prejudice) लगा हुआ है।

(२५. आत्मज्ञान से अविद्या-नाश—राजपुत्र का दृष्टान्त)

यदि वस्तुतः सर्वोपद्रवरहितमात्मतत्त्वं तर्हि कथंकारं देहादिरूपं कारागारं कारंकारं पुनः पुनस्तत्र प्रविशति। तदतिफल्गु। अविद्याया अनादित्वेन दत्तोत्तरत्वात्। अतो निवृत्त्युपाय एवान्वेषणीयः प्रेक्षावता। न तु विस्मयः कर्तव्यः। ततश्च तत्त्वमस्यादिविद्यया तदविद्यानिवृत्तौ निरतिशयानन्दात्मलाभरूपपरम-

पुरुषार्थः सेत्स्यति । तथा चापस्तम्बस्मृतिः—आत्मलाभान्न परं विद्यत इति ।

शङ्का—यदि आत्म-तत्त्व वास्तव में सभी उपद्रवों से रहित है तो वह किसलिए शरीरादि के रूप में कारागार की उत्पत्ति बार-बार करके उसमें प्रवेश करता रहता है ?

उत्तर—यह पूछना बिल्कुल व्यर्थ है। जिस समय हमने अविद्या को अनादि मान लिया उसी क्षण इसका उत्तर दे दिया गया। अब आपको [शङ्काओं के फेरे में न पड़ कर] उस अविद्या की निवृत्ति का मार्ग खोजना चाहिए, आप बुद्धिमान् न हैं ? विस्मय (व्यर्थ की शंका, आश्चर्य) नहीं करना चाहिए।*

तो 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) आदि के ज्ञान (विद्या) से उक्त अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर निरतिशय (Most exalted) आनन्द (Bliss) से युक्त आत्म-साक्षात्कार (Self-realisation) के रूप में परम पुरुषार्थ (Summum bonum) की सिद्धि हो जायगी। इसे आपस्तम्ब-स्मृति में कहा गया है—आत्म-लाभ (साक्षात्कार, आत्मा और ब्रह्म की एकता) से बढ़कर कोई वस्तु नहीं।

नन्वसौ नित्यलब्धः। न हि स्वयमेव स्वस्यालब्धो भवति। सत्यम्। किं त्वनादिमायासंबन्धात्क्षीरोदकवत्समुदाचारवृत्तितां न लभते। तथा च यथा शबरादिभिर्बाल्यात्स्वसुतैः सह वर्धितो राजपुत्रस्तज्जातीयमात्मानमवगच्छन्बन्धुभिर्य एवंभूतो राजा स त्वमसीति बोधिते स्वरूपे लब्धस्वरूप इव भवति तथा वेश्यास्थानीययाऽनाद्यविद्यया स्वभावान्तरं नीत आत्मा मातृस्थानीयया तत्त्वमसीत्यादिकया श्रुत्या स्वभावं नीयते।

शंका—वह आत्मा तो नित्यरूप से (Eternally) लब्ध ही है। [आप 'आत्मलाभ होने पर' क्यों कहते हैं ?] कोई चीज अपने-आप अपने ही लिए अलभ्य नहीं होती (= आत्मा के लिए ही आत्मा क्या दुर्लभ है ? वह तो आत्मा ही है)। **समाधान**—सच कहते हो लेकिन वह (आत्मा) अनादि माया के संबंध से दूध और पानी के समान इस तरह घुली-मिली है कि दोनों

* तुलनीय—बौद्ध-दर्शन, पृ० ८९।

की स्पष्ट वृत्तियों (रूपों) की प्रतीति होती ही नहीं। [बुद्धि-आदि माया के कार्य हैं किन्तु आत्मा उन्हें अपना समझती है, उनसे पृथक् होकर अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं करती। उधर माया की प्रतीति भी माया के रूप में नहीं होती।]

उसी प्रकार, जैसे शबर-आदि [जंगली जातियों] ने जिस राजकुमार को अपने बच्चों के साथ बचपन से ही पाला-पोसा है, वह राजकुमार अपने को भी उसी जाति का समझने लगता है। किन्तु जब उसके साथ उसे बोध कराते हैं कि जो इस तरह के [लक्षण] राजा में हैं वह तुम ही हो (= राजा के लक्षणों से युक्त तुम राजकुमार हो), तो अपने रूप (Status) का बोध हो जाने से वह वस्तुस्थिति समझ जाता है (अपने रूप को पा लेता है)। उसी तरह वेश्या-स्वरूप अनादि अविद्या के द्वारा जो आत्मा दूसरे स्वभाव में ले जाई गई है वह (आत्मा) माता के तुल्य 'तत्त्वमसि' आदि श्रुति के द्वारा फिर से अपने स्वभाव में पहुँचा दी जाती है।

एतदाहुस्त्रैविद्यवृद्धाः—

५७. नीचानां वसतौ तदीयतनयैः सार्धं चिरं वर्धित—
स्तज्जातीयमवैति राजतनयः स्वात्मानमप्यञ्जसा।
संवादे महादादिभिः सह वसँस्तद्वद्भवेत्पूरुषः
स्वात्मानं सुखदुःखजालकलितं मिथ्यैव धिङ्मन्यते ॥

इसे तीनों वेदों के ज्ञान में पारंगत लोगों ने कहा है—नीचों के निवास-स्थान में, उन्हीं के पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक पाला-पोसा गया राजकुमार (Prince) अपने को भी बहुत शीघ्रता से उन्हीं की जाति वाला व्यक्ति समझता है। उसी तरह लोगों की बोल-चाल में (in common parlance), महत्-आदि तत्त्वों के साथ रहने वाला पुरुष (जीवात्मा) अपने को सुख-दुःख के समूह से घिरा हुआ मानता है, ऐसा कहते हैं। धिक्कार ! वह तो मिथ्या है ॥ ५७ ॥ [इसमें अविद्या का निरूपण किया गया है।]

५८. दाता भोगकरः समग्रविभवो यः शासिता दुष्कृतां।
राजा स त्वमसीति रक्षितृमुखाच्छ्रुत्वा यथावत्स तु।
राजीभूय जयार्थमेव यतते तद्वत्पुमान्बोधितः
श्रुत्या तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव संपद्यते ॥

आत्मसाक्षात्कार—'जो राजा दानी, भोग करनेवाला, सभी संपत्तियों से युक्त तथा दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देनेवाला होता है वह तुम ही हो' इस प्रकार अपने रक्षक के मुख से यथार्थ बातें सुनकर वह (राजकुमार) राजा बनकर विजय के लिए प्रयत्न करता है; ठीक इसी तरह वह पुरुष (जीवात्मा) भी 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) आदि श्रुति के द्वारा अपने मिथ्याभाव (दुरित) को त्याग का ब्रह्म ही बन जाता है ॥ ५८ ॥

एतेनैतत्प्रत्युक्तं यदुक्तं परैः—'किं द्वयोस्तादात्म्यमेकस्य वा ? नाद्यः। अद्वैतभङ्गप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। असंभवात्' इति। तत्र। अविद्यापरिकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वेन तत्त्वमस्यादि-तादात्म्यवादप्रामाण्योपपत्तेः। तौ च पर्यनुयोगपरिहारावग्राहिपातां मनीषिभिः।

५९. न द्वयोरस्ति तादात्म्यं न चैकस्याद्वयत्वतः।
अप्रामाण्यं श्रुतेरेवं नारोपध्वंसमात्रतः॥ इति।

इसी तर्क के द्वारा इसका उत्तर भी हो गया, जो विरोधियों ने ऐसी शंका की है—'[आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य कहने से आप क्या समझते हैं ?] दो पदार्थों का तादात्म्य (Identity) या एक ही पदार्थ का ? दो पदार्थों का तादात्म्य नहीं मान सकते क्योंकि ['दो' कहने से—भले ही वह एकाकार ही क्यों न हो जाय] अद्वैत-सिद्धान्त का ही खंडन हो जायगा। दूसरी ओर एक वस्तु का तादात्म्य हो ही नहीं सकता।'

समाधान—ऐसी बात नहीं है। अविद्या के द्वारा कल्पित भेद की निवृत्ति हो जाने का सिद्धान्त मानने से, 'तत्त्वमसि' आदि के द्वारा तादात्म्य-शब्द की सिद्धि हो सकती है।

विद्वानों ने उक्त पर्यनुयोग (प्रश्न, Query) तथा परिहार (Excuse), दोनों का वर्णन किया है—'अद्वय-तत्त्व होने के कारण न तो दो में ही तादात्म्य हो सकता और न एक में ही। केवल आरोप और उसके ध्वंस से श्रुति को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता ॥ ५९ ॥'

(२६. प्रथम सूत्र का उपसंहार और अनुबन्ध)

ततश्च तत्त्वमसीति तत्त्वंपदार्थश्रवणमननभावनाबलभुवा

साक्षात्कारेणानाद्यविद्यानिवृत्तौ सच्चिदानन्दैकरसब्रह्माविर्भावः संपत्स्यत इति ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं प्रथमसूत्रोक्तं युक्तम् ।

६०. अज्ञातं विषयो ब्रह्म ज्ञातं तच्च प्रयोजनम् ।
मुमुक्षुरधिकारी स्यात्संबन्धः शक्तितः श्रुतेः ॥ इति ।

उसके बाद, 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् (ब्रह्म) और त्वम् (जीवात्मा) पदों से अर्थ का श्रवण, मनन और भावना (Meditaton) के कारण सुप्रतिष्ठित साक्षात्कार से, अनादि काल से चली आनेवाली अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। तब एकमात्र सत् (Truth), चित् (Consciousness) और आनन्द (Bliss) के द्वारा आस्वादित ब्रह्म का आविर्भाव (साक्षात्कार) संपन्न हो जायगा—इस प्रथम सूत्र में जो ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय माना गया है, वह युक्तियुक्त है।

अनुबन्ध—'जिज्ञासा का **विषय** ब्रह्म अज्ञात है उसे ज्ञात करना है, यही **प्रयोजन** है। मोक्ष की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति **अधिकारी** है और श्रुति की [पदार्थबोधिका] शक्ति से **संबन्ध** है ॥ ६० ॥'

(२९ क. चतुस्सूत्री के अन्य सूत्र—स्वरूप और तटस्थ लक्षण)

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति द्वितीयसूत्रे ब्रह्म स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणाभ्यां न्यरूपि । तत्र स्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादिवेदान्तैः प्रतिपादितम् । तस्य सत्यज्ञानाद्यात्मकस्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकत्वात् । तटस्थलक्षणं 'यतो वा इमानि (तै० २।१) इत्यादीनि वाक्यानि निरूपयन्ति जगज्जन्मादिकारणत्वेन । तदुक्तं विवरणे—

६१. जगज्जन्मस्थितिध्वंसा यतः सिध्यन्ति कारणात् ।
तत्स्वरूपतटस्थाभ्यां लक्षणाभ्यां प्रदर्श्यते ॥ इति ।

'जिससे इस (संसार) के जन्मादि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) इस दूसरे सूत्र में स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण के द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया गया है।

स्वरूप के अन्तर्गत रह कर जो [लक्षण किसी वस्तु को दूसरी वस्तुओं से] अलग करता है वह स्वरूपलक्षण (Actual Definition) है

जिसका प्रतिपादन निम्नलिखित उपनिषद्-वाक्यों में हुआ है—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' (तै० २।१।१)। यह लक्षण ब्रह्म को सत्य, ज्ञान आदि के रूप में स्वरूप के अन्दर ही रखता है तथा दूसरों से पृथक् करता है। **तटस्थ-लक्षण** (External Definition) का निरूपण 'यतो वा इमानि' (जिससे ये सारे पदार्थ उत्पन्न हुए) आदि वाक्य करते हैं कि यह ब्रह्म संसार का कारण है। इसे विवरण में [द्वितीय सूत्र के आरंभ में ही] कहा गया है—'जिस कारणस्वरूप ब्रह्म से जगत् का जन्म, स्थिति और ध्वंस, ये सिद्ध होते हैं उसका प्रदर्शन स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण के द्वारा किया जाता है।'

विशेष—स्वरूपलक्षण से वस्तु के स्वरूप का पता लगता है जब कि तटस्थलक्षण लक्ष्य वस्तु से बाहर रहता है। दोनों लक्षण व्यावृत्ति करते हैं, पदार्थ के व्यवहार के प्रवर्तक होते हैं। चन्द्रमा में प्रकाश होना स्वरूपलक्षण है, उसे उससे पृथक् नहीं कर सकते। राम का तिलक लगाना, मुकुट पहरना आदि तटस्थलक्षण है क्योंकि यद्यपि यह दृश्य कभी-कभी ही होता है किन्तु इसके द्वारा राम को दूसरे व्यक्तियों से पृथक् तो किया जा सकता है? नाटक में नट जो भीम की भूमिका (role) में उतरता है तो भीम बनना उसका तटस्थलक्षण है क्योंकि यद्यपि इसके द्वारा उसे दूसरे पात्रों से पृथक् किया जाता है, परन्तु यह उसका स्वरूप तो है नहीं। नट के रूप में उसे पहचानना स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म में इन लक्षणों के निरूपण में यह ध्यान रखना है कि किस प्रकार के ब्रह्म का लक्षण कर रहे हैं। शुद्ध ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है—सत्य, ज्ञान और आनंद। जगत् के जन्मादि का कारण होना शुद्ध ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण है क्योंकि ब्रह्म माया से विशिष्ट होने पर ही यह काम करता है। माया-विशिष्ट ब्रह्म के लिए यह तटस्थलक्षण नहीं, स्वरूपलक्षण हो जाता है।

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति तृतीयसूत्रे प्रथमवर्णकेन षष्ठीसमासमाश्रित्य सर्वज्ञत्वं प्रत्यपादि। द्वितीयवर्णकेन बहुव्रीहिसमासमभ्युपगम्य ब्रह्मणो वेदान्तप्रमाणत्वं प्रत्यज्ञायि।

'शास्त्र का मूल या शास्त्रमूलक होने के कारण [ब्रह्म सर्वज्ञ है]'—इस तृतीय सूत्र में पहली रीति से तो [शंकराचार्य ने] षष्ठी तत्पुरुष समास लेकर (= शास्त्र का मूल, वेदों का उत्पादक) ब्रह्म के सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन किया है। दूसरी रीति से बहुव्रीहि समास लेकर (= शास्त्र या वेद ही जिसका प्रमाण या योनि है) ब्रह्म को उपनिषद् के प्रमाणों से ही ज्ञेय माना है।

'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इति चतुर्थे सूत्रे प्रथमवर्णकेन वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यं प्रत्यपादि। द्वितीयवर्णकेन वेदान्तानां प्रतिपत्तिविधिशेषतया ब्रह्मप्रतिपादकत्वं प्रत्यक्षेऽपि। दिङ्मात्रमत्र प्रदर्शितम्। शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति सकलं समञ्जसम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सकलदर्शनशिरोऽलंकाररत्नं श्रीमच्छांकरदर्शनं समाप्तम् ॥



'उस (शास्त्र) का तो तात्पर्य समन्वय (Reconciliation) से लगता है'—इस चौथे सूत्र में प्रथम रीति से उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में है, यह प्रतिपादित हुआ है। दूसरी रीति से यह दिखाया गया है कि उपनिषद्-वाक्य ज्ञान-विधि के अवशिष्ट भाग के रूप में (=उपासना आदि विधियों के विषय के रूप में नहीं, मुख्य रूप से) प्रत्यक्ष में भी ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ तो हमने केवल दिशा-निर्देश किया है। अवशिष्ट भाग शास्त्र में ही स्पष्ट हो चुका है, तो सब कुछ ठीक है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में सभी दर्शनों के सिर पर विराजमान अलंकार-रत्न श्रीशांकर-दर्शन समाप्त हुआ।

यह सर्वदर्शनसंग्रह भी समाप्त हो गया।

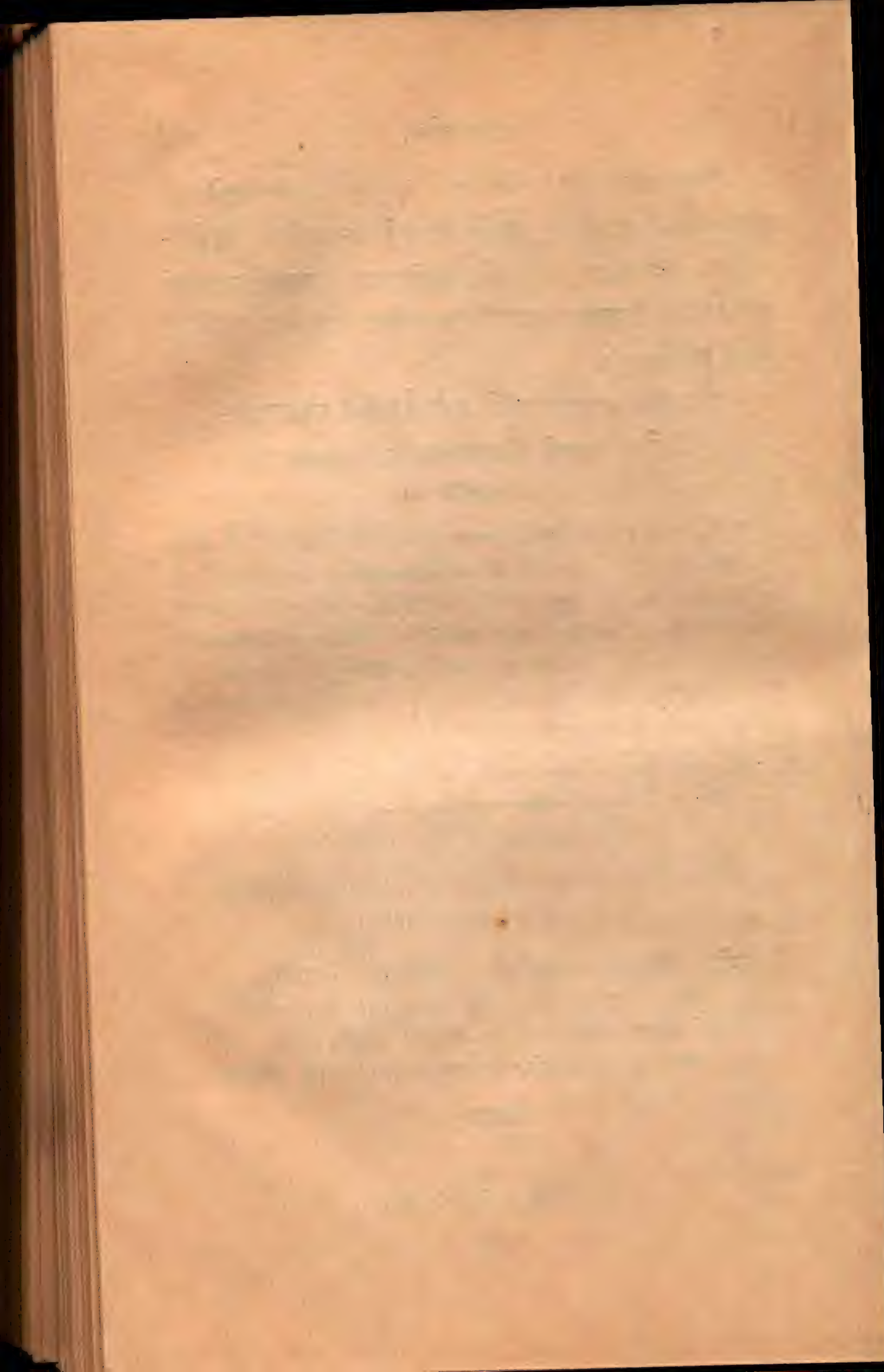
॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां शांकरदर्शनमवसितम् ॥

रम्ये चन्द्रकराभ्रपक्षसुमिते श्रीवैक्रमे वत्सरे
वैशाखे धवले दले निशि मयाष्टम्यां दिने मङ्गले।
काश्यां दर्शनसंग्रहस्य विहिता व्याख्या समाप्तिं श्रिता
प्रीत्यै सास्तु शिवस्य दिव्यवपुषो दीनात्मनीना कृतिः ॥

॥ श्रीरस्तु ॥

समाप्तोऽयं सर्वदर्शनसंग्रहः।





परिशिष्ट—१

प्रमुख दर्शन-ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
अकाण्डताण्डव (परिभाषेन्दु-शेखर की वृत्ति)	हरिनाथ द्विवेदी	व्याकरण	१७८० ई०
अकुतोभया (माध्यमिक-कारिका की वृत्ति)	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१५०
अजडप्रमातृसिद्धि	उत्पलाचार्य	प्रत्यभिज्ञा	९१०
अद्वैतचन्द्रिका (भेदधि-क्कार की टीका	नृसिंह दीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१६००
अद्वैतचिन्तामणि	रङ्गोजीभट्ट	"	१६२५
अद्वैतदीपिका	नृसिंहाश्रम	"	१५५०
अद्वैतदीपिकाविवरण	नारायणाश्रम	"	१५६०
"	सदानन्द	"	"
अद्वैतनिर्णयसंग्रह	रामचन्द्र	"	१५६५
अद्वैतप्रकाश	"	"	"
अद्वैतब्रह्मसिद्धि	सदानन्द	"	१५६०
अद्वैतमकरन्द	लक्ष्मीधर	"	१३२०
अद्वैतमकरन्द की टीका	पूर्णानन्दतीर्थ	"	—
अद्वैतरत्न	लक्ष्मणाराध्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
अद्वैतरत्नदीपिका (अद्वैतरत्न की टीका)	अग्निहोत्रभट्ट	"	—
अद्वैतरत्नरक्षण	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०
अद्वैतरहस्य	रामचन्द्र	"	१५६५
अद्वैतसिद्धि	मधुसूदनसरस्वती	"	१५६०
अद्वैतसिद्धिटीका	विट्ठलेश उपाध्याय	"	१८००
अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार (अद्वैतसिद्धितात्पर्य)	सदानन्द व्यास	"	—
अद्वैतानुभूति	गोविन्दपाद	"	७५०
अद्वैतामृतवर्षिणी	सदाशिवानन्दसरस्वती	"	—
अद्वैतामोद	वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर	"	१९२०
अध्यात्मकल्पद्रुम	मुनिसुन्दर	मीमांसा	१४२५
अध्यात्मवचन	—	द्वैतवेदान्त	—
अनुभवदीपिका (अपरोक्षा-नुभव की टीका)	चण्डेश्वर	अद्वैतवेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
अनुभूतिप्रकाश	माधवाचार्य	अद्वैतवेदान्त	१३५०
अन्वयार्थप्रकाशिका (संक्षेप-शारीरक की टीका)	रामतीर्थ	"	१६२५
अपरोक्षानुभव	शंकराचार्य	"	८००
अपरोक्षानुभव की टीका	नित्यानन्दानुचर	"	—
अपरोक्षानुभूति	माधवाचार्य	"	१३५४
अभिधर्मपिटक	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
अभिधर्मकोश की टीका	वसुमित्र	"	—
"	गुणमित्र (गुणमति)	"	—
अभिधर्मकोशव्याख्या	यशोमित्र	"	—
अभिधर्ममहाविभाषाशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान की टीका)	अश्वघोष	"	१२०
अभिनवचन्द्रिका (तत्त्वप्रकाशिका की टीका)	सत्यनाथयति	द्वैतवेदान्त	१८००
अभिनवतर्कताण्डव	"	"	"
अभिनवामृत (प्रमाणपद्धति की टीका)	"	"	"
अभेदाखण्ड चन्द्रमा	आत्मदेवपञ्चानन	अद्वैतवेदान्त	१७२०
अमृतसृति (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	वारणावतेश	व्याकरण	—
अम्बाकर्त्री (परिभाषेन्दुशेखर की टीका	—	"	१८००
" " (वाक्यपदीय की टीका)	रघुनाथशास्त्री	"	१९६०
अर्थदीपिका (वेदान्तपरिभाषा की टीका)	शिवदत्त	अद्वैतवाद	१८१०
अर्थशालिनी (धर्मसंग्रहणी की टीका)	बुद्धघोष	बौद्ध-दर्शन	४००
अर्थसंग्रह	लौगाक्षिभास्कर	मीमांसा	१६४०
अर्थसंग्रह की टीका	अर्जुनमिश्र	"	१६७०
"	शिवयोगी	"	१६७५
अवदानकल्पलता	क्षेमेन्द्र	बौद्ध-दर्शन	१०८०
अवदानशतक	नन्दीश्वर	"	१७०
अष्टशती (आप्तमीमांसा की टीका)	अकलङ्कदेव	जैन-दर्शन	७५०
अष्टसाहस्री (प्रज्ञापारमिता की टीका)	—	बौद्ध-दर्शन	—
अष्टसाहस्री (आप्तमीमांसालंकार)	विद्यानन्द	जैन-दर्शन	८००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
अहिर्बुध्न्यसंहिता	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
आगमप्रामाण्य	यामुनाचार्य	"	१०४०
आग्नेय	महावीर	द्वैतवेदान्त	ई० पू० ५००
आचाराङ्गसूत्र	—	जैन-दर्शन	—
आचाराङ्गसूत्र की टीका	शीलाङ्क	"	९६०
आत्मतत्त्वविवेक	उदयन	न्याय-दर्शन	९८४
आत्मतत्त्वविवेक की टीका	मथुरानाथ	"	१५८०
"	वर्धमान	"	१२२५
"	हरिदासमिश्र	"	१५९०
आत्मबोध	शंकराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८००
आत्मानुशासन	गुणभद्र	जैन-दर्शन	९००
आत्मानुशासन की टीका	प्रभाचन्द्र	"	१३००
आदर्श	आदर्शकार	पाशुपत-दर्शन	—
आदर्श (महाभाष्य की टीका)	लक्ष्मणसूरि	व्याकरण	—
आप्तपरीक्षा (आप्तमीमांसा की टीका)	विद्यानन्दि	जैन-दर्शन	८००
आप्तमीमांसा	समन्तभद्र	"	६००
आप्तमीमांसालंकार	विद्यानन्दि	"	८००
आप्तमीमांसावृत्ति	वसुनन्दी	"	—
आरम्भसिद्धि	उदयप्रभदेव	"	—
आलम्बनपरीक्षा (सटीक)	दिङ्नाग	बौद्ध-दर्शन	४८४
आलोक (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	कमलाकर	मीमांसा	१५९०
आवश्यकसूत्र	महावीरस्वामी	जैन-दर्शन	ई० पू० ५००
आवश्यकसूत्र की टीका	तिलकाचार्य	"	१२४०
इन्द्रद्युम्नश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
ईशावास्यदीपिका	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
ईशावास्यभाष्य	उव्वट, आनन्दभट्ट	"	—
"	अनन्ताचार्य, नारायण	"	—
ईशावास्यरहस्य	ब्रह्मानन्दसरस्वती	"	—
"	रामचन्द्र	"	—
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाहृदय	क्षेमराज	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	१०२५
ईश्वरसिद्धि	उत्पलाचार्य	"	९१०
उज्ज्वला (तर्कभाष्य की टीका)	गोपीनाथमुनि	न्याय-दर्शन	—
उत्तरतन्त्र	असङ्ग	बौद्ध-दर्शन	३२०
उत्तराध्ययनसूत्र	—	जैन-दर्शन	—
उद्दालकश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
उद्द्योत (महाभाष्य-प्रदीप की टीका)	नागेश	व्याकरण	१७१४
उद्द्योत (कौस्तुभ की व्याख्या)	बालम्भट्ट	"	१७५०
उपक्रमपराक्रम (भेदधिक्कार की टीका)	अप्पयदीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१६६०
उपदेशचिन्तामणि	जयशेखर	जैन-दर्शन	१५००
उपदेशसाहस्री	शङ्कराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८००
उपदेशसाहस्री की टीका	आनन्दराम	"	—
"	रामतीर्थ	"	—
उपनिषद्भाष्य	शङ्कराचार्य	"	८१०
उपनिषद्भाष्य की टीका	आनन्दगिरि	"	८२५
उपनिषद्भाष्य	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
उपनिषद्भाष्यविवरण	व्यासतीर्थ	"	१२६०
उपनिषद्भाष्य	रङ्गरामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
उपनिषद्वृत्ति	कूरनारायण	"	१३८०
उपनिषद्व्याख्या	राघवेन्द्रयति	द्वैतवेदान्त	—
उपन्यास (श्रीभाष्य की टीका)	चण्डमारुतमहाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१४१०
उपस्कार (कणादसूत्र की वृत्ति)	शंकरमिश्र	वैशेषिक	१४२५
उपाधिखण्डन	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
उपासनाध्ययन	समन्तभद्र	जैन-दर्शन	६००
उपासनाध्ययन की टीका	प्रभाचन्द्र	जैन-दर्शन	८२५
ऋग्भाष्य	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
ऋजुविमला (बृहती की व्याख्या	शालिकनाथ	मीमांसा	७९०
कणादरहस्य (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	शंकरमिश्र	वैशेषिक	१४२५
कणादसूत्र	कणाद	"	—
कणादसूत्रभाष्य	प्रशस्तपाद	वैशेषिक	४५०
कणादसूत्र की वृत्ति	नागेश	"	१७१४
"	चन्द्रकान्त	"	१८८०
"	जयनारायण	"	—
"	भरद्वाज	"	—
कथालक्षण	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
कमठश्रुति	—	"	—
करणागम	मृगेन्द्र	शैव-दर्शन	—
कर्पूरवार्तिक (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	सोमेश्वर	मीमांसा	१५००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
कर्मनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
कला (लघुमञ्जूषा की टीका)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
कल्पतरु (भामती की टीका)	अमलानन्द	अद्वैतवेदान्त	१२५०
कल्पलता (प्रौढमनोरमाव्याख्या)	कृष्णमिश्र	व्याकरण	—
कल्पसूत्र	भद्रबाहु	जैन-दर्शन	२०० ई० पू०
कल्पसूत्र की टीका (सुबोधिनी)	—	"	—
" (कल्पावलोकिनी)	—	"	—
कामधेनु	बोपदेव	व्याकरण	११९०
कामिकागम	मृगेन्द्र	शैव-दर्शन	—
कालाग्निरुद्रोपनिषद्	—	"	—
कालोत्तरोपनिषद्	—	"	—
काशिका (श्लोकवार्तिक की व्याख्या)	सुचरित मिश्र	मीमांसा	१६७०
काशिका (पाणिनिसूत्र की वृत्ति)	जयादित्य और वामन	व्याकरण	८७०
काशिकावृत्तिसार	वासुदेव	"	—
कापायणश्रुति	वासुदेव	द्वैतवेदान्त	—
किरणप्रकाश (वाक्यपदीय की व्याख्या)	हेलाराज	व्याकरण	—
किरणागम	मृगेन्द्र	शैव-दर्शन	—
किरणावली (कणादसूत्र भाष्य टीका)	उदयन	वैशेषिक	९८४
किरणावलीप्रकाश	वर्धमान	"	११५०
किरणावलीभास्कर	पद्मनाभ	"	—
कुङ्कुमविकाश (न्यास की व्याख्या)	शिवभट्ट	व्याकरण	—
कुञ्चिका (लघुमञ्जूषा की टीका)	कृष्णमिश्र	"	१७५०
कुसुमाञ्जलि (सूत्र की वृत्ति)	गागाभट्ट	मीमांसा	१५५०
कूर्मपुराण (पूर्वार्ध ५३)	—	पाशुपत-दर्शन	—
कृष्णामृतमहार्णव	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
कृष्णामृतमहार्णव की टीका	व्यासतीर्थ	"	१२६०
कृष्णालङ्कार (सिद्धान्तलेश की टीका)	अच्युतकृष्णानंदतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१६९०
कैयटप्रकाश (भाष्यप्रदीप की टीका)	नीलकण्ठ	व्याकरण	१६४०
कैवल्यदीपिका (मुक्ताफल की टीका)	हेमाद्रि	अद्वैतवेदान्त	१२७०
कैवल्योपनिषद्दीपिका	शंकरानन्द	"	१३२५
कौठरव्यश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
कौमुदी (तर्कभाषा की टीका)	दिनकर	न्याय-दर्शन	—
कौर्म	—	द्वैतवेदान्त	—
कौशिकश्रुति	—	"	—
कौषीरवश्रुति	—	"	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
क्रियासार (ब्रह्मसूत्रभाष्यतात्पर्य)	नीलकण्ठ	शैवदर्शन	१६५०
खण्डनखण्डखाद्य	श्रीहर्ष	अद्वैतवेदान्त	११९०
खण्डनखण्डखाद्य की टीका	चित्सुख	”	१२२५
”	रघुनाथ	”	—
”	शंकर मिश्र	”	—
गणकारिका	हरदत्त	पाशुपत	—
गणपाठ	पाणिनि	व्याकरण	५०० ई० पू०
गणरत्नमहोदधि (गणपाठ टीका)	वर्धमान	”	११४०
गण्डव्यूह	—	बौद्धदर्शन	—
गदा (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
गदाधरी (तत्त्वदीधिति की टीका)	गदाधर	न्याय-दर्शन	१५६०
गन्धहस्तिमहाभाष्य (तत्त्वार्थसूत्र की टीका)	समन्तभद्र	जैन-दर्शन	६००
गाथाषष्टिसहस्र	पञ्चशिखाचार्य	सांख्य-दर्शन	—
गारुड	—	द्वैतवेदान्त	—
गीता टीका	अभिनवगुप्त	अद्वैतवेदान्त	१०००
”	रामकण्ठ	प्रत्यभिज्ञा	९५०
”	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
गीतातात्पर्यनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
गीताभाष्य	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८१०
गीताभाष्य की टीका	आनन्दगिरि	”	८२५
गीताभाष्य	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१०५०
”	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
”	विष्णुस्वामी	”	—
गीतार्थसंग्रह	यामुनाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०४०
गूढ़भाववृत्ति (कौमुदी की व्याख्या)	रामचन्द्रशेष	व्याकरण	१५६०
गूढार्थतत्त्वालोक (गूढार्थदीपिका की टीका)	बच्चा शर्मा	अद्वैत-वेदान्त	—
गूढार्थदीपिका (गीता की टीका)	मधुसूदन	”	१५६०
गूढार्थदीपिका (योगसूत्र की वृत्ति)	नारायणभिक्षु	योग-दर्शन	१६००
गूढार्थदीपिनी (सूत्र की वृत्ति)	सदाशिव मिश्र	व्याकरण	१६७०
गूढार्थप्रकाश (शेखर की टीका)	वासुदेव शास्त्री	व्याकरण	१८९०
गौडब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धि की टीका)	ब्रह्मानन्द	”	—
गौतमसूत्र की वृत्ति	जयन्त	न्याय-दर्शन	८८०
गौपवनश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
चण्डमारुत (शतदूषणी की टीका)	चण्डमारुतमहाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१४१०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
चतुरश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
चतुर्ग्रन्थी (अद्वैतसिद्धि की टीका)	अनन्तशास्त्री	अद्वैत-वेदान्त	—
चतुर्वेदशिखा	—	द्वैत-वेदान्त	—
चन्द्रकला (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	भैरवमिश्र	व्याकरण	१७८०
चन्द्रिका	जयतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
"	व्यासतीर्थ	"	१२६०
" (तर्कसंग्रह की टीका)	मुकुन्दभट्ट	वैशेषिक	१७१५
" (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका)	ज्ञानोत्तममिश्र	अद्वैत-वेदान्त	—
" (सांख्यकारिका भाष्य की टीका)	नारायणतीर्थ	सांख्य	१६००
चिच्चन्द्रिका (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	विष्णुभट्ट	व्याकरण	१८४०
चित्तविशुद्धिप्रकरण	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००
चिदस्थिमाला (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
चिन्नभट्टी (तर्कभाषा टीका)	चिन्नंभट्ट	न्याय-दर्शन	१३५०
चिन्नंभट्टी की टीका	वेङ्कटाचार्य	"	—
छाया (भाष्यप्रदीपोद्द्योत की टीका)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७६०
छाया (योगसूत्र की वृत्ति)	नागेश	योग-दर्शन	१७२५
जयतीर्थग्रन्थ की टीका	व्यासतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	१२६०
जयधवला	—	जैन-दर्शन	९००
जयसंहिता	—	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	—
जागदीशी (तत्त्वदीधिति की टिप्पणी)	जगदीश	न्याय-दर्शन	१५९०
जागदीशी की टीका	शंकरमिश्र	न्याय-दर्शन	१६२५
जीवन्मुक्तिप्रक्रिया	सदानन्द	अद्वैत-वेदान्त	१५६०
जीवन्मुक्तिविवेक	माधवाचार्य	"	१३५०
जैमिनिसूत्र	जैमिनि	मीमांसा	५०० ई० पू०
जैमिनिसूत्र की वृत्ति	उपवर्ष	"	४०० "
"	हरि	"	१०० "
"	भर्तृमित्र	"	—
"	भवदास	"	—
"	प्रभाकर	"	७७५
"	वाचस्पतिमिश्र	"	८५०
"	वेङ्कटाचार्य	"	१३६०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
जैमिनिसूत्र की वृत्ति	वल्लभाचार्य	मीमांसा	१५२५
"	श्रीनिवासाध्वरि	"	—
"	करविन्दस्वामी	"	—
"	लौगाक्षिभास्कर	"	१६६०
"	नागेश	"	१७१४
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर	माधवाचार्य	"	१३५०
ज्ञानदीपिका	श्रीपति	व्याकरण	१२५०
ज्ञानप्रस्थान	कात्यायनीपुत्र	बौद्ध-दर्शन	—
ज्ञानप्रस्थान की टीका	अश्वघोष	"	१२०
ज्ञानरत्नावली	—	शैव-दर्शन	—
ज्ञानसागरी (आवश्यकसूत्र की टीका)	ज्ञानसागर	जैन-दर्शन	१३८०
ज्ञानार्णव	शुभचन्द्र	"	—
ज्ञानार्णव की टीका	नयविलास	"	—
ज्ञानोदयसारसंग्रह	महेन्द्रमुनि	"	—
ज्योतिष्प्रदीपिका (सूत्र की वृत्ति)	लक्ष्मणसूरि	मीमांसा	—
ज्योत्स्ना (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	उदयंकर	व्याकरण	१७२०
ज्योत्स्ना (परमलघुमंजूषा की व्याख्या)	कालिकाप्रसाद शुक्ल	"	१९६१
टुप्टीका (शाबरभाष्यवार्तिक)	कुमारिलभट्ट	मीमांसा	७६०
तत्त्वचन्द्र (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	जयन्त (मधुसूदन-पुत्र)	व्याकरण	१५८०
तत्त्वचिन्तामणि	गंगेश उपाध्याय	न्यायदर्शन	११७५
तत्त्वचिन्तामणि की टीका	पद्मेश्वर	"	—
"	वर्धमान	"	१२२५
"	वासुदेवसार्वभौम	"	१२७५
तत्त्वत्रय	लोकाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१२८०
तत्त्वत्रयचुलुक	नैनाराचार्य	"	१४१५
"	श्रीनिवासाचार्य	"	१४८०
तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह	कुमारवेदान्ताचार्य	"	१४२०
तत्त्वत्रयनिरूपण	वरदाचार्य	"	११२०
"	वरदनायक	"	१६१०
तत्त्वत्रयभाष्य	वरवर	"	—
तत्त्वत्रयविवरण	कृष्णपाद	"	—
तत्त्वदीधिति (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	रघुनाथ	न्यायदर्शन	१३००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
तत्त्वदीपन (पञ्चपादिकाविवरण)	अखंडानंदसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५८०
तत्त्वदीपन	स्वप्रकाशयति	"	१३२०
तत्त्वनिरूपण	रम्यजामातृमुनि	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१४१०
तत्त्वप्रकाश	भोजराज	शैव	१०६०
तत्त्वप्रकाश की टीका	अघोरशिवाचार्य	"	११५०
तत्त्वप्रकाशिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)	सत्यनाथयति	पूर्णप्रज्ञ	१८००
तत्त्वप्रबोधिनी (तर्कभाषा की टीका)	गणेशदीक्षित	न्यायदर्शन	—
तत्त्वबोधिनी (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)	ज्ञानेन्द्रसरस्वती	व्याकरण	१६४०
तत्त्वबोधिनी (संक्षेपशारीरक की टीका)	नृसिंहाश्रम	अद्वैतवेदान्त	१५५०
तत्त्वमञ्जरी	राघवेन्द्रतीर्थ	द्वैतवेदान्त	—
तत्त्वमुक्ताकलाप	वेङ्कटनाथ (१२६७–१३६८)	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१३२०
तत्त्वमुक्ताकलापकान्ति	नैनाराचार्य	"	१४१५
तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका	वेङ्कटनाथ	"	१३२०
तत्त्वविवेक (सिद्धांतबिन्दु की टीका)	पूर्णानन्दतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	—
तत्त्वविवेक	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
तत्त्वविवेक की टीका	यदुपति	"	१८००
तत्त्ववैशारदी (योगसूत्रभाष्य की टीका)	वाचस्पति मिश्र	योग	८४१
तत्त्वशेखर	लोकाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१२८०
तत्त्वसंख्यान	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	१३७०
तत्त्वसंख्यान की टीका	यदुपति	"	१८००
तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित	बौद्ध-दर्शन	७२०
"	नारायणमुनि	विशिष्ट द्वैतवेदांत	१४१५
"	—	शैवदर्शन	—
तत्त्वसमाससूत्र	कपिल	सांख्यदर्शन	—
तत्त्वसमाससूत्र की वृत्ति	विभानन्द	"	—
तत्त्वसार	—	विशिष्टाद्वैतवेदांत	—
तत्त्वसार की टीका	वीरराघव	"	१४००
तत्त्वादर्श (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	वासुदेवशास्त्री	व्याकरण	१८९०
तत्त्वानुसंधान	महादेवसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१७००
तत्त्वानुसंधान की टीका	शुकाचार्य	"	१७६०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
तत्त्वार्थचिन्तामणि (शिवसूत्र की वृत्ति)	कल्लट	प्रत्यभिज्ञा	८५४
तत्त्वार्थ की टीका न्याख्यालङ्कार (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका)	अकलङ्कदेव	जैन	७५०
तत्त्वार्थदीपिका (तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र की टीका)	श्रुतसागर	"	१५००
तत्त्वार्थसार	अमृतचन्द्र	"	९०५
तत्त्वार्थसारदीपिका	सकलकीर्ति	"	१४६५
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	उमास्वाति	"	५०
तत्त्वार्थाधिगम की टीका	विबुधसेन	"	—
"	सिद्धसेनगणि	"	५२५
तत्त्वालोक (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	जयदेवमिश्र	न्यायदर्शन	१२७८
तत्त्वालोक की टीका	हरिदास मिश्र	"	१५९०
तत्त्वालोकरहस्य (तत्त्वचिन्तमणि की टीका)	मथुरानाथ	"	१५८०
तत्त्वोपप्लवसिंह	अजितकेशकम्बलि	चार्वाक	—
तत्त्वोद्योत	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
तथागतगुह्यक	—	बौद्धदर्शन	—
तन्त्ररत्न	पार्थसारथिमिश्र	मीमांसा	९००
तन्त्रवार्तिक	कुमारिलभट्ट	"	७६०
तन्त्रवार्तिक की टीका	मण्डनमिश्र	"	८२५
"	कवीन्द्र	"	"
तन्त्रवार्तिक की टीका	पालभट्ट	"	८२५
"	कमलाकर	"	१५९०
तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	१०००
तन्त्रसार-संग्रह	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	"	१०००
तन्त्रालोक की टीका	जयरथ	"	११७०
तरङ्गिणी (तर्कसंग्रह की टीका)	विन्ध्येश्वरीप्रसाद	वैशेषिक	१७६०
तर्ककारिका	जीवराज	न्यायदर्शन	१४५०
तर्ककौमुदी	लौगाक्षिभास्कर	वैशेषिक	१६२५
तर्ककौमुदी की टीका	मोहनभट्ट	"	१७८०
तर्कज्वाला	भावविवेक	बौद्धदर्शन	६००
तर्कताण्डव	व्यासतीर्थ	द्वैतवेदान्त	१२६०
तर्कताण्डव की टीका	राघवेन्द्रतीर्थ	"	—
तर्कदीपिका (तर्कसंग्रह की टीका)	अन्नंभट्ट	वैशेषिक	१६९०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
तर्कदीपिकाप्रकाश	नीलकण्ठ	वैशेषिक	१८३०
तर्कप्रकाश (न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका)	श्रीकण्ठ	न्यायदर्शन	१५३५
तर्कभाषा	केशवमिश्र	"	१२५०
तर्कभाषा की टीका	गंगाधरभट्ट	"	—
"	गुड्डभट्ट	"	—
"	नारायणभट्ट	"	—
"	रामलिङ्ग	"	१४६०
"	माधवदेव	"	१६५५
"	मुरारि	"	१७१०
"	सिद्धचन्द्र	"	१७४०
"	माधवभट्ट	"	१७७०
तर्कभाषाप्रकाश	गोवर्धन	"	१५७०
तर्कभाषाविवरण	शुभविजय	"	१६१०
तर्कमञ्जरी	जीवराज	"	१४५०
तर्करहस्यदीपिका	गुणरत्न	चार्वाक	—
तर्कवार्तिक	—	जैनदर्शन	—
तर्कवार्तिक की टीका	शान्त्याचार्य	"	—
तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट	वैशेषिक	१६९०
तर्कसंग्रह की टीका	मुरारि	"	१७१०
तर्कामृत	जगदीश	न्यायदर्शन	१५९०
तात्पर्यदीपिका (वेदार्थसंग्रह की टीका)	सुदर्शन	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१२२०
तात्पर्यदीपिका (रहस्यमय की टीका)	वीरराघव	"	१४००
तात्पर्यदीपिका की टीका	वीरराघवदास	"	१४४०
"	अग्निस्वामी	"	—
तात्पर्यसंग्रह (शारीरभाष्य की टीका)	रामचन्द्रतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१५५०
तार्किकरत्ता	वरदाचार्य	न्यायदर्शन	१०५०
तार्किकरत्ता की टीका	ज्ञानपूर्ण	"	—
तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
"	माधवाचार्य	"	१३५०
त्रिपथगा (परिभाषेन्दुशेखरकीटीका)	राघवाचार्य	व्याकरण	१८१०
त्रिपिटक	शाक्यमुनि	बौद्धदर्शन	४०० ई० पू०
त्रिलोचनी (मुक्तावली की टीका)	त्रिलोचन	वैशेषिक	—
त्रिशिखा (परिभाषेन्दुशेखरकीटीका)	लक्ष्मीनृसिंह	व्याकरण	१७६५
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	हेमचन्द्र	जैनदर्शन	११२५
दर्पणा (कौस्तुभ की व्याख्या)	हरिवल्लभ	व्याकरण	१७००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
दर्पणा (तर्कभाषा की टीका)	भास्कर	न्यायदर्शन	—
दर्शनसमुच्चयरूपतर्कज्वाला	भावविवेक	बौद्धदर्शन	६००
दशपदार्थी	ज्ञानचन्द्र	वैशेषिक	६००
दशभूमीश्वर	—	बौद्धदर्शन	—
दशश्लोकी	शंकराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८००
दिनकरी (मुक्तावली की टीका)	महादेव और दिनकर	वैशेषिक	१६९०
दिनकरी की टीका	रामरुद्र	"	१७००
दिव्यावदान	—	बौद्धदर्शन	—
दीधिति (सूत्र की वृत्ति)	राघवानन्द	मीमांसा	१६००
दीपप्रभा (वाररुच-संग्रह की टीका)	नारायण	व्याकरण	—
दीपिका (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
दुर्गपद (नन्दिसूत्र की व्याख्या)	चन्द्रसूरि	जैनदर्शन	११६०
दुर्घटवृत्ति	शरणदेव	व्याकरण	११७०
दुर्घटार्थप्रकाश (महाभारत-तात्पर्य-निर्णय की टीका)	सभ्याभिनवयति	द्वैतवेदान्त	—
दृग्दृश्यविवेक	विश्वेश्वर	अद्वैतवेदान्त	१३२०
देवागमस्तोत्र	समन्तभद्र	जैनदर्शन	६००
दोषोद्धरण (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	मन्तुदेव	व्याकरण	१७६०
द्रव्यप्रकाशिका	भगीरथमेघ	न्यायदर्शन	१५७०
द्वादशानुप्रेक्षा	कुन्दकुन्द	जैनदर्शन	२५
धर्मरत्नवृत्ति	शान्तिसूरि	"	१२२०
धर्मरत्नाकर	जयसेन	"	—
धर्मस्कन्ध	शारिपुत्र	बौद्धदर्शन	—
धर्मामृत	आशाधर	जैनदर्शन	११७५
धातुकाय	पूर्ण	बौद्धदर्शन	—
धातुपाठ	पाणिनि	व्याकरण	५०० ई० पू०
धातुप्रकाश (धातुपाठ की टीका)	बलराम	"	—
धातुप्रदीप (धातुपाठ की टीका)	रक्षित	"	—
धातुरत्नमाला	देवदत्त	रसेश्वर	१७५०
धातुवृत्ति (धातुपाठ की टीका)	माधव	व्याकरण	१३५०
नन्दिसूत्र	देवर्धि	जैन-दर्शन	—
नयनप्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	मेघनादारि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
नयनप्रसादिनी (प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका की टीका)	प्रत्यक्स्वरूप	अद्वैत-वेदान्त	१५००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
नयप्रदीप	यशोविजय	जैन-दर्शन	१५००
नयोद्योत (भाट्टदीपिका की टीका)	नारायणभट्ट	मीमांसा	—
नयोपदेशप्रकरण	जयविजय	जैन-दर्शन	१४५०
नवतत्त्व	—	"	—
नवतत्त्व की टीका	सोमसुन्दर	"	१४००
नारायणतन्त्र	—	द्वैत-वेदान्त	—
नियमसार	कुन्दकुन्द	जैनदर्शन	२५
निष्कण्टक (सप्तपदार्थी की टीका)	मल्लिनाथ	वैशेषिक	१३५०
" (तार्किकरक्षा की टीका)	"	न्याय-दर्शन	"
नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८२५
न्यायकणिका (विधिविवेक की टीका)	वाचस्पतिमिश्र	मीमांसा	८४१
न्यायकन्दली (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	श्रीधर	वशेषिक	९९१
न्यायकलिका	जयन्त	न्याय-दर्शन	८८०
न्यायकल्पलता	जयतीर्थ (११९३–१२६८)	द्वैतवेदान्त	—
न्यायकुसुमाञ्जलि	उदयनाचार्य	न्यायदर्शन	९८४
न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका	चन्द्रनारायण	"	—
"	वरदराज	"	१४००
"	वामध्वज	"	—
न्यायकौमुदी (तार्किकरक्षा की टीका)	विनायकभट्ट	"	—
न्यायचन्द्रिका (भाषापरिच्छेद की टीका)	नारायणतीर्थ	वैशेषिक	१६५०
न्यायतात्पर्यदीपिका (न्यायसार की टीका)	जयसिंह	न्याय-दर्शन	—
न्यायतात्पर्यमण्डन	शंकरमिश्र	"	१४२५
न्यायदीप (न्यायसूत्रभाष्य की टीका)	मित्रमिश्र	"	१५८०
न्यायद्वारशास्त्र	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१२५
न्यायनिबन्धप्रकाश (न्यायवार्तिक-तात्पर्यपरिशुद्धि की टीका)	वर्धमान	"	१२२५
न्यायनिर्णय (शरीर भाष्य की टीका)	आनन्दगिरि	अद्वैत-वेदान्त	८२५
न्यायनिर्णय (तर्कसंग्रह की टीका)	—	वैशेषिक	—
न्यायपरिशुद्धि	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१३२०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
न्यायप्रदीप (तर्कभाषा की टीका)	—	न्यायदर्शन	—
न्यायप्रवेश	दिङ्नाग	बौद्ध-दर्शन	४८०
न्यायबिन्दु (सूत्रवृत्ति)	बालंभट्ट	मीमांसा	१७५०
न्यायबिन्दु	धर्मकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	६३५
न्यायबिन्दु की टीका	धर्मोत्तर	"	८५०
"	मल्लवाक्याचार्य	"	११६०
"	विनीतदेव	"	—
"	शान्तभद्र	"	—
न्यायबोधिनी (तर्कसंग्रह की टीका)	गोवर्धन	वैशेषिक	—
न्यायभूषण	भासर्वज्ञ	न्याय-दर्शन	९२५
"	वासुदेवकाश्मीरिक	"	—
न्यायमकरन्द	आनन्दबोध	अद्वैतवेदान्त	—
न्यायमकरन्द की टीका	चित्सुख	"	१२२५
न्यायमञ्जरी (गौतमसूत्र की वृत्ति)	जयन्त	न्याय-दर्शन	८८०
न्यायमञ्जरी	"	चार्वाक	६६०
न्यायमालाविस्तर	माधवाचार्य	मीमांसा	१३५०
न्यायमालाविस्तर (सूत्र की वृत्ति)	सोमेश्वर	"	१५००
न्यायमुक्तावली (लक्षणावली की टीका)	शार्ङ्गधर	वैशेषिक	१६७०
न्यायमुक्तावली	अप्पयदीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१५८०
न्यायरत्न	रघुनाथशास्त्री पर्वते	न्याय-दर्शन	१८६०
न्यायरत्नमाला (तन्त्रवार्तिक की व्याख्या)	पार्थसारथिमिश्र	मीमांसा	९००
न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिक की व्याख्या)	पार्थसारथिमिश्र	"	९००
न्यायरत्नावली	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१३२०
न्यायरत्नावली (न्यायसिद्धान्त मञ्जरी की टीका)	वासुदेव	न्याय-दर्शन	—
न्यायरत्नावली (सिद्धान्तबिन्दु की टीका)	ब्रह्मानन्दसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	—
न्यायलीलावती	वल्लभन्यायाचार्य	वैशेषिक	११५०
न्यायवार्तिकतात्पर्य	—	न्याय-दर्शन	—
न्यायवार्तिकतात्पर्य की टीका	वाचस्पतिमिश्र	"	८४१
न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि	उदयनाचार्य	"	९८४
न्यायविलास (तर्कभाषा की टीका)	विश्वनाथ	"	१६३४
न्यायविवरण	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
न्यायविवरण (कृष्णामृतमहार्णव की टीका)	तम्मणाचार्य	"	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
न्यायवृत्ति	अभयतिलक	न्याय-दर्शन	१०५०
न्यायसार	भासर्वज्ञ	"	९२५
"	माधवदेव	"	१६५५
न्यायसार (न्यायपरिशुद्धि की टीका)	श्रीनिवासाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदांत	—
न्यायसिद्धाञ्जन	वेङ्कटनाथ (१२६७-१३६८)	"	१३२०
न्यायसिद्धाञ्जन की टीका	रङ्गरामानुज	"	१३००
"	कृष्णतातार्य	"	१४५०
न्यायसिद्धान्तदीप	शशधर	न्याय-दर्शन	—
न्यायसिद्धान्तमञ्जरी	चूडामणि	"	—
"	जानकीनाथभट्टाचार्य	"	१३००
"	श्रीनिवास	"	—
न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका	कृष्णवागीश	"	—
"	त्रिलोचनदेव	"	—
"	लौगाक्षिभास्कर	"	१६२५
न्यायसिद्धान्तमञ्जरीसार	यादव	"	—
न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम	"	—
न्यायसिद्धान्ताञ्जन	वागीश	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
न्यायसुधा (राणक, तन्त्रवार्तिक की व्याख्या)	सोमेश्वर	मीमांसा	१५००
न्यायसुधा	जयतीर्थ (११९३-१२६८)	द्वैतवेदान्त	१२२५
न्यायसुधा की टीका	कुण्डलगिरि	"	—
"	यदुपति	"	१८००
न्यायसूचीनिबन्ध	वाचस्पति मिश्र	न्याय-दर्शन	८४१
न्यायसूत्र	अक्षपाद	"	—
न्यायसूत्रभाष्य	वात्स्यायन	"	३००
न्यायसूत्रभाष्य की टीका	विश्वनाथ	"	१६३४
न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक	उद्द्योतकर	"	६३५
न्यायसूत्रविवरण	राधामोहन	"	—
न्यायसूत्र की वृत्ति	चन्द्रनारायण	"	—
"	विश्वनाथ	"	१६३४
"	नागेश	"	१७१४
"	मुकुन्ददास	"	—
न्यायसूत्रोद्धार	वाचस्पतिमिश्र	"	८४१
न्यायानुसार	असङ्गभद्र	बौद्ध-दर्शन	३२०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ	न्याय-दर्शन	१०००
न्यायालोकसिद्धि	चन्द्रगोमि	बौद्ध-दर्शन	६३५
न्यायावतार	सिद्धसेनदिवाकर	जैन-दर्शन	४५०
न्यायावतार की टीका	चन्द्रप्रभ	जैन-दर्शन	—
न्यास (काशिका को व्याख्या)	जिनेन्द्रबुद्धि (न्यासकार)	व्याकरण	८७५
न्यासतिलक	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१३२०
न्यासतिलक की टीका	कुमारवेदान्ताचार्य	"	१४२०
पञ्चदशी	माधवाचार्य	अद्वैत-वेदान्त	१३५०
पञ्चदशी की टीका	रामकृष्ण	"	१३७
"	सदानन्द	"	१५६०
"	अच्युतराय	"	१८००
पञ्चपादिका (शारीरभाष्य की टीका)	पद्मपादाचार्य	"	८५५
पञ्चपादिका की टीका	आनन्दपूर्ण	"	१६००
" "	विद्यासागर	"	—
पञ्चपादिका-दर्पण	अमलानन्द	"	१२५०
पञ्चपादिका-विवरण	प्रकाशात्ममुनि	"	१२००
पञ्चरात्र (नारद)	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
पञ्चरात्ररक्षा	वेङ्कटनाथ	"	१३२०
पञ्चार्थविद्या	पशुपति	पाशुपत	—
पञ्चार्थसूत्र	नकुलीश	"	—
पञ्चार्थसूत्र भाष्य	राशीकर भट्ट	"	—
पञ्चार्थसूत्र भाष्य दीपिका	—	"	—
पञ्चास्तिकाय	कुन्दकुन्द	जैन-दर्शन	२५
पञ्चास्तिकाय की टीका	अमृतचन्द्र	"	९०५
पदकृत्य (तर्कसंग्रह की टीका)	चन्द्रसिंह	वैशेषिक	—
पदचन्द्रिका	कृष्णशेष	व्याकरण	१५२०
पददीपिका (पञ्चपादिका की टीका)	धर्मराजाध्वरीन्द्र	अद्वैतवेदान्त	१६००
पदपञ्जिका (न्यायसार की टीका)	वासुदेव काश्मीरिक	न्यायदर्शन	—
पदमञ्जरी	अनन्त	"	—
पदमञ्जरी (काशिका की व्याख्या)	हरदत्त	व्याकरण	८७५
पदव्यवस्थासूत्रकारिका	विमलकीर्ति	जैन-दर्शन	१६५०
पदार्थकौमुदी	वेदेशतीर्थ	द्वैतवेदान्त	—
पदार्थखण्डन (पदार्थतत्त्वनिरूपण)	रघुनाथभट्ट	न्यायदर्शन	१३००
पदार्थचन्द्रिका	मित्रमिश्र	"	१५८०
पदार्थचन्द्रिका (सप्तपदार्थी की टीका)	शार्ङ्गधर	वैशेषिक	१६७०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
पदार्थतत्त्वनिरूपण	रघुनाथशिरोमणि	वैशेषिक	—
पदार्थधर्मसंग्रह (भाष्य)	प्रशस्तपाद	"	—
पदार्थमाला	लौगाक्षिभास्कर	न्यायदर्शन	१६२५
पदार्थसंग्रह	पद्मनाभ	द्वैतवेदान्त	—
पदार्थसंग्रह की टीका	अनन्त	"	—
परमलघुमञ्जूषा	नागेश	व्याकरण	१७१४
परमात्मप्रकाश	श्री योगीन्द्र	जैनदर्शन	—
परमात्मप्रकाश की टीका	लघुपद्मनन्दी	"	१३५०
परमार्थसप्तति	वसुबन्धु	बौद्ध-दर्शन	३३०
परमार्थसार (सटीक)	आदिशेष	अद्वैतवेदान्त	—
परमार्थसार	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	१०००
परमार्थसार की टीका	योगराज	"	१०५०
परमाश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
परात्रिंशिकाविवरण	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	१०००
परिभाषाप्रकाश	विष्णुराम	व्याकरण	—
परिभाषाप्रदीपार्चि	उदयशंकर	"	१७२०
परिभाषाभास्कर	कुप्पुशास्त्री	"	१७५०
परिभाषावृत्ति	व्याडि	"	३०० ई० पू०
"	सीरदेव	"	१२००
"	नीलकण्ठदीक्षित	"	—
परिभाषावृत्ति की टीका	शेषाद्रिशुद्धि	"	—
परिभाषेन्दुशेखर	नागेश	"	१७१४
परिमल (कल्पतरु की टीका)	अप्पयदीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१५५०
परिशिष्टपर्व	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
परीक्षा (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	इन्दिरापति	व्याकरण	१७६०
परीक्षा (वैयाकरणभूषण-सार की टीका)	भैरव	"	१७८०
परीक्षामुख	माणिक्यनन्दी	जैन-दर्शन	८००
"	वीरानन्द	"	८००
परीक्षामुखलघु की वृत्ति	अनन्तवीर्य	"	१४३९
पाठकी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	पाठक	व्याकरण	१७९५
पाठकी (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	"	"	"
पाणिनीयदीपिका	नीलकण्ठ	व्याकरण	१६६०
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अमृतचन्द्र	जैन-दर्शन	९०५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
पौत्रायणश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
पौष्करसंहिता	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
पौष्करागम	पुष्कर	शैव-दर्शन	—
पौष्यायणश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
प्रकरणपञ्चिका	शालिकनाथ	मीमांसा	७९०
प्रकरणपाद	वसुमित्र	बौद्ध-दर्शन	—
प्रकरणविवरणपञ्चक	प्रत्यभिज्ञा	—	—
प्रकाश (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	शंकरभट्ट	मीमांसा	१७००
प्रकाश (चन्द्रिका की टीका)	राघवेन्द्रतीर्थ	द्वैतवेदान्त	—
प्रकाश (यतीन्द्रमतदीपिका की टीका)	वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१९११
प्रकाश (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	वर्धमान	न्यायदर्शन	१२२५
प्रकाश (तर्कभाषा की टीका)	चैतन्यभट्ट	"	—
प्रकाश (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	तर्कचूडामणि	न्यायदर्शन	—
प्रकाश (मुक्तावली की टीका)	बालकृष्ण भट्ट	वैशेषिक	—
प्रकाशिका (सूत्र की वृत्ति)	रामकृष्ण	मीमांसा	१५००
प्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	लक्ष्मणसूरि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
प्रकाशिका (तार्किकरक्षा की टीका)	नृसिंहठक्कुर	न्याय-दर्शन	—
प्रकाशिका (तर्कभाषा की टीका)	कौण्डिण्यदीक्षित	"	—
" "	बलभद्र	"	—
प्रकाशिका (वाक्यावृत्ति की टीका)	विश्वेश्वर	अद्वैतवेदान्त	१३२०
प्रक्रियाकौमुदी (सूत्र की वृत्ति)	रामचन्द्र	व्याकरण	१४२०
प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या	रामभट्ट	"	१४६०
" "	शेषकृष्ण	"	१५४०
प्रज्ञप्तिशास्त्र	मौद्गलायन	बौद्ध	—
प्रज्ञापारमिता की टीका	वसुबन्धु	"	३००
प्रज्ञापारमितासूत्र	शाक्यमुनि	"	—
प्रज्ञापारमिता (शतसाहस्रिका)	—	"	—
प्रज्ञाप्रदीप	भावविवेक	"	६००
प्रत्यक्तत्त्वदीपिका	चित्सुख	अद्वैतवेदान्त	१२२५
प्रत्यभिज्ञाकारिका (प्रत्यभिज्ञासूत्र, शिवदृष्टिसंक्षेप)	उत्पलाचार्य	प्रत्यभिज्ञा	९१०
प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (लघुवृत्ति प्रत्यभिज्ञावृत्ति की टीका)	अभिनवगुप्त	"	१०००
प्रत्यभिज्ञाविवृति (प्रत्यभिज्ञासूत्र की टीका)	उत्पलाचार्य	"	९१०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी (बृहती की वृत्ति)	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	१०००
प्रत्यभिज्ञा की वृत्ति (प्रत्यभिज्ञान सूत्र की टीका)	उत्पलाचार्य	”	९१०
प्रदीप (महाभाष्य की टीका)	कैयट	व्याकरण	११००
दीपिका (आचाराङ्गसूत्र की टीका)	जिनहंस	जैन-दर्शन	१५५०
प्रपञ्चमिथ्यात्वखण्डन	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
प्रपन्नामृत (रामानुजाचार्य चरित)	अनन्त	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	११५०
प्रबन्धचिन्तामणि	मेरुतुङ्ग	जैन-दर्शन	१३००
प्रभा (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	बालंभट्ट	मीमांसा	१७५०
प्रभा (कौस्तुभ की व्याख्या)	राघवाचार्य	व्याकरण	१८२०
प्रभा (न्यायसिद्धान्तदीप की टीका)	शेषानन्त	न्याय-दर्शन	—
प्रभा (तर्कसंग्रह की टीका)	हनुमान्	वैशेषिक	—
प्रभावती (भाट्ट-दीपिका की टीका)	शंभुभट्ट	मीमांसा	१६९०
प्रमाणचिन्तामणि	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	देवसूरि	”	११४०
प्रमाणपद्धति	जयतीर्थ (११९३-१२६८)	द्वैतवेदान्त	१२२५
प्रमाणपद्धति-टीका	सत्यनाथ यति	”	१८००
प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द	जैन-दर्शन	८००
प्रमाणलक्षण	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
प्रमाणवार्तिक (प्रमाणसमुच्चय की टीका)	धर्मकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	६३५
प्रमाणशास्त्रप्रवेश	दिङ्नागाचार्य	”	४८०
प्रमाणसमुच्चय (सटीक)	”	”	४८०
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	जैन-दर्शन	८२५
प्रमेयरत्नमाला	माणिक्यनन्दी	”	८००
प्रयोगरत्नमाला	पुरुषोत्तम	व्याकरण	१३००
प्रवचनपरीक्षा	धर्मसागर	जैन	१५७३
प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	”	२५
प्रवचनसार की टीका	अमृतचन्द्र	”	९०५
प्रश्नोत्तरमाला	अमोघवर्ष	”	८५०
प्रसन्नपदा (माध्यमिक कारिका की वृत्ति)	चन्द्रकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	५५०
प्रसाद (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	विट्ठल	व्याकरण	१५००
प्रसादिनी (तर्कभाषा की टीका)	वागीश	न्याय-दर्शन	—
प्रस्थानभेद	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
प्रौढमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)	भट्टोजीदीक्षित	व्याकरण	१५७८
प्रौढमनोरमाखण्डन	चक्रपाणि	—	—
फक्किका (तर्कसंग्रह की टीका)	क्षमाकल्याण	वैशेषिक	—
बालक्षयबोधिका	चतुर्भुज	रसेश्वर	—
बालबोधिनी (आत्मबोध की टीका)	नारायणतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१६००
बालमनोरमा (कौमुदी की व्याख्या)	अनन्त	व्याकरण	१६६०
बिन्दुशीकर (सिद्धान्तलेश की टीका)	गंगाधर सरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१६७५
बिन्दुसंदीपन (सिद्धान्त बिन्दु की टीका	पुरुषोत्तम सरस्वती	"	१६२५
बुद्धचरित	अश्वघोष	बौद्ध-दर्शन	१२०
बृहच्चन्द्रिका (अद्वैतसिद्धि की टीका)	ब्रह्मानन्द सरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	१५६५
बृहच्छब्देन्दुशेखर (कौमुदी की व्याख्या)	नागेश	व्याकरण	१७१४
बृहती (शाबरभाष्य की व्याख्या)	प्रभाकर	मीमांसा	७७५
बृहत्तन्त्र	—	द्वैत-वेदान्त	—
बृहत्संहिता	—	"	—
बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८२५
बृहदारण्यकभाष्य की व्याख्या	रघूत्तमयति	द्वैत-वेदान्त	—
बृहद्दर्पणा (वैयाकरणभूषणसार की टीका)	मन्तुदेव	व्याकरण	१७६०
बृहन्मञ्जूषा	नागेश	"	१७१४
बृहस्पतिसूत्र	बृहस्पति	चार्वाक	—
बोधिचर्यावतार	शान्तिदेव	बौद्ध-दर्शन	६५०
बोधिसत्त्वयोगाचारचतुःशतक	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००
बोधिसत्त्वावदानकल्पलता	क्षेमेन्द्र	"	१०८०
ब्रह्मतर्क	—	द्वैत-वेदान्त	—
ब्रह्मविद्याभरण (शारीरभाष्य की टीका)	अद्वैतानन्द सरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	१२२५
ब्रह्मसूत्र	व्यास (बादरायण)	वेदान्त	—
ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरण	भैरवतिलक	अद्वैत-वेदान्त	१७६०
ब्रह्मसूत्रभाष्य	द्रमिडाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
"	रामानुजाचार्य	" (१०१९-११३९)	—
ब्रह्मसूत्रभाष्य (जयतीर्थ व्यासतीर्थ राघवेन्द्रतीर्थ कृत टीका सहित)	आनन्दतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
ब्रह्मसूत्रभाष्य	विष्णुस्वामी	अद्वैत-वेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीकण्ठशिवाचार्य	शैव	१३५०
”	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८१०
ब्रह्मसूत्रवृत्ति	बौधायन	विशिष्टाद्वैत-वेदान्त	—
”	वाक्यकार	”	—
ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान	विद्याधीश	द्वैत-वेदान्त	—
ब्रह्मामृतवर्षिणी (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	रामानन्दसरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	—
भगवद्गीता	व्यास	वेदान्त	—
भगवद्गीता की टीका	रामकण्ठ	प्रत्यभिज्ञा	९५०
”	शंकरानन्द	अद्वैत-वेदान्त	१३२५
”	अभिनवगुप्त	”	१०००
भगवद्गीताभाष्य	रामानुज	वि० वे०	१०८०
”	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८००
भवानन्दी (तत्त्वदीधिति की टीका)	भवानन्द	न्याय-दर्शन	१६००
भागवततात्पर्यनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
भागवततात्पर्यनिर्णय की टीका	जनार्दनभट्ट	”	१३२०
”	वेङ्कटकृष्ण	”	—
भाट्टचिन्तामणि	गागाभट्ट	मीमांसा	१५५०
भाट्टदिनकर (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	भट्टदिनकर	”	१६००
भाट्टदीपिका (सूत्र की वृत्ति)	खण्डदेव	”	१६७०
भाट्टभाषाप्रकाश	—	”	—
भाट्टभाषाप्रकाशिका	नारायणभट्ट	”	—
भाट्टसंग्रह	राघवानन्द	”	१६००
भामती (शारीरभाष्य की टीका)	वाचस्पतिमिश्र	अद्वैत-वेदान्त	८४१
भारतभावदीप (गीता की टीका)	नीलकण्ठ	”	—
भाल्लवेयश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
भावचूडामणि	विद्याकण्ठ	शैव-दर्शन	८७०
भावदीप (कौस्तुभ की व्याख्या)	कृष्णमिश्र	व्याकरण	१७६०
” ”	राघवेन्द्रतीर्थ	द्वैत वेदान्त	—
भावदीपिका (गीताभाष्य की टीका)	श्रीनिवासतीर्थ	”	१३००
भावदीपिका (न्यायसिद्धान्तमंजरी की टीका)	श्रीकृष्ण	न्याय-दर्शन	१७८०
भावप्रकाश (ब्रह्मसूत्रभाष्यकी टीका)	नरहरि	द्वैत-वेदान्त	—
भावप्रकाश (शब्दरत्न की व्याख्या)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
भावप्रकाशिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)	भगवत्तीर्थ	द्वैत वेदान्त	—
भावप्रकाशिका (तर्कभाषा की टीका)	गोपीनाथठाकुर	न्याय-दर्शन	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
भावप्रकाशिका (आत्मबोध की टीका)	बोधेन्द्र	अद्वैतवेदान्त	—
भावविलासिनी	सुरोत्तमतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	—
भावार्थदीपिका (तर्कभाषा की टीका)	गौरीकान्त	न्याय-दर्शन	१६५०
भाषापरिच्छेद	विश्वनाथपञ्चानन	वैशेषिक	१६३४
भाष्यवार्तिक (शांकरभाष्यतात्पर्य)	नारायणसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१६००
भाष्यवृत्ति (आवश्यकसूत्र की टीका)	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
भाष्यसूक्ति (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	जगदीश	वैशेषिक	१५९०
भाष्योत्कर्षदीपिका	धनपति	अद्वैत-वेदान्त	१८००
भास्करोदया (तर्कदीपिका-प्रकाश की टीका)	लक्ष्मीनृसिंह	वैशेषिक	१८५०
भूषण (भगवद्गीताभाष्य की टीका)	भगवान्दास	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
भेदधिक्कार	नृसिंहाश्रम	अद्वैतवेदान्त	१५५०
भेदोज्जीवन	वादिराज	द्वैत-वेदान्त	—
"	व्यासतीर्थ	"	१२६०
भैमी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	भीमभट्ट	व्याकरण	१७६०
भैरवी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	भैरव	"	१७८०
भैषज्यसार	उपेन्द्र	रसेश्वर	—
मकरन्द (पदमञ्जरी की व्याख्या)	रङ्गनाथ	व्याकरण	—
मकरन्द (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	रुचिदत्त	न्याय-दर्शन	१२९५
मञ्जरी (कल्पसूत्र की टीका)	सहजकीर्ति	जैन-दर्शन	१६३०
मणिप्रभा (योगसूत्र की वृत्ति)	रामानन्दसरस्वती	योग-दर्शन	१६००
मणिप्रभा (ईशाद्यष्टोपनिषद् की टीका)	अमरदास	अद्वैतवेदान्त	—
मणिप्रभा (वेदान्तपरिभाषा की टीका)	अमरदास	अद्वैत-वेदान्त	—
मतोन्मज्जा (वैयाकरणभूषण की टीका)	वनमाली	व्याकरण	१६७०
मथुरानाथी (तत्वदीधिति की टीका)	मथुरानाथ	न्याय-दर्शन	१५८०
मधुवाहिनी (शिवसूत्र की वृत्ति)	कल्लट	प्रत्यभिज्ञा	८५४
मध्यकौमुदी (पाणिनिसूत्र की व्याख्या)	वरदराज	व्याकरण	१६२०
मध्यकौमुदी की व्याख्या	जयकृष्णमौनि	"	१७००
मध्यमकावतार	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१५०
मध्वविजय	—	द्वैत-वेदान्त	—
मध्वविजय की टीका	वेदाङ्गतीर्थ	"	—
मध्वसिद्धान्तसार (पदार्थसंग्रह की टीका)	अनन्त	"	—
मनोरमाकुचमर्दिनी	जगन्नाथ	व्याकरण	१६५०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
मनोरमाखण्डन	चक्रपाणिशेष	व्याकरण	१६४०
मन्दसुबोधिनी (महाभारततात्पर्य-निर्णय की टीका)	वरदराज	द्वैत-वेदान्त	—
मयूख (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	शंकरमिश्र	न्याय-दर्शन	१४२५
मयूखमालिका (शास्त्रदीपिका की टीका)	सोमनाथ	मीमांसा	१५४०
महाभारततात्पर्यनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
महाभारततात्पर्यनिर्णय की टीका	जनार्दनभट्ट	"	१३२०
" "	वादिराज	"	—
" "	विट्ठलसूनु	"	—
महाभारतपाञ्चरात्र	—	विशिष्टाद्वैतवेदांत	—
महाभाष्य	पतञ्जलि	व्याकरण	ई० पू० १५०
महाभाष्य टीका	हरि (भर्तृहरि)	"	७००
महाभाष्य की टीका	रामकृष्णानन्द	व्याकरण	—
" "	शिवरामेन्द्र	व्याकरण	—
महाभाष्यप्रदीप	कैयट	"	११००
महायानप्रवेश	स्थिरमति	बौद्ध-दर्शन	२५०
महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र	अश्वघोष	"	१२०
महायानसंपरिग्रहशास्त्र	असङ्ग	"	३२०
महायानसूत्रालंकार	"	"	"
महावराहपुराण	—	द्वैतवेदान्त	—
महावस्तु	—	बौद्ध-दर्शन	—
महाविभाषा (ज्ञानप्रस्थानशास्त्र)	कात्यायनीपुत्र	"	—
महावीरचरित	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
महोपनिषद्	—	द्वैत-वेदान्त	—
माठरवृत्ति	माठराचार्य	सांख्य	५००
माठरश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
माण्डव्यश्रुति	—	"	—
माण्डूक्यकारिका	गौडपाद	अद्वैत-वेदान्त	७५०
माण्डूक्यकारिकाभाष्य	शंकराचार्य	"	८१०
माध्यमकालंकार	शान्तरक्षित	बौद्ध-दर्शन	७२०
माध्यमकावतार	चन्द्रकीर्ति	"	५५०
माध्यमिककारिका (चन्द्रकीर्तिकृत-प्रसन्नपदाटीकासहिता)	नागार्जुन	"	१५०
माध्यमिककारिकाभाष्य	आर्यदेव	"	३५०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
माध्यमिककारिकावृत्ति (आकुतोभया)	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	१५०
” ” ”	कुमारजीव	”	३८०
” ” ”	बुद्धपालित	”	५००
मायावादखण्डन	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
मार्गपरिशुद्धि	यशोविजय	जैन-दर्शन	१५००
मितप्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	परकाल	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	१३९०
मितभाषिणी (न्यायसूत्र की वृत्ति)	महादेवभट्ट	न्याय-दर्शन	१५३०
मितभाषिणी (सप्तपदार्थी की टीका)	माधवसरस्वती	वैशेषिक	१३५०
मितवृत्त्यर्थसंग्रह (सूत्र की वृत्ति)	उदयन	व्याकरण	९८४
मिताक्षरा (छान्दोग्यबृहदारण्यक की वृत्ति)	नित्यानन्द	अद्वैत वेदान्त	—
मिताक्षरा (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	अन्नंभट्ट	”	१५००
मीमांसानयविवेक(सूत्र की वृत्ति)	भवनाथ	मीमांसा	१३६०
मीमांसानुक्रमणी	मण्डनमिश्र	”	८२५
मीमांसान्यायप्रकाश	आपदेव	”	१६३०
मीमांसान्यायप्रकाश की टीका	अनन्तदेव	”	१६७०
मीमांसापरिभाषा	कृष्णयज्वा	”	—
मीमांसाबालप्रकाश	शंकरभट्ट	”	१७००
मुक्ताफल	बोपदेव	अद्वैत वेदान्त	११८०
मुक्तावली (भाषापरिच्छेद की टीका)	विश्वनाथपञ्चानन	वैशेषिक	१६३४
मुक्तावली की टीका	कल्याण	”	—
” ”	विन्ध्येश्वरीप्रसाद	”	—
मूलमध्यमकारिका	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१५०
मूलमध्यमवृत्ति	बुद्धपालित	”	४००
यतिधर्मसमुच्चय	यादवप्रकाश	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	१०६०
यतीन्द्रमतदीपिका	श्रीनिवासदास	”	—
यत्याचार	लघुपद्मनन्दी	जैन-दर्शन	१३५०
युक्तिमल्लिका	वादिराज	द्वैत-वेदान्त	—
युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र	”	६००
योगचन्द्रिका (योगसूत्र की वृत्ति)	अनन्तभट्ट	योग-दर्शन	—
योगशास्त्र (अध्यात्मोपनिषद्)	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
योगसूत्र	पतञ्जलि	योग-दर्शन	—
योगसूत्रभाष्य	व्यास	”	—
योगसूत्रलघुवृत्ति	नागेश	”	१७१४
योगसूत्र की वृत्ति	ज्ञानानन्द	”	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
योगसूत्र की वृत्ति	वृद्धभोज	योग-दर्शन	६००
,,	विज्ञानभिक्षु	,,	१५५०
,,	भावागणेश	,,	१५७५
,,	भवदेव	,,	१६३०
,,	महादेवभट्ट	,,	—
,,	वृन्दावनाचार्य	,,	—
,,	सदाशिवभट्ट	,,	—
,,	अरुणाचल	,,	—
योगसूत्रवृत्तिसंग्रह	उदयंकर	,,	१७२५
योगाचारभूमिशास्त्र	असङ्ग	बौद्ध-दर्शन	३२०
योगावली (तर्कभाषा की टीका)	नागेश	न्याय-शास्त्र	१७१४
रत्नत्रय	वसुबन्धु	बौद्ध-दर्शन	३३०
रत्नप्रभा (शांकरभाष्य की टीका)	गोविन्दानन्द	अद्वैत-वेदान्त	१५७०
रत्नप्रभाटिप्पणी	केशवानन्दस्वामी	,,	—
रत्नार्णव (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)	कृष्णमिश्र	व्याकरण	१७५०
रयणसार	कुन्दकुन्द	जैन-दर्शन	२५
रसकौतुक	मल्लारि	रसेश्वर-दर्शन	१६०४
रसचिन्तामणि	मदनान्तदेवसूरि	,,	—
रसनक्षत्रमालिका	मथनसिंह	,,	१७०८
रसपद्धति	महादेव	,,	—
रसप्रकाशसुधाकर	यशोधर	,,	१२६०
रसमञ्जरी	शालिनाथ	,,	१६५७
रसमुक्तावली	वैद्यनृपसूनु	,,	—
रसरत्नप्रदीप	—	,,	—
रसरत्नसमुच्चय	वाग्भटाचार्य	,,	१२७५
रसरत्नाकर	नागार्जुन	,,	४००
रसराजलक्ष्मी	विष्णुदेव	,,	—
रससार	गोविन्दाचार्य	,,	१४००
रसहृदय	गोविन्दभगवत्पादाचार्य	,,	७८०
रसार्णव	—	,,	—
रसेन्द्रचिन्तामणि	रामचन्द्र	,,	१७३५
रसेन्द्रचूडामणि	सोमदेव	,,	—
रसेश्वरसिद्धान्त	,,	,,	—
रहस्यत्रय	रामानुज (१०१९-११३९)	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
,,	अग्रगोस्वामी	,,	१४१५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
रहस्यत्रयचुलुक (रहस्यत्रय की टीका)	वेङ्कटनाथ	वि० वे०	१३२०
रहस्यत्रय की टीका	अग्निस्वामी	"	—
रहस्यत्रयसार	वेदान्ताचार्य	"	११००
राजमार्तण्ड (योगसूत्र की वृत्ति)	भोजराज	योग-दर्शन	१०२१
राजवार्तिक (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका)	—	जैन-दर्शन	—
राणक	सोमेश्वर	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१५००
रामानुजसिद्धान्तसार	वरदाचार्य	"	११२०
रावणभाष्य (कणादसूत्र भाष्य)	—	वैशेषिक	५५०
रुद्रयामल	—	रसेश्वरदर्शन	—
रौद्री (मुक्तावली की टीका)	रुद्र	वैशेषिक	१६५०
लक्षणमाला	शिवादित्य	"	१०५०
लक्षणसंग्रह	रत्नेश	व्याकरण	—
लक्षणावली	उदयन	वैशेषिक	९८४
लघुकौमुदी (सूत्र की व्याख्या)	वरदराज	व्याकरण	१६२०
लघुकौमुदी की व्याख्या	जयकृष्णमौनी	"	१७००
लघुचन्द्रिका (अद्वैतसिद्धि की टीका)	ब्रह्मानन्दसरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	१५६५
लघुदर्पणा (वैयाकरणभूषणसार की टीका)	मन्तुदेव	व्याकरण	१७६०
लघुन्यास (शब्दानुशासन की टीका)	देवेन्द्र	जैन-दर्शन	१२७१
लघुभूषणकान्ति (वैयाकरणभूषण-सार की टीका)	हरिवल्लभ	व्याकरण	१७००
लघुमञ्जूषा	नागेश	"	१७१४
लघुमञ्जूषा की टीका	राजारामदीक्षित	"	१७६०
लघुविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	१०००
लघुशब्देन्दुशेखर (कौमुदी की व्याख्या)	नागेश	व्याकरण	१७१४
लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या	राजाराम	"	१७६०
लङ्कावतार	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
ललितविस्तर	वसुबन्धु	"	३००
लासकी (भगवद्गीता की टीका)	राजानकलासक	प्रत्यभिज्ञा	—
लीलावती (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	श्रीवत्साचार्य	वैशेषिक	१०२५
लोकप्रकाश	विनयविजय	जैन-दर्शन	१६५२
वंशी (परमलघुमञ्जूषा की टीका)	वंशीधरमिश्र	व्याकरण	१९५०
वज्रसूची	अश्वघोष	बौद्ध-दर्शन	१२०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
वर्धमानेन्दु (न्यायनिबन्धप्रकाश की टीका)	पद्मनाभ	न्याय-शास्त्र	—
वाक्यपदीय (महाभाष्य की दार्शनिक व्याख्या)	हरि (भर्तृहरि)	व्याकरण	६६६
वाक्यपदीय व्याख्या	हेलराजऔरपुण्यराज	व्याकरण	—
वाक्यवृत्ति (तर्कसंग्रह की टीका)	मेरुशास्त्री	वैशेषिक	१८०८
वाक्यवृत्ति	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८१०
वाक्यश्रुति (अपरोक्षानुभव की टीका)	विश्वेश्वर	"	१३२०
वाक्यार्थचन्द्रिका (न्यायसुधा की टीका)	विद्याधीश	द्वैतवेदान्त	—
वादावली	जयतीर्थ	"	११९३-१२६८
वादित्रयखण्डन	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१३२०
वायवीय संहिता	—	पाशुपत शैव-दर्शन	—
वाररुचसंग्रह (सूत्र की वृत्ति)	वररुचि	व्याकरण	—
वार्तिकपाठ	कात्यायन	"	३०० ई० पू०
वासवी (भगवद्गीता की टीका)	वसुगुप्त	प्रत्यभिज्ञादर्शन	८२०
विंशकारिकाप्रकरण	वसुबन्धु	बौद्ध-दर्शन	३००
विकाश (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	गोपीनाथ मौनी	न्याय-दर्शन	—
विचाररत्नसंग्रह	जयसोम	जैन-दर्शन	१६००
विज्ञानकाय	देवक्षेम	बौद्ध-दर्शन	—
विद्वन्मनोरञ्जनी (वेदान्तसार की टीका)	रामतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१६२५
विद्वन्मनोहरा (सूत्र की वृत्ति)	महादेवतीर्थ	मीमांसा	—
विधिरसायन	अप्पयदीक्षित	"	१५३०
विधिविवेक	मण्डनमिश्र	"	८२५
विमर्शिनी (शिवज्ञानबोध-सूत्रवृत्ति की व्याख्या)	क्षेमराज	शैव-दर्शन	१०२०
विवरण (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	जयराम	न्यायदर्शन	—
विवरण (भाष्यप्रदीप की टीका)	नारायण	व्याकरण	—
" "	रामचन्द्रसरस्वती	व्याकरण	—
विवरण (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	भास्कर शास्त्री अभ्यंकर	व्याकरण	१८१०
विवरण की टीका	कृष्णभट्ट	अद्वैतवेदान्त	—
विवरणपञ्जिका या न्यास (काशिका की व्याख्या)	जिनेन्द्रबुद्धि	व्याकरण	९४०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
विवरणभावप्रकाशिका	नृसिंहमुनि	अद्वैतवेदान्त	१५००
विवरणप्रमेयसंग्रह	माधवाचार्य	"	१३५०
विवृति (श्रीभाष्य की टीका)	वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१९१६
विवेक (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	गुणानंद	न्यायदर्शन	—
विवेक-चूडामणि	शंकराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८१०
विवेकविलास	जिनदत्तसूरि	जैन-दर्शन	१२२०
विशिष्टाद्वैतसंग्रह	रामकृष्ण	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
विशुद्धिमार्ग	बुद्धघोष	बौद्धदर्शन	४००
विशेषावश्यकभाष्य (आवश्यक सूत्र की टीका)	जिनभद्रक्षमाश्रमण	जैन-दर्शन	—
विश्वरूपनिबन्ध	विश्वरूप	व्याकरण	१५२०
विषमपदतात्पर्य	लघुसमन्तभद्र	जैन-दर्शन	१७४०
विषमी (कौस्तुभ की व्याख्या)	नागेश	व्याकरण	१७१४
विषमी (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	राघवाचार्य	"	१८२०
विषयवाक्यदीपिका	रङ्गराज	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	१३५०
विष्णुतत्त्वनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
विष्णुपुराण की टीका	नाथमुनि	वि० वे०	—
वीतरागस्तुति	हेमचन्द्र	जैनदर्शन	११२५
वीतरागस्तुति की टीका	प्रभानन्द	जैनदर्शन	१३२०
वेदान्तकल्पलतिका	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०
वेदान्तकौमुदी	अद्वयारण्यमुनि	"	१५८०
वेदान्तचिन्तामणि	शुद्धानन्दसरस्वती	"	१३२०
वेदान्ततत्त्वसार	विद्येन्द्र सरस्वती	"	१७००
वेदान्तदीप (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	अद्वैतवेदान्त	१५६०
वेदान्तपरिभाषा की टीका	रामकृष्णाध्वरीन्द्र	"	१६००
" "	धनपति	"	१८००
वेदान्तमुक्तावली	प्रकाशानन्द	"	१५६५
"	ब्रह्मानन्दसरस्वती	"	१५६५
वेदान्तमुक्तावली की टीका	रामसुब्रह्मण्य	"	—
वेदान्तरक्षा	नारायणमुनि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१४१५
वेदान्तवचनभूषण (शांकर-भाष्य की टीका)	स्वयंप्रकाशानन्द-सरस्वती	अद्वैतवेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
वेदान्तसार (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
वेदान्तसार	सदानन्द	अद्वैतवेदान्त	१५६०
वेदान्तसार की टीका	नृसिंहसरस्वती	"	१८७०
वेदार्थसंग्रह	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
वैयाकरणभूषण	कोण्डभट्ट	व्याकरण	१६४०
वैयाकरणभूषणसार	कोण्डभट्ट	व्याकरण	१६४०
वैयाकरणभूषणसार-टीका	महानन्द	"	१८२०
वैयाकरणसर्वस्व (सूत्र की वृत्ति)	धरणीधर	"	—
वैयाकरसिद्धान्तरत्नाकर	रामकृष्ण	"	१६७०
वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य (कौमुदी की व्याख्या)	नीलकण्ठ	"	१६६०
" "	वासुदेव	"	—
वैयासिकन्यायमाला	माधवाचार्य	अद्वैतवेदान्त	१३५०
व्याकरणप्रकाश (न्यासव्याख्या)	महामिश्र	व्याकरण	—
व्याकरणसुधामहानिधि (सूत्र की वृत्ति)	विश्वेश्वर	"	१६५०
व्योमवती (कणादसूत्र भाष्य की टीका)	व्योमशिवाचार्य	वैशेषिक	९८०
शंकरपादभूषण	रघुनाथशास्त्री पर्वते	अद्वैतवेदान्त	१८५०
शंभुपद्धति	शंभुदेव	शैव दर्शन	१५५०
शतदूषणी	मुद्गलसूरि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
शतशास्त्र	नागार्जुन	बौद्धदर्शन	१५०
शब्दकौस्तुभ (सूत्र की व्याख्या)	भट्टोजिदीक्षित	व्याकरण	१५७८
शब्दभूषण (सूत्र की वृत्ति)	नारायण	"	—
शब्दरत्न (मनोरमा की व्याख्या)	हरिदीक्षित	"	१६५०
शब्दरत्नदीप (शब्दरत्न की व्याख्या)	कल्याणदीप	"	—
शब्दसुधा	अनन्तभट्ट	"	—
शब्दानुशासन	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
शब्दामृत (सूत्रविवरण)	विप्रराजेन्द्र	व्याकरण	—
शांकरी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	शंकरभट्ट	व्याकरण	१७६०
शाकल्यसंहितापरिशिष्ट	—	द्वैत वेदान्त	—
शाबरभाष्य	शबरस्वामी	मीमांसा	१०० ई० पू०
शाबरभाष्यवार्तिक	वार्तिककार	"	—
शाब्दनिर्णय	प्रकाशात्ममुनि	अद्वैतवेदान्त	१२००
शारीरभाष्य	शंकराचार्य	"	८१०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
शारीरभाष्यटीका	गोपालानंद	अद्वैतवेदान्त	—
" "	विश्ववेद	"	—
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथिमिश्र	मीमांसा	९००
शास्त्रदीपिका की व्याख्या	नारायण	"	१५८०
शिक्षा-समुच्चय	शान्तिदेव	बौद्ध-दर्शन	६५०
शिवज्ञानबोधसूत्र की वृत्ति	निगमज्ञानदेशिक	शैव-दर्शन	—
शिवदृष्टि	सोमानंद	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	८८०
शिवदृष्टि की वृत्ति	"	"	"
शिवदृष्टिसूत्र की वृत्ति	उदयाकरसूनु	"	"
शिवदृष्ट्यालोचन (शिवदृष्टि की वृत्ति)	अभिनवगुप्त	"	१०००
शिवपुराण	"	पाशुपत शैव	—
शिवसूत्र	वसुगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	८१०
शिवसूत्र टीका	नरेश्वर	"	—
शिवसूत्रवार्तिक	भास्कर	"	१०२०
शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज	"	१०२५
शिवार्कमणिदीपिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)	अप्पयदीक्षित	शैव-दर्शन	१५३०
शिशुबोधिनी (सप्तपदार्थी की टीका)	भैरवेन्द्र	वैशेषिक-दर्शन	—
शिष्यहिता (आवश्यकसूत्रकी टीका)	हरिभद्र	जैन-दर्शन	९००
शैवसर्वस्वसार	विद्यापति ठक्कुर	शैव-दर्शन	१३२१
शैवसिद्धान्तदीपिका	शम्भुदेव	"	१५५०
श्रीभाष्य (ब्रह्मसूत्रभाष्य)	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१०६०
श्रीभाष्य की टीका	रामानन्द	"	—
"	सुन्दरराज दीक्षित	"	—
श्रुतप्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	सुदर्शन	"	१२२०
श्रुतप्रकाशिका की टीका	रङ्गरामानुज	"	—
"	वरदविष्णु	"	—
"	श्रीनिवासभास्कर	"	—
श्रुतप्रदीपिका (श्रीभाष्य की टीका)	सुदर्शन	"	१२२०
श्रुत्यन्तसुरद्रुम	पुरुषोत्तमप्रसाद	"	—
श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका)	विद्यानंद	जैन-दर्शन	८००
श्लोकवार्तिक (शाबरभाष्य वार्तिक)	कुमारिलभट्ट	मीमांसा	७६०
षट्प्रश्नोपनिषद्भाष्य की टीका विवरण	मङ्गालधर्माचार्य	द्वैतवेदान्त	—
षड्दर्शनविचार	मेरुतुङ्ग	जैन-दर्शन	१३००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
षड्दर्शनसमुच्चय	राजशेखर	जैन-दर्शन	—
”	मलधारिराजशेखर	”	१३४८
षड्दर्शनसमुच्चय	हरिभद्र	”	९००
षड्दर्शनसमुच्चय की टीका	गुणरत्न	”	१४००
षष्टितन्त्र	वार्षगण्य (?)	सांख्य-दर्शन	१००
षोडशपदार्थी	गणेशदास	नैयायिक	१५७०
संक्षेपभाष्य	आनंदतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११६०
संक्षेपशारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	अद्वैतवेदान्त	९००
संक्षेपशारीरक की टीका	पुरुषोत्तम सोमयाजी	”	—
संगीतपर्याय	शारिपुत्र	बौद्ध-दर्शन	—
संग्रह	व्याडि	व्याकरण	३०० ई० पू०
संतानान्तरसिद्धि	धर्मकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	६३५
संदेहदोहावली	जयसागर	जैन-दर्शन	१४००
संमतितर्कसूत्र	सिद्धसेनदिवाकर	”	४५०
संयुक्ताभिधर्मशास्त्र	—	बौद्ध-दर्शन	—
सत्क्रिया (भेदधिक्कार की टीका)	नारायणाश्रम	अद्वैत वेदान्त	१५६०
सत्प्रक्रियाव्याकृति (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	विश्वकर्मा	व्याकरण	—
सदाचारस्मृति	आनंदतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
सदाशिवभट्टी (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	सदाशिवभट्ट घुले	व्याकरण	१७९०
सद्धर्मपुण्डरीक	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
सद्धर्मपुण्डरीक की टीका	वसुबन्धु	बौद्धदर्शन	३००
सप्तदशभूमिसूत्र	असङ्ग	”	३२०
सप्तपदार्थी	शिवादित्य	वैशेषिक-दर्शन	१०५०
सप्तपदार्थी की टीका	जिनवर्धन सूरि	वैशेषिक-दर्शन	१४१५
”	बलभद्र	”	१५५०
”	अनन्त	”	१५७०
”	भावविद्येश्वर	”	—
”	शेषानन्त	”	१६०८
”	हरि	”	—
”	सिद्धचन्द्र	”	—
सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	विमलदास	जैन-दर्शन	—
समयप्रदीप	असङ्गभद्र	बौद्ध-दर्शन	३२०
समयप्रदीपिका	”	”	”
समयसार	कुन्दकुन्द	जैन-दर्शन	२५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
समयसार की टीका	अमृतचन्द्र	जैनदर्शन	९०५
”	बालचन्द्र	”	११२०
”	प्रभाचन्द्रदेव	”	१२७५
”	ज्ञानचन्द्र	”	१७२०
समयसारप्राभृत	कुन्दकुन्द	”	२५
समाधिराज	—	बौद्ध-दर्शन	—
सरला (कौमुदी की व्याख्या)	तारानाथ	व्याकरण	—
सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थाधिगम की टीका)	पूज्यपाद	जैन-दर्शन	७००
सर्वोपकारिणी (समाससूत्र की व्याख्या)	विभानन्द	सांख्य-दर्शन	—
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	”	१५०
सांख्यकारिका की टीका	कुलमुनि	”	—
”	कृष्णमिश्र	”	—
”	भवदेव	”	—
”	योगानंद	सांख्य-दर्शन	—
सांख्यकारिका-भाष्य	गौडपादाचार्य	”	७००
सांख्यकारिका की वृत्ति (माठर की वृत्ति)	माठराचार्य	”	५००
सांख्यकौमुदी	रामकृष्ण	”	—
सांख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र	”	८५०
सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीका	ज्ञानानंद	”	—
”	श्रीकृष्ण	”	—
”	भारतीयति	”	१४४०
”	नारायणतीर्थ	”	१६००
”	वंशीधर	”	१८००
”	स्वप्नेश्वर	”	—
”	कविपति	”	—
सांख्यतत्त्वप्रदीप	भावागणेश	”	१५७५
सांख्यतत्त्वप्रदीपिका			
सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन (सांख्य-समाससूत्र की टीका)	”	”	”
सांख्यतत्त्व विलास	रघुनाथ	”	१८००
सांख्यतत्त्व विवेचन	सीमानन्द	”	—
सांख्यपरिभाषा	भावागणेश	”	१५७५
सांख्यसमाससूत्र (तत्त्वसमाससूत्र)	कपिल (?)	”	—
सांख्यसार	भावागणेश	”	१५४५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
सांख्यसारविवेक	विज्ञानभिक्षु	सांख्य-दर्शन	१५५०
सांख्यसूत्र	कपिल (?)	"	—
सांख्यसूत्रभाष्य	विज्ञानभिक्षु	"	१५५०
"	सांख्याचार्य	"	—
सांख्यसूत्रविवरण	योगानंद	"	—
सांख्यसूत्रविवरण	कृष्णमिश्र	"	—
सांख्यसूत्र की वृत्ति	अनिरुद्ध	"	१५००
" "	ज्ञानामृत	"	—
" "	नागेश	"	१७१४
" "	रामचन्द्र	"	—
सांख्यसूत्रवृत्ति की टीका	महादेवानंद सरस्वती	"	१७००
साकारसिद्धि	—	रसेश्वर-दर्शन	—
सात्वतसंहिता	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
सारप्रकाशिका (रहस्यत्रयसार की की टीका)	परकाल	"	१३९०
सारसंग्रहदीपिका	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०
सारास्वादिनी (रहस्यत्रयसार की टीका)	गोपालदेशिक	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
सार्वभौमनिरुक्ति	वासुदेव सार्वभौम	नैयायिक-दर्शन	१४७५
सिद्धान्तकौमुदी (सूत्र की व्याख्या)	भट्टोजिदीक्षित	व्याकरण	१५७८
सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या	इन्द्रदत्त	"	—
" "	लक्ष्मीनृसिंह	"	१७६५
" "	विश्वेश्वरतीर्थ	"	—
" "	वासुदेव	"	—
सिद्धान्तचन्द्रिका	रामचन्द्राश्रम	जैन-दर्शन	—
"	रामभद्राश्रम	व्याकरण	—
सिद्धान्तचन्द्रिका (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	रामकृष्ण	मीमांसा	१५००
सिद्धान्तचन्द्रोदय (तर्कसंग्रह की टीका)	कृष्णधूर्जटि	वैशेषिक	—
सिद्धान्तदीप (संक्षेप-शारीरक की टीका)	विश्ववेद	अद्वैत-वेदान्त	—
सिद्धान्तबिन्दु (दशश्लोकी की टीका)	मधुसूदनसरस्वती	"	१५६०
सिद्धान्तबिन्दु टीका	सच्चिदानन्द	"	—
सिद्धान्तलेश	अप्पयदीक्षित	"	१५८०
सिद्धान्तलेश की टीका	धर्मय्यदीक्षित	"	१६००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
सिद्धान्तलेश-टीका	रामचन्द्र	अद्वैत-वेदान्त	१७३०
"	विश्वनाथतीर्थ	"	—
सिद्धित्रय	यामुनाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०४०
सुखावतीव्यूह	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
सुबोधिनी (सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका)	सदानन्द	जैन-दर्शन	—
" "	शंकरभट्ट	मीमांसा	१७००
सुबोधिनी (सूत्र की वृत्ति)	नीलकण्ठदैवज्ञ	"	१७५०
"	दामोदरभट्ट	"	—
" (कौमुदी की व्याख्या)	कृष्णमौनी	व्याकरण	१७००
" (वेदांतसार की टीका)	दयाशंकर	अद्वैत-वेदान्त	१७६०
" "	नृसिंहसरस्वती	"	१८७०
" (गीता की टीका)	श्रीधर	"	—
सुरकल्पतरु (तर्कदीपिका की टीका)	श्रीनिवास	वैशेषिक	—
सुवर्णप्रभास	—	बौद्ध-दर्शन	—
सुहल्लेख	नागार्जुन	"	१५०
सूत्र	बृहस्पति	चार्वाक	—
"	जैमिनि	मीमांसा	—
सूत्रपाठ	पाणिनि	व्याकरण	५०० ई० पू०
सूत्रपिटक	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	४०० "
सूत्रवार्तिक	व्याघ्रभूति	व्याकरण	—
सूत्रवार्तिकपाठ	वररुचि	"	३००
सूत्र की वृत्ति	उपवर्ष	मीमांसा	४००
"	हरि	"	१००
"	करविन्द स्वामी	"	—
"	प्रभाकर	"	७७५
"	भर्तृमित्र	"	—
"	भवदास	"	—
"	वाचस्पति मिश्र	"	८४१
"	वेङ्कटाचार्य	"	१३६०
"	श्रीनिवासाध्वरि	"	—
"	वल्लभाचार्य	"	१५२५
"	लौगाक्षिभास्कर	"	१६४०
"	नागेश	"	१७१४
सूत्रवृत्ति	कुणि	व्याकरण	—
"	विट्ठल	"	७४०
"	शिवरामेन्द्र	"	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
सूत्रवृत्ति	सीरदेव	व्याकरण	१२००
,,	अन्नंभट्ट	,,	१६९०
,,	रामचन्द्रभट्टतारे	,,	१७५०
सूत्रवृत्ति की टीका	जयन्त	,,	—
सूत्रालंकार	अश्वघोष	बौद्ध-दर्शन	१२०
सेश्वरमीमांसा (सूत्र की वृत्ति)	वेदान्तदेशिक	मीमांसा	१३५०
सौपर्णश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
सौरभेयागम	—	शैव-दर्शन	—
स्तोत्रावली	उत्पलाचार्य	प्रत्यभिज्ञा	९१०
स्नेहपूर्ति (वेदार्थसंग्रह की टीका)	राममिश्र	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
स्पन्दकारिका	कल्लट	प्रत्यभिज्ञा	८५४
स्पन्दनिर्णय	क्षेमराज	,,	१०२५
स्पन्दप्रदीपिका (स्पन्दकारिका की टीका)	उत्पलवैष्णव	,,	—
स्पन्दविवृति	रामकण्ठ	,,	९५०
स्पन्दवृत्ति (स्पन्दसर्वस्व, स्पन्दकारिका की टीका)	कल्लट	,,	८५४
स्पन्दसंदोह (स्पन्दकारिका की टीका)	क्षेमराज	,,	१०२५
स्पन्दसूत्रवार्तिक (स्पन्दकारिका की टीका)	भास्कर	,,	१०२०
स्पन्दामृत	वसुगुप्त	,,	८२०
स्फोटसिद्धिन्यायविचार	—	व्याकरण	—
स्याद्वादमञ्जरी (वीतरागस्तुति की टीका)	मल्लिषेण	जैन-दर्शन	१२९२
स्याद्वादरत्नाकर (वीतरागस्तुति की टीका)	देवसूरि	,,	११४०
स्वाधिष्ठानप्रभेद	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००
हनुमदीया (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	हनुमान्	न्याय-दर्शन	—
हस्तबल	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००

परिशिष्ट—२

प्रमुख दार्शनिक और उनकी कृतियाँ

१ **अकलङ्कदेव**—७५० । जैन—१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका (तत्त्वार्थवार्तिकालंकार) २. आप्तमीमांसा की टीका (अष्टशती) ।

२ **अक्षपाद**—(गौतम) ३०० ई० पू० । न्याय—सूत्र ।

३ **अखण्डानन्दसरस्वती**—१५८० । अद्वैतवेदान्त—१. विवरण की टीका (तत्त्वदीपन), २. ब्रह्मसूत्रवृत्ति (ऋजुप्रकाशिका), ३. मुक्तिसोपान, ४. अद्वैतरत्नकोश ।

४ **अघोरशिवाचार्य**—११५० । शैव—तत्त्वप्रकाश की टीका ।

५ **अच्युतकृष्णानन्दतीर्थ**—? । अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका (कृष्णालंकार) ।

६ **अच्युतराय मोडक**—१८०० । अ० वे०—पञ्चदशी की टीका ।

७ **अद्वयारण्यमुनि**—१५८० । अ० वे०—वेदान्तकौमुदी ।

८ **अद्वैतानन्दसरस्वती**—१२२५ । अ० वे०—१. शारीरभाष्य की टीका (ब्रह्मविद्याभरण), २. आत्मबोध की टीका (आध्यात्मचन्द्रिका) ।

९ **अनन्त**—११५० । वि० वे०—१. प्रपन्नामृत (रामानुजचरित), २. ब्रह्मलक्षणनिरूपण ।

१० **अनन्त**—(पद्मनाभपुत्र) ? । द्वै०—पदार्थसंग्रह की टीका (मध्वसिद्धान्तसार) ।

११ **अनन्त**—१५७० । न्याय—पदमञ्जरी । वै०—सप्तपदार्थी की टीका ।

१२ **अनन्त**—१६६० । व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या ।

१३ **अनन्तकृष्णशास्त्री**—१९४० । अ० वे०—शतभूषणी तथा अन्य ग्रंथ ।

१४ **अनन्तदेव**—१६७० । मी०—मीमांसान्यायप्रकाश की वृत्ति ।

१५ **अनन्तभट्ट**—? । व्या०—शब्दसुधा । योग—योगचन्द्रिका ।

१६ **अनन्तवीर्य**—१४३९ । जैन—परीक्षामुख की टीका (लघुवृत्ति) ।

१७ **अनिरुद्ध**—१५०० । सांख्य—सूत्रवृत्ति ।

१८ **अन्नंभट्ट**—१६९० । वै०—तर्कसंग्रह और उसकी टीका (प्रायः २० टीकायें) * । व्या०—अष्टाध्यायीसूत्रवृत्ति ।

१९ **अन्नंभट्ट**—१५०० । अ० वे०—सूत्रवृत्ति (मिताक्षरा) ।

२० **अप्पयदीक्षित**—१५३०-८० । शैव—शिवार्कमणिदीपिका । मीमांसा—विधिरसायन । अ० वे०—२. कल्पतरु की टीका (परिमल), २. सिद्धान्तलेश, ३. न्यायमुक्तावली ।

२१ **अभयतिलक**—१०५० । न्या०—न्यायवृत्ति ।

---

* तर्कसंग्रह के टीकाकार—अन्नंभट्ट (दीपिका), नीलकण्ठ (१८३० दीपिकाप्रकाश), लक्ष्मीनृसिंह (१८५० दीपिकाप्रकाश की टीका); श्रीनिवास (तर्कदीपिका की टीका), गोवर्धन (न्यायबोधिनी), कृष्णधूर्जटि, चन्द्रसिंह, विन्ध्येश्वरीप्रसाद, क्षमाकल्याण, हनुमान्, मुरारि (१७१०), मुकुन्दभट्ट (१७१५), मेरुशास्त्री (१८३०) आदि ।

२२ **अभिनवगुप्त**—१००० । प्रत्य०—१. प्रत्यभिज्ञावृत्ति की टीका (विमर्शिनी)—लघु और बृहत् । २. शिवदृष्टि की वृत्ति (आलोचन), ३. परात्रिंशिकाविवरण, ४. तन्त्रालोक, ५. तन्त्रसार, ६. तन्त्रवटधानिका, ७. परमार्थसार, ८. बोधपञ्चदशिका ।

२३ **अमरदास**—? । अ० वे०—१. ईशादि आठ उपनिषदों की वृत्तियाँ (मणिप्रभा), २. वेदान्तपरिभाषा की शिखामणि-टीका पर वृत्ति (मणिप्रभा) ।

२४ **अमलानन्द**—१२५० । अ० वे०—भामती की टीका (कल्पतरु) ।

२५ **अमृतचन्द्र**—९०५ । जैन—१. प्रवचनसार की टीका (अध्यात्मतरंगिणी), २. पञ्चास्तिकाय की टीका, ३. समयसार की टीका (आत्मख्याति) । ४. तत्त्वार्थसार, ५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

२६ **अमोघवर्ष**—८५० । जैन—प्रश्नोत्तरमाला ।

२७ **अरुणाचल**—? । योगसूत्रवृत्ति (योग) ।

२८ **अर्जुनमिश्र**—१६७० । अर्थसंग्रह की टीका (मीमांसा) ।

२९ **अश्वघोष**—१२० । बौद्ध—१. ज्ञानप्रस्थानटीका (= महाविभाषा की टीका), २. सूत्रालंकार, ३. वज्रसूची, ४. महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, ५. बुद्धचरित ।

३० **असङ्ग**—३२० । बौ०—१. योगाचारभूमिशास्त्र, २. सप्तदशभूमिसूत्र, ३. महायानसूत्रालंकार, ४. महायानसंपरिग्रहशास्त्र, ५. उत्तरतन्त्र ।

३१ **असंगभद्र**—३२० । बौ०—१. समयप्रदीप, २. न्यायानुसार ।

३२ **आत्मदेवपञ्चानन**—१७२० । अ० वे०—अभेदाखण्डचन्द्रमा ।

३३ **आनन्दगिरि**—८२५ । अ० वे०—१. शांकरभाष्यव्याख्या, २. गीताभाष्यटीका ।

३४ **आनन्दतीर्थ**—(मध्व, पूर्णप्रज्ञ)—११२०-११९९ । द्वैत०—१. उपनिषद्भाष्य, २. संक्षेपभाष्य, ३. ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४. गीताभाष्य. ५. प्रमाणलक्षण, ६. कथालक्षण, ७. उपाधिखण्डन, ८. मायावादखण्डन, ९. प्रपंचमिथ्यात्वखण्डन, १०. तत्त्वसंख्यान, ११. तत्त्वविवेक, १२. तत्वोद्योत, १३. कर्मनिर्णय, १४. विष्णुतत्त्वनिर्णय, १५. ऋग्भाष्य, १६. न्यायविवरण, १७. कृष्णामृतमहार्णव, १८. तन्त्रसारसंग्रह, १९. सदाचारस्मृति, २०. महाभारततात्पर्यनिर्णय, २१. भागवततात्पर्यनिर्णय, २२. गीतातात्पर्यनिर्णय ।

३५ **आनन्दपूर्ण**—१६०० । अ० वे०—पंचपादिका की टीका ।

३६ **आनन्दबोध**—१२०० ? । अ० वे०—न्यायमकरन्द ।

३७ **आपदेव**—१६३० । मीमांसा—मीमांसान्यायप्रकाश ।

३८ **आर्यदेव**—३५० । बौद्ध—१. मूलमाध्यमिककारिकाभाष्य, २. बोधिसत्त्वयोगाचारचतुःशतक, ३. स्वाधिष्ठानप्रभेद, ४. चित्तशुद्धिप्रकरण, ५. हस्तबल ।

३९ **ईश्वरकृष्ण**—१००-२०० । सांख्य—सांख्यकारिका ।

४० **उत्पलवैष्णव**—९७० । प्रत्यभिज्ञा—स्पन्दकारिका की टीका (स्पन्दप्रदीपिका) ।

४१ **उत्पलाचार्य**—९१० । प्रत्य०—१. शिवदृष्टि की वृत्ति, २. प्रत्यभिज्ञा टीका, ३. प्रत्यभिज्ञाविवरण, ४. सिद्धित्रयी, ५. शिवस्तोत्रावलि ।

४२ **उदयंकर**—१७२० । व्याकरण—१. लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या (ज्योत्स्ना), २. परिभाषाप्रदीपार्चि । योग—योगसूत्रवृत्ति ।

४३ **उदयन**—९८४। न्याय—१. न्यायवार्तिकतात्पर्य की टीका (परिशुद्धि)। २. आत्मतत्त्वविवेक (बौद्धधिक्कार)। ३. न्यायकुसुमाञ्जलि[1]। वैशे०—१. प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (किरणावली)।

४४ **उदयप्रभदेव**—?। जैन—आरंभसिद्धि।

४५ **उदयाकरसूनु**—?। प्रत्य०—शिवदृष्टिसूत्रवृत्ति।

४६ **उद्योतकर**—६३५। न्या०—न्यायवार्तिक (वात्स्यायनभाष्य पर)।

४७ **उपमन्यु**—१८३०। व्या०—काशिकाटीका (तत्त्वविमर्शिनी)।

४८ **उपवर्ष**—२०० ई० पू०। मीमांसा—मीमांसासूत्रवृत्ति।

४९ **उमास्वाति (मी)**—५०। जैन—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र।

५० **कणाद**—१०० ई० पू०। वै०—सूत्र।

५१ **कपिल**—?। सांख्य—१. सूत्र (अप्राप्त), २. तत्त्वसमास (?)।

५२ **कमलाकर**—१५९०। मी०—तन्त्रवार्तिकव्याख्या।

५३ **कल्याणमल्ल**—?। व्याकरण—शब्दरत्नव्याख्या।

५४ **कल्याणरक्षित**—?। बौद्ध—ईश्वरभङ्गकारिका !

५५ **कल्लट**—८५४। प्रत्य०—शिवसूत्रवृत्ति (तत्त्वार्थचिन्तामणि या मधुवाहिनी)।

५६ **कविपति**—?। सांख्य—सांख्यतत्त्वप्रदीप।

५७ **कात्यायन**—(वररुचि)—३०० ई० पू०। व्याकरण—सूत्रवार्तिक।

५८ **कात्यायनीपुत्र**—?। बौद्ध—अभिधर्मज्ञानप्रस्थानसूत्र (महाविभाषा)।

५९ **कुन्दकुन्द**—(पद्मनन्दि, एलाचार्य, वक्रग्रीव)—२५। जैन—१. प्रवचनसार, २. पंचास्तिकायसमयसार, ३. द्वादशानुप्रेक्षा, ४. रयणसार, ५. समयप्राभृत।

६० **कुप्पुशास्त्री**—१७५०। व्याकरण—परिभाषाभास्कर।

६१ **कुमारजीव**—३८०। बौद्ध—मूलमाध्यमिककारिका-वृत्ति।

६२ **कुमारवेदान्ताचार्य**—१४२०। वि० वे०—१. न्यायतिलक की टीका, २. तत्त्वत्रयचुलुक की टीका।

६३ **कुमारिलभट्ट**—७६०। मी०—शबरभाष्य की टीका (श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, टुप्टीका)।

६४ **कूरनारायण**—१३८०। वि० वे०—उपनिषद् वृत्ति।

६५ **कृष्णंभट्ट**—?। अ० वे०—विवरण की टीका।

६६ **कृष्णताताचार्य**—१४५०। वि० वे०—न्यायसिद्धाञ्जन की टीका।

६७ **कृष्णदेव**—६२०। बौद्ध—मध्यमप्रतीत्यसमुत्पाद।

६८ **कृष्णधूर्जटि**—?। वै०—तर्कसंग्रह की टीका (सिद्धान्तचन्द्रोदय)।

६९ **कृष्णमिश्र**—१७००। व्या०—१. शब्दकौस्तुभ की व्याख्या (भावदीप), २. मनोरमा-टीका (कल्पलता), ३. लघुमंजूषा की टीका (कुञ्चिका)। सां०—१. सांख्यकारिका व्याख्या, २. सांख्यसूत्रविवरण।

---

१. (४३) न्यायकुसुमांजलि के टीकाकार—वर्धमान (१२२५), रुचिदत्त (१२९५), वरदराज (१४००), वामध्वज, गुणानन्द, गोपीनाथमौनि, जयराम, चन्द्रनारायण।

आत्मतत्त्वविवेक के टीकाकार—वर्धमान, मथुरानाथ (१५८०), हरिदासमिश्र (१५९०)।

७० **कृष्णमौनि**—१७००। व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (सुबोधिनी)।
७१ **कृष्णयज्वा**— ?। मीमांसा—मीमांसापरिभाषा।
७२ **कृष्णशेष**—१५२०। व्याकरण—पदचन्द्रिका।
७३ **केशवमिश्र**—१२५०। न्याय—तर्कभाषा (प्रायः २५ टीकाओं से सम्मानित)।[1]
७४ **कैयट**—११००। व्या०—महाभाष्य की व्याख्या (प्रदीप)।
७५ **कोण्डभट्ट**—१६४०। व्या०—१. वैयाकरणभूषण, २. भूषणसार (प्रायः ८ टीकायें)।
७६ **क्षेमेन्द्र**—१०८०। बौ०—बोधिसत्त्वावदानकल्पलता।
७७ **खण्डदेव**—१६७०। मी०—सूत्रवृत्ति (भाट्टदीपिका)।
७८ **गङ्गाधरसरस्वती**—१६७५। अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका (बिन्दुशीकर)।
७९ **गङ्गेशोपाध्याय**—११७५। न्याय—तत्त्वचिन्तामणि (नव्यन्याय का प्रवर्तक)।
८० **गणेशदास**—१५७०। न्याय—षोडशपदार्थी।
८१ **गदाधर**—१६५०। न्याय—तत्त्वदीधिति की टीका (गदाधरी)। व्याकरण—१. कारकनिर्णय, २. उपसर्गविचार।
८२ **गुणभद्र**—९००। जैन—आत्मानुशासन।
८३ **गुणमति**—३७०। बौद्ध—अभिधर्मकोष की टीका।
८४ **गुणरत्न**—१४००। तर्करहस्यदीपिका (= षड्दर्शनसमुचय की टीका)।
८५ **गोपालदेशिक**— ?। वि० वे०—रहस्यत्रयसार की टीका।
८६ **गोविंदभगवत्पाद**—७८०। रसेश्वर—रसहृदय। अ० वे०—अद्वैतानुभूति।
८७ **गोविंदाचार्य**—१४००। रसे०—रससार।
८८ **गोविंदानन्द**—१५७०। अ० वे०—शारीरभाष्य की रत्नप्रभा-टीका।
८९ **गौडपादाचार्य**—७५०। शैव—१. शक्तिसूत्र, २. सुभगोदय। सांख्य—कारिकभाष्य। अ० वे०—माण्डूक्यकारिका।
९० **गौतम**—दे० अक्षपाद।
९१ **चक्रपाणिशेष**—१६४०। व्या०—मनोरमाखण्डन।
९२ **चण्डमारुतमहाचार्य**—१४१०। वि० वे०—१. श्रीभाष्य-टीका, २.शतदूषणी-टीका।
९३ **चण्डेश्वर**— ?। अ० वे०—अपरोक्षानुभव की टीका।
९४ **चतुर्भुज**— ?। रसे०—रसहृदय की टीका।
९५ **चन्द्रकान्त**—१८८०। वै०—कणादसूत्रवृत्ति।
९६ **चन्द्रकीर्ति**—५५०। बौद्ध—१. मूलमध्यमकारिका वृत्ति (प्रसन्नपदा), २. माध्यमकावतार।
९७ **चन्द्रगोमि**—६२५। बौद्ध—न्यायालोकसिद्धि।

---

१. (७३) तर्कभाषा की टीका लिखने वाले—चिन्नभट्ट (१३५०), वेंकटाचार्य, रामलिंग (१४६०), गोवर्धन (१५७०), मुरारि (१६१०), शुभविजय (१६१०), विश्वनाथ (१६३४), गौरीकान्त (१६५०), माधवदेव (१६५५), सिद्धचन्द्र (१७४०), माधवभट्ट (१७७०), गणेशदीक्षित (१७८०), वागीश, कौण्डिन्यदीक्षित, बलभद्र, गुडुभट्ट, गोपीनाथमौनि, भास्कर, गोपीनाथठक्कुर, चैतन्यभट्ट, नागेश (१७१४), दिनकर, गंगाधरभट्ट, नारायण आदि।

९८ **चन्द्रप्रभ**—११०० । जैन—न्यायावतार की टीका ।
९९ **चन्द्रसूरि**—११६० । जैन—नन्दिसूत्र की व्याख्या (दुर्गपद) ।
१०० **चित्सुखाचार्य**—१२२५ । अ० वे०—१. खण्डनखण्डखाद्य की टीका, २. प्रत्यक्तत्त्व-प्रदीपिका (चित्सुखी), ३. नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका, ४. शारीरकभाष्य टीका, ५. ब्रह्म-सिद्धि की टीका ।
१०१ **चूडामणि**— ? । न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी ।
१०२ **जगदीश**—१५९० । न्याय—तत्त्वदीधिति पर टिप्पणी (जागदीशी) ।
१०३ **जगन्नाथ**—१६५० । व्या०—मनोरमाकुचमर्दिनी ।
१०४ **जनार्दनभट्ट**—१३२० । द्वैत—भागवततात्पर्यनिर्णय की टीका ।
१०५ **जयकृष्णमौनि** (कृष्णमौनि)—१७०० । व्या०—१. लघुकौमुदी व्याख्या, २. मध्यकौमुदी व्याख्या, ३. सिद्धान्तकौमुदी व्याख्या (सुबोधिनी) ।
१०६ **जयतीर्थ**—११९३-१२६८ । द्वैत—१. आनन्दतीर्थ के ग्रंथों की टीकायें, २. चन्द्रिका, ३. प्रमाणपद्धति, ४. वादावली ।
१०७ **जयदेवमिश्र**—१२७८ । न्याय—तत्त्वचिन्तामणि की टीका (तत्त्वालोक) ।
१०८ **जयनारायण**—? । वै०—कणादसूत्रवृत्ति ।
१०९ **जयन्त**—८८० । न्याय—१. न्यायमंजरी (न्यायसूत्र की वृत्ति); २. न्यायकलिका ।
११० **जयन्त**—१५८० । व्याकरण—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या (तत्त्वचन्द्र) ।
१११ **जयरथ**—११७० । प्रत्य०—तंत्रालोक की टीका ।
११२ **जयराम**—? । न्याय—१. कुसुमांजलि की टीका, २. न्यायसिद्धान्तमाला ।
११३ **जयविजय**—१४५० । जैन—नयोपदेशप्रकरण ।
११४ **जयशेखर**—१५०८ । जैन—उपदेशचिन्तामणि ।
११५ **जयसागर**—१४०० । जैन—संदेहदोहावलि ।
११६ **जयसिंह**—? । न्याय—न्यायसारटीका (तात्पर्यदीपिका) ।
११७ **जयसेन**—? । जैन—धर्मरत्नाकर ।
११८ **जयसोम**—१६०० । जैन—विचाररत्नसंग्रह ।
११९ **जयादित्य और वामन**—८७० । व्याकरण—अष्टाध्यायी टीका (काशिका) ।
१२० **जानकीनाथ भट्टाचार्य**—१३०० । न्याय—न्यायसिद्धान्तमंजरी (प्रायः ८ टीकायें) ।
१२१ **जिनदत्तसूरि**—१२२० । जैन—विवेकविलास ।
१२२ **जिनभद्र**—६०० । जैन—आवश्यकसूत्र-निर्युक्तिभाष्य ।
१२३ **जिनवर्धनसूरि**—१४१५ । वै०—सप्तपदार्थी (शिवादित्यलिखित) की टीका ।
१२४ **जिनहंस**—१५५० । जैन—आचाराङ्गसूत्र की टीका (प्रदीपिका) ।
१२५ **जिनेन्द्रबुद्धि**—९४० । व्याकरण—काशिका की व्याख्या (विवरणपंचिका या न्यास) ।
१२६ **जीवराज**—१४५० । न्याय—१. तर्ककारिका, २. तर्कमंजरी ।
१२७ **जैमिनि**—६०० ई० पू० । मीमांसा—मीमांसासूत्र (दशलक्षणी) ।
१२८ **ज्ञानचंद्र**—१७२० । जैन—समयसार की टीका ।
१२९ **ज्ञानचंद्र**—१३५० । जैन—रत्नाकरावतारिका की टीका (पंजिका) ।
१३० **ज्ञानचंद्र**—६०० । वै०—दशपदार्थी ।

२३१ **ज्ञानपूर्ण**—?। न्याय—तार्किकरक्षा की टीका।

१३२ **ज्ञानसागर**—१३८०। जैन—आवश्यकसूत्र की टीका (ज्ञानसागरी)।

१३३ **ज्ञानानन्द**—?। सांख्य—सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीका। योग—योगसूत्र की वृत्ति।

१३४ **ज्ञानामृत**—?। सांख्य—सांख्यसूत्रवृत्ति।

१३५ **ज्ञानेन्द्रसरस्वती**—१६४०। व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (तत्त्वबोधिनी)

१३६ **ज्ञानोत्तममिश्र**—?। अ० वे०—१. इष्टसिद्धि की टीका, २. नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका (चन्द्रिका)।

१३७ **टंकाचार्य**—?। वि० वे०—ब्रह्मसूत्र की वृत्ति।

१३८ **तम्मणाचार्य**—?। द्वैत—कृष्णामृत-महार्णव की टीका (न्यायविवरण)।

१३९ **तर्कचूडामणि**—?। न्याय—तत्त्वचिन्तामणि की टीका (प्रकाश)।

१४० **तारानाथ**—?। व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (सरला)।

१४१ **तिलकाचार्य**—१२४०। जै०—आवश्यकसूत्र की टीका।

१४२ **त्रिलोचन**—?। वै०—मुक्तावली टीका (त्रिलोचनी)।

१४३ **दयाशंकर**—१७६०। अ० वे०—वेदान्तसार की टीका (सुबोधिनी)।

१४४ **दामोदरभट्ट**—?। मी०—सूत्रवृत्ति (सुबोधिनी)।

१४५ **दिङ्नाग**—४००। बौद्ध—१. प्रमाणसमुच्चय, २. आलम्बनपरीक्षा, ३. न्यायप्रवेश, ४. प्रमाणशास्त्रप्रवेश, ५. नयोद्धार, ६. नयमुख।

१४६ **दिनकर**—१६९०। न्या०—तर्कभाषा की टीका (कौमुदी)। महादेव के साथ मिलकर—मुक्तावली की टीका (दिनकरी)।

१४७ **देवक्षेम**—?। बौद्ध—विज्ञानकाय।

१४८ **देवदत्त**—१७५०। रसे०—धातुरत्नमाला।

१४९ **देवनन्दी** (जिनेन्द्रबुद्धि, पूज्यपाद)-७००। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका(सर्वार्थसिद्धि)।

१५० **देवर्द्धिगणि**—४३०। जैन—नन्दिसूत्र।

१५१ **देवसूरि**—११४०। जैन—१. प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार २. उसकी टीका (स्याद्वादरत्नाकर)।

१५२ **देवेन्द्र**—१२७१। जैन—शब्दानुशासन टीका (लघुन्यास)।

१५३ **देवेन्द्रगणि**—१०६०। जैन—उत्तराध्ययनसूत्रटीका।

१५४ **देवेश्वर**—८२५। दे०—मण्डनमिश्र।

१५५ **द्रमिडाचार्य**—?। वि० वे०—ब्रह्मसूत्रभाष्य।

१५६ **धनपति**—१८००। अ० वे०—१. गीता की टीका, २. वेदान्तपरिभाषा की टीका (अर्थदीपिका)।

१५७ **धरणीधर**—?। व्याकरण—पाणिनिसूत्रवृत्ति (वैयाकरणसर्वस्व)।

१५८ **धर्मकीर्ति**—६३५। बौद्ध—१. प्रमाणसमुच्चय की टीका (प्रमाणवार्तिक), २. संतानान्तरसिद्धि, ३. न्यायबिन्दु, ४. प्रमाणविनिश्चय, ५. हेतुबिन्दु, ६. संबन्धपरीक्षा, ७. चोदनाकरण।

१५९ **धर्मय्यदीक्षित**—१६००। अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका।

१६० **धर्मराजाध्वरीन्द्र**—१५७०। अ० वे०—१. पञ्चपादिका टीका (पददीपिका), २. वेदान्तपरिभाषा।

१६१ **धर्मसागर**—१५७३। जै०—प्रवचनपरीक्षा।

१६२ **धर्मोत्तर**—८५०। बौ०—न्यायबिन्दु की टीका।

१६३ **नकुलीश**—(लकुलीश)—?। पाशु०—पञ्चार्थसूत्र (पञ्चाध्यायी)।

१६४ **नन्दिकेश्वर**—?। शैव—नन्दिकेश्वरकारिका।

१६५ **नरहरि**—?। द्वैत—ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (भावप्रकाश)।

१६६ **नरेश्वर**—?। शैव—शिवसूत्र की टीका।

१६७ **नागार्जुन**—१५०। बौद्ध—१. मूलमध्यमकारिका, २. सुहृल्लेख, ३. शतशास्त्र, ४. माध्यमकावतार, ५. धर्मसंग्रह।

१६८ **नागार्जुन**—४००। रसे०—रसरत्नाकर।

१६९ **नागेश**—१७१४। न्याय—१. न्यायसूत्रवृत्ति, २. तर्कभाषा की टीका। वै०—कणादसूत्र की वृत्ति। मी०—जैमिनिसूत्रवृत्ति। व्याकरण—१. प्रदीप की टीका (उद्योत), २. शब्दकौस्तुभ की व्याख्या (विषमी), ३. शब्देन्दुशेखर के दो संस्करण (बृहत और लघु), ४. परिभाषेन्दुशेखर, ५. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा के तीन संस्करण बृहत, लघु और परम लघु)। [1]यो०—सूत्रवृत्ति (लघुवृत्ति) और छाया।

१७० **नाथमुनि**—?। वि० वे०—विष्णुपुराण की टीका।

१७१ **नारायण**—१५८०। मी०—शास्त्रदीपिका की व्याख्या।

१७२ **नारायण**—?। व्या०—१. प्रदीप की टीका (विवरण), २. सूत्रवृत्ति (शब्दभूषण)।

१७३ **नारायणकण्ठ**—१०००। शैव—ग्रंथ अज्ञात।

१७४ **नारायणतीर्थ**—१६५०। वैशेषिक—भाषापरिच्छेद की टीका (न्यायचन्द्रिका)। सांख्य—१. सांख्यकारिका पर गौडपाद-भाष्य की टीका (चन्द्रिका), २. सांख्यतत्वकौमुदी की टीका। अ० वे०—आत्मबोध की टीका (बालबोधिनी)।

१७५ **नारायणभट्ट**—?। मी०—सूत्र की वृत्ति (नयोद्योत), २. भाट्टभाषाप्रकाशिका।

१७६ **नारायणभिक्षु**—१६००। यो०—योगसूत्र की वृत्ति (गूढार्थदीपिका)।

१७७ **नारायणमुनि**—१४१५। वि० वे०—१. वेदान्तरक्षा, २. तत्त्वसंग्रह।

१७८ **नारायणसरस्वती**—१६००। अ० वे०—शारीरभाष्य की टीका (भाष्यवार्तिक)।

---

१. (१६९) लघुशब्देन्दुशेखर के टीकाकार—उदयंकर (१७२० ज्योत्स्ना), बालंभट्ट (१७५० चिदस्थिमाला), राजाराम (१७६०), भैरवमिश्र (१७८० चन्द्रकला), सदाशिवभट्ट (१७९०), पाठक (१७९५), भास्करशास्त्री (१८१० विवरण), राघवाचार्य (१८२० विषमी), वासुदेवशास्त्री (१८९० गूढार्थप्रकाश)।

परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार—बालंभट्ट (गदा), इन्दिरापति (१७६० परीक्षा), मन्नुदेव (१७६० दोषोद्धरण), भीमभट्ट (१७६० भैमी), शंकरभट्ट (१७६० शांकरी), लक्ष्मीनृसिंह (१७६५ त्रिशिखा), हरिनाथद्विवेदी (१७८० अकाण्डताण्डव), भैरव (भैरवी), पाठक, एक अज्ञात लेखक (अम्बाकर्त्री, १८००), राघवाचार्य (१८१० त्रिपथगा), विष्णुभट्ट (१८४०, चिच्चन्द्रिका), वासुदेवशास्त्री (१८९०, तत्त्वादर्श), तात्याशास्त्री (१८९७, भूति), जयदेवमिश्र (१९२० ? विजया)।

१७९ **नारायणाश्रम**—१५६०। अ० वे०—१. भेदधिक्कार की टीका (सत्क्रिया), २. अद्वैतदीपिकाविवरण।

१८० **निगमज्ञानदेशिक**—?। शैव—शिवज्ञानबोध सूत्र की वृत्ति।

१८१ **नित्यनाथ**—१३००। रसेश्वर—रसरत्नाकर।

१८२ **नित्यानन्द**—?। अ० वे०—छान्दोग्य और बृहदारण्यक की वृत्तियाँ (मिताक्षरा)।

१८३ **नीलकण्ठ**—१६५०। शैव—ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका का तात्पर्य (क्रियासार)।

१८४ **नीलकण्ठ**—१८३०। वै०—तर्कदीपिका-प्रकाश।

१८५ **नीलकण्ठ**—१६४०। व्याकरण—१. प्रदीप की टीका (कैयटप्रकाश), २. सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य), ३. पाणिनीयदीपिका।

१८६ **नीलकण्ठदैवज्ञ**—१७५०। मो०—सूत्रवृत्ति (सुबोधिनी)।

१८७ **नृसिंहदीक्षित**—१६००। अ० वे०—भेदधिक्कार की टीका।

१८८ **नृसिंहमुनि**—१५००। अ० वे०—विवरणभावप्रकाशिका।

१८९ **नृसिंहसरस्वती**—१८७०। अ० वे०—वेदान्तसार की टीका।

१९९ **नृसिंहाश्रम**—१५५०। अ० वे०—१. संक्षेपशारीरक की टीका (तत्त्वबोधिनी), २. भेदधिक्कार, ३. अद्वैतदीपिका।

१९१ **नेमिचन्द्र**—१०००। जैन—१. द्रव्यसंग्रह, २. गोम्मटसार, ३. क्षपणकसार।

१९२ **नैनाराचार्य**—१४१५। वि० वे०—१. तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका (कान्ति), २. तत्त्वत्रयचुलुक, ३. रहस्यत्रयचुलुक।

१९३ **पक्षधरमिश्र**—(पक्षेश्वर)— ?। न्या०—तत्त्वचिन्तामणि की टीका।

१९४ **पतञ्जलि**—१५० ई० पूर्व। व्या०—महाभाष्य। यो०—योगसूत्र।[1]

१९५ **पद्मनन्दि**—२४। दे० कुन्दकुन्द।

१९६ **पद्मनाभ**— ?। न्याय—वर्धमान के न्यायनिबन्धप्रकाश की टीका। [न्यायसूत्र—भाष्य (वात्स्यायन)—वार्त्तिक (उद्योतकर)—तात्पर्यटीका (वाचस्पति)—परिशुद्धि (उदयन)—न्यायनिबन्धप्रकाश (वर्धमान)—वर्धमानेन्दु (पद्मनाभ)।] वै०—किरणावली की टीका (भास्कर)। द्वैत—पदार्थसंग्रह।

१९७ **पद्मपाद**—८५५। शैव—प्रपञ्चसार-टीका। अ० वे०—शारीरभाष्य की टीका।

१९८ **परकाल**—१३९०। वि० वे०—१. श्रीभाष्यटीका (मितप्रकाशिका), २. रहस्यत्रयसार की टीका (सारप्रकाशिका)।

१९८ **परशुराम**— ?। शैव—विद्याकल्पसूत्र।

२०० **पशुपति**— ?। पाशुपत—पञ्चार्थविद्या।

२०१ **पाठक**—१७९५। व्याकरण—१. लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या, २. परिभाषेन्दुशेखर की व्याख्या।

---

१. (१९४) योगसूत्र के टीकाकार—व्यास (१००), वृद्धभोज (६००), भोजराज (१०२१), विज्ञानभिक्षु (१५५०), भावागणेश (१५७५), रामानन्द सरस्वती (१६००), नारायणभिक्षु (१६००), भवदेव (१६३०), उदयंकर (१७२५), नागेश (१७२५), अनन्तभट्ट, अरुणाचल, ज्ञानानन्द, सदाशिवभट्ट, महादेवभट्ट, वृन्दावन।

२०२ **पाणिनि**—५०० ई० पू० । व्याकरण—अष्टाध्यायीसूत्रपाठ ।

२०३ **पार्थसारथिमिश्र**—९०० । मी०—१. श्लोकवार्तिक की व्याख्या (न्यायरत्नाकर), तन्त्रवार्तिक की व्याख्या (न्यायरत्नमाला), ३. मीमांसासूत्र की वृत्ति, ४. शास्त्रदीपिका,[1] ५. तन्त्ररत्न ।

२०४ **पुञ्जराज**—(पुण्यराज)— ? व्या०—वाक्यपदीय की व्याख्या (किरणप्रकाश) ।

२०५ **पुरुषोत्तम**—१३०० । व्या०—प्रयोगरत्नमाला ।

२०६ **पुरुषोत्तमप्रसाद**— ? । वि० वे०—श्रुत्यन्तसुरद्रुम ।

२०७ **पुरुषोत्तमसरस्वती**—१६२५ । अ० वे०—सिद्धान्तबिन्दुटीका ।

२०८ **पुरुषोत्तमसोमयाजी**— ? अ० वे०—संक्षेपशारीरक की टीका ।

२०९ **पुष्कर** (मृगेन्द्र)— ? । शैव—१. कामिकागम, २. करणागम, ३. सौरभेयागम, ४. पौष्करागम, ५, किरणागम ।

२१० **पूज्यपाद** (देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि)—७०० । जै०—त० सू० की टीका (सर्वार्थसिद्धि) ।

२११ **पूर्ण**—? । बौद्ध—धातुकाय ।

२१२ **पूर्णप्रज्ञ**—दे० आनन्दतीर्थ ।

२१३ **पूर्णानन्दतीर्थ**—? । अ० वे०—सिद्धान्तबिन्दु की टीका (तत्त्वविवेक) ।

२१४ **प्रकाशात्ममुनि**—१२०० । अ० वे०—१. पंचपादिकाविवरण, २. शाब्दनिर्णय ।

२१५ **प्रकाशानन्द**—१५६५ । अ० वे०—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली ।

२१६ **प्रत्यक्स्वरूप**—१५०० । अ० वे०—चित्सुखी की टीका ।

२१७ **प्रभाकर**—७७५ । मीमांसा—सूत्र की व्याख्या ।

२१८ **प्रभाचन्द्र**—८८५ । जैन—१. उपासनाध्ययन की टीका, २. परीक्षामुख की टीका (प्रमेयकमलमार्तण्ड) ।

२१९ **प्रभाचन्द्र**—१३०० । जैन—१. आत्मानुशासन की टीका, २. समयसार की टीका ।

२२० **प्रभानन्द**—१३२० । जैन—वीतरागस्तुति की टीका ।

२२१ **प्रशस्तपाद**—४५० । वै०—कणादसूत्रभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) ।[2]

२२२ **बच्चाशर्मा**—? । अ० वे०—गीता की गूढार्थदीपिका (लेखक-मधुसूदन) की टीका ।

२२३ **बलभद्र**—१५५० । वै०—सप्तपदार्थी की टीका ।

२२४ **बादरायण**—(व्यास)—१०० ई० पू० ? । वेदान्त—ब्रह्मसूत्र ।

---

१. (२०३) शास्त्रदीपिका की टीकायें—सिद्धान्तचन्द्रिका (रामकृष्ण १५००), कर्पूरवार्तिक (सोमेश्वर १५००), मयूखमालिका (सोमनाथ १५४०), नारायण की व्याख्या (१५८०), आलोक (कमलाकर १५९०), भाट्टदिनकर (१६००), प्रकाश (शंकरभट्ट १७००), प्रभा (बालंभट्ट १७५०) ।

२. (२२१) पदार्थधर्मसंग्रह के टीकाकार—व्योमशिवाचार्य (९८० व्योमवती), उदयन (९८४ किरणावली), श्रीधर (९९१ न्यायकन्दली), श्रीवत्साचार्य (१०२५ लीलावती), शंकरमिश्र (१४२५ कणादरहस्य), जगदीश (१५९० भाष्यसूक्ति) ।

२२५ **बालंभट्ट** (वैद्यनाथ पायगुण्डे)—१७५०। मी०—सूत्रवृत्ति (न्यायबिन्दु)। व्याकरण—१. उद्योत की टीका (छाया), २. शब्दकौस्तुभ की व्याख्या (उद्योत), ३. शब्दरत्न की व्याख्या (भावप्रकाश), ४. लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या (चिद-स्थिमाला), ५. परि० की टीका (गदा), ६. लघुमञ्जूषा की टीका (कला)।

२२६ **बालकृष्णभट्ट**—?। वै०—मुक्तावली टीका (प्रकाश)।

२२७ **बालचन्द्र**—११२०। जैन—समयसार की टीका।

२२८ **बुद्धघोष**—४००। बौद्ध—विशुद्धिमार्ग।

२२९ **बुद्धपालित**—४००। बौ०—मूलमध्यमकारिका की वृत्ति।

२३० **बृहस्पति**—?। चार्वाक—सूत्र।

२३१ **बोधेन्द्र**—?। अ० वे०—आत्मबोध की टीका (भावप्रकाशिका)।

२३२ **बोपदेव**—११८०। अ० वे०—मुक्ताफल। व्याकरण—कामधेनु।

२३३ **बौधायन**—३०० ई० पू०। वेदान्त—ब्रह्मसूत्रवृत्ति। मी०—सूत्रवृत्ति।

२३४ **ब्रह्मानन्दसरस्वती**—१५६५। अ० वे०—१. ईशावास्यरहस्य, २. सिद्धान्तबिन्दु की टीका (न्यायरत्नावली), ३. अद्वैतसिद्धि की व्याख्या; ४. वेदान्तमुक्तावली।

२३५ **भगवत्तीर्थ**—?। द्वैत—ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (भावप्रकाशिका)।

२३६ **भगीरथमेघ**—१५७०। न्याय—द्रव्यप्रकाशिका।

२३७ **भट्टदिनकर**—१६००। मीमांसा—शास्त्रदीपिका की व्याख्या (भाट्टदिनकर)।

२३८ **भट्टोजिदीक्षित**—१५७८। व्याकरण—१. शब्दकौस्तुभ (सूत्र की टीका), २. सिद्धान्तकौमुदी, ३. प्रौढमनोरमा (सि० कौ० की व्याख्या)।[1] अ० वे०—१. तत्त्वकौस्तुभ, २. अद्वैतकौस्तुभ।

२३९ **भदन्त**—?। बौद्ध—१. प्रज्ञापारमितासूत्र, २. तथागतगुह्यसूत्र, ३. महायानसूत्र, ४. लङ्कावतारसूत्र, ५. ललितविस्तरसूत्र, ६. वज्रच्छेदिका, ७. सुखावतीव्यूह, ८. सद्धर्मपुण्डरीक महाविभाषा, ९. संयुक्ताभिशास्त्र।

२४० **भद्रबाहु**—२०० ई० पू०। जैन—१. कल्पसूत्र, २. दस निर्युक्ति-ग्रन्थ।

२४१ **भरद्वाज**—?। वै०—कणादसूत्रवृत्ति।

२४२ **भर्तृमित्र**—?। मी०—सूत्रवृत्ति की व्याख्या।

२४३ **भवदास**—?। मी०— " ।

२४४ **भवदेव**—१६३०। मी०—तंत्रवार्तिकव्याख्या (तौतातिततिलक)। सां०—सांख्य-कारिकावृत्ति। यो०—योगसूत्र की वृत्ति।

२४५ **भवनाथ**—१३६०। मी०—मीमांसानयविवेक (सूत्रवृत्ति)।

२४६ **भवानन्द**—१६००। न्याय—तत्त्वदीधिति की टीका।

---

१. (२३८) सिद्धान्तकौमुदी की अन्य टीकायें और टीकाकार—तत्त्वबोधिनी (ज्ञानेन्द्र-सरस्वती १६४०), सुबोधिनी (कृष्णमौनि १७००), वासुदेवदीक्षित की बालमनोरमा (१६६०), नीलकण्ठ का वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य (१६६०), रामकृष्ण का वैयाकरण-सिद्धान्तरत्नाकर (१६७०), नागेश (१७१४) के शब्देन्दुशेखर (लघु और बृहत्), कृष्णमिश्र का रत्नार्णव (१७५०), लक्ष्मीनृसिंह (१७६५), इन्द्रदत्त, विश्वेश्वरतीर्थ, तारानाथ (सरला)।

२४७ **भारतीयति**—१४०० । सांख्य—सांख्यतत्त्वकौमुदी की व्याख्या ।
२४८ **भावविवेक**—६०० । बौद्ध—१. मूलमध्यमकारिका की वृत्ति (प्रज्ञाप्रदीप), २. तर्क-ज्वाला (दर्शनसंग्रह), ३. मध्यमहृदयकारिका ।
२४९ **भावागणेश**—१५७५ । सांख्य—१. सांख्य-समाससूत्र की टीका, २. सांख्यसार, ३. सांख्यपरिभाषा, ४. सांख्यतत्त्वप्रदीपिका ।
२५० **भासर्वज्ञ**—९७५ । पाशुपत—नकुलीशयोगपारायण । न्याय—न्यायसार ।
२५१ **भास्कर**—१०२० । प्रत्य०—शिवसूत्रवार्तिक ।
२५२ **भास्करराय**—१५९० । शैव—१. नित्याषोडशिकार्णव-सेतु, २. भावनोपनिषद्-भाष्य, ३. श्रीसूक्तभाष्य, ४. कौलोपनिषद् भाष्य, ५. वरिवस्यारहस्य, ६. ललिता-सहस्रभाष्य, ७. गुप्तवती (सप्तशती की टीका) ।
२५३ **भास्करशास्त्री**—१८१० । व्याकरण—लघुश० की व्याख्या ।
२५४ **भोजराज**—१०६० । शैव—तत्त्वप्रकाश । यो०—योगसूत्रवृत्ति (राजमार्तण्ड) ।
२५५ **भैरवतिलक**—१७६० । अ० वे०—ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरण ।
२५६ **भैरवमिश्र**—१७८० । व्याकरण—१. लघुश० की व्याख्या (चन्द्रकला), २. परिभाषेन्दुशेखर की टीका (भैरवी), ३. वैयाकरणभूषणसार की टीका (परीक्षा) ।
२५७ **मङ्गलधर्माचार्य**— ? द्वैत—षट्प्रश्नोपनिषद्-भाष्यटीका विवरण ।
२५८ **मण्डनमिश्र**—(विश्वरूप, देवेश्वर, सुरेश्वराचार्य)—८२५ । मीमांसा—१. तन्त्र-वार्तिक व्याख्या, २. मीमांसानुक्रमणी, ३. विधिविवेक (वाचस्पतिकृत न्यायकणिका से सम्मानित) । अ० वे०—१. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, २. तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य, वार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि ।
२५९ **मथनसिंह**—१७०८ । रसे०—रसनक्षत्रमालिका ।
२६० **मथुरानाथ**—१५८० । न्याय—१. आत्मतत्त्वविवेक की टीका, २. तत्त्वदीधिति की टीकायें (तत्त्वालोकरहस्य, माथुरानाथी) ।
२६१ **मदनान्तदेवसूरि**— ? । रसे०—रसचिन्तामणि ।
२६२ **मधुसूदनसरस्वती**—१५६० । अ० वे०—१. संक्षेपशारीरक की टीका (सारसंग्रह-दीपिका), २. दशश्लोकी-टीका (सिद्धान्तबिन्दु),[1] ३. प्रस्थानभेद, ४. अद्वैतरत्न-रक्षण, ५. वेदान्तकल्पलतिका, ६. अद्वैतसिद्धि, ७. ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश, ८. भक्ति-रसायन ।
२६३ **मध्यमन्दिर**—दे० आनन्दतीर्थ ।
२६४ **मन्तुदेव**—१७६० । व्या०—वैयाकरणभूषणसार की टीका (लघु और बृहत् दर्पणा) ।
२६५ **मलधारिराजशेखर**—१३४८ । जैन—१. द्रव्यसंग्रह, २. षड्दर्शनसमुच्चय (की टीका?) ।
२६६ **मलयगिरि**—१२५० । जैन—उपाङ्गग्रन्थों की टीका ।
२६७ **मल्लवाक्याचार्य**—११६० । बौद्ध—न्यायबिन्दु की टीका ।
२६८ **मल्लारि**—१६०४ । रसे०—रसकौतुक ।

---

१. सिद्धान्तबिन्दु के टीकाकार—पुरुषोत्तम सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, पूर्णानन्दतीर्थ (तत्त्वविवेक), सच्चिदानन्द, वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर (१९२१) ।

२६९ **मल्लिनाथ**—१३५०। न्याय—तार्किकरक्षा की टीका (निष्कण्टक)। वै०—सप्तपदार्थी की टीका (निष्कण्टक)।

२७० **मल्लिषेण**—१२९२। जैन—स्याद्वादमञ्जरी (वीतरागस्तुति की टीका)।

२७१ **महादेव**—१६९०। दे० दिनकर।

२७२ **महादेवभट्ट**—१५३०। न्या०—न्यायसूत्रवृत्ति (मितभाषिणी)। यो०—योगसूत्रवृत्ति।

२७३ **महादेवसरस्वती**—१७००। सांख्य—सूत्रवृत्तिटीका। अ० वे०—तत्त्वानुसंधान।

२७४ **महानन्द**—१८२०। व्या०—वैयाकरणभूषणसार की टीका।

२७५ **महामिश्र**— ?। व्या०—काशिकान्यास की व्याख्या (व्याकरणप्रकाश)।

२७६ **महेन्द्रमुनि**— ?। जैन—ज्ञानोदयसारसंग्रह।

२७७ **माठराचार्य**—१००। सां०—सांख्यकारिका की वृत्ति।

२७८ **माणिक्यनन्दी**—८००। जैन—१. आप्तपरीक्षाटीका (परीक्षामुख), २. प्रमेयरत्नमाला।

२७९ **माधवदेव**—१६५५। न्याय—१. न्यायसार, २. तर्कभाषा की टीका।

२८० **माधवाचार्य** (विद्यारण्य)—१३५०। मीमांसा—जैमिनीयन्यायमालाविस्तर। व्याक०—धातुवृत्ति। अ० वे०—१. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार, २. तैत्तिरीयोपनिषद् दीपिका, ३. विवरणप्रमेयसंग्रह, ४. वैयासिकन्यायमाला, ५. जीवन्मुक्तिविवेक, ६. पञ्चदशी। दर्शन—सर्वदर्शनसंग्रह।

२८१ **मानतुंग**—६००। जैन—भक्तामरस्तोत्र।

२८२ **मित्रमिश्र**—१५८०। न्याय—१. सूत्रभाष्यटीका (न्यायदीप), २. पदार्थचन्द्रिका।

२८३ **मुद्गलसूरि**— ?। वि० वे०—शतदूषणी (वेदान्तदेशिक ?)।

२८४ **मुनिसुन्दर**—१४२५। जैन—अध्यात्मकल्पद्रुम।

२८५ **मृगेन्द्र**—दे० पुष्कर।

२८६ **मेरुतुंग**—१३००। जैन—१. षड्दर्शनविचार, २. प्रबन्धचिन्तामणि।

२८७ **मोहनभट्ट**— ?। वै०—तर्ककौमुदी की टीका।

२८८ **मौद्गलायन**— ?। बौ०—प्रज्ञप्तिशास्त्र।

२८९ **यदुपति**—१८००। द्वैत—१. न्यायसुधाटीका, २. तत्त्वविवेकटीका, ३. तत्त्वसंख्यानटीका।

२९० **यशोधर**—१२६०। रसे०—रसप्रकाशसुधाकर।

२९१ **यशोमित्र**—३४०। बौद्ध—अभिधर्मकोष की टीका (स्फुटार्था)।

२९२ **यशोविजय**—१५००। जैन—१. मार्गपरिशुद्धि, २. नयप्रदीप।

२९३ **यशोविजय**—१६८०। जैन—१. अध्यात्मपरीक्षा, २. ज्ञानबिन्दु, ३. नयप्रदीप, ४. ज्ञानसार, ५. अध्यात्मसार।

२९४ **याज्ञवल्क्य**—?। योग—१. योगयाज्ञवल्क्य, २. याज्ञवल्क्योपनिषद्, ३. हठप्रदीपिका, ४. योगानुशासन, ५. राजयोग।

२९५ **यादवप्रकाश**—१२६०। वि० वे०—यतिधर्मसमुच्चय।

२९६ **यामुनाचार्य**—१०४०। वि० वे०—१. आगमप्रामाण्य, २. सिद्धित्रय, ३. गीतार्थसंग्रह, ४. स्तोत्ररत्न।

२९७ **योगराज**—१०५०। प्रत्य०—परमार्थसार-टीका।

२९८ **योगानन्द**— ? । सां०—सांख्यकारिकाटीका ।
२९९ **रक्षित**— ? । व्या०—धातुपाठ की टीका (धातुप्रदीप) ।
३०० **रघुनाथ**—१३०० । न्याय—१. तत्त्वचिन्तामणि की टीका (तत्त्वदीधिति), २. पदार्थखण्डन ।
३०१ **रघुनाथ**—१८०० । सांख्य—सांख्यतत्त्वविलास ।
३०२ **रघुनाथशास्त्री**—१८६० । न्याय—गदाधरी-टीका (न्यायरत्न) ।
३०३ **रघुनाथशास्त्री**—१९६० । व्या०—वाक्यपदीय-टीका (अम्बाकर्त्री) ।
३०४ **रघूत्तमयति**—? । द्वैत—१. जयतीर्थ की टीकाओं की व्याख्यायें, २. आनन्दतीर्थ के बृहदारण्यकभाष्य की व्याख्या ।
३०५ **रङ्गनाथ**—? । व्याकरण—पदमञ्जरी (हरदत्त) की व्याख्या (मकरन्द) ।
३०६ **रङ्गराज**—१३५० । वि० वे०—विषयवाक्यदीपिका ।
३०७ **रङ्गरामानुज**—१३०० । वि० वे०—१. श्रुतप्रकाशिका की टीका, २. न्यायसिद्धाञ्जन की टीका, ३. उपनिषद्भाष्य ।
३०८ **रङ्गोजिभट्ट**—१६२५ । अ० वे०—अद्वैतचिन्तामणि ।
३०९ **रत्नप्रभ**—११८१ । जैन—स्याद्वादरत्नाकर की वृत्ति (अवतारिका) ।
३१० **रत्नेश**—? । व्या०—लक्षणसंग्रह ।
३११ **रम्यजामातृमुनि**—१४१० । वि० वे०—तत्त्वनिरूपण ।
३१२ **रम्यदेव**—? । अ० वे०—इष्टसिद्धिटीका ।
३१३ **राघवाचार्य**—१८२० । व्या०—१. शब्दकौस्तुभव्याख्या (प्रभा), २. लघुश० की व्याख्या (विषमी), ३. परिभा० की व्याख्या (त्रिपथगा) ।
३१४ **राघवानन्द**—१६०० । मी०—भाट्टसंग्रह ।
३१५ **राघवेन्द्रतीर्थ**—? । द्वैत—१. तर्कताण्डवटीका, २. न्यायकल्पलताटीका (भावदीप), ३. वादावलीटीका (भावदीपिका), ४. चन्द्रिकाटीका (प्रकाश), ५. उपनिषद्-व्याख्या, ६. संक्षेपभाष्यविवृति (तत्त्वमञ्जरी) ।
३१६ **राजानकलासक**—? । प्रत्यभिज्ञा—गीता-टीका (लासकी) ।
३१७ **राजारामदीक्षित**—१७६० । व्या०—लघुमञ्जूषा-टीका ।
३१८ **राधामोहन**—? । न्याय—न्यायसूत्रविवरण ।
३१९ **रामकण्ठ**—९५० । प्रत्य०—१. स्पन्दकारिका टीका (विवृति), २. भगवद्गीता-टीका ।
३२० **रामकृष्ण**—? । वि० वे०—विशिष्टाद्वैतसंग्रह ।
३२१ **रामकृष्ण**—१५०० । मीमांसा—१. शास्त्रदीपिका व्याख्या, २. मीमांसासूत्रवृत्ति (प्रकाशिका) ।
३२२ **रामकृष्ण**—१३७५ । अ० वे०—पञ्चदशी की टीका ।
३२३ **रामकृष्णाध्वरीन्द्र**—१६०० । अ० वे०—वेदान्तपरिभाषा की टीका (शिखामणि) ।
३२४ **रामकृष्णानन्द**—? । व्याकरण—महाभाष्य की टीका ।
३२५ **रामचन्द्र**—१७३५ । रसे०—रसेन्द्रचिन्तामणि ।
३२६ **रामचन्द्र**—१४२० । व्या०—प्रक्रियाकौमुदी ।
३२७ **रामचन्द्र**—? । सां०—सांख्यसूत्रवृत्ति ।
३२८ **रामचन्द्र**—१७३० । अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका ।

३२९ **रामचन्द्र**—१५६५ । अ० वे०—१. अद्वैतप्रकाश, २. अद्वैतरहस्य, ३. अद्वैत-निर्णयसंग्रह

३३० **रामचन्द्रशेष**—१५६० । व्या०—प्रक्रियाकौमुदी की टीका (गूढभाववृत्ति) ।

३३१ **रामचन्द्राश्रम**—? । जैन—सिद्धान्तचन्द्रिका ।

३३२ **रामतीर्थ**—१६२५ । अ० वे०—१. संक्षेपशारीरक की टीका (अन्वयार्थप्रकाशिका), २. उपदेशसाहस्रीटीका, ३. वेदान्तसारटीका (विद्वन्मनोरञ्जनी) ।

३३३ **रामरुद्र**—१७०० । वै०—दिनकरी की टीका ।

३३४ **रामसुब्रह्मण्य**—१५८० । अ० वे०—वेदान्तमुक्तावली की टीका ।

३३५ **रामानन्दसरस्वती**—१६०० । योग—सूत्रवृत्ति (मणिप्रभा) । अ० वे०—सूत्रवृत्ति (ब्रह्मामृतवर्षिणी) ।

३३६ **रामानुजाचार्य**—(१०१९-११३९) । वि० वे०—१. श्रीभाष्य (ब्रह्मसूत्र पर)[१], २. वेदान्तदीप, ३. वेदान्तसार, ४. वेदार्थसंग्रह, ५. गीताभाष्य, ६. रहस्यत्रय ।

३३७ **रामेश्वर**—? । शैव—विद्याकल्पसूत्र-वृत्ति (सौभाग्योदय) ।

३३८ **राशीकरभट्ट**—३५० । पाशु०—पञ्चार्थसूत्रभाष्य ।

३३९ **रुद्र**—१६५० । वै०—मुक्तावलीटीका (रौद्री) ।

३४० **लक्ष्मणसूरि**—? । मी०—सूत्रवृत्ति । व्या०—महाभाष्यटीका (आदर्श) ।

३४१ **लक्ष्मणाराध्य**—? । वि० वे०—अद्वैतरत्न ।

३४२ **लक्ष्मीधर**—१३२० । शैव—सौन्दर्यलहरी की टीका । अ० वे०—अद्वैतमकरन्द ।

३४३ **लघुपद्मनन्दी**—१३५० । जैन—१. परमात्मप्रकाश की टीका, २. यत्याचार ।

३४४ **लघुसमन्तभद्र**—११४० । जैन—अष्टसहस्री की टीका (विषमपदतात्पर्य) ।

३४५ **लोकाचार्य**—१२८० । वि० वे०—तत्त्वत्रय, २. तत्त्वशेखर ।

३४६ **लौगाक्षिभास्कर**—१६२५ । न्याय—१. न्यायसिद्धान्तमञ्जरीटीका, २. पदार्थमाला । वै०—तर्ककौमुदी । मीमांसा—१. जैमिनिसूत्रवृत्ति, २. अर्थसंग्रह ।

३४७ **वंशीधर**—? । सांख्य—तत्त्वकौमुदी टीका ।

३४८ **वंशीधरमिश्र**—१९५० । व्याकरण—परमलघुमंजूषा की टीका (वंशी) ।

३४९ **वनमाली**—१६७० । व्या०—वैयाकरणभूषणटीका (मतोन्मज्जा) ।

३५० **वरदनायक**—१६१० । वि० वे०—तत्त्वत्रयनिरूपण ।

३५१ **वरदराज**—? । द्वैत—महाभारततात्पर्यनिर्णयटीका ।

३५२ **वरदराज**—१६२० । व्याक०—१. लघुकौमुदी, २. मध्यकौमुदी ।

३५३ **वरदाचार्य**—११२० । वि० वे०—१. रामानुजसिद्धान्तसार, २. तत्त्वत्रयनिरूपण ।

३५४ **वर्धमान**—१२२५ । न्याय—१. परिशुद्धिटीका (न्यायनिबन्धप्रकाश), २. न्यायकुसुमांजलिटीका (प्रकाश), ३. आत्मतत्त्वविवेक की टीका ।

३५५ **वर्धमान**—११५० । वै०—किरणावलीप्रकाश । व्या०—गणपाठटीका (गणरत्नमहोदधि) ।

---

१. (३३६) टीकाकार—सुदर्शन (श्रुतिप्रकाशिका १२२०), रामानन्द, परकाल (मितप्रकाशिका १३९०), चण्डमारुतमहाचार्य (उपन्यास १४१०), लक्ष्मणसूरि (प्रकाशिका), मेघनादारि, सुन्दरराजदीक्षित, वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर ।

३५६ **वल्लभन्यायाचार्य**—११५० । वै०—न्यायलीलावती ।

३५७ **वल्लभाचार्य**—८५२५ । मी०—सूत्रवृत्तिव्याख्या ।

३५८ **वसुगुप्त**—८२० । प्रत्य० शै०—शिवसूत्र ।

३५९ **वसुनन्दि**—१२०० । जैन—अष्टसहस्री टीका (आप्तमीमांसावृत्ति) ।

३६० **वसुबन्धु** (असंग के भाई)—३३० । बौद्ध—१. विंशकारिकाप्रकरण, २. परमार्थसप्तति, ३. अभिधर्मकोष, ४. सद्धर्मपुण्डरीक, ५. प्रज्ञापारमिता, ६. रत्नत्रय, ७. मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य ।

३६१ **वसुमित्र**—३५० । बौ०—१. अभिधर्मकोष की टीका, २. प्रकरणपद ।

३६२ **वागीश**—? । वि० वे०—न्यायसिद्धाञ्जन ।

३६३ **वाग्भटाचार्य**—१२७५ । रसे०—रसरत्नसमुचय ।

३६४ **वाचस्पतिमिश्र**—८४१ । न्याय—१. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २. न्यायसूचीनिबंध, ३. न्यायसूत्रोद्धार । मीमांसा—१. मीमांसासूत्रवृत्ति, २. विधिविवेकटीका (न्यायकणिका) । सांख्य—सांख्यतत्वकौमुदी (सांख्यकारिका की टीका) योग—व्यासभाष्य की टीका (तत्त्ववैशारदी) । अ० वे०—१. भामती (शारीरभाष्य की टीका), २. ब्रह्म सिद्धि की टीका ।

३६५ **वात्स्यायन**—३०० । न्याय—सूत्रभाष्य ।

३६६ **वादिराज**— ? । द्वैत—१. महाभारततात्पर्यनिर्णयटीका, २. भेदोज्जीवन, ३. युक्तिमल्लिका ।

३६७ **वार्षगण्य**—१०० । सांख्य—षष्टितन्त्र ।

३६८ **वासुदेव**—१६६० । व्याकरण—१. काशिकावृत्तिसार (टीका), २. सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (बालमनोरमा) ।

३६९ **वासुदेव काश्मीरिक**— ? । न्या०—न्यायभूषण ।

३७० **वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर**—(१८६२-१९४२) । दर्शन—सर्वदर्शनसंग्रह की व्याख्या (दर्शनांकुर) । वि० वे०—१. श्रीभाष्यटीका (विवृति), २. यतीन्द्रमतदीपिका की टीका (प्रकाश) । व्याक०—१. लघुशब्देन्दु० की व्याख्या (गूढार्थप्रकाश), २. परिभा० की टीका (तत्त्वादर्श) । अ० वे०—१. अद्वैतामोद, २. कायपरिशुद्धि ।

३७१ **वासुदेवसार्वभौम**—१२७५ । न्या०—१. तत्त्वचिन्तामणि की टीका, २. सार्वभौमनिरुक्ति (?) ।

३७२ **विजयसिंह**—११२० । जैन—कल्पसूत्र की टीका (कल्पावलोकिनी) ।

३७३ **विज्ञानभिक्षु**—१५५० । सांख्य—१. सांख्यसूत्रभाष्य, २. सांख्यसारविवेक । योग—योगसूत्रवृत्ति ।

३७४ **विट्ठल**—१५०० । व्याकरण—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या (प्रसाद) ।

३७५ **विट्ठलेशोपाध्याय**—? । अ० वे०—अद्वैतसिद्धि की व्याख्या ।

३७६ **विद्याकण्ठ**—८७० । पाशु०—भावचूडामणि ।

३७७ **विद्याधीश**—? । द्वैत—१. ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान, २. न्यायसुधा की टीका ।

३७८ **विद्यानन्दि**—८०० । जै०—१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका, २. आप्तमीमांसा टीका, ३. आप्तपरीक्षा, ४. प्रमाणपरीक्षा, ५. तत्त्वार्थालंकार ।

३७९ **विद्यापतिठक्कुर**—१३२१। शै०—शैवसर्वस्वसार।

३८० **विद्यारण्य**—दे० माधवाचार्य।

३८१ **विद्येन्द्रसरस्वती**—१७००। अ० वे०—वेदान्ततत्त्वसार।

३८२ **विनयविजय**—१६५२। जैन—लोकप्रकाश।

३८३ **विनायकभट्ट**—?। न्या०—तार्किकरक्षा की टीका (न्यायकौमुदी)।

३८४ **विनीतदेव**—७००। बौ०—न्यायविन्दुटीका।

३८५ **विन्ध्येश्वरीप्रसाद**—?। वैशे०—१. मुक्तावलीटीका, २. तर्कसंग्रहटीका।

३८६ **विप्रराजेन्द्र**—?। व्याकरण—सूत्रविवरण (शब्दामृत)।

३८७ **विभानन्द**—?। सां०—१. तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति, २. समाससूत्रव्याख्या (सर्वोपकारिणी)।

३८८ **विमलकीर्ति**—१६५०। जै०—पदव्यवस्थासूत्रकारिका।

३८९ **विमलदास**— ?। जै०—सप्तभङ्गितरङ्गिणी।

३९० **विमुक्तात्मा** (मण्डनमिश्र)—८२०। अ० वे०—१. ब्रह्मसिद्धि, २. इष्टसिद्धि।

३९१ **विश्वकर्मा**—?। व्या०—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या।

३९२ **विश्वनाथ**—१६३४। न्या०—१. न्यायसूत्रभाष्यटीका, २. न्यायसूत्रवृत्ति, ३. तर्कभाषा की टीका (न्यायविलास)। वैशे०—१. भाषापरिच्छेद और २. मुक्तावली।

३९३ **विश्वनाथतीर्थ**—?। अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका।

३९४ **विश्वरूप**—१५००। व्याक०—विश्वरूपनिबन्ध।

३९५ **विश्ववेद**—?। अ० वे०—१. शारीरभाष्यटीका, २. संक्षेपशारीरकटीका (सिद्धांतदीप)।

३९६ **विश्वेश्वर**—१६५०। व्या०—सूत्रवृत्ति (व्याकरणसुधामहानिधि)।

३९७ **विश्वेश्वर**—१३२०। अ० वे०—वाक्यवृत्तिटीका (प्रकाशिका)।

३९८ **विष्णुदेव**—?। रसेश्वर—रसराजलक्ष्मी।

३९९ **विष्णुराम**—?। व्याकरण—परिभाषाप्रकाश।

४४० **विष्णुस्वामी**—?। द्वै०—१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, २. गीताभाष्य।

४०१ **वीरराघव**—१४००। वि० वे०—रहस्यत्रयटीका (तात्पर्यदीपिका)।

४०२ **वीरराघवदास**—१४४०। वि० वे०—तात्पर्यदीपिका टीका।

४०३ **वेंकटकृष्ण**—?। द्वै०—भागवततात्पर्यनिर्णयटीका।

४०४ **वेंकटनाथ** (वेदान्तदेशिक)—१२६७-१३६८। वि० वे०—१. रहस्यत्रयटीका (चुलुक), २. न्यायसिद्धाञ्जन, ३. पञ्चरात्ररक्षा, ४. तत्त्वमुक्ताकलाप, ५. न्यायतिलक, ६. न्यायरत्नावली, ७. न्यायपरिशुद्धि, ८. वादित्रयखण्डन, ९. तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका। मी०—सूत्रवृत्ति।

४०५ **वेदाङ्गतीर्थ**—? द्वैत—मध्वविजय की टीका।

४०६ **वेदान्ताचार्य**—११००। वि० वे०—रहस्यत्रय की टीका।

४०७ **वेदेशतीर्थ**—?। द्वैत—पदार्थकौमुदी (तत्त्वोद्योतटीका की टीका)।

४०८ **वेदेशभिक्षु**—?। द्वैत—छान्दोग्योपनिषद् भाष्य की टीका (पदार्थकौमुदी)।

४०९ **वैद्यनृपसूनु**—?। रसे०—रसमुक्तावली।

४१० **व्याघ्रभूति**—?। व्या०—सूत्रवृत्ति।

४११ **व्याडि**—३०० ई० पू० । व्या०—१. संग्रह, २. परिभाषावृत्ति ।

४१२ **व्यास**—१०० । यो०—सूत्रभाष्य । अ० वे०—१. भगवद्गीता, २. ब्रह्मसूत्र ।

४१३ **व्यासतीर्थ**—१२६० । द्वैत—१. जयतीर्थ के ग्रंथों की टीकायें (तर्कताण्डव आदि), २. चन्द्रिका, ३. कृष्णामृतमहार्णव की टीका, ४. उपनिषद्-भाष्यों का विवरण, ५. भेदोज्जीवन ।

४१४ **व्योमशिवाचार्य**—९८० । वै०—प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (व्योमवती) ।

४१५ **शंकरभट्ट**—१७०० । मी०—१. शास्त्रदीपिका की व्याख्या (प्रकाश), २. मीमांसा-बालप्रकाश, ३. सुबोधिनी ।

४१६ **शंकरमिश्र**—१४२५ । न्याय—१. न्यायतात्पर्यमण्डन (न्यायनिबन्धप्रकाश की टीका), २. जागदीशी की टीका, ३. तत्त्वदीधिति की टीका । वै०—१. पदार्थधर्म-संग्रह की टीका, २. उपस्कार (सूत्रवृत्ति) । अ० वे०—खण्डनखण्डखाद्य की टीका ।

४१७ **शंकराचार्य**—८०० । शैव—१. सौन्दर्यलहरी, २. प्रपञ्चसार, ३. ललितात्रिशती-भाष्य । अ० वे०—१. दस उपनिषदों के भाष्य, २. शारीरकमीमांसाभाष्य, ३. गीताभाष्य, ४. आत्मबोध, ५. अपरोक्षानुभव, ६. वाक्यवृत्ति, ७. दशश्लोकी, ८. उपदेशसाहस्री, ९. विवेकचूडामणि ।

४१८ **शंकरानन्द**—१३२५ । अ० वे०—१. कैवल्योपनिषद्-वृत्ति (दीपिका), २. ईशा-वास्यदीपिका, ३. तै० उ० दीपिका, ४. गीता की टीका ।

४१९ **शंभुदेव**—१५५० । शैव—१. शैवसिद्धान्तदीपिका, २. शंभुपद्धति ।

४२० **शंभुभट्ट**—१६९० । मी०—खण्डदेवकृत भाट्टदीपिका की टीका (प्रभावती) ।

४२१ **शबरस्वामी**—१०० ई० पू० । मी०—मीमांसासूत्रभाष्य ।

४२२ **शरणदेव**—११७० । व्या०—दुर्घटवृत्ति ।

४२३ **शशधर**—? । न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका (न्यायसिद्धान्तदीप) ।

४२४ **शाक्यमुनि**—५५० ई० पू० । बौद्ध—(वचनों का संग्रह) १. सुत्तपिटक, २. अभि-धम्मपिट, ३. विनयपिटक (त्रिपिटक) ।

४२५ **शान्तभद्र**—८०० । बौ०—न्यायबिन्दुटीका ।

४२६ **शान्तरक्षित**—७२० । बौ०—१. माध्यमकालंकार, २. तत्वसंग्रह ।

४२७ **शान्तिदेव**—६५० । बौ०—१. शिक्षासमुच्चय, २. बोधिचर्यावतार ।

४२८ **शान्तिसूरि**—१२२० । जै०—धर्मरत्नवृत्ति ।

४२९ **शान्त्याचार्य**—१०५० । जै०—उत्तराध्ययनसूत्रटीका ।

४३० **शारिपुत्र**—? । बौद्ध—१. धर्मस्कन्ध, २. संगीतपर्याय ।

४३१ **शार्ङ्गधर**—१६७० । वै०—१. उदयनकृत लक्षणावली की टीका (न्यायमुक्तावली), २. सप्तपदार्थी की टीका (पदार्थचन्द्रिका) ।

४३२ **शालिकनाथ**—७९० । मी०—१. प्रभाकरकृत बृहती की व्याख्या (ऋजुविमला), २. प्रकरणपञ्चिका ।

४३३ **शालिनाथ**—१६५७ । रसे०—रसमञ्जरी ।

४३४ **शिवदत्त**—१८१० । अ० वे०—वेदान्तपरिभाषा की टीका (अर्थदीपिका) ।

४३५ **शिवभट्ट**—? । व्याकरण—न्यास (काशिका की टीका) की व्याख्या (कुंकुमविकास) ।

४३६ **शिवयोगी**—१६७५। मी०—अर्थसंग्रह की टीका।
४३७ **शिवरामेन्द्र**—?। व्या०—१. महाभाष्य की टीका, २. सूत्रवृत्ति।
४३८ **शिवादित्य**—१०५०। वै०—१. सप्तपदार्थी, २. लक्षणमाला।
४३९ **शीलाङ्क**—९६०। जै०—१. आचाराङ्गसूत्रटीका, २. सूत्रकृताङ्गटीका।
४४० **शुकाचार्य**—?। अ० वे०—तत्त्वानुसंधानव्याख्या।
४४१ **शुद्धानन्दसरस्वती**—१३२०। अ० वे०—वेदान्तचिन्तामणि।
४४२ **शेषकृष्ण**—१५४० (भट्टोजिदीक्षित के गुरु)। व्या०—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या।
४४३ **शेषाद्रिशुद्धि**—?। व्या०—सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति की टीका।
४४४ **शेषानन्त**—१६०८। न्याय—न्यायसिद्धान्तदीप की टीका (प्रभा)। वै०—सप्तपदार्थी की टीका।
४४५ **श्रीकण्ठ**—१०००। न्याय—न्यायालंकार।
४४६ **श्रीकण्ठ**—१५३५। न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका (तर्कप्रकाश)।
४४७ **श्रीकण्ठशिवाचार्य**—१३५०। द्वैत—ब्रह्मसूत्रभाष्य।
४४८ **श्रीकृष्ण**—१७८०। न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका (भावदीपिका)।
४४९ **श्रीधर**—९९१। वै०—पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (न्यायकन्दली)।
४५० **श्रीधर**—?। अ० वे०—भगवद्गीता की टीका (सुबोधिनी)।
४५१ **श्रीनिवास**—?। न्याय—१. न्यायसिद्धान्तमञ्जरी, २. तर्कदीपिका की टीका (सुरकल्पतरु)।
४५२ **श्रीनिवासतीर्थ**—१३००। द्वैत—१. गीताभाष्य की टीका (भावदीपिका), २. आनन्दतीर्थ, जयतीर्थ और व्यासतीर्थ के ग्रंथों की टीकायें।
४५३ **श्रीनिवासदास**— ?। वि० वे०—यतीन्द्रमतदीपिका।
४५४ **श्रीनिवासभास्कर**— ?। वि० वे०—श्रीभाष्य की टीका।
४५५ **श्रीनिवासाचार्य**—१४८०। वि० वे०—१. न्यायपरिशुद्धि की टीका, २. रहस्यत्रयसार।
४५६ **श्रीनिवासाध्वरि**— ?। मी०—सूत्रवृत्ति।
४५७ **श्रीपति**—१२५०। व्या०—ज्ञानदीपिका।
४५८ **श्रीयोगीन्द्र**— ?। जै०—परमात्मप्रकाश।
४५९ **श्रीवत्साचार्य**—१०२५। वै०—पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (लीलावती)।
४६० **श्रीहर्ष**—११५०। अ० वे०—खण्डनखण्डखाद्य (इस पर चित्सुख, शंकरमिश्र और रघुनाथ ने टीकायें लिखी हैं।)
४६१ **श्रुतसागर**—१५००। जै०—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका।
४६२ **संघभद्र**—३८०। बौद्ध—अभिधर्मकोष की टीका (न्यायानुसार)।
४६३ **सकलकीर्ति**—१४६४। जैन—तत्त्वार्थसार-दीपिका।
४६४ **सच्चिदानन्द**— ?। अ० वे०—सिद्धान्तबिन्दु की टीका।
४६५ **सत्यनाथयति**—१८००। द्वैत—१. ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (तत्त्वप्रकाशिका), २. अभिनवतर्कताण्डव, ३. तत्त्वप्रकाशटीका (अभिनवचन्द्रिका), ४. प्रमाणपद्धति की टीका (अभिनवामृत)।

४६६ **सदानन्द**—१५६०। अ० वे०—१. पञ्चदशी-टीका, २. अद्वैतदीपिका-टीका, ३. अद्वैतब्रह्मसिद्धि, ४. जीवन्मुक्तिप्रक्रिया, ५. वेदान्तसार, ६. अद्वैतदीपिका (स्वग्रंथ)।

४६७ **सदानन्द**—?। जैन—सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका (सुबोधिनी)।

४६८ **सदानन्दव्यास**—?। अ० वे०—अद्वैतसिद्धिसंक्षेप।

४६९ **सदाशिवमिश्र**—१६७०। न्या०—सूत्रवृत्ति (गूढार्थदीपिनी)।

४७० **सदाशिवानन्दसरस्वती**—?। अ० वे०—सूत्रवृत्ति (अद्वैतामृतवर्षिणी)।

४७१ **सभ्याभिनवयति**—?। द्वैत—महाभारततात्पर्यनिर्णय-टीका (दुर्घटार्थप्रकाश)।

४७२ **समन्तभद्र**—६००। जैन—१. आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), २. युक्त्यनुशासन, ३. उपासनाध्ययन, ४. त० सू० की टीका (गन्धहस्तिमहाभाष्य)।

४७३ **सर्वज्ञात्ममुनि**—९००। अ० वे०—संक्षेपशारीरक (शारीरकभाष्य का सारांश)।

४७४ **सहजकीर्ति**—१६३०। जै०—कल्पसूत्रमञ्जरी।

४७५ **सांख्याचार्य**—?। सां०—सांख्यसूत्रभाष्य।

४७६ **सिद्धचन्द्र**—१७४०। न्या०—१. तर्कभाषाटीका, २. सप्तपदार्थी की टीका।

४७७ **सिद्धसेनगणि**—५२५। जै०—तत्त्वार्था० की टीका।

४७८ **सिद्धसेनदिवाकर**—४५०। जै०—१. न्यायावतार, २. संमतितर्कसूत्र, ३. कल्याणमन्दिरस्तोत्र।

४७९ **सीमानन्द**—?। सां०—सांख्यतत्त्वविवेचन।

४८० **सीरदेव**—१२००। व्या०—१. सूत्रवृत्ति, २. परिभाषावृत्ति।

४८१ **सुचरितमिश्र**—१६७०। मी०—श्लोकवार्तिक की व्याख्या (काशिका)।

४८२ **सुदर्शन**—१२२०। वि० वे०—१. वेदार्थसंग्रह की टीका (तात्पर्यदीपिका), २. श्रीभाष्यटीका (श्रुतप्रकाशिका), ३. श्रीभाष्य की टीका (श्रुतप्रदीपिका)।

४८३ **सुन्दरराजदीक्षित**—?। वि० वे०—श्रीभाष्य की टीका।

४८४ **सुरेश्वराचार्य**—दे० मण्डनमिश्र।

४८५ **सुरोत्तमतीर्थ**—?। द्वैत—युक्तिमल्लिका-टीका (भावविलासिनी)।

४८६ **सोमनाथ**—१५४०। मी०—शास्त्रदीपिका की व्याख्या (मयूखमालिका)।

४८७ **सोमशंभु**—१०७०। शैव—ग्रन्थ अज्ञात।

४८८ **सोमसुन्दर**—१४००। जै०—नवतत्त्व की टीका।

४८९ **सोमानन्द**—८८०। प्रत्य०—१. शिवदृष्टि, २. शिवदृष्टि की वृत्ति।

४९० **सोमेश्वर**—१५००। मी०—१. शास्त्रदीपिका की व्याख्या (कर्पूरवार्तिक), २. सूत्रवृत्ति (न्यायमालाविस्तर)।

४९१ **सोमेश्वरसूरि**—११०३। पाशु०—ग्रन्थ अज्ञात।

४९२ **स्थिरमति**—३७०। बौ०—अभिधर्मकोष की व्याख्या।

४९३ **स्वप्नेश्वर**—?। सां०—सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीका।

४९४ **स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वती**—?। अ० वे०—शारीरभाष्य टीका (वेदान्तवन्दनभूषण)।

४९५ **हनुमान्**—?। न्या०—तत्त्वचिन्तामणि की टीका (हनुमदीया), २. तर्कसंग्रह की टीका (प्रभा)।

४९६ **हरदत्त**—?। पाशु०—गणकारिका।

४९७ **हरदत्त**—८७५। व्या०—काशिका की व्याख्या (पदमञ्जरी)।

४९८ **हरि (भर्तृहरि)**—६६०। व्या०—१. महाभाष्य टीका (सेतु) २. वाक्यपदीय।

४९९ **हरि**—१०० ई० पू०। मी०—सूत्रवृत्ति।

५०० **हरिदासमिश्र**—१५९०। न्या०—१. आत्मतत्त्वविवेक की टीका, २. तत्त्वालोक की टीका।

५०१ **हरिदीक्षित**—१६५०। व्या०—प्रौढमनोरमा की व्याख्या (शब्दरत्न)।

५०२ **हरिनाथद्विवेदी**—१७८०। व्या०—परिभाषेन्दुशेखर की टीका (अकाण्डताण्डव)।

५०३ **हरिभद्र**—९००। जैन—१. आवश्यकसूत्र की टीका (शिष्यहिता), २. नन्दिसूत्र की व्याख्या, ३. अनेकान्तजयपताका, ४. षड्दर्शनसमुच्चय (दर्शनसंग्रह)।

५०४ **हरिवल्लभ**—१७००। व्या०—१. शब्दकौस्तुभव्याख्या, वैयाकरणभूषणसार की टीका।

५०५ **हेमचन्द्र**--११२५। जै०--१. आवश्यकसूत्रभाष्यवृत्ति, २. अध्यात्मोपनिषद् (योगशास्त्र), ३. प्रमाणमीमांसा, ४. प्रमाणचिन्तामणि, ५. वीतरागस्तुति, ६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ७. शब्दानुशासन, ८. महावीरचरित, ९. परिशिष्टपर्व।

५०६ **हेलाराज**--?। व्या०--वाक्यपदीय की टीका।

५०७ **हेमाद्रि**--१२७०। अ० वे०--मुक्ताफलटीका (कैवल्यदीपिका)।



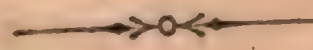
परिशिष्ट—३

सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(कोष्टांकित कृतियों का माधव ने प्रत्यक्षतः नाम नहीं लिया है।)

परिशिष्ट—४

सर्वदर्शनसंग्रह की उद्धरण-सूची



परिशिष्ट—५

शब्दानुक्रमणी



शुद्धिपत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२७	तदेन्मनो	तदेतन्मनो
११	१६	पक्ष	साध्य
१०७	१३	२	३
१०४	४	त्वपरा	स्वपरा
१७८	२२	सरोज	सरजो
१८७	१६	इत्मादि	इत्यादि
२०१	२०	आपादान	आपादन
२३४	२८	आत्म०	आत्मे०
३१८	१९	१०	९
३६१	७	रूषिता	रूपिता
३८७	३	श्रुति	श्रुतिः
	४	वालक	बालक
४६३	२९	व्याप्ति	दृष्टान्त
५०७	२५	प्राणत्वे	प्रमाणत्वे
५२८	२०	स्वध्याय	स्वाध्याय
५५४	९	उक्चरित	उच्चरित
६०२	२०	भंर्तृहरि	भर्तृहरि
६७७	२६	धर्मी	धर्मो
८०८	२	व्यचिचार	व्यभिचार
८३२	१९	पक्षा–	यक्षा–
८६२	७	लणणै–	लक्षणै



२

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी-१